शतपथ ब्राह्मण

"अश्वलाम"

तृतीय काण्डान्तर्गत

(प्रथम खण्ड)

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथी-पथिक

राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन
शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य

"अध्वरनाम"

तृतीयकाण्डान्तर्गत

[प्रथम खण्ड]

पं मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथी-पथिक

राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध संस्थान
मानवाश्रम विद्यापीठ, जयपुर-12

प्रकाशक:
राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१५

॥ श्रीः ॥

समर्पण

दिवंगत–महानात्म–स्वर्गीय पितुःश्री

वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री

[निधन-तिथि आश्विन अमावस्या, वि. सम्वत् २०१७]
की २८वीं पुण्यतिथि के अवसर पर
श्राद्धकर्त्ता की ओर से श्रद्धापूर्वक
समर्पित

—कृष्णचन्द्र शर्म्मा



वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री
1908–1960

प्रकाशकीय

(स्व०) पण्डित मोतीलाल शास्त्री प्रणीत शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य के तृतीय काण्ड के प्रथम खण्ड का प्रकाशन करते हुए मेरे हर्ष का पारावार नहीं है। एक लम्बे अरसे से यह लिखित सामग्री उपेक्षित पड़ी रही। शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य को शास्त्री जी ने अठारह हजार पृष्ठों में लिखा है, यह बात उन्होंने स्वयं प्रथम काण्ड के प्रथम भाग में लिखी है। इस विपुल सामग्री का अधिकांश भाग आज उपलब्ध नहीं है। शास्त्री जी के सुपुत्र श्री कृष्णचन्द्र शर्म्मा, जिनको कि अपने पिता की सम्पूर्ण लिखित सामग्री के संरक्षण का श्रेय है, कहते हैं कि उनके पास भी इस भाष्य के लगभग छः हजार पृष्ठ ही उपलब्ध हैं। शेष सामग्री कभी उनकी दृष्टि में नहीं आई। उनका अनुमान है कि पंडित मोतीलाल जी के जीवन-काल में ही उनके सम्पर्क में आने वाले विद्या प्रेमियों में से ही किसी ने उक्त सामग्री हस्तगत कर ली होगी।

शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य के प्रथम काण्ड के दो विशालकाय खण्ड तो शास्त्री जी स्वयं ही प्रकाशित कर गये थे। दूसरे काण्ड का प्रकाशन उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य पूज्यपाद स्वामी गंगेश्वरानन्द जी ने अपनी संस्था की ओर से करवाया, परन्तु उस प्रकाशन में देखा गया कि ग्रन्थ के नाम में 'विज्ञान-भाष्य' के स्थान पर 'समन्वयभाष्य' लिख दिया गया और ग्रन्थ के रचयिता पं० मोतीलाल जी शास्त्री के अलावा स्वामी गंगेश्वरानन्द जी का नाम भी जोड़ दिया गया। इस ग्रन्थ का संपादन शास्त्री जी के गुरुभाई स्वामी सुरजनदास जी महाराज ने किया जिसका प्रकाशन संवत् २०२९ वि० में हुआ। इसके आगे प्रकाशन कार्य बन्द ही रहा।

राजस्थान पत्रिका ने पं० मधुसूदन ओझा और पं० मोतीलाल शास्त्री के अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन का महत् कार्य प्रारम्भ किया तो कुछेक प्रकाशनों के बाद यह सोचा गया कि अधिक आग्रह शतपथ ब्राह्मण पर रखा जाय। इसी निश्चय का परिणाम है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका। यह काण्ड भी आकार में लगभग १५०० पृष्ठों का हो जाने के कारण दो भागों में बाँट दिया गया है ताकि पाठकों को पढ़ने में असुविधा न हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सोम के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वेद में जगत् को अग्नि–सोमात्मक माना गया है। सोम को अन्न का रूप दिया गया है और अन्न ही सृष्टि के निर्वाह का आधार है। इस अन्न रूपी सोम का स्वरूप क्या है, उसकी उपलब्धि कहाँ और किस तरह होती है, यज्ञ-कर्म में इसका व्यवहार किस तरह किया जाता है और सृष्टि की उत्पत्ति में सोम किस तरह भागीदार होता है, इन सभी बातों का विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है।

ग्रन्थ की कण्डिकाओं के विस्तृत अनुवाद का दुष्कर कार्य स्वामी सुरजनदास जी महाराज ने किया। स्वामी जी के अतिरिक्त इस कार्य को इतनी सुचारुता से किया जा सकता था, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। वेद-विज्ञान पर ओझाजी और शास्त्री जी ने जो कार्य किया है उसके संपादन में आज सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि उसके जानकार नहीं हैं। सौभाग्य से स्वामी जी हमें उपलब्ध हैं, जिन्होंने बरसों तक अपने गुरुवर ओझा जी महाराज के श्री चरणों की सेवा की है। पत्रिका ने जब यह कार्य शुरू किया तो स्वामी जी महाराज ने आगे बढ़ कर हमारा उत्साह वर्द्धन किया और सक्रिय रूप से स्वयं इस काम में जुट गये।

प्रस्तुत ग्रंथ में प्रथम अध्याय के प्रारम्भिक तीन ब्राह्मणों की मूल कण्डिकाओं का हिन्दी में उत्कृष्ट अनुवाद डॉ० श्रीमती उर्मिला देवी शर्मा (संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय) ने किया है। महाराज संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य श्री कैलाश चतुर्वेदी ने पृष्ठ सं. ९७ से पृष्ठ सं. ३३६ पर्यन्त सम्पादन एवं प्रूफ-संशोधन का भार-वहन किया।

पृष्ठ सं. ३३७ से प्रारम्भ कर शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ (पृ. सं. ६७२ पर्यन्त) के भाषा-सम्पादन एवं प्रूफ संशोधन के दायित्व का निर्वाह डॉ० मदनगोपाल शर्मा (सेवानिवृत्त, एसो. प्रोफेसर, राजस्थान विश्वविद्यालय) ने किया है। स्वर्गीय पं० मोतीलाल जी शास्त्री के सुपौत्र श्री प्रद्युम्नकुमार शर्मा ने पृष्ठ सं. ३३७ से ग्रंथान्त पर्यन्त मनोयोग एवं श्रमपूर्वक इस ग्रन्थ में आये संस्कृत उद्धरणों के स्रोत ढूंढ़ कर सन्दर्भ अंकित किए हैं तथा मुद्रण कार्य को त्वरा से सम्पन्न किया है। श्री अश्विनीकुमार ने शुद्धि-पत्र के निर्म्माण में सराहनीय सहयोग प्रदान किया है।

मैं उक्त सभी सज्जनों के प्रति समादर एवं हार्दिक शुभाशंसाएँ व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ का आगामी द्वितीय खण्ड मुद्रणाधीन है। इसकी अपेक्षा उसकी प्रस्तुति और भी सुष्ठु एवं समुन्नत स्तर की हो, यही हम सबका प्रयास रहेगा।

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

शतपथब्राह्मण हिन्दी विज्ञानभाष्य

तृतीयकाण्डानुगत प्रथमखण्ड

विषय-सूची

—※—

शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन-शतपथब्राह्मणभाष्ये

"अध्वरनाम"

तृतीयं काण्डम्

३

ओ३म् तत् सद्ब्रह्मणे नमः

अथ तृतीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः
प्रथमोऽध्यायः प्रारभ्यते
तत्र प्रथमं ब्राह्मणम्

।। अथ देवयजनब्राह्मणम् ।।

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ।। १ ।।
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ।। २ ।।

[मूल] ॐ । देवयजनं जोषयन्ते । स यदेव वर्षिष्ठं स्यात्तज्जोषयेरन्यद् भूमेर्नाभिशयीतातो वै देवा दिवमुपोदक्रामन्देवान्वाऽएष उपोत्क्रामति यो दीक्षते स सदेवे देवयजने यजते स यद्धान्यद्भूमेरभिशयीतावरतरऽइव हेष्ट्वा स्यात्तस्माद्यदेव वर्षिष्ठं स्यात्तज्जोषयेरन् ।। १ ।।

तद्वर्ष्म सत्समं स्यात् । समंसदविभ्रंशि स्यादविभ्रंशि सत्प्राक्प्रवणं स्यात्प्राचि हि देवानां दिगथोऽउदक् प्रवणमुदीची हि मनुष्याणां दिग् दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यादेषा वै दिक् पितॄणां स यद्दक्षिणाप्रवणं स्यात्क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यात् ।। २ ।।

न पुरस्ताद्देवयजमात्रमतिरिच्येत । द्विषन्तं हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते कामं ह दक्षिणतः स्यादेवमुत्तरत एतद्ध त्वेव समृद्धं देवयजनं यस्य देवयजनमात्रं पश्चात्परिशिष्यते क्षिप्रे हैवैनमुत्तरा देवयज्योपनमतीति नु देवयजनस्य ।। ३ ।।

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः वार्ष्णाय देवयजनं जोषयितुमैमतत्सात्य-यज्ञोऽब्रवीत्सर्वा वाऽइयं पृथिवी देवी देवयजनं यत्र वाऽअस्यै क्व च यजुषैव परिगृह्य याजयेदिति ॥ ४ ॥

ऋत्विजो हैव देवयजनम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति सैवाह्वलैतन्नेदिष्ठतमामिव मन्यामहऽइति ॥ ५ ॥

तच्छालां वा विमितं वा प्राचीनवंशंमिन्वन्ति । प्राची हि देवानां दिक्पुरस्ताद्वै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानुपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः प्राङ् तिष्ठ-ञ्जुहोति ॥ ६ ॥

तस्माद्रु ह न प्रतीचीनशिराः शयीत । नेद्देवानभिप्रसार्य शयाऽइति या दक्षिणा दिक्सा पितॄणां या प्रतीची सा सर्पाणां यतो देवा उच्चक्रमुः सैषाऽहीना योदीची दिक्सा मनुष्याणां तस्मान्मानुषऽउदीचीनवंशामेव शालां वा विमितं वा मिन्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिग्दीक्षितस्यैव प्राचीनवंशा नादीक्षितस्य ॥ ७ ॥

तां वाऽएतां परिश्रयन्ति । नेदभिवर्षादिति न्वेव वर्षा देवान्वाऽएषऽ उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति तिरऽइव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिर-ऽइवैतद्यत्परिश्रितं तस्मात्परिश्रयन्ति ॥ ८ ॥

तत्र सर्वऽइवाभिप्रपद्येत । ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः ॥ ९ ॥

स वै न सर्वेणेव संवदेत । देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवता-नामेको भवति न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञियास्तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देदेतेषामेवैकं ब्रूयादिममिति विचक्ष्वेममिति विचक्ष्वेत्येषऽ उ तत्र दीक्षितस्योपचारः ॥ १० ॥

अथारणी पाणौ कृत्वा । शालामध्यवस्यति स पूर्वार्ध्यं स्थूणाराजमभि-पद्यैतद्यजुराहेदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वऽइति तदस्य

विश्वैश्च देवैर्जुष्टं भवति ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना यदहास्य तेऽक्षिभ्या-मीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवांसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति ।। ११ ।।

यद्वाह । यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वऽइति तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवत्यृक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भिरित्यृक्सामाभ्यां वै यजुर्भिर्यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह रायस्पोषेण समिषा मदेमेति भूमा वै रायस्पोषः श्रीर्वै भूमाऽऽशिषमेवैतदाशास्ते समिषा मदेमेतीषं मदतीति वै तमाहुर्यः श्रियमश्नुते यः परमतां गच्छति तस्मादाह समिषा मदेमेति ।। १२ ।।

[अनुवाद]—।। ॐ ।। वे देवयजन के लिए (स्थल) पसंद करते हैं। (इस हेतु) वह (स्थल), जो सर्वाधिक उभरा हुआ हो, पसन्द किया जाना चाहिए। अर्थात् (उस) भूमि का (अन्य आस-पास का) स्थल उससे ऊँचा नहीं होना चाहिए। इसी स्थल से देवता ऊपर द्युलोक में पहुँचे थे। (इस प्रकार) जो दीक्षा लेता है वह भी उन देवों के निकट पहुँच जाता है। वह देवों के सान्निध्य में रहता हुआ यज्ञ में आहुतियाँ डालता है। यदि उस स्थल से ऊँची कोई अन्य भूमि (आस-पास) हुई तो वह (दीक्षित) उस निचले भू-भाग पर यजन करने के कारण हीनतर हो जाएगा। इसलिए जो भूमि सबसे अधिक ऊँचाई पर हो, वही यज्ञ हेतु पसन्द की जानी चाहिए ।। १ ।।

उन्नत होने के साथ-साथ वह (यज्ञ-स्थल) चौरस होना चाहिए। चौरस होने के साथ-साथ सुदृढ़ होना चाहिए। सुदृढ़ होने के साथ-साथ वह पूर्व की ओर ढलान वाला होना चाहिए। क्यों कि पूर्व दिशा देवताओं की (मानी जाती) है। तदनन्तर उस स्थल का ढलाव उत्तर की ओर होना चाहिए। क्योंकि उत्तर दिशा मनुष्यों की है। (वह यज्ञ-स्थल) दक्षिण की ओर से यत्किञ्चित् ऊपर उठा हुआ होना चाहिए। यह (दक्षिण) दिशा पितरों की है। यदि वह यज्ञ-स्थल दक्षिण की ओर ढलाव वाला होगा तो यजमान तुरन्त ही उस (पितृ) लोक में पहुँच जाएगा। परिवर्तित स्थिति में (यज्ञ-स्थल का पूर्वोत्तर ढलान होने पर) तो यजमान चिरकाल तक जीता है। इसीलिए यज्ञ-स्थल दक्षिण की ओर से ऊँचा उठा हुआ होना चाहिए ।। २ ।।

(चुने गये) यज्ञ-स्थल की मात्रा से अधिक विस्तृत भूमि सामने की ओर नहीं होनी चाहिए—क्यों कि (ऐसा होने पर) उस (यजमान) से द्वेष रखने वाले शत्रु भी उसी अनुपात में बढ़ जाएँगे। दक्षिण दिशा में चाहे (बढ़ कर) हो, उसी प्रकार उत्तर की ओर भी (बढ़ी हुई हो सकती है)। और ऐसा यज्ञ निश्चय ही सफलता प्रदान करने वाला है—

जिस यज्ञ-भूमि के पश्चिमी भाग का परिमाण अधिक विस्तृत हो (ऐसा करने पर) इसकी विपरीत दिशा (पूर्व दिशा) निश्चय ही यज्ञ की योग्यता को प्राप्त कर लेती है। यह (प्रकरण) देवयजन (स्थल के विषय में) है ।। ३ ।।

तदुपरान्त याज्ञवल्क्य ने वार्ष्ण्य से कहा। हम यज्ञ-स्थल पसन्द करने के लिए गये। तब सात्ययज्ञ बोला—यह दिव्यस्वरूपिणी सारी पृथिवी यज्ञ-स्थल है, अतः जहाँ जितना भी (स्थल पसन्द करो), यजुः मन्त्रों द्वारा (स्थल-परिमाण) प्राप्त करके (उसी स्थान पर) यज्ञ करना चाहिए ।। ४ ।।

ऋत्विज ही यज्ञ है। (जिसे) वेदानुरागी तथा साङ्गोपाङ्ग वेदाध्यायी विद्वान् ब्राह्मण सम्पन्न कराते हैं वही यज्ञ अविकल होता है। (हम) ऐसे देवयजन को (देवों के पास) पहुँचा-सा मानते हैं ।। ५ ।।

तदुपरान्त (वे) विशिष्ट परिमाण वाली चौकोर आयतन वाली (पूर्वाभिमुख बाँस के शहतीरों वाली) शाला अर्थात् 'प्राचीनवंश' की प्रतिष्ठा करते हैं। वस्तुतः देवता पूर्व दिशा के अधिकारी हैं। पूर्व दिशा से देवता मुड़ कर मानवों के पास पहुँचे, इसीलिए उन देवों के लिए मनुष्य पूर्वाभिमुख खड़ा हो कर आहुति देता है ।। ६ ।।

अतः पश्चिम की ओर सिर करके (दीक्षित व्यक्ति) न सोए। देवों की तरफ पैर फैला कर नहीं सोना चाहिए। जो दक्षिण दिशा (कहलाती) है वह पितरों की है। जो पश्चिम दिशा है वह सर्पों की है। जहाँ से देवता (मनुष्यों की ओर) चल पड़े—वही यह समृद्ध पूर्व दिशा है। जो उत्तर दिशा (कहलाती) है वह मनुष्यों की है। इसीलिए मनुष्य विशिष्ट परिमाणवाली उत्तराभिमुख शहतीरों वाली शाला बनाते हैं। उत्तर दिशा मनुष्यों की है। पूर्वाभिमुख शहतीरों वाला प्राचीनवंश नामक यज्ञ-गृह दीक्षित (व्यक्ति) का होता है न कि अदीक्षित का ।। ७ ।।

(वे) इसे घेर (कर सुरक्षित कर) लेते हैं। कहीं चारों ओर पानी न बरस जाए। कहीं वर्षा से (भीग न जाए)। जो दीक्षा लेता है वह देवों के पास पहुँच जाता है। वह देवताओं में से 'एक' हो जाता है। मनुष्यों के लिए देवता अदृश्य से हैं। यह जो घेर कर सुरक्षित किया गया है यह भी अदृश्य-सा हो जाता है। इसीलिए (वे) यह परिश्रयण कर्म करते हैं ।। ८ ।।

इसमें सब लोग प्रविष्ट न हों। या तो ब्राह्मण या राजन्य या वैश्य। क्यों कि ये (ही) यज्ञ के अधिकारी हैं ।। ९ ।।

और वह (व्यक्ति) न किसी से वार्त्तालाप करे। जो दीक्षा लेता है वह देवों के निकट पहुँच जाता है। वह देवों में से ही एक कहलाता है। और देवता प्रत्येक से वार्त्तालाप नहीं करते। केवल ब्राह्मण से या राजन्य से या वैश्य से (वार्त्तालाप करते हैं।) क्यों कि ये यज्ञ के अधिकारी हैं। और यदि इस (द्विज) को (किसी) शूद्र से बात करनी पड़ जाए तो वह इन (तीनों) में से किसी एक से कहे—इसे यह कह दो—इसे यह कह दो। उस समय दीक्षित व्यक्ति का यही व्यवहार (कहा गया) है ॥ १० ॥

अब वह दो अरणियों को हाथ में लेकर शाला में प्रविष्ट होता है। वह शाला के पूर्वार्द्ध में स्थित स्थूणराज अर्थात् मध्यस्तम्भ के पास जा कर इस यजुः (मन्त्र) का उच्चारण करे—

'एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे' (वा. सं. ४/१)

(हम पृथिवी के उस देवयजनस्थल पर आए हैं जिसकी सभी देवों ने कामना की थी)। इस प्रकार इसका (रूप) सभी देवों द्वारा काम्य हो जाता है यदि,—जो वेदानुरागी अधीतसाङ्गवेद विद्वान् ब्राह्मण हैं—वे इसे आँखों से देख लें। (देखने वाले) ब्राह्मण वेदानुरागी हों तभी (इसका स्वरूप) उन देवों को प्रिय लगता है ॥ ११ ॥

जब वह उच्चारण करता है "यत्र देवासोऽ अजुषन्त विश्वे" (जहाँ सभी देवता प्रसन्न हो गये) तब उसका यज्ञ सभी देवों द्वारा पसन्द कर लिया जाता है। (वह उच्चारण करता है)—'ऋक् सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भिः'—(वा. स. ४/१)—(ऋक्, साम तथा यजुषों द्वारा पार पहुँचते हुए)—ऋक् साम तथा यजुषों द्वारा ही (वे) यज्ञ की परिसमाप्ति तक पहुँचते हैं। (जैसा कि) वह उच्चारण भी करता है—"यज्ञस्योदृचं गच्छानि" अर्थात् मैं यज्ञ की पूर्णता तक पहुँच जाऊँ। (फिर वह उच्चारण करता है)—"रायस्पोषेण समिषा मदेम" अर्थात् धनसमृद्धि तथा अन्न के प्राचुर्य के कारण हम सदा आनन्द मनाते रहें। धन की समृद्धि ही 'भूमा' कहलाती है। तथा 'भूमा' (मन तथा आत्मा का भरा-भरापन) ही श्री कही जाती है। इस प्रकार वह आशीर्वाद देता है कि 'समिषामदेम'। जो 'श्री' को पा लेता है तथा सर्वोच्चता पा लेता है उसके बारे में लोग कहने लगते हैं कि यह अन्न को पा कर आनन्दित हो रहा है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि 'समिषा मदेम' अर्थात् हम अन्न पा कर आनन्दित रहें ॥ १२ ॥

[विज्ञानभाष्य] यज्ञ–अध्वर और चित्या इन दो भागों में बंटे हुए हैं–अग्नि में सोम की आहुति डालकर जो यज्ञ किया जाता है–उसे अध्वर कहते हे–एवं अग्नि में अग्नि ही की आहुति डाल कर जो यज्ञ किया जाता है—उसे चित्या कहते हैं। अग्नि अन्नाद है—अर्थात् भोक्ता है—एवं सोम अन्न है। सोम जब अग्नि में डाला जाता है तो अन्नाद अग्नि उसे हजम कर जाता है। अग्नि में आहुत सोम–

भुक्तान्नवत् अग्नि का आत्मा बन जाता है। परन्तु आग आग को नहीं पचा सकता। अतएव जब आग में आग डाली जाती है तो उस पहिले वाले अग्नि पर उस दूसरे हुत अग्नि का चुनाव हो जाता है। उत्तरोत्तर हुत अग्नि उस पर बैठता जाता है। तह पर तह इस क्रम से २१ तक अग्नि का चुनाव हो जाता है—बस इसीलिये इस दूसरे यज्ञ को–'चित्या' किंवा चयन कहते हैं। अध्वर यज्ञ से स्वर्गप्राप्ति (सप्तदशे) होती है—एवं चित्या से मुक्ति होती है। इसी अभिप्राय से 'नामृतत्वस्याशास्ति ऋते चयनात्'–कहा जाता है—चित्या का विवेचन चयन प्रकरण में आवेगा अतएव इसे अप्राकृत समझकर हम छोड़ते हैं। कहना हमें सिर्फ अध्वर यज्ञ के बिषय में है—

सारे यज्ञ (चित्या को छोड़ कर) सर्वात्मक और एकात्मक इन दो भागों में विभक्त हैं। सम्पूर्ण संवत्सराग्नि में सोम की आहुति डालकर जो यज्ञ किया जाता है वह सर्वात्मक यज्ञ कहलाता है एवं संवत्सराग्नि के एकदेश में सोम की आहुति डालकर जो यज्ञ किया जाता है वह 'एकदेशात्मक' यज्ञ कहलाता है। पृथिवी के केन्द्र से पृथिवी के चारों ओर रथन्तर साम तक का जो अग्नि मण्डल है—उसे ही 'संवत्सर मण्डल' कहते हैं। यही संवत्सराग्नि नाम से प्रसिद्ध है। यह संवत्सराग्नि ६ भागों में विभक्त है। पहिला विभाग है इसका ७२० (सात सौ बीस) दिन का। एक संवत्सर के ३६० दिन होते हैं—एवं ३६० रात्रि होती हैं। वही अग्नि इन ७२० हिस्सों में बँटा हुआ है। दूसरा विभाग केवल दिन के हिसाब से ३६० ही दिन में बँटा हुआ है। जब दिन से भी ऊपर बढ़ते हैं तो पक्षों के हिसाब से वही अग्नि २४ विभागों में बँटा हुआ मिलता है। उससे भी ऊपर चलते हैं तो महिने के हिसाब से १२ विभागों में विभक्त मिलता है। उससे ऊपर चलते हैं तो वही अग्नि उत्तरायण–दक्षिणायन भेद से–दो भागों में विभक्त मिलता है। बस इसके बाद में पूरा संवत्सर पकड़ में आता है।

इस प्रकार एक ही संवत्सराग्नि अहोरात्र (७२०), शुक्ल कृष्ण पक्ष (२४), मास (१२), ऋतु (३), अयन (२), संवत्सर (१), इन छः विभागों में बँटा हुआ है। वैध प्रक्रियाओं द्वारा–जो कि प्रक्रिया यज्ञ विद्या के नाम से प्रसिद्ध है—इस ६ विभागों में विभक्त दिव्याग्नि का अध्यात्म अग्नि से सम्बन्ध करा १७वें स्थान से (स्वर्ग से) अपने आत्मा की कड़ी जोड़ दी जाती है। आयु भोग कर के यज्ञ कर्त्ता यजमान जब शरीर त्याग करता है तो उसका प्रज्ञानात्मा उस १७वें अग्निसूत्र खिंचाव के कारण नाटक के पर्दे की डोरी की तरह एकदम स्वर्ग में चला जाता है।

पूर्वोक्त अहोरात्र, पक्षादिस्वरूप जो अग्नि है–वह संवत्सर का एक देश है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य इत्यादि अग्निएं संवत्सर के अवयवस्वरूप हैं। बस इन अग्नियों में आहुति डालकर जो यज्ञ किया जाता है–वह एकदेशात्मक यज्ञ कहलाता है–एवं सारे संवत्सराग्नि में सोमाहुति डालकर जो यज्ञ किया जाता है वह सर्वात्मक यज्ञ कहलाता है। अङ्गाग्नि में यज्ञ करना–एकदेशात्मक यज्ञ करना कहलाता है एवं अङ्गी में यज्ञ करना–सर्वात्मक यज्ञ करना कहलाता है। किन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि जब तक अङ्ग यज्ञ नहीं किए जाते हैं अर्थात् अग्निहोत्रादि नहीं किए

जाते हैं–तब तक अध्वर यज्ञ का अधिकार कथमपि नहीं हो सकता है। अधिकार समर्थक अग्निहोत्रादि ही हैं। वास्तव में बात ठीक है—जब तक अहोरात्र की अग्नि को आत्मसात् नहीं कर लिया जायगा तब तक पक्षाग्नि पकड़ में नहीं आ सकता है—जब तक पक्षाग्नि को अध्यात्म में नहीं मिलाया जाय तब तक मासिकाग्नि पकड़ में नहीं आ सकता है, जब तक मासिकाग्नि पकड़ में न आवे तब तक चातुर्मास्याग्नि आत्मसात् नहीं हो सकता है—जब तक चातुर्मास्य का आत्म से सम्बन्ध न हो तब तक अयनाग्नि असम्बद्ध ही रहता है—एवं जब तक अयनाग्नि का सम्बन्ध नहीं होता है तब तक संवत्सर पकड़ में नहीं आ सकता है। संवत्सराग्नि को पकड़ने के लिए पहले तदङ्ग स्वरूप–अग्निहोत्रादि यज्ञ करना परमावश्यक है। हमारा अध्यात्म अग्नि पार्थिवाग्नि है–अतएव इसे लौकिकाग्नि भी कहते हैं। इस लौकिकाग्नि में अर्थात् अध्यात्म अग्नि में दिव्याग्नि को जिस प्रक्रिया से मिलाया जाता है उसी को 'अग्न्याधान' कहते हैं। अध्यात्म में अधिदैवत को मिलाने का काम ही अग्न्याधान है। हमने माना कि अग्निहोत्र से अहोरात्र का अग्नि पकड़ में आ जाता है—परन्तु आ तब जाता है जब कि अध्यात्म में उसके प्रविष्ट होने का कोई मार्ग हो। यदि दिव्याग्नि की मात्रा अध्यात्म में रहेगी तो एकदम अहोरात्र का दिव्याग्नि, अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाएगा। बस इस अहोरात्राग्नि को आत्मसात् करने के लिए–पहले अध्यात्म अग्नि को (लौकिकाग्नि को) दिव्याधान करके दिव्याग्नियुत किया जाता है। बतलाना हमें यह है कि जैसे बिना अग्निहोत्रादि के संवत्सर यज्ञ नहीं हो सकता तद्वत् बिना अग्न्याधान के अग्निहोत्रादि नहीं हो सकते। अग्न्याधान अङ्ग का भी अङ्ग है। अङ्ग का अङ्ग क्यों सर्वाङ्ग है। बिना इसके कोई यज्ञ हो ही नहीं सकता–तो बस संवत्सर यज्ञ करने वाले को पहिले अग्न्याधान करना पड़ता है, अनन्तर सांय-प्रातः अग्निहोत्र करना पड़ता है, अमापूर्णिमा को दर्शपूर्णमासेष्टि करनी पड़ती है–अनन्तर–ऋतु चातुर्मास्य अन्नचातुर्मास्य करने पड़ते हैं। तदनन्तर अयन करना पड़ता है–जिसे कि पशुबन्ध कहते हैं–तदनन्तर सौत्रामणि इष्टि करनी पड़ती है। तदनन्तर सोमयाग का अधिकार प्राप्त होता है। अन्नचातुर्मास्य भी व्रीहि, यव और श्यामाक भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं। वस्तुतः दोनों ऋतु चातुर्मास्य ही हैं क्योंकि ऋतु में ही तो यह किए जाते हैं। परन्तु एक में अन्न सम्बन्ध से दिव्य देवताओं को आत्मसात् किया जाता है अतएव एक को–"अन्नचातुर्मास्य" नाम से व्यवहृत करते हैं, एवं एक में–चूँकि वायु सम्बन्ध से दिव्याग्नि सम्बन्ध किया जाता है—अतएव इसे "ऋतु चातुर्मास्य" कहते हैं।

जो अन्नचातुर्मास्य है–उसे ही "आग्रायणेष्टि"–कहते हैं। १२ महिने में व्रीहि–यव और श्यामाक यह तीन फसिल होती हैं अतएव आग्रायणेष्टि भी तीन ही करनी पड़ती हैं। शीतर्त्तु में **व्रीहि** पैदा होते हैं–अतएव इसमें (१) व्रीह्याग्रायणेष्टि की जाती है, ग्रीष्म में **यव** पैदा होते हैं–अतएव इसमें (२) यवाग्रायणेष्टि की जाती है, एवं वर्षा में **श्यामाक** पैदा होते हैं अतएव इसमें (३) श्यामाकाग्रायणेष्टि की जाती है। इन तीनों से अन्न द्वारा दिव्याग्नि को आत्मसात् किया जाता है—एवमेव ऋतु चातुर्मास्य भी वैश्वदेव, वरुण-प्रघास एवं शाकमेध भेद से तीन ही प्रकार के होते हैं। बस संवत्सराधिकार प्राप्त्यर्थ पहिले इतने यज्ञ करने पड़ते हैं—

१ अग्न्याधान **२ अग्निहोत्र** **३ दर्शपूर्णमासेष्टि**
४ आग्रायणचातुर्मास्य **५ ऋतुचातुर्मास्य** **६ अयन**

एक संवत्सर तीन खण्डों में विभक्त रहता है। अग्न्याधान उसका पहिला खण्ड है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण चातुर्मास्य, ऋतु चातुर्मास्य, अयन इन पाँचों का दूसरा खण्ड है—एवं तीसरा स्वयं संवत्सर है। दिन, मास और वर्ष, संवत्सर में यह तीन ही विभाग मोटे तौर से माने जाते हैं। एवं ३ टुकड़े चार-चार महिने के होते है। बस इन्हीं के अग्नि को आत्मसात् जब पहिले कर लिया जाता है—तदनन्तर सोमयाग का अधिकार होता है। बिना इनके किये सोमयाग कर नहीं सकते अतएव अब से पहिले के दो काण्डों में–सोपपत्तिक, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण, वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, इतने यज्ञाङ्गों की इतिकर्त्तव्यता बतला दी है। सोमयाग से पहिले–अयन अर्थात् पशुबन्ध और सौत्रामणि इष्टि और करनी पड़ती है—अतः इन्हें भी पूर्व के दो ही काण्डों में बतलाना उचित था परन्तु किसी कारण विशेष से अयन और सौत्रामणि की इतिकर्त्तव्यता बतला कर–चातुर्मास्य के अनन्तर ही सोमयाग का प्रारम्भ कर देते हैं। चूँकि यह सोमयाग प्रधान यज्ञ है—अतएव इस एकल्ले की इतिकर्त्तव्यता–दूसरे और चौथे–दो काण्डों में बतलाई जायगी–तीसरे और चौथे काण्ड में सोमयाग ही की इतिकर्त्तव्यता समझनी चाहिए।

इस सोमयाग के अर्थात् अध्वरयज्ञ के–**सुत्या और ग्रह**, यह दो भेद हैं। सुत्या ही का दूसरा नाम है **"सव"**। इस सुत्या में प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन, एवं सायं सवन, यह तीन सवन होते हैं। एवं ग्रहयज्ञ में सोम रस से परिपूर्ण ४० ग्रह नाम के पात्रों की आहुति दी जाती है—जिसकी कि इतिकर्त्तव्यता 'सव' याग के अनन्तर बतलाई जायगी–इस संवत्सराग्नि में यह सोम डाला जाता है—अतः **'सूयते'**–(कर्म्मणि म प्रत्ययः) इस व्युत्पत्ति से–इस हुत होने वाले द्रव्य को–"सोम" कहते हैं। एवं इसको डालने की जो क्रिया है–उसे–'सुत्या' कहते हैं। एवं जब सोम अग्नि में डाल दिया जाता है तो वह "सुत" कहलाता है। इसीलिए तो पुत्र को भी "सुत" कहा जाता है। माता की योनि में जो भभकता हुआ आग्नेय रुधिर है उसमें जब पिता का वीर्य अर्थात् सोम हुत होता है–तभी तो पुत्र उत्पन्न होता है। सोम ही पुत्र रूप में परिणत होता है–अतएव इसे सुत कहते हैं। इसीलिए सोम सम्बन्ध से ही वैदिक महर्षि–शिष्य को किंवा पुत्र को "सोम्य" शब्देन व्यवहृत किया करते हैं। जो द्रव्य आता हुआ है वह सोम है–एवं जो आ कर हुत हो जाता है–वही सुत है। चूँकि इस संवत्सराग्नि में सोम की आहुति दी जाती है–अतएव इसको 'सुत्या, किंवा 'सव', सोम' इन नामों से व्यवहृत करते हैं।

संवत्सर को हमने पृथिवी के रथन्तर साम स्वरूप बतलाया था। यह रथन्तर–साम सूर्य्य के वृहत्साम के (सोलर सिष्टम के) परे में रहता है–अतएव इस सूर्य्य सोलर सिष्टम को भी हम "संवत्सर मण्डल" कह सकते हैं। बस इस संवत्सर में जिस वँध क्रिया से यजमानात्मा पहुँच जाता है उसी का नाम "सव" किंवा "सुत्या" किंवा "सोम" किंवा "अध्वर"। स्वयं, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा,

पृथिवी बस सारा विश्वप्रपञ्च इन्हीं पाँच मण्डलों में विभक्त है । इन पाँचों की सत्ता, पाँचों का स्वरूप जिनके आधार पर अवलम्बित रहता है–वैदिक परिभाषा में उन्हें ही **"मनोता"** कहते हैं । उन्हीं में इनके मन ओत-प्रोत रहते हैं अतएव उनका नाम "मनोता" है । जैसा कि श्रुति कहती है—

"तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि । वाग्वै देवानां मनोता तस्या हि तेषां मनांस्योतानि । गौर्वैदेवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि । अग्निर्वै देवानां मनोता–तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि" इति ।।ऐ. ब्रा. ।।

पांचों मण्डलों के भिन्न–भिन्न मनोता हैं । वेद,सूत्र, नियति यह तीन मनोता स्वयम्भू मण्डल के हैं, भृगु, अङ्गिरा, अग्नि यह तीन मनोता परमेष्ठि–मण्डल के हैं–ज्योतिः, गौः आयुः, यह तीन मनोता सूर्य्य के हैं, रेतः, श्रद्धा, यशः यह तीन मनोता चन्द्रमण्डल के हैं, एवं वाग्, गौ, द्यौ, यह तीन मनोता पृथिवीमण्डल के हैं । इन्हीं के आधार से पाँचों का स्वरूप बना हुआ है । इन पांचों में से प्रकृत में–हमारा प्रयोजन केवल–सौर मनोताओं से है। **सूर्य्य ही के सोलर–सिष्टम का नाम "संवत्सर" है।** सोमयाग से इसी संवत्सराग्नि में (१७ वें) आत्मा को बद्ध किया जाता है । सूर्य्य में–चूंकि ज्योतिः, गौ, और आयु यह तीन मनोता हैं:—अतएव यह अध्वर याग भी तीन ही प्रकार का हो जाता है । ज्योतिर्भाग का नाम देवता है ।**प्रकाशीप्राण** ही को तो देवता कहते हैं, एवं भूतभाग का नाम 'गौ' है, एवं आत्मा का नाम आयु है । तात्पर्य्य यही है कि **सूर्य्य के ज्योतिर्भाग से–हमारे अध्यात्म ३३ सौ देवताओं का स्वरूप बनता है । एवं गौ भाग से हमारे हाडमाँसमेदा वगैरह भूत बनते हैं,** एवं **आयुर्भाग से–जो कि संख्या में ३६००० (छत्तीस हजार) हैं–हमारा आत्मा बनता है ।** इसीलिए तो **"सूर्य्य आत्माजगतस्तस्थुषश्च"** कहा जाता है । सूर्य्य से ही यच्चयावत् प्राणि–मात्र की उत्पत्ति होती है । प्राणिमात्र की क्या जडचेतन सभी की उत्पत्ति इसी से होती है । इसीलिए **"नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूता"...... यह कहा जाता है । अपि च इसीलिए श्रुति कहती है—**

"आकृष्णेन रजसाऽवर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्येन सविता देवो रथेनाऽयाति भुवनानि पश्यन्" ।।

सूर्य्य में चूँकि ज्योति, गौ और आयु यह तीन ही पदार्थ रहते हैं । फरक केवल नाम का हो जाता है । अध्यात्म में उन्हीं तीनों को–देवता, भूत और आत्मा कहने लगते हैं । तो बस इससे सिद्ध हो जाता है कि हमारे में सूर्य्य में से तीनों पदार्थ स्रोत रूप में आया करते हैं । अतएव हम तीनों से उस सूर्य्यलोक में–अर्थात् १७ वें स्वर्ग में–पहुँच सकते हैं । देवता द्वारा भी हम स्वर्ग में पहुँच सकते हैं, भूत द्वारा भी पहुँच सकते हैं, एवं आत्मा द्वारा भी पहुँच सकते हैं । स्वर्ग में पहुंचने के तीनों द्वार हैं । मार्ग तीनों भिन्न-भिन्न हैं–स्वर्ग प्राप्ति फल तीनों में समान हैं । तो बस ज्योतिमार्ग

में आहुति डालकर यदि हम स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञ करते हैं वह–**"ज्योतिष्टोम"** कहलाता है। एवं भूतभाग से अर्थात् गौ भाग से यज्ञ करते हैं वह—**"गोष्टोम"** कहलाता है, एवं आयुर्भाग, से जो यज्ञ करते हैं—वह **"आयुष्टोम"** कहलाता है। सोम–राशि को समूह को कहते हैं। हमारे अध्यात्मस्थ ज्योति–गौ–आयु–पर वँध उपायों से–हम आहुति द्वारा जब उस हुत द्रव्य की–तह पर तह लगाते चले जाते हैं तो—१७ तक पहुँच जाते हैं। वही अध्याम अग्नि–उस दिव्याग्नि के चुनाव से–उस १७ वें स्थान में पहुँच जाता है। उसकी पकड़ में अध्यात्म अग्नि आ जाता है। ज्योतिर्भाग में सोमाहुति डालने से–जो अग्नि का स्तोम १७ तक बनता है—उसे "ज्योतिष्टोम" कहते हैं, गोभाग में सोमाहुति से बनने वाले स्तोम को "गोष्टोम" कहते हैं, आयुर्भाग में सोमाहुति से बनने वाले सोम को "आयुष्टोम" कहते हैं। इस प्रकार वह अध्वर–ज्योतिर्गोरायु भेद से—तीन तरह का हो जाता है। तीनों एक से एक बेलाग हैं। एकत्रावस्थित पञ्चाशार दीपप्रभामण्डलवत् तीनों एक स्थान पर रहकर भी असंग हैं—परस्पर असम्बद्ध हैं।

इन तीनों में से जो ज्योतिष्टोम है वह प्रकृतियाग है, एवं "गोष्टोम" "आयुष्टोम" विकृति भाग है। जो कायदा ज्योतिष्टोम का है वही कायदा गोष्टोम आयुष्टोम का है।" **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्याः**, यह सिद्धान्त है। जैसे **अङ्गयज्ञों की प्रकृति दर्शपूर्णमास है, तद्वत्–अध्वरों की प्रकृति–ज्योतिष्टोम–है**। ज्योतिष्टोम से स्वर्ग में जाना देवताओं के द्वारा जाना है ज्योति- र्भाग के द्वारा जाना है। इसीलिए ज्योतिष्टोमयाजी कहता है—

"सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहा माविदाम देवानृश्च ज्योतिः" ॥ (३३ पृ० यजुः सं०)

तात्पर्य कहने का यही है कि अधिदैवतवत् अध्यात्म में ज्योति, गो, आयु तीनों हैं अतः तीनों में से किसी एक के जरिए हम स्वर्ग में (१७ वें) पहुँच सकते हैं। इन तीनों में से जो ज्योतिष्टोम है—वह सप्तसंस्थ है। ज्योतिष्टोम ७ (सात) प्रकार का है–उनके नाम यह हैं–(१) **अग्निष्टोम** (२) **अत्यग्निष्टोम** (३) **उक्थस्तोम** (४) **षोडशीस्तोम** (५) **अतिरात्रस्तोम** (६) **वाजपेयस्तोम** एवं (७) **आप्तोर्यामस्तोम**। जैसा कि आश्वलायन श्रौतसूत्र में लिखा है—

"अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति संस्थाः" इति। (आश्व० श्रौ० सू० ६।११।१) ॥

संवत्सर में वितत रहने वाले ज्योतिर्भाग की सात संस्था हैं। उसकी सात तह हैं। पहली तह का नाम **अग्निष्टोम** है एवं उत्तरोत्तर तहों का नाम **अत्यग्निष्टोमादि** है। सातों की इतिकर्त्तव्यता भिन्न–भिन्न है। इनमें पूर्व–पूर्व यज्ञ उत्तरोत्तर में अङ्गभूत है। **जो अत्यग्निष्टोम करेगा उसे अग्निष्टोम भी करना पड़ेगा। जो उक्थस्तोम करेगा उसे अग्निष्टोम और अत्यग्निष्टोम भी करना पड़ेगा।** उत्तरोत्तर यही नियम समझना चाहिए। यह सातों ही ज्योतिष्टोम कहलाते हैं। अतएव प्रकृत के अग्निष्टोम को

ज्योतिष्टोम शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। इसी का प्रारम्भ किया जायगा। चूंकि यह ज्योतियों का स्तोम है—(समूह) है अतएव इसे ज्योतिष्टोम कहते हैं। इसी का तीसरा नाम है चतुष्टोम। त्रिवृत-पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश-इन चार ज्योतियों का समूह चूंकि इसमें रहता है अतएव "चतुर्णां **ज्योतिषां स्तोमः**" इस व्युत्पत्ति से इसे चतुष्टोम कहते हैं। **पृथिवी के केन्द्र से निकलने वाला अग्नि २१ तक ही जाता है—बाद में ३३ तक सोम रहता है।** अतएव अग्नि सोम २१ तक ही बतलाया जाता है। सम्पूर्ण प्रपञ्च से सिद्ध होता है कि सोमयाग-ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम भेदेन तीन प्रकार का है। इनमें से ज्योतिष्टोम अग्निष्टोमादि भेद से ७ प्रकार का है। इनमें जो अग्निष्टोम है- उसे चतुष्टोम भी कहते हैं। बस इस चतुष्टोम का ही प्रारम्भ किया जाता है—

अध्वरयज्ञः प्रारम्भः

तत्रादौ प्रथमं देवयजनब्राह्मणम्—

पाकयज्ञ और **वितानयज्ञ** भेदेन यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। जो घर में होने वाले गृह्य (स्मार्त) यज्ञ हैं—वे पाक यज्ञ कहलाते हैं। एवं जो जंगल में बड़ी दूर तक वितत होकर होते हैं—जोकि श्रौत यज्ञ हैं—आरण्य हैं—वे "वितान" यज्ञ कहलाते हैं। यह जंगल में किया जाता है। इस यज्ञ के लिए जो निर्धारित भूमि होती है उसे ही **"देव-यजनभूमि"** कहते हैं। १०० बीघा-१० बीघा-जितनी भी जमीन यज्ञार्थ नियत रहती है—जिसमें कि दूसरा काम नहीं हो सकता—बस उसे ही "देवयजन" भूमि कहते हैं। यजमान सोमयाग करेगा—वितानयज्ञ करेगा—अतएव यजमान के अनुचर लोग देव-यजन भूमि को संपन्न करते हैं। सोमयज्ञ के लिए-जमीन का निर्धारण करते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"देवयजनं जोषयन्ते"।

देवता लोग इस भूमि में पूजे जाते हैं-अतएव **"देवा-इज्यन्ते-अत्र"** इस व्युत्पत्ति से यज्ञार्थ निर्धारित भूमि को "देवयजन" कहते हैं। भौम स्वर्गवासी देवताओं के यज्ञ का स्थान कुरुक्षेत्र में था। कुरुक्षेत्र इसी काम के लिए नियुक्त था। वहाँ सिवाय देवताओं के और किसी का अधिकार न था- अतएव **"कुरुक्षेत्र वै देवयजनमास"** यह कहा जाता है। चूँकि देवता उसमें रहते थे-अतएव कुरुक्षेत्र के लिए **"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"** कहा जाता है। यजमानपुरुष-प्राचीनवंश, सदो-मण्डप, हविर्द्धान मण्डपादि निर्माणपर्य्याय जमीन को निर्धारित करते हैं। बस "देवयजनं जोषयन्ते" का यही तात्पर्य है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ करने के वास्ते यजमान जो सबसे बड़ी जमीन हो वही पसन्द करे। जंगल में जब वे यज्ञार्थ भूमि का निर्धारण करने जाएँ तो-जो सबसे बड़ी जमीन हो वही घेरें। एवं साथ ही में-ऐसी जमीन घेरें जिसमें वृक्ष, कूड़ा कर्कट इत्यादि न हो। जमीन के अतिरिक्त और कुछ न हो। अन्यथा उसे साफ करने में बड़ी दिक्कत होगी। इसलिए—वर्षिष्ठ लो (अतिशयेन उरु इति वर्षिष्ठम्)। एवं वृक्षादि से रहित लो-यही तात्पर्य है—

"स यदेव वर्षिष्ठं (अतिविपुलम्) स्यात् तज्जोषयेरन् । यदन्यद् भूमेर्नाभिशयीत" ।

जमीन से अतिरिक्त वृक्षादि उस यज्ञार्थ निर्धारित भूमि में नहीं होने चाहिए यही '**यदन्यद्-भूमेर्नाभिशयीत**" का तात्पर्य है । यदि वृक्षादियुक्त एवं अधिक कूड़े कर्कट वाली जमीन ली जायगी तो उसे साफ करने में बड़ी दिक्कत होती है—यह तो आपत्तिप्रत्य ही है । एवं साथ ही में वैज्ञानिक दृष्टि से भी वृक्षादि समूहयुक्ता भूमि–यज्ञ के लिए त्याज्य है । बस इसी को बतलाते हुए कहते हैं—

"देवतालोग इसी भूमि से (ही) स्वर्ग को गए हैं—एवं जा रहे हैं" ।

सूर्य्य में 'ज्योतिर्गोरायु' यह तीन पदार्थ रहते हैं—यह हम अभी बतला आए हैं । **इनमें से जो ज्योतिर्भाग है—उसे ही देवता कहते हैं । सूर्य्य का जो रश्मिमण्डल है वही प्रकाश कहलाता है ।** एवं प्रकाश ही को कहते हैं देवता । इसीलिए श्रुति कहती है—

**"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" ।।**

सूर्य्य की रश्मिएँ पृथिवी पर आती हैं । यहाँ आकर उनका प्रतिफलन (रिफ्लेक्शन) होता है । बस इस प्रकार से प्राणद्पानत् करती हुई सूर्य्य-रश्मिएँ पृथिवी पर आती रहती हैं एवं प्रतिफलित हो वापस उसी अपने सूर्य्यलोक में जिसे कि स्वर्ग कहा जाता है लौटती रहती हैं । इसीलिए कहा जाता है—

**"आयं गौः क्रमीद सदनमातरं पुरः पितरं च प्रयन्तवः ।
अन्तश्चरति रोचना–अस्य प्राणदपानती व्यख्यन् महिषो दिवम्" ।।**

रश्मियों को ही देवता कहते हैं । क्यों कि ज्योतिर्भाग का नाम है देवता–एवं रश्मिएँ हैं ज्योतिस्वरूप । यह देवता अर्थात् ज्योतिस्वरूप रश्मिएँ द्युलोक से प्राणदपानत् क्रिया से पृथिवी पर आके यहीं से वापस प्रतिफलित हो अपने द्युलोक में लौट जाती हैं । यह धाराक्रम अनवरत जारी रहता है । इसी विज्ञान को बतलाने के अभिप्राय से—

"अतो वै देवा दिवमुपोदक्रामन्" ।

कहा गया है । जो मनुष्य दीक्षा लेता है अर्थात् सोमयाग करता है–यज्ञ प्रभाव से–पृथिवी लोक से जाते हुए–उन देवताओं के साथ यह यजमान भी स्वर्गलोक में जाता है । अर्थात् **पृथिवीलोक**

से प्रतिफलित ज्योतिर्भाग के साथ ही यज्ञ द्वारा यजमानात्मा का भी–उस १७वें स्थान से सम्बन्ध हो जाता है—

"देवान्वा एष उपोत्क्रामति यो दीक्षते"।

ऐसी हालत में वृक्षादि रहित शुद्ध भूमि में यज्ञ करता हुआ यजमान–सदेव–(देवता सहित) देवयजन भूमि में ही सोम–यज्ञ करता है। अर्थात् वृक्षादि से रहित शुद्ध भूमि में यज्ञ करना–द्यु लोक जाते हुए देवप्राणयुक्त भूमि में यज्ञ करता है—ऐसी भूमि में यज्ञ करने से ही—यजमानात्मा स्वर्ग में जाता है।

"स सदेवे देवयजने यजते"।

ऐसी हालत में यदि भूमि से अलावा वृक्षादियुक्त देवयजन में यह यजमान यज्ञ करेगा तो–यज्ञ करके भी–नीचे का नीचे ही रह जायगा। बात सच है। **यदि सघन वृक्षों वाले जंगल में यज्ञ किया जायगा तो उस यज्ञभूमि पर तो सूर्य्य की रश्मिएं ही नहीं आएँगी।** रश्मिएँ तो वृक्ष से ऊपर की ऊपर प्रतिफलित हो अपने लोक में चली जाएँगी। यजमान जो यज्ञ करा के भी नीचे ही टापा करेंगे। **आत्मा तो ज्योति के द्वारा ऊपर जाता है। जब उसका यज्ञभूमि से सम्बन्ध ही नहीं होगा तो फिर यज्ञ करना व्यर्थ है।** इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स यद्ध (यत्रह) अन्यद् भूमेरभिशयीत–अवरतर इव हेष्ट्वा स्यात्"।

ऐसा न हो (कि) यज्ञ करके भी यजमान स्वर्गावाप्ति से वंचित रह जाय अतः यजमान के अनुचरों को चाहिये कि वे विपुल एवं वृक्षादि से रहित खुले मैदान को देवयज्ञार्थ घेरें। खुली और विपुल भूमि में यज्ञ करना चाहिए—यही तात्पर्य्य है—

"तद्यदेव वर्षिष्ठं स्यात्–तज्जोषयेरन्"।

जमीन तो है परन्तु वह ऊबड़–खाबड़ है। विषम धरातलयुक्ता है—ऐसा भी नहीं होना चाहिए। वह देवयजन वर्ष्म होता हुआ सम भी होना चाहिए। **वर्ष्म कहते हैं शरीर को। जमीन के अलावा और कुछ न हो तो वर्ष्म ही कहलाता है।** केवल जमीन नहीं है—उसी का शरीरमात्र है—उसके अलावा और वृक्षादि नहीं है इसीलिए 'वर्ष्म' विशेषण दिया है। इस प्रकार भूमि के अलावा और कुछ न होने पर भी यदि वह जमीन ऊबड़-खाबड़ हो तब भी काम की नहीं है। क्योंकि जो खड्डेवाली–विषम धरातलयुक्ता जमीन होगी वह भी देवताओं से सर्वात्मनायुक्त नहीं होगी। जो खड्डे होंगे उनमें सूर्य्य रश्मियों का प्रतिफलन होगा ही नहीं। अतः वह देवयजन वर्ष्म होता हुआ भी सम होना चाहिए।

देवयजनभूमि का धरातल एकसार होना चाहिए **"तद् वर्ष्मसत् समं स्यात्"** इति। एवं सम होते हुए भी वह देवयजन अविभ्रंशि (ठोस) होना चाहिए। यदि दीखने में यह भूमि बिल्कुल सम है—

परन्तु अन्दर से पोली है तो—ऐसी भूमि भी यज्ञ के लिए अनुपयुक्त है अतः समता के साथ-साथ ही वह देवयजन अविभ्रंशी भी होना चाहिए—

"समं सदविभ्रंशि स्यात्" इति—

एवं ठोस होता हुआ भी वह देवयजन प्राक्प्रवण होना चाहिए। पूर्व की ओर उस जमीन का झुकाव होना चाहिए। यदि उस पर पानी डालें तो वह पूर्व की ओर बह कर जाय—ऐसी जमीन होनी चाहिए। पूर्व की ओर ढाल रहने वाली जमीन ही—यज्ञ के लिए उपयुक्त है।

"अविभ्रंशिसत् प्राक्प्रवण स्यात्"।

प्राक्प्रवणता का कारण बतलाते हैं—पूर्वा दिक् ही तो देवताओं की दिक् है। बात सच है—पूर्व में ही भगवान् सूर्य्य का उदय होता है। **देवता स्वरूप रश्मिएँ पूर्व से ही आती हैं।** यदि पूर्व की ओर ढालू वह देवयजनभूमि होगी तो उन रश्मियों का सम्बन्ध उससे अच्छी प्रकार से होगा। **यदि यह पश्चिम की ओर ढालू होगी तो देवता उसे स्पर्श किए बिना आगे निकल जायेंगे**—एवं सम रहेगी तो भी अधिक मात्रा से देवता नहीं आवेंगे-अतः देवसंपत्ति प्राप्त्यर्थ देवयजन प्राक्प्रवण ही होना चाहिए।" "प्राची हि देवानां दिक्" (तस्मात् प्राक्प्रवणमेव स्यात्—इति भावः)॥

यदि ऐसी जमीन न मिले तो फिर उदक्प्रवण का निर्धारण करना चाहिए। जैसे पूर्वादिक् देवताओं की है वैसे उत्तरादिक् मनुष्यों की है। चूंकि यह यज्ञ मनुष्य कर रहा है अतः अपनी दिक् की ओर देवयजन को ढालू रखना भी बुरा नहीं कहा जा सकता। **"अथोदक् प्रवणम्"—"उदीची हि मनुष्याणां दिक्"।**

परन्तु ध्यान रहे—चाहे पूर्व की ओर ढालू रहे अथवा उत्तर की ओर, परन्तु दक्षिणादिक् सदा ऊँची रहनी चाहिए।

"दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यात्"।

इसका कारण बतलाते हैं। जैसे-पूर्वादिक् देवताओं की है, उत्तरा मनुष्यों की है—एवं पश्चिम असुरों की है तद्वत् दक्षिणादिक् पितरों की है। **आग्नेय प्राण का नाम देवता है। प्राण्य प्राण का नाम असुर है—एवं सौम्य प्राण का नाम पितर है—** जिसका कि दिशा विवेचन द्वितीयकाण्ड पिण्डपितृयज्ञ में और साकमेधाङ्गभूत पितृ-यज्ञ में कर दिया गया है। यह सोम उत्तर से दक्षिण को जाया करता है। दक्षिण में जाकर उसकी स्थिति होती है। सोम प्राण स्थान-दक्षिणादिक है। बस इसीलिए **"एषा वै दिक् पितॄणाम्"** कहा है। ऐसी हालत में यदि देवयजन दक्षिण-प्रवण होगा—दक्षिण दिशा की ओर यज्ञभूमि ढालू होगी तो पितृप्राण सम्बन्ध से यह यजमान बहुत जल्दी ही परलोक सिधार जायगा।

"स यद्दक्षिणाप्रवणस्यात्-क्षिप्रेह यजमानोऽमुंलोकमियात्"।

यदि उत्तर अथवा पूर्व देवयजन को प्रवण किया जाता है—तो यह यजमान आयुशेष तक नीरोग हो कर (ज्योक्) जीवित रहता है—इसलिए—देवयजन दक्षिण की ओर से ऊँचा ही रहना चाहिए—

"तथा ह यजमानो ज्योक् जीवति—तस्माद्दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यात्" ।।२।।

दक्षिण से अग्नि आता रहता है, उत्तर से सोम आता रहता है, पूर्व से आयु आती रहती है क्योंकि आयु के प्रदाता भगवान् सूर्य्य ही तो हैं। अग्नि ही मनुष्य की जिन्दगी है। जब तक शरीर में गर्मी रहती है तब तक मनुष्य जीवित रहता है—जहाँ हाथ-पैर ठंडे हुए कि काम खतम। सर्दी प्राणघातिनी है। इसका आगमन उत्तर से होता है। **सर्दी-गर्मी दोनों का प्रवेश सिर के बीच में जो केशान्त स्थान है—जिसे कि सुषुम्णा कहते हैं—जो कि वैदिक परिभाषानुसार "दृति" नाम से पुकारा जाता है**—इसमें से होता है। ऐसी हालत में उत्तर की ओर मस्तक करके सोया जायगा तो सोम की मात्रा प्रविष्ट हो जायगी अतएव अग्नि की मात्रा कम हो जायगी। बस ऐसे मनुष्य की आयु जल्दी ही क्षीण होगी—इसीलिए उत्तर की ओर मस्तक करके न सोने की आज्ञा देते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

मरने पर मनुष्य की गति पितृलोक की तरफ होती है—अतएव **मरे बाद उसे उत्तर की ओर सिराना करके सुलाया जाता है**। अतः जीवित मनुष्य को अपना मस्तक दाहिनी ओर अथवा पूर्व की ओर करके सोना चाहिए। बस यही देवयजन भूमि के दक्षिण की ओर से ऊँची रहने का रहस्य है ।। २ ।।

देव-यजन निर्माण करते समय उस तुम्हारे देवयजन से पूर्व की ओर—**"दूसरा कोई देवयजन बना लें"**—उतनी जमीन हर्गिज मत छोड़ो। अर्थात् जहाँ तुम यज्ञ करना चाहते हो—उस तुम्हारी यज्ञभूमि से—पूर्व की ओर इतनी जमीन नहीं रहनी चाहिए—जिसमें कि दूसरा कोई मनुष्य देवयजन बना कर यज्ञ कर सके। या तो तुम्हारे देवयजन से पूर्व की ओर कोई पहाड़ होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए। जो यजमान—अपने देवयजन से—पूर्व की ओर देवयजन मात्र भूमि को छोड़ देता है—वह अपने द्विषत् और भ्रातृव्य शत्रुओं की वृद्धि करता है। अतः हर्गिज-हर्गिज **पूर्व की ओर जमीन नहीं रहनी चाहिए।**

"न पुरस्ताद्देवयजनमात्रमतिरिच्येत। द्विषन्तं हास्य तद् भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते"।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि **आपत्ति** पूर्व की ही है—उत्तर और दक्षिण के लिए कोई रुकावट नहीं है। उत्तर और दक्षिण के लिए कामचार है। तुम्हारी इच्छा हो उतनी जमीन उत्तर-दक्षिण में छोड़ सकते हो। **"कामं ह दक्षिणतः स्यादेवमुत्तरतः"** परन्तु इतना अवश्य समझो देवयजन वही समृद्ध है जिस यजमान के पश्चिम में देवयजनमात्र भूमि परिशिष्ट है।

जिस स्थान पर यजमान यज्ञ कर रहा है उससे पश्चिम की ओर यदि इतनी ही जमीन बाकी है तो **यह सुसमृद्धि का लक्षण समझो।** जिसके पश्चिम में देवयजनमात्र भूमि बाकी बच रहती है, बहुत शीघ्र ही **"उत्तरा देवयज्या"** उसकी ओर झुक जाती है। अर्थात् इस यज्ञ के बाद बहुत शीघ्र ही वह दूसरा यज्ञ करने वाला है। यही **पश्चिम की ओर** देवयजनमात्र भूमि छोड़ने का फल है—

"एतद्ध त्वेव समृद्धं देवयजनं यस्य देवयजनमात्रं पश्चात् परिशिष्यते क्षिप्रे हैवैनमुत्तरा देवयज्या-उपनमतीति"।

बस देवयजन के विषय में हमें इतना ही कहना है। "एतन्नुदेवयजनस्य"। देवयजन में निम्न बातों पर लक्ष्य रखना चाहिए—

"देवयजनं जोषयन्ते। उच्चतमम्। समम्। अविभ्रंशि। अभितो देवयजन-मात्रदेशम्। पुरस्ताद्वर्जम्। प्राक्प्रवणम्। उदग्वा"—(का०श्रौ०७) ॥ ३ ॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदुवंशी महाराजा वृष्णि के वंश में उत्पन्न होने वाले वार्ष्ण्य के लिए उनके निमन्त्रण से मैं वहाँ देवयजन भूमि का निर्म्माण करने के वास्ते गया था। कहो कैसी देवयजन भूमि होनी चाहिए इसके लिए उन्होंने मुझे बुलाया था—वहाँ पर सात्ययज्ञ नाम के महर्षि भी आए हुए थे। देवयजन भूमि के लिए मुझे आया देख उन्होंने कहा कि—**"यह सारी पृथिवी ही देवयजन है"**। बात सच है देवताओं (सूर्यरश्मियों) का जहाँ सम्बन्ध होता है **"वह सब देवयजन है"**। इसलिए हमारे खयाल से देवयजन के लिए कोई खास भूमि के परिग्रह की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तुम इसका हिस्सा ठीक समझो वहीं—यजुः से अर्थात् मन्त्र से उसका परिग्रह कर—यजमान से यज्ञ करवा डालो। सात्ययज्ञ का अभिप्राय यह है कि **सामर्थ्य तो मन्त्र में है।** एक पाषाण की मूर्ति में भी मन्त्रशक्ति से प्राण प्रतिष्ठा कर उसे उपास्य के लायक बनादी जाती है। शक्ति मन्त्र में है न कि मट्टी में इसलिए जहाँ उचित समझो-मन्त्र से देवप्राण का सम्बन्ध कर वहीं यज्ञ करवा डालो—

"तदु होवाच याज्ञवल्क्यः-वार्ष्णाय देवयजनं जोषयितुमैम तत्सात्ययज्ञो-ऽब्रवीत् सर्वा वाऽइयं पृथिवी देवी देवयजनं यत्र वाऽअस्यै क्व च यजुषैव परि-गृह्य याजयेदिति" ॥ ४ ॥

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य तो ऋत्विजों को ही देवयजन बतलाते हैं **"ऋत्विजो है व देवयजनम्"।** उनका कहना है कि जो उतथशास्त्र साङ्गप्रवचन अध्येता हैं—**वह यदि किसी भी स्थान पर यज्ञ करवा देते हैं**—तो यजमान के लिए वही **अच्युता** है। दोषरहिता सम्पत्ति है। यदि जमीन अच्छी है और ऋत्विज मूर्ख है तो सारा यज्ञ भ्रष्ट है—और यदि जमीन खराब भी है और ऋत्विक-विद्वान् है तो सारा काम सिद्ध है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हम तो इसी ऋत्विज सम्पत्ति को देवयजन के अत्यन्त नजदीक मानते हैं। हमारे खयाल से **"सच्चे ऋत्विजों का मिलना** सब कुछ मिल जाना है—

"ऋत्विजो हैव देवयजनम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवान्सोऽनूचाना विद्वान्सो याजयन्ति सैव "अह्वला" । एतन्नेदिष्ठामिव मन्यामहे"—इति ॥५॥

जिस जगह सोमयाग किया जायगा उसके लिए भूमि का निर्धारण हो चुका जो कि भूमि **"देवयजन"** नाम से प्रसिद्ध है—उसका निर्म्माण हो चुका । इस महाविशाल देवयजन में भिन्न-भिन्न कर्मों के लिए अनेक शालाएँ बनती हैं । उनमें सब से पहिले उस महाशाला का विधान करते हैं जिसमें कि आहवनीय गार्हपत्यागार बनेंगे एवं आहवनीय गार्हपत्य कुण्ड बनेंगे । इसी महाशालान्तर्गत **आहवनीय ही में** देवताओं के लिए आहुति दी जाएगी । वह शाला कैसी बननी चाहिए, किधर उसका मुँह होना चाहिए, यह बतलाते हैं—

उस देवयजन में बड़ी लम्बी चौड़ी शाला बनाते हैं । इस शाला का जो बीच का बाँस है वह पूर्व पश्चिम रहना चाहिए । छप्पर की शाला बनाई जाती है । छप्पर दोनों ओर से ढालू रहता है । उसके बीच में एक बड़ा लम्बा बाँस लगाया जाता है । उसी बाँस के आधार पर इधर उधर के पायों में छप्पर का आधा आधा हिस्सा झुका रहता है । इस बाँस का मुँह पूर्व पश्चिम रहना चाहिए । न कि उत्तर दक्षिण । छप्पर के दोनों पार्श्व उत्तर दक्षिण रहने चाहिए न कि पूर्व पश्चिम । इस शाला में बहुत द्रव्य लगता है । करीब करीब सात आठ सौ रुपये लग जाते हैं । इस शाला के ऊपर ताम्रकलश लगाया जाता है, ध्वजा लगाई जाती है । इस प्रकार से एक खासा मण्डप तय्यार किया जाता है । परन्तु जो इतना द्रव्य नहीं लगा सकता है, वह और कुछ नहीं तो, **जितनी दूर में शाला बननी चाहिए** उतनी दूर को लकड़ी बांध कर, बीच में टाटी वगैरह लगाकर मामूली ही मण्डप तय्यार करले । परन्तु करना अवश्य पड़ेगा । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तच्छालां वा विमितं वा प्राचीनवंशं मिन्वन्ति" ।

यदि शाला न बना सके तो एक हाथा ही उतनी दूर में बनाले—यही **"विमितं वा"** का तात्पर्य्य है । इसका बाँस पूर्व की ओर क्यों रक्खे इसका कारण बतलाते हैं । देवता लोग पूर्व की ओर से पश्चिम मुख होकर—**पूर्वादिक् देवताओं की है**—मनुष्यों के पास आए हैं । बात वास्तव में ठीक है—**सूर्य्य की रश्मिएँ पूर्व से पश्चिम की ओर मुँह किए ही तो हमारे पास आती हैं** इसीलिए उन देवताओ के लिए पूर्व की ओर मुख करके ही तो हवन करता है । जिधर से देवता आवें उसी ओर ही सारा काम होना चाहिए । चूँकि देवता पूर्व की ओर से आते हैं अतएव आहुति भी उधर मुख करके ही देनी चाहिए । एवं इस शाला के वंश का मुख भी पूर्व की ओर ही होना चाहिए—

"प्राची हि देवानां दिक् । पुरस्ताद् वै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानुपावृताः । तस्मात्तेभ्यप्राङ् तिष्ठन् जुहोति । तस्मात् प्राचीनवंशत्वमुपद्यते"—इति भावः ॥ ६ ॥

चूँकि देवता पूर्व से पश्चिम की ओर आते हैं—उनका अपना स्थान प्राची दिक् है—अतएव दीक्षित मनुष्य कदापि पश्चिम की ओर मस्तक करके एवं पूर्व की ओर पैर करके न सोवे। **हम देवताओं की ओर पैर पसार कर न सोवें—उनकी बेअदबी न करें**—बस इसलिए यजमान को कभी पूर्व की ओर पैर करके नहीं सोना चाहिए—**"तस्माद् ह न प्रतीचीन शिराः शयीत। नेद्देवानभिप्रसार्य शया" इति।**

किसकी कौनसी दिशा है यह प्रसङ्गागत बतला देते हैं—**जो दक्षिणा दिक् है वह पितरों की है, जो पश्चिम दिक् है वह सर्पों की है**—देवता लोग (सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र ग्रह वगैरह वगैरह) प्रतिक्षण पश्चिम जाते दिखाई पड़ते हैं। इन ग्रह वगैरहों की जो चाल है **वह सर्प के आकार की है। सर्प की तरह मंगल-चन्द्रमा वगैरह का परिभ्रमणवृत्त है।** यही तो देवता हैं। यह पश्चिम की ओर सर्पण करते हुए जाते दिखाई पड़ते है—अतएव इस दिक् को सर्पों की दिक् कहा है।

अथवा इसका दूसरा अर्थ समझना चाहिए। सूर्य्य की रश्मियों को हमने देवता बतलाया है। यह रश्मिएँ पूर्व से पश्चिम की ओर इस प्रकार से **सर्पण करती हुई** प्राणदपानत् क्रिया से चलती हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"आयं गौः पृश्निरक्रमीद सदन् मातरं पुरः पितरंच प्रयन्तः।
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणदपानती व्यख्यन् महिषोदिवम्"॥

सर्प ठीक इसी प्राणदपानत् क्रिया से चलता है। इसी प्रकार मध्याकाश से पश्चिम की ओर सूर्य्य-रश्मिएँ (देवता) भी प्रतिसर्पण करती हुई ही जाती हैं। बस इसी अभिप्राय से **"या प्रतीची सा सर्पाणाम्"** कहा गया है। इसी को स्पष्टतया बतलाने के वास्ते याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता लोग जिस पूर्व की ओर से पश्चिम में चले गए हैं वही दिक् **"अहीना"** है। **सर्प ही को अहीन कहते हैं।** वास्तव में सर्पों की दिक् यह नहीं है अपितु देवताओं के उस ओर प्राणदपानत् क्रिया से जाने ही से उसे **अहीना,,।"** कहते हैं—

"यतो देवा उच्चक्रमुः सैषाऽहीना"।

यह हुई पितर सर्पों की दिक् की व्यवस्था। एवमेव जो उत्तरा दिक् है—वह मनुष्यों की दिक् है। चूंकि मनुष्यों की दिक् उत्तरा है। अतएव मनुष्य कर्म्म में (मानुषे) उदीचीन वंश ही शाला-अथवा हाथा बनाते हैं। अर्थात् मनुष्य अपने रहने के लिए यदि शाला (मकान) अथवा अहाता बनावे तो उसे उसके बीच का बांस उत्तरदक्षिणाभिमुख ही रखना चाहिए। क्योंकि वह मनुष्य है, **मनुष्यों की दिक् उत्तरा ही है—**

"योदीची दिक् सा मनुष्याणां, तस्मात् मानुषे (कर्म्मणि) उदीचीन-वंशामेव शालां वा विमितं वा मिन्वन्ति। उदीची हि मनुष्याणां दिक्"।

दीक्षित मनुष्य का आत्मा अग्न्याधानादि से दिव्यभावयुक्त हो जाता है अतएव वह मनुष्य न रह कर देवता बन जाता है इसीलिए तो **"इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि" इति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति** कहा जाता है (श० पृ० १) । इसी अभिप्राय से कहते हैं कि—**दीक्षित मनुष्य की शाला ही प्राचीन वंश हो सकती है क्यों कि वह मनुष्य नहीं है देवता है ।**—परन्तु अदीक्षित मनुष्य की नहीं । अदीक्षित तो सामान्य मनुष्य है । उसकी अपनी दिक् तो उत्तरा दिक् है—

"दीक्षितस्यैव प्राचीनवंशा (शाला)–नादीक्षितस्य" ॥७॥

इस शाला को चारों ओर से आच्छादित करते हैं । सोमयाग में बहुत दिन लगते हैं इसलिए–शाला को–बड़ी ही सुरक्षित एवं मजबूत बनाना पड़ता है । यदि यज्ञ करते समय पानी बरस जाता है और वह पानी शाला में प्रविष्ट हो जाता है तो सारा यज्ञ नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है बस इस वर्षा के उपद्रव से बचने के लिए ही शाला का चारों ओर से परिश्रयण किया जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—**"तां वाऽएतां परिश्रयन्ति । नेदभिवर्षादिति"** । वर्षा न हो जाय अर्थात् वर्षा का पानी शाला में प्रविष्ट न हो जाय इसीलिए सर्वतः इसका परिश्रयण करते हैं ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस शाला में तो यह यज्ञ–वर्षा ही वर्षा है । यहाँ पानी की वर्षा का क्या काम । **शाला आहुतियों की वर्षा के लिए है न कि पानी की वर्षा के लिए––'इतिन्वेववर्षा"** । अपि च परिश्रयण करने का दूसरा कारण और भी है । जो दीक्षा लेता है वह मनुष्यों की मण्डली से हट कर देवताओं में शामिल हो जाता है । इसका मन मनुष्यों से हट कर देवताओं में लग जाता है । बस इसीलिए यह यजमान देवताओं का एक हो जाता है । अर्थात् इसकी गणना देवताओं में होने लगती है । देवता लोग मनुष्यों से तिरोहित ही से रहते हैं । **सूर्य्य ही में सारे प्राण देवता रहते हैं । प्राण तो निराकार ब्रह्म है । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादि रहित हैं । भला इसका प्रत्यक्ष क्यों कर हो सकता है ।** परन्तु साथ ही में इस प्रकाश का हम प्रत्यक्ष भी करते हैं । इसीलिए **"तिर इव वै"** कहा है । एकदम तिरोहित तो नहीं हैं परन्तु यह इन्द्र है—यह वरुण है—यह अश्विनीकुमार है—इत्यादि रूप से प्रत्यक्ष भी नहीं है । यजमान देवता बन गया है, अतः इसे भी मामूली मनुष्यों से तिरोहित ही रहना चाहिए । प्राणदेवतावत् तिरोहित तो यह हो नहीं सकता । अतः इस शाला को चारों ओर से आच्छादित कर देते हैं । जो परिश्रित (आच्छादित) है वह भी 'तिरइव' ही है । आच्छादन से 'तिरोहितस्य सम्पत्ति' हो जाती है । बस, इसीलिए इस शाला का परिश्रयण करते हैं—

"देवान्वा एष उपावर्तते यो दीक्षते । स देवतानामेको भवति । तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः । तिर ह वैतद् यत् परिश्रितं तस्मात् परिश्रयन्ति" ॥८॥

शाला तैयार हो चुकी—बस अब उसमें हरेक आदमी न घुस सके—इस बात का ध्यान रखना चाहिए । बात सच है—**देवताओं के हैडक्वार्टर में मामूली मनुष्य कैसे आ सकता है—"तत्र सर्वइवाभि-प्रपद्येत"** ।

हाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों अवश्य जा सकते हैं। क्योंकि तीनों ही यज्ञिय हैं : यज्ञोपवीत संस्था में उनका आत्मा यज्ञिय है। यह यज्ञ है, यज्ञ में यज्ञिय मनुष्य का ही प्रवेश हो सकता है। **वायसराय लार्ड खान्दान का ही मनुष्य हो सकता है, सामान्य कुल का नहीं।** तात्पर्य यही है कि जिनके पास यज्ञ-सूत्र नहीं है, वे इसमें नहीं जा सकते। क्योंकि **उपवीति का ही आत्मा यज्ञिय होता है।** एवं यज्ञ में यज्ञिय पुरुष का ही प्रवेश हो सकता है—न कि शूद्रादि का—

"ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा (अभिप्रपद्येत-इति शेषः) (यतः) ते हि यज्ञियाः" ॥९॥

यजमान जब तक दीक्षा न ले तब तक चाहे जिससे बातचीत कर सकता है। परन्तु दीक्षा के अनन्तर यजमान किसी से न बोले। दीक्षित हुए बाद चाहे जिससे अण्ड-बण्ड बोलने का अधिकार नहीं है—**"न वै सर्वेणैव संवदेत"।** कारण इसका यही है कि जो दीक्षा लेता है वह मनुष्यों के थोग में से हट कर देवताओं के थोग में आ जाता है। वह मनुष्यों की मण्डली में से हट कर देवताओं का "एक" हो जाता है। अब देवगणना में-**यह भी एक देवता है**—इस प्रकार से यह यजमान आने लगता है। देवता लोग सभी से भाषण नहीं किया करते। केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-इन तीनों से ही देवता भाषण करते हैं। क्यों कि ये तीनों ही यज्ञिय हैं। **यज्ञसूत्र से संस्कार द्वारा इन तीनों के आत्मा में दिव्य भाव का प्रवेश करा दिया जाता है।** यही तो देवताओं का इन तीनों से बोलना है। शूद्र का आत्मा दिव्य भाव से युक्त नहीं होता है—वह यज्ञसूत्र से बद्ध नहीं है—वह तो यथेच्छाचारी है अतएव देवता इससे बात नहीं करते। अर्थात् दैव सम्पत्ति से इसका आत्मा शून्य रहता है—

"देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते। स देवतानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते-(अपितु) ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा (संवदन्ते) (यतो)-ते हि यज्ञियाः"।

चूँकि यजमान देवता हो गया है अतः इसे भी-इन तीनों को छोड़कर—शूद्र से कभी भाषण नहीं करना चाहिए। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि शूद्र से बोलने का काम ही पड़ जाय तो भी स्वयं न बोले अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों में से उस समय जो भी कोई अपने पास हो उसे—आप इस शूद्र को यह कह दीजिए-यह कह दीजिए—यह कह दे। अर्थात् स्वयं न बोल कर जो कुछ शूद्र को कहलाना हो, इन तीनों में से किसी एक के द्वारा कहला दे। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्······एतेषामेव एकं ब्रूयात्-इममिति विचक्ष्वेममिति विचक्ष्व"।

बस यही दीक्षित का व्यवहार है उसे पूर्वोक्त मर्यादाओं का यज्ञ समाप्ति पर्यन्त पालन करना चाहिए—

"एष उ तत्र (सोमयागे) दीक्षितस्योपचारः" ।। १० ।।

जिस प्रकार से विद्या-ग्रहण के लिए शिष्य दोनों हाथों में समिधा ग्रहण कर गुरु के पास जाता है तद्वत् यज्ञ के लिए यह यजमान दोनों हाथों में अरणी ले कर उस शाला में प्रविष्ट होता है— **"अथारणी पाणौ कृत्वा शालामध्यवस्यति-"** ।

इस शाला के दोनों ओर बड़ी-बड़ी दो थूणिएँ लगी रहती हैं। पूर्व पश्चिम जो वंश है उसे रोकने के लिए पूर्व-पश्चिम दोनों ओर बड़े-बड़े थूण लगे रहते हैं। इन दोनों में से जो पूर्व की थूणी है—जो कि विशाल होने से "स्थूणराज" कहलाती है उसका स्पर्श करके निम्नलिखित मन्त्र बोलता है-

"एदमगन्म देवयजनम्पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भिर्रायस्पोषेण समिषा मदेम" ।।

(वा० स० ४।१)

"इदं पृथिव्या देवयजनं; आ-अगन्म । यत्र विश्वे देवासः, अजुषन्त । कीदृग्विधास्ते विश्वेदेवासः-तदुच्यते-ये हि ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तः यजुर्भिश्च एवं च (वयम्) रायस्पोषेण-समिषामदेम (इषा संमदेम)" ।

इस पृथिवी का जो देवयजन भाग था—आज मैं उसमें आ गया हूँ। वह देवयजन कैसा है जिसमें सारे ऋत्विक्, ऋक्यजुसाम के समुद्र में तैरते हुए इस सारे देवयजन में व्याप्त हो रहे हैं। मन्त्र ध्वनियों से उन्होंने सारे देवयजन को पूर्ण कर रखा है। इसी अभिप्राय से कहते हैं "जो शुश्रूवान् एवं अनुचान विद्वान् ऋत्विग् ब्राह्मण लोग हैं उन्हीं से इस यजमान का यह देवयजन व्याप्त हो रहा है—

"तदस्य विश्वैश्च देवै जुष्टं भवति, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रूवान्सोऽनूचानाः" ।

कदाचित् कोई प्रश्न करे कि सारा देवयजन तो फिर भी इन देवताओं से व्याप्त नहीं हुआ। क्या सब जगह थोड़े ही ये पसरे रहते हैं—इसी का उत्तर देते हैं—**यजमान के इस देवयजन को अनूचान शुश्रूवान् ब्राह्मण चारों ओर दृष्टि फैला कर देखते हैं तो उनसे यह देवयजन वास्तव में सर्वात्मना जुष्ट हो जाता है।** चारों ओर नेत्र-रश्मि डालना ही-आसमन्तात्-इस देवयजन में इनका व्याप्त होना है—

"यदहास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रूवांसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति" । इत्येकोऽर्थः ।।११।।

जिस प्रकार से मनुष्य-देवता ऋक्सामयजु मन्त्रों के समुद्र में तैरते रहते हैं तद्वत् ऋक्सामयजु की लहर में ही यह प्राण देवता तैरा करते हैं। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में अग्नि रहता है। यह अग्नि

चित्यचितेनिधे भेदेन दो प्रकार का है। **जो पिण्डाग्नि है उसे चित्य किंवा मर्त्याग्नि कहते हैं एवं जो 33 तक (वषट्कार मण्डल तक) जाने वाला अग्नि है उसे चितेनिधे किंवा अमृताग्नि कहते हैं। 33 तक वितत रहने वाला यह अग्नि ही निविड-तरल-विरल भेद से अग्नि वायु आदित्य तीन नामों से व्यवहृत होने लगता है।** बस इस अग्नि से ऋक् का स्वरूप बनता है—वायु से यजुः का स्वरूप बनता है–एवं आदित्य से साम का स्वरूप बनता है। **जिसका हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं वही ऋक् है—जो उसका चारों ओर मण्डल बनता है उसका नाम साम है एवं इन दोनों के बीच में गतिशील वायु यजुः है।** जो कि संचार-क्रियया उस वस्तु के स्वरूप को सुरक्षित रखता है। देवता सारे आग्नेय हैं एवं अग्नि ही के ऋक्सामयजु तीन नाम हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"त्रयो ह वै समुद्राः। अग्निर्यजुषां, महाव्रतं साम्नां, महदुक्थऋचाम्"।
(५०३ पृ०)

बस इसीलिए प्रकृत में "ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिः सन्तरन्तः" कहा गया है। प्रकृत में यजमान यज्ञ कर रहा है। अग्नि में सोम की आहुति देना ही यज्ञ है। देवता अग्निमय है। जब अग्नि यहाँ है तो ऋक्यजुःसाम-समुद्र का होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। "इषे त्वोर्जे" से मन्त्रों के समुद्र में ब्राह्मण देवता तैरा रहे हैं तद्वत् इस अग्नि से उत्पन्न होने वाले ऋक्यजुःसाम समुद्र में प्राण देवता तैरा रहे हैं—यह हम अवश्य ही कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से "यद्वाह" इस वृत्तान्तर को उठाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—"इस यजमान का जो यह देवयजन है वह ऋक्साम एवं यजुः इनसे तरण करते हुए सारे प्राण-देवताओं से चूँकि व्याप्त रहता है–अतएव-यह यजमान **"यत्र देवासो अजुषन्त ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो-यजुर्भिः"** कहता है। अपि च ऋक्सामयजु से ही यजमान यज्ञ की समाप्ति पर पहुँचता है। ऋक्साम-यजुसमुद्र को पार करने से ही इसे यज्ञ-सम्पत्ति मिलती है एवं दूसरे अर्थ में–ऋक्सामयजु मन्त्र से ही यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी होती है तो "मैं यज्ञ की सम्पत्ति पर पहुँच जाऊँ" इसी भाव को बतलाने के लिए **"ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भिः"** कहा है—

"यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वेऽइति–तदस्य विश्वेदेवैर्जुष्टं भवति। ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भिरिति।–ऋक्सामाभ्यां वै यजुर्भि यज्ञस्योदृचं (परिसमाप्ति) गच्छन्ति। यज्ञस्योदृचं गच्छानि, इत्येवैतदाह"।

अर्थात् **ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तोयजुर्भिः"** इससे मैं यज्ञ की परिसमाप्ति पर पहुँच जाऊँ–यही कहा है।

"रायस्पोषेण समिषामदेम"। धन की पुष्टि को रायस्पोष कहते हैं। इसी रायस्पोष को **'भूमा'** कहते हैं। **"भूमा वै रायस्पोषः"**। बात सच है, यदि किसी के पास अत्यधिक सम्पत्ति आ जाती है तो उसका आयतन बढ़ जाता है। जितनी सम्पत्ति बढ़ती जायगी, उतना-उतना ही इसका आत्मा (मन)

बढ़ता जायगा। इसीलिए तो **"यावद्वित्तं तावदात्मा"** कहा जाता है। एवं **'श्री'** को भी **भूमा** कहते हैं। तो बस 'रायस्पोषेण' इससे "आर्थी" ही मांगता है।—

"भूमावै रायस्पोषः। श्रीर्वै भूमा। आशिषमेवैतदाशास्ते"।

"समिषा मदेमेति" जो मनुष्य अत्यन्त श्रीयुक्त होता है एवं बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँच जाता है, उसके लिए, लोक में "इषं मदाति" इस शब्द से व्यवहृत किया जाता है। जाता नहीं है-याज्ञवल्क्य के समय किया जाता था। **"इषं मदेम"** का तात्पर्य **यही है कि—अजी उनकी क्या बात—वे तो नजर-दौलत हैं। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ हैं।** बस इसी भाव को बतलाने के लिए "समिषा मदेम" कहा है।

"इषं मदतीतितमाहुर्यः श्रियमश्नुते यः परमतां गच्छति तस्मादाह समिषा मदेमेति" ॥ १२ ॥

मन्त्र का खुलासा अर्थ यही है कि मैं पृथिवी के इस देवयजन भाग में आ गया हूँ। जहाँ पर कि ऋक्सामयजुमन्त्र-समुद्र में मनुष्य देवता एवं ऋक्सामयजु स्वरूप अग्निमण्डल में प्राणदेवता तैरते हुए सारे देवयजन में व्याप्त हो रहे हैं एवं मैं यज्ञदेवता से प्रार्थना करता हूँ कि मैं धन की पुष्टि से एवं अन्न से अर्थात् भोग्यजात से मस्त हो जाऊँ। **"इषा संमदे भोग्यजातेन संमदेम" ॥ १२ ॥**

इति देवयजनगमनं-यज्ञशालागमनं समाप्तम्

इति तृतीयकाण्डे प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम्

अथ तृतीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः
प्रथमोऽध्यायः प्रारभ्यते
तत्र द्वितीयं ब्राह्मणम्

॥ अथ दीक्षाब्राह्मणम् ॥

[मूल]—अपराह्णे दीक्षेत । पुराकेशश्मश्रोर्वपनाद्यत्कामयेत तदश्नीयाद्यद्वा सम्पद्येत व्रतं ह्येवास्यातोऽशनं भवति यद्यु नाशिशिषेदपि कामं नाश्नीयात् ॥१॥

अथोत्तरेणशालां परिश्रयन्ति । तदुदकुम्भमुपनिदधति तन्नापित उपतिष्ठते तत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्ततेऽस्ति वै पुरुषस्यामेध्यं यत्रास्यापो नोपतिष्ठन्ते केशश्मश्रौ च वाऽस्य नखेषु चापो नोपतिष्ठन्ते तद्यत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति ॥ २ ॥

तद्धैके । सर्वऽएव वपन्ते सर्वऽएव मेध्या भूत्वा दीक्षिष्यामहऽइति तदु तथा न कुर्याद्यद्वै केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते तदेव मेध्यो भवति तस्मादु केशश्मश्रु चैव वपेत नखानि च निकृन्तेत ॥ ३ ॥

स वै नखान्येवाग्रे निकृन्तते । दक्षिणस्यैवाग्रे सव्यस्य वाऽग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राऽङ्गुष्ठयोरेवाग्रे कनिष्ठिकयोर्वाऽग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥ ४ ॥

स दक्षिणमेवाग्रे गोदानं वितारयति । सव्यं वाऽग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥५॥

स दक्षिणमेवाग्रे गोदानमभ्युनत्ति । इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरिति स यदाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति वज्रो वाऽआपो वज्रो हि वाऽआपस्तस्माद्येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत्तदेतमेवैतद्वज्रं शमयति तथो हैनमेष वज्रः शान्तो न हिनस्ति तस्मादाहेमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरिति ॥ ६ ॥

अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वेति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्त्यथ क्षुरेणाभिनिदधाति स्वधिते मैनं हिंसीरिति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्ति ।। ७ ।।

प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति । तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति तूष्णीं दर्भतरुणकमन्तर्दधाति तूष्णीं क्षुरेणाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति ।। ८ ।।

अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति । स केशश्मश्रु वपति स यदा केशश्मश्रु वपति ।। ९ ।।

अथ स्नाति । अमेध्यो वै पुरुषोयदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो दीक्षाऽइति तस्माद्वै स्नाति ।। १० ।।

स स्नाति । आपोऽअस्मान्मातरः शुन्धयन्त्वित्येतद्धयाह शुन्धयन्त्विति घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति तद्वै सुपूतं यं घृतेन पुनंस्तस्मादाह घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति यद्वै विश्वं सर्वं तद्यदमेध्यं रिप्रं तत्सर्वं ह्यस्मादमेध्यं प्रवहन्ति तस्मादाह विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति ।। ११ ।।

अथ प्राङिवोदङ्ङुत्क्रामति । उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीत्युद्धयाभ्यः शुचिः पूत एति ।। १२ ।।

अथ वासः परिधत्ते । सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत्त्वचं दधाति या ह वाऽइयं गोस्त्वक् पुरुषे हैषाऽग्रऽआस ।। १३ ।।

ते देवा अब्रुवन् । गौर्वाऽइदंऽसर्वं बिभर्ति हन्त येयं पुरुषे त्वग्गव्येतां दधाम तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यतऽइति ।। १४ ।।

तेऽवच्छाय पुरुषम् । गव्येतां त्वचमदधुस्तयैया वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षते ।। १५ ।।

अवच्छितो हि वै पुरुषः । तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्त्येतां ह्यस्मिँस्त्वचमदधुस्तस्माद् सुवासा एव बुभूषेत्स्वया त्वचा समृध्याऽइति तस्मादप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति ।। १६ ।।

नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात् । वेद ह गौरहमस्य त्वचं बिभर्मीति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं मऽआदास्यतऽइति तस्माद् गावः सुवाससमुपैव निश्रयन्ते ।। १७ ।।

तस्य वाऽएतस्य वाससः । अग्नेः पर्यासो भवति वायोरनुच्छादो नीविः पितॄणां सर्पाणां प्रघातो विश्वेषां देवानां तन्तव आरोकानक्षत्राणामेवं हि वाऽएतत्सर्वे देवा अन्वायत्तास्तस्माद्दीक्षितवसनं भवति ।। १८ ।।

तद्वाऽअहतंस्यात् । अयातयामतायै तद्वै निष्पेष्टवै ब्रूयाद्यदेवास्यात्रामेध्यमा कृणत्ति वा वयति वा तदस्य मेध्यमसदिति यद्युऽअहतंस्यादद्भिरभ्युक्षेन्मेध्यमसदित्यथो यदिदं स्नातवस्यं निहितमपल्यूलनकृतं भवति तेनो हापि दीक्षेत ।। १९ ।।

तत्परिधत्ते । दीक्षातपसोस्तनूरसीत्यदीक्षितस्य वाऽअस्यैषाऽग्रे तनूर्भवत्यथात्र दीक्षातपसोस्तस्मादाह दीक्षातपसोस्तनूरसीति तां त्वा शिवां शग्मां परिदधऽइत्येवै तदाह भद्रं तस्मादाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति ।। २० ।।

अथैनं शालां प्रपादयति । स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयाद्धेन्वनडुहौ वाऽइदं सर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन्धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतोहन्त यदन्येषां वयसां वीर्यं तद्धेन्वनडुहयोर्दधामेति स यदन्येषां वयसां वीर्यमासीत्तद्धेन्वनडुहयोरदधुस्तस्माद्धेनुश्चैवानड्वांश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तस्तद्धैतत्सर्वाश्यमिव यो धेन्वनडुहयोरश्नीयादन्तगतिरिव तं हाद्भुतम भिजनितोजीयायै गर्भं निरवधीदिति पापमकदिति पापी कीर्त्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्तद् होवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहमंसलं चेद् भवतीति ।। २१ ।।

[**अनुवाद**]—दिन के तीसरे प्रहर में दीक्षा प्रदान करे। सिर के बाल तथा मूँछ–दाढी मुंडने से पहिले, जो इच्छा हो वह खा ले अथवा जो उपलब्ध हो (वह खा ले) क्यों कि इसके बाद तो 'व्रत' (दुग्ध-पान) ही उस (दीक्षा लेने वाले) की भोजन–क्रिया होती है। और यदि भोजनेच्छा न हो तो चाहे न खाये ॥ १ ॥

अब शाला की उत्तर दिशा की ओर (क्षौर कर्म हेतु), स्थान घेरते हैं। वहाँ नाई बैठता है। फिर सिर के बाल तथा दाढी-मूँछ मूँडे जाते हैं और नाखून काटे जाते हैं क्यों कि पुरुष का (वह अङ्ग) अपवित्र माना जाता है जहाँ पानी नहीं ठहरता और इस (दीक्षा लेने वाले) के केश तथा मूँछ–दाढी और इसके नाखूनों पर पानी नहीं ठहरता अतः इसी प्रयोजन से केश तथा मूँछ–दाढी का मुंडन किया जाता है और नाखून काटे जाते हैं ताकि वह पवित्र बन कर दीक्षा ग्रहण करे ॥ २ ॥

कुछ लोग (शरीर के) सारे बाल ही मुंडवा लेते हैं (क्यों कि) वे सोचते हैं कि पूर्णरूपेण पवित्र बन कर ही दीक्षा लेंगे। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए क्यों कि जब सिर तथा मूँछ–दाढी के बालों का मुंडन हो जाता है तभी वह पवित्र हो जाता है और इसीलिए केश तथा मँछ–दाढी ही बनवाए तथा नाखून ही कटवाये ॥ ३ ॥

वह पहिले नाखूनों के अग्रभाग को ही कटवाये। पहिले दाहिने हाथ के। मनुष्य सम्बन्धी कर्म में पहिले बाएँ हाथ के (नाखून काटने का प्रचलन है) किन्तु देवकार्य में ऐसा (दाहिने हाथ के पहिले काटने का) ही प्रचलन है। पहिले अङ्गूठे का (नखाग्र) काटना चाहिये। मनुष्य सम्बन्धी कार्य में पहिले कनिष्ठिका अंगुली का (नखाग्र काटने का प्रचलन है) किन्तु देवकार्य में ऐसा (अंगूठे का नखाग्र काटने का) ही प्रचलन है ॥४॥

पहिले वह दाहिनी ओर से ही (मुण्डन प्रारम्भ करके) केशान्त–संस्कार सम्पन्न करवाता है। मनुष्य सम्बन्धी कार्यों में पहिले बाईं तरफ से (मुण्डन प्रारम्भ होता है) किन्तु देवकार्य में ऐसा (दांई ओर से प्रारम्भ करने का) ही प्रचलन है ॥ ५ ॥

वह पहिले दाहिने भाग के ही केशान्त गीले करता है (मुण्डन से पहिले बाल भिगोये जाते हैं) यह मन्त्र बोल कर (इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः। यजु० ४।१) "ये दिव्य जल मेरे जीवन के लिए कल्याणकारी हों"। और वह जो ऐसा कहता है कि "ये जल मेरे जीवन के लिए कल्याणकारी हों" (उसका कारण यह है) कि जल वज्र हैं और सचमुच वज्र हैं इसीलिये ये जिधर प्रवाहित होते हैं उधर ही गड्ढा कर देते हैं, जिस जगह ठहर जाते हैं वज्रपात् कर देते हैं। यही कारण है कि इस जल रूपी वज्र को शान्त करता है। इस जल के लिए ऐसा करने पर यह जलरूपी वज्र शान्त होकर नाश नहीं करता। इसीलिये कहते हैं "इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः" ॥ ६ ॥

अब कोमल कुशाग्रगुच्छ को क्षुर तथा सिर के बालों के बीच में रखता है "ओषधे त्रायस्व०" यजु० ४।१) (हे ओषधि ! तू रक्षा कर····) यह मन्त्र पढ़ कर। क्षुर (उस्तरा) वज्र है। ऐसा करने पर इस यजमान को यह वज्र समान क्षुर कष्ट नहीं पहुँचाता है। इसके बाद क्षुर से सँवार बनाना प्रारम्भ करता है (स्वधितेमैनं हिंसीः—वा० स० ४।१) "हे क्षुर ! (इस यजमान) की हिंसा मत करना" यह मन्त्र कह कर। क्यों कि क्षुर वज्र है। ऐसा (मन्त्र बोल कर मुण्डन प्रारम्भ) करने पर इस (यजमान) को यह वज्र जैसा क्षुर कष्ट नहीं पहुँचाता है ।। ७ ।।

(बालों को) काट कर जल–पात्र में डालता है। इसके बाद मुण्डित किये जाने वाले (बाईं ओर के) केशान्तों को रखते हुए ही गीला करता है। क्षुर तथा बालों के मध्य कुशाग्रगुच्छ भी चुपचाप ही रखता है और मौन धारण करते हुए ही क्षुर को चला कर, बाल काट कर जल–पात्र में डालता है ।। ८ ।।

तदन्तर नापित को क्षुर प्रदान करता है। वह (नाई) सिर तथा मूँछ–दाढी के बालों का मुण्डन करता है। वह जब केश तथा मूँछ–दाढी मूंड देता है तो—।। ९ ।।

उसके बाद (यजमान) नहाता है। पुरुष अपवित्र है क्यों कि असत्यवादन करता है अतः (उसकी) आन्तरिक शुद्धि आवश्यक है। जल मेध्य होते हैं "मेध्य होकर दीक्षा लूँ" यह निश्चय करता है। जल पवित्र हैं। "जलरूपी 'पवित्रा' से पवित्र होकर दीक्षा लूँ" यह निश्चय करता है। इसीलिए स्नान करता है ।। १० ।।

वह (यजमान) स्नान करता है "आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु"—(यजु० ४।२) जल देवियाँ जो हमारी माताएँ हैं, वे हमें पवित्र करें—(यह मन्त्र बोल कर स्नान करता है)। यह मन्त्र इसीलिए (यजमान) बोलता है ताकि वे पवित्र करें। "घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु" (यजु० ४।२) क्षरणशील जल अपने जल–क्षरण से शुद्ध करें—वही शुद्ध है जिसे जल–क्षरण शुद्ध कर देता है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है "घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु"। "विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः" (वज० सं० ४।२)—देवी आपस् सभी अपवित्रताओं को बहा देती हैं—यह कहा जाता है। जो यह 'विश्व' (शब्द) है वह 'सर्व' अभिप्राय वाला है। जो 'रिप्र' (शब्द) है वह 'अमेध्य' का पर्याय है। इस (यजमान) के भीतर जो कुछ अमेध्य अर्थात् अपवित्र भाव है वह (ये जल देवियाँ) बहा देती हैं इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि "विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः" ।। ११ ।।

इसके बाद (वह यजमान) सामने उत्तर की ओर,—"उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि" (वाज० सं० ४।२)—इन जल देवियों से सब ओर से पवित्र होकर हो मैं उत्तर की ओर क्रमण कर रहा हूँ—यह मन्त्र बोल कर क्रमण करता है। इस प्रकार निश्चय ही (वह

यजमान) इन (जल–माताओं की पवित्रता से शुद्ध होकर (उत्तर की ओर) क्रमण करता है ।। १२ ।।

इसके बाद वह वस्त्र धारण करता है ताकि पूर्णता सम्पन्न हो जाये । इस प्रकार वह अपने इस शरीर पर यह वस्त्ररूपी त्वचा धारण करता है । और यह जो गोचर्म दिखाई देती है वह सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष (की देह) पर थी ।। १३ ।।

उन देवताओं ने कहा "(यह) गाय ही इस पूरे विश्व को (पोषण द्वारा) धारण करती है" अरे ! यह चमड़ा जो पुरुष की देह पर है उसे गाय की देह पर लगा दें । इस चमड़े के कारण यह वर्षा को इसके कारण यह शीत को तथा इसके कारण यह धूप को सह लेगी—यह उन्होंने सोचा ।। १४ ।।

उन्होंने (उस त्वचा से) पुरुष को अलग कर दिया और उस गाय (की देह) पर वह चर्म लगा दिया । इस चर्म के कारण ही वह वर्षा को, इसके कारण ही वह शीत को, तथा इसके कारण ही वह धूप को सह लेती है ।। १५ ।।

अतः पुरुष (उस अपनी चर्म से) विच्छिन्न हो गया है । इसीलिये इस (पुरुष) के जहाँ कहीं भी कुश या अन्य (तीक्ष्ण वस्तु) चुभ जाती है वहीं खून निकल जाता है । इसलिये इस वस्त्ररूपी चर्म को ही उस (पुरुष) की देह पर रख दिया गया । इसीलिये पुरुष के अतिरिक्त अन्य प्राणी वस्त्र नहीं पहिनता है । क्यों कि इस देह पर वस्त्ररूपी चर्म रख दिया गया । इसलिए इस (यजमान) को स्वयं को सुन्दर वस्त्रों से विभूषित करना ही चाहिए ताकि वह चर्म से युक्त होकर समृद्ध हो जाये । इसलिए उस यजमान के (प्रच्छन्न अङ्गों की) अश्लीलता को सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित रूप में देखने की इच्छा (लोग) करते हैं इस प्रकार वह अपनी स्वयं की चर्म के द्वारा ही समृद्ध हो जाता है ।। १६ ।।

(यजमान) गाय के सामने कभी नग्नावस्था में न उपस्थित होवे क्यों कि गाय यह समझती है कि मैंने इसी के चर्म को धारण कर रखा है । वह डर कर भागती हुई थर–थर कांपने लगती है कि कहीं ये (यजमान) मेरा चमड़ा न ले ले । इसीलिये गायें अच्छे वस्त्र धारण करने वाले के पास निश्चिन्तता पूर्वक जाती हैं ।। १७ ।।

उस (यजमान) के इस (धारण किये) वस्त्र का ताना अग्नि का होता है तथा बाना वायु का । नीवी (धोती में बाँधी जाने वाली गाँठ) पितरों की, तथा प्रघात (धोती की किनारी) सर्पों की है । तन्तु विश्वेदेवों के हैं तथा छिद्र नक्षत्रों के । इस प्रकार निश्चय ही सभी देवताओं की सन्निधि की दृष्टि से दीक्षितवसन (दीक्षा हेतु यजमान द्वारा वस्त्र धारण) होता है ।। १८ ।।

और यह (यजमान द्वारा पहिना जाने वाला वस्त्र) अक्षत (बिना कटा–पिटा अर्थात् नया व परिपूर्ण) होना चाहिए । इसकी सलवट आदि निकालने के उद्देश्य से इसे

धोने के लिए (किसी से) कहे ताकि इसमें अस्वच्छ अवस्था में (कतेरन या बुनकरी द्वारा) काता या बुना गया अपवित्र अंश शुद्ध हो जाये। यदि वह (वस्त्र) नया हो तो उसका जल से प्रोक्षण करे ताकि वह पवित्र हो जाये। और यदि वह वस्त्र स्नान करने के बाद पहनने के लिए (पहिले से) रखा हुआ हो तो वह वस्त्र क्षार आदि अशुद्ध साधनों से धुला हुआ नहीं होना चाहिए। उसी वस्त्र को धारण कर दीक्षा लेनी चाहिये ।। १६ ।।

'दीक्षा तपसोस्तनूरसि" यह मन्त्र उच्चरित करते हुए उस वस्त्र को (यजमान) धारण करता है। इससे (वसन–क्रिया से) पहिले वह देह अदीक्षित की थी तथा अब दीक्षित तथा तपस्वी की है अतः यह कहा गया है कि "तू दीक्षा तथा तप का शरीर है"। "ऐसी तुझ कल्याणकारी तथा शुभ (धोती को) धारण करता हूँ"। ऐसी तुझ "शिवा" अर्थात् साध्वी (उत्तम धोती को) धारण करता हूँ। और इसी प्रकार कहता है कि "भद्रं वर्णं पुष्यन्"—सौभाग्यशाली वर्ण को पुष्ट करता हुआ—प्रारम्भ में अदीक्षिते अवस्था में जिस वर्ण को पोषित करता है वह (दुष्टवर्ण होने के कारण) पाप है और अब मंगलयुक्त है इसीलिये कहा गया है कि "भद्रं वर्णं पुष्यन्निति" ।। २० ।।

तदनन्तर इस यजमान को शाला में लिवा ले जाता है। वह (यजमान) गाय तथा बैल (के सत्त्व) का भक्षण न करे क्यों कि गाय तथा बैल ही इस सारे विश्व को धारण करते हैं। उन देवों ने कहा "गाय तथा बैल पर ही यह संसार आधारित है। अरे ! जो भी अन्य प्राणियों की शक्ति है उसे गाय तथा बैल में स्थापित कर देते हैं। उन्होंने जो अन्य प्राणियों की शक्ति दी उसे गाय–बैल में रख दिया। इसीलिये गाय तथा बैल बहुत सारा (चारा आदि) खाते हैं। इसलिए जो गाय तथा बैल के (सत्त्व को) खायेगा वह सब कुछ खाया हुआ माना जायेगा। सर्वनाश गति वाले उसे विचित्र योनि मिलेगी। लोग कहेंगे कि इसने माँ के गर्भ को नष्ट किया है। इसने पाप किया है। उसकी पापी के रूप में प्रसिद्धि होगी अतः गाय तथा बैल के (सत्त्व को) नहीं भोगना चाहिए। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जो वस्तुएँ ठोस होती हैं मैं तो उन्हें ही खाता हूँ ।। २१ ।।

[विज्ञान भाष्य] दर्शपूर्णमासेष्टि में जैसे व्रत ग्रहण करना पड़ता है तद्वत् सोमयाग में दीक्षा लेनी पड़ती है। सर्वप्रथम मुण्डन कराया जाता है, बाद में स्नान किया जाता है तदन्तर वस्त्रादि पहिन कर कृष्णमृगचर्म के ऊपर बैठ कर दीक्षा ली जाती है। देवयजन भूमि निर्म्माणानन्तर एवं यज्ञशालासमीप स्थूणराज का समन्त्रक स्पर्श करने के अनन्तर दीक्षा के वास्ते यजमान को मुण्डन वगैरह करा के संस्कृत होना पड़ता है। तदनन्तर दीक्षा लेनी पड़ती है। वह दीक्षा किस समय लेनी चाहिए–इसका नियमन करते हैं। दीक्षाकाल बतलाते हैं—वह यजमान दुपहर के बाद अपराह्ण में दीक्षा ग्रहण करे **"अपराह्णे दीक्षते"**। यह यजमान जब तक मुण्डन नहीं करा लेता है तब तक दीक्षाङ्ग फर्क से पृथक् रहता है। मुण्डन करवाना दीक्षा का पहिला अंग है अतः मुण्डन करवाना

दीक्षाकर्म में ही प्रविष्ट होना है। यह यजमान मनुष्य है—तब तक यह सोमयाग का अधिकारी नहीं बन सकता जब तक कि दीक्षा न ले ले। जब दीक्षा से यह मनुष्य-भाव से हटा कर देव-भाव में शामिल कर दिया जाता है तब सोमयाग का अधिकारी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि **केशश्मश्रु के वपन के पहिले चूंकि यह अदीक्षित रहता है, सामान्य मनुष्य रहता है अतः भोजनादि में इसके लिए कामचार है।** केशश्मश्रु वपन से पहिले इसकी इच्छा हो, वही खाय। उस समय जो बन पड़े, जो उसे खाने को मिले वही खा ले। अर्थात् चाहे जो खा ले। केशश्मश्रु वपन से पहिले भोजन में नियन्त्रण नहीं है—

"पुराकेशश्मश्रोर्वपनात् यत् कामयेत् तदश्नीयात्, यद्वा सम्पद्येत"।

अर्थात् भोजन में यथेच्छाचार है। अन्न, सर्पि, दधि, मधु इत्यादि सब कुछ खा सकता है, यही "यद्वा संपद्येत" का तात्पर्य है।

परन्तु जब यह मुण्डन करवा लेता है तो वह अंट्ट-सट्ट नहीं खा सकता। मुण्डनान्तर इस यजमान का भोजन केवल गौ का दूध ही होता है। सिवाय दूध के और कुछ नहीं पी सकता। परन्तु जो यजमान मुण्डनान्तर पूर्ण भेदभावप्राप्त्यर्थ खाना ही न चाहे, वह भले ही न खाय। अर्थात् मुण्डनान्तर उपवास करने में भी कोई हानि नहीं है। अन्न खाने में-अट्ट-सट्ट खाने में-अवश्य ही हानि है। यदि खावे तो केवल दूध ही खावे—

"व्रतं (दुग्धं) ह्येवास्यातो (केशवपनादुर्ध्वम्) अशनं भवति। यद्युना-शिशिषेदपि कामं नाश्नीयात्" ॥ १ ॥

इस देवयजन भूमि में जो प्राचीनवंशशाला बनाई गई है—उसके उत्तर भाग में-शाला के बाहर शाला के समीप ही यजमान पुरुष एक कनात अथवा टाटी वगैरह लगा कर क्षौर वास्ते जगह बना देते हैं। दीक्षित मनुष्य, मनुष्य नहीं है, देवता है। देवताओं का सारा काम पर्दे में होता है। उनका कोई काम मनुष्य अपनी आँखों से नहीं देख सकते, इसीलिए **"परोक्षप्रिया इव हि देवाः"** कहा जाता है। अतएव यजमान का सारा काम परोक्ष में ही होता है। इसीलिए क्षौर के लिए भी शाला के उत्तर भाग में पर्दा लगाया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—**"अथोत्तरेण शालां परिश्रयन्ति"**। तदनन्तर क्षौर के लिए एवं स्नान के लिए उसी स्थान में एक जगह पानी से भरा हुआ घड़ा रखते हैं—**"तत् (तत्र) उदकुम्भमुपनिदधति"**—एवं उसी स्थान पर क्षौर के लिए नापित बैठ जाता है, एवं वहाँ बैठ कर वह यजमान के केश (सिर के बाल) और श्मश्रु (दाढी मूँछ के बाल) काटता है और नाखूनों को कतरता है—

"तत् (तत्र) नापित उपतिष्ठते। तत् (तत्र) केशश्मश्रु च वपने नखानि च निकृन्तते" ॥

केश और नाखून काटने की क्या आवश्यकता है, यह बतलाते हैं। सबसे पहिला स्वयम्भू-मण्डल है। उसके बाद परमेष्ठिमण्डल है। उसके बाद सूर्य्यमण्डल है। उसके बाद चन्द्रमण्डल है। उसके बाद पृथिवीमण्डल है। इस प्रकार सारा विश्वप्रपञ्च इन पाँच मण्डलों में विभक्त माना जाता है। इसी को, वैदिक परिभाषानुसार अश्वत्थ वृक्ष की "**पञ्चपुण्डीराबल्शा**" कहा जाता है। इन पाँचो मण्डलों में जड़ और चेतन, यह दो ही क्लास हैं। पाँचों में सिवाय जड़ चेतन के कोई तीसरी वस्तु नहीं है। यह चेतना यद्यपि पाँचों मण्डलों में रहती है तथापि इसका प्रातिस्विक स्थान स्वयम्भूमण्डल ही है। इसी चेतना मण्डल के अर्थात् स्वयम्भूमण्डल के उदर में अवशिष्ट चारों मण्डल भुक्त हैं। चारों मण्डलों में इसी स्वयम्भूमण्डल की चेतना अभिव्याप्त है। स्वयम्भूमण्डल के अनन्तर सबसे पहिला नम्बर आता है परमेष्ठि मण्डल का। जैसे **चित्, सूत्र, नियतिः यह तीन मनोता स्यम्भू के हैं तद्वत् भृगु, अङ्गिरा और अत्रि, यह तीन मनोता परमेष्ठि के हैं। इन तीनों में से जो भृगु और अङ्गिरा हैं वह अप्, वायु, सोम और अग्नि, वायु, आदित्य, इन भेदों से, तीन तीन प्रकार के हैं।** चूँकि तीसरा मनोता एकल्ला है—भृगु अङ्गिरावत् तीन नहीं हैं—अतएव इसे "**नत्रिः**" के लिहाज से "**अत्रिः**" कहा जाता है। इस अत्रिप्राण का सुविशद निरूपण **श्रीगुरु-प्रणीत "अत्रिख्याति"** नाम के पौराणिक ग्रन्थ में किया गया है। यहाँ हमें सिर्फ यही बतलाना है कि जो भृगु मनोता है वह पानी, वायु और सोम, इन तीन विभागों में बँटा हुआ है। तीनों ही भृगु हैं—इस परमेष्ठिमण्डल पानी-वायु-सोम का समुद्र है। तीनों भृगु हैं—इस परमेष्ठि के देवता वरुण हैं—अतएव "**भृगुर्वै वारुणि**" कहा जाता है। हमने जिस चेतना का जिकर किया है, उसका सम्बन्ध केवल भृगु से ही होता है। चेतनाग्रहणशक्ति पानी में, हवा में और सोम में ही है। संसार में जहाँ भी कहीं चेतना उपलब्ध होगी, इन तीनों ही के सम्बन्ध से होगी। जैसे सूर्य्य का प्रतिबिम्ब काच किंवा पानी अर्थात् तरल पदार्थों के अलावा और किसी में नहीं पड़ सकता—ठीक उसी प्रकार से पानी-वायु और सोम, इन तीनों को छोड़ कर, दूसरे स्थान पर चेतना का प्रतिबिम्ब हर्गिज-हर्गिज नहीं पड़ सकता। चूँकि चेतना का सम्बन्ध तीन ही से होता है अतएव सारे विश्व में प्राणी भी कुल तीन ही प्रकार के उत्पन्न होते हैं। वे ही तीनों, आप्य-वायव्य और सौम्य नाम से व्यवहृत होते हैं। **जो पानी के जीव हैं वे आप्य कहलाते हैं, जो वायु के जीव हैं, वे वायव्य कहलाते हैं। हम (मनुष्यादि) वायव्य हैं एवं जो चन्द्रमा की चाँदनी में रहते हैं, वे सौम्य कहलाते हैं। इन्हीं सौम्य जीवों को "देवता" कहते हैं।** सारा सृष्टिक्रम इन्हीं तीन सर्गों में विभक्त समझना चाहिए। इन तीनों के अवान्तर भेदों से १४ प्रकार का भूतसर्ग हो जाता है जैसा कि सांख्यकारिका में लिखा है—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥ सां० का० ५३॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥ सां० का० ५४॥

दैवतसर्गः	—	अष्टविधः	—	८	इत्थं चतुर्दशविधो भूतसर्गः ।
तैर्यग्योनः	—	पञ्चधा	—	५	
मानुष्यः	—	एकविधः	—	१	
		कुल योग	—	१४	

कहने का तात्पर्य यही है कि—सारा भूतसर्ग पानी, वायु और सोम, इन भागों में बँटा हुआ है । चेतना का सम्बन्ध तीन ही से होता है । जहाँ यह चेतना रहती है वहाँ का भाग मेध्य होता है । पवित्र होता है । जहाँ जिस हिस्से में चेतना नहीं होती, वहाँ का भाग अपवित्र होता है । चेतना रहती है पानी में, तो जहाँ पानी नहीं रहता वहाँ चेतना नहीं रहती, एवं चेतना नहीं रहती वहाँ का भाग अपवित्र रहता है, यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है ।

मनुष्य के शरीर में केश, श्मश्रु और लोम—इन तीनों में चूँकि पानी नहीं रहता—अतएव चेतना अभावात् यह तीनों अमेध्य वस्तु हैं । नाखून को काट दीजिए, जरा दर्द नहीं होगा । बाल को काट दीजिए, जरा भी पीड़ा नहीं होती । हो कैसे ? जब कि उनमें चेतना ही नहीं है । चेतना तो पानी में रहती है । जब नखाग्रभाग में एवं केशलोम में पानी ही नहीं ठहरता तो फिर उनमें चेतना कैसे रह सकती है । बस इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं—**"अस्ति वै पुरुषस्यामेध्यं यत्रास्यापो नोपतिष्ठन्ते"** ।

पुरुष का वह हिस्सा बिल्कुल अपवित्र है, जहाँ पर कि पानी नहीं ठहरता । अर्थात् पानी का (रुधिर का) जहाँ दौरा नहीं होता वह स्थान शुष्क है । शुष्क में चेतना का सम्बन्ध होता नहीं अतएव वह शुष्क स्थान अमेध्य है, अपवित्र है, नापाक है । इस मनुष्य के केशश्मश्रु में और नखाग्रों में ही पानी नहीं ठहरता । अर्थात् खून का दौरा उनमें नहीं होता अतएव वह सर्वथा अमेध्य वस्तु हैं । चूँकि यह यजमान दीक्षा लेने वाला है, देवताओं में शामिल होने वाला है अतः पहिले अपने अमेध्य भाग को दूर कर देना आवश्यक है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—**"दीक्षाग्रहणविधि में—जो कि यह यजमान केशश्मश्रु और नख कटवाता है वह—मैं मेध्य बन कर, पवित्र हो कर दीक्षा ग्रहण करूँ"**—इसी अभिप्राय से कटवाता है—

"तद्यत् केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते—
मेध्यो भूत्वा दीक्षै" (इत्यभिप्रायेणैव वपते निकृन्तते च) ।

अस्थि पर होने वाले जो बाल हैं उन्हें **"केश"** कहते हैं एवं मांस पर पैदा होने वाले बाल **"लोम"** कहलाते हैं एवं हड्डी और माँस दोनों मिश्रित स्थान में पैदा होने वाले बाल "श्मश्रु" कहलाते

हैं। ये तीनों, एवं नाखून अमेध्य हैं क्यों कि इनमें खून का दौरा नहीं होता (आपोनोपतिष्ठंते) अतः इन्हें कटवा कर, मुण्डन करवा के ही दीक्षा लेनी चाहिए ॥ २ ॥

यहाँ पर कई याज्ञिक—"हम सर्वात्मना पवित्र होकर ही दीक्षा ग्रहण करेंगे"—यह कहते हुए लोम सहित शरीर के सारे बाल उतार डालते हैं। उनका खयाल है कि केशश्मश्रुवत् लोम भी तो अमेध्य ही है अतः उन्हें भी अवश्य उतार देना चाहिए—**"तद्धैके सर्व एव वपन्ते। सर्वएवमेध्या भूत्वा दीक्षिष्यामहे"** इति वदन्तः।

परन्तु भगवान याज्ञवल्क्य इस पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सारे शरीर का मुण्डन कभी नहीं करना चाहिए। यह यजमान केशश्मश्रु कटा लेता है एवं नाखून उतरवा देता है—इसी से पवित्र हो जाता है अतः हमारे खयाल से केशश्मश्रु ही कटवाने चाहिए और नखाग्रों को ही कतरवाना चाहिए। सर्वाङ्ग शरीर के मुण्डन की कोई आवश्यकता नहीं है, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तदु तथा न कुर्य्यात्। यद्वै केशश्मश्रु चैव वपते नखानि च निकृन्तते तदेव मेध्यो भवति तस्मादु केशश्मश्रु चैव वपेत। नखानि च निकृन्तेत" इति ॥

बात वास्तव में ठीक है। जैसी-जितनी अपवित्रता केशश्मश्रु और नखाग्रों में होती है उतनी लोमों में नहीं होती। लोमों में एक प्रकार से रक्त का संचार होता रहता है अतएव वे एकदम काले नहीं पड़ते। एक बात। और दूसरी बात यह है कि सारे का मुण्डन कराना अमाङ्गलिक कार्य्य है। अपि च मुँह के बाल हरवक्त तंग किया करते हैं। यजमान को वेदमन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है। अतएव उस मुख के और मस्तक के अमेध्य भाग को हटाना ही पर्याप्त होता है ॥ ३ ॥

यह यजमान देवताओं की मण्डली में जाने वाला है। भुवन स्वर्गवासी देवताओं की व्यवस्था भारतीय मनुष्यों से सर्वथा जुदा थी। यज्ञविद्या उन्हीं की थी। अतः यज्ञ करते समय उन्हीं की मर्यादा का पालन करना उचित है—अथवा यों समझना चाहिये कि मनुष्य जैसा करते हैं, **यजमान को देव भाव-सम्पत्ति के लिए** ठीक इससे उलटा करना चाहिए इसी अभिप्राय से कहते हैं—वह नापित सबसे पहिले यजमान के नखाग्रों को ही काटे—**"स वै नखान्येवाग्रे निकृन्तेत"** इसमें भी दाहिने हाथ के नाखून ही पहिले काटे—**"दक्षिणस्यैवाग्रे"**—कारण इसका यही है कि मानुषकर्म्म में मनुष्य के बाएँ हाथ के नाखून ही पहिले काटे जाते हैं। चूँकि यजमान देवाधीन है—देवताओं की मण्डली में शामिल है—अतएव इसके पहिले दाहिने हाथ के नाखून काटे जाते हैं—

"सव्यस्य वा अग्रे मानुषे। अथैव देवत्रा"।

इसमें भी पहिले अंगूठे के नाखून ही काटता है—**"अङ्गुष्ठयोरेवाग्रे"**—क्योंकि मानुषकर्म्म में पहिले कनिष्ठिका के ही काटे जाते हैं—**"कनिष्ठिकयोर्वाअग्रे मानुषे"**। चूँकि यह यजमान देवता है अतः इसके पहिले अंगूठे के नाखून काटे जाते हैं।

अथैवं देवत्रा" ॥ ४ ॥

एवं नाखून काटने के अनन्तर पहिले सिर के दक्षिण भाग के बाल ही उतारता है **"सदक्षिण-मेवाग्रे गोदानं वितारयति"**। मनुष्यों के पहिले बाएँ हिस्से के बाल उतारे जाते हैं—चूँकि यह देवता है अतः इसके पहिले दक्षिणभाग के बाल उतारने चाहिए—

"सव्यं वा अग्रे मानुषे। अथैवं देवत्रा" ॥ ५ ॥

जिसका पहिले वपन किया जाता है, पानी से पहिले उसी हिस्से को भिगोना चाहिए इसी अभिप्राय से कहते हैं—वह पहिले दक्षिण भाग को ही पानी से भिगोता है—**"स दक्षिणमेवाग्रे गोदानं (केश समूहं) अभ्युनत्ति (सिञ्चति)"।**

तात्पर्य्य सम्पूर्ण कथन का यही है कि मनुष्य सम्प्रदाय में पहिले बाल कटाए जाते हैं, उनमें भी पहिले बाएँ हाथ के नाखून कटाए जाते हैं, पश्चात् दक्षिण हाथ के कटाए जाते हैं। उसमें भी पहिले चिट्टी आँगली से नाखून कटाना शुरू किया जाता है। बस मनुष्यों में क्षौरकर्म्म की यही व्यवस्था है। चूँकि यह यजमान मनुष्य नहीं है, यह तो भावी देवता है अतः इसे सारा काम मनुष्यों से विपरीत करवाना चाहिए। मनुष्य चौड़े में बैठ कर क्षौर करवाते हैं तो यह पर्दे में क्षौर करवाता है। एवं पहिले नाखून कटवाता है, उसमें भी दाहिने हाथ के, उसमें भी पहिले अंगूठे के। बाद में बाल कटवाता है। उसमें भी पहिले दक्षिण भाग के, बाद में वाम भाग के।

बाल काटने के लिए जिस समय नाई पानी से बालों को आर्द्र करता है उस समय यजमान **"इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः** (वाज० सं० ४।१), यह मन्त्र बोलता है—**यह देवी आपः मेरे लिए शान्ति देने वाले बनें—।**

भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह यजमान जो कि "इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः" यह बोलता है, इसे इस पानी स्वरूप वज्र का स्वहिंसा भावार्थ-प्रार्थना से शान्त करता है। पानी वज्र है। **"वज्रो वा प्रापः"** याज्ञवल्क्य कहते हैं—हँसी-मजाक नहीं है।—वास्तव में पानी वज्र ही है—"वज्रो हि वा आपः"। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जहाँ यह पानी वेग से प्रविष्ट होते हैं वहाँ गहरा खड्डा कर देते हैं जिसे कि भाषा में **"खाल"** कहते हैं। एवं जहां यह (सर्दी में) ठहर जाते हैं वहाँ वृक्ष समूह को जला देते हैं। सर्दी में इसी पानी की कृपा से वन के वन सूख जाते हैं—जल जाते हैं। बस वज्र से भी तो यह दो ही काम होते हैं। वह जहाँ गिरता है, खड्डा कर देता है एवं उस स्थान को जला देता है बस इस कर्मसादृश्यात् अवश्य ही हम पानी को वज्र कह सकते हैं।

पानी से जब तक बाल नहीं भिगोए जायँ तब तक उनके उतरने में पीड़ा होती है। क्यों—छुरे के घर्षण से अग्नि पैदा हो जाती है। इस अग्नि को शमन करने का सामर्थ्य इस पानी में ही है। इसी

अभिप्राय से "शान्तिरापः" भी कहा जाता है। परन्तु साथ ही में यह पानी स्वरूप से वज्र भी है अतः इससे प्रार्थना कर इसकी क्रूरता का शमन भी कर दिया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स यदाहइमा आपः शमु मे सन्तु देवीः" इति (तस्यैतद्कारणं) वज्रो वाऽआपः। वज्रो हि वा आपः। तस्मात् येन (मार्गेण) एता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति। यत्रोपतिष्ठन्ते-निर्दहन्ति तत्। तदेतमेवैतद् वज्रं शमयति। तथो हैनमेष वज्रः शान्तो न हिनस्ति ॥ ६ ॥

तदनन्तर जो दर्भ तरुण (सूक्ष्म कुशाग्र) है उसे उस छुरे और बालों के बीच में रखते हैं। अर्थात् बालों पर कुशा रखते हैं एवं साथ ही में मन्त्र बोलते हैं। **"ओषधे त्रायस्व"** (वा० स० ४।१) **हे ओषधे ! आप मेरी छुरे से रक्षा कीजिए"**। इस प्रार्थना से मन्त्रशक्ति से क्षुर इस यजमान की हिंसा नहीं करता है।

इसके बाद क्षुर को बालों पर रख के नाई बाल उतारता है और ऋत्विक् मन्त्र बोलता है। **"स्वधिते मैनं हिंसीः"—(वा० सं० ४।१)**, यह क्षुर वज्र है अतः इससे प्रार्थना करते है कि हे स्वधिते ! आप इस यजमान की हिंसा मत कीजिए। इस प्रार्थना से यह वज्र स्वरूप क्षुर यजमान को कोई हिंसा नहीं पहुँचाता है।

"वज्रो वै क्षुरः। तयो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्ति" ॥ ७ ॥

इसके अनन्तर उन बालों को काट कर पानी से भरे हुए पात्र में डाल देता है। तात्पर्य्य यही है कि जैसे मनुष्यों के बाल नीचे गिरा दिए जाते हैं—इसके बाल जमीन पर नहीं गिराने चाहिए। **"प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति"**।

इस प्रकार से दक्षिण भाग के बालों का सिञ्चन—काटना इत्यादि काम मन्त्र से होते हैं। उसमें भी जब पहिले छुरा लगाते हैं—उसी समय मन्त्र बोले जाते हैं। उसके अनन्तर सारे बाल **तूष्णीमेव** काट दिए जाते हैं, इसी अभिप्राय से कहते हैं—"इसके अनन्तर चुपचाप ही बाकी बालों का सिञ्चन करते हैं, एवं चुपचाप ही कुशाग्र भाग रखते हैं, चुपचाप ही क्षुर से बाल काट कर उन्हें पानी भरे पात्र में डाल देते हैं—

"तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति। तूष्णीं दर्भतरुणकमन्तर्दधाति। तूष्णीं क्षुरेणाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति" ॥ ८ ॥

अब पद्धति बतलाते हैं—समन्त्रक पहिले इसके थोड़े से बाल काट कर पानी में डाल देते हैं, बाद में वह छुरा नाई को दे दिया जाता है। नाई अवशिष्ट केशश्मश्रु को काट डालता है। जब नाई क्षौर कर चुकता है तो तदनन्तर यजमान स्नान करता है—

"अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति । स केशश्मश्रु वपति । स यदा केशश्मश्रु वपति" ।। ९ ।।

अथ स्नाति । स्नान क्यों करना चाहिए इसकी उपपत्ति बतलाते हैं । चूँकि यह मनुष्य झूँठ बोलता है अतएव यह अमेध्य रहता है । इसका अन्तःकरण मलिन रहता है । पानी मेध्य है—पवित्र है । अतः "मैं मेध्य बन कर—पवित्र बन कर—दीक्षा ग्रहण करूँ" । बस इसीलिए क्षौरान्तर स्नान करता है । **"अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति । तेन पूतिरन्तरतः । मेध्या वाऽआपः । मेध्यो भूत्वा दीक्षै" इति । पवित्रं वा आपः, पवित्रपूतो दीक्षा इति"** तस्माद्वै स्नाति । पानी मेध्य कैसे है—पवित्र कैसे है—झूँठ बोलने से मनुष्य अमेध्य कैसे हो जाता है । झूठ बोलने से इसका अन्तःकरण मलिन कैसे हो जाता है । इस सबका वैज्ञानिक तत्त्व प्रथमकाण्ड के प्रारम्भ में (भाषा शतपथ में) बतला दिया गया है अतः तज्जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए ।। १० ।।

इसके बाद निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ यह यजमान स्नान करता है—

"आपोऽस्मान् मातरः शुन्धयन्तु, घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु" (वा. स. ४।२)

हे मातरः ! हे आपः ! आप हमारे को शुद्ध कीजिए । हे घृतप्व ! आप घृत से हमें पवित्र कीजिए—पानी से सारी ओषधियें आप्यायित होती हैं एवं औषधियों से घृत बनता है अतएव पानी को घृतप्व कहा गया है । पानी को वेद में घृत शब्द से भी व्यवहृत किया गया है जैसा कि श्रुति कहती है—

"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।।

(ऋक् सं० १।१६५)

भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं वही सुपूत है जो कि घृत से पूत किया जा सकता है । बस इस सुपूतत्व सम्पत्ति प्राप्ति के लिए ही **"घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु"**, यह कहा है—

"तद्वै सुपूतं यं घृतेन पुनंस्तस्मादाह घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति" ।

फिर मन्त्र का शेष भाग बोलता है—

"विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः" । (वा. स. ४।२)

यह देवी आपः सारी अमेध्यता को बहा ले जाती है । इसी अभिप्राय से कहते हैं जो "विश्व" है, वही "सर्व" कहलाता है अर्थात् विश्व, सर्व का पर्य्याय है "यद्वै विश्वं तत् सर्वम्" एवं अमेध्य को रिप्र कहते हैं इसीलिए यास्क मुनि कहते हैं—

"रपो रिप्रमिति पाप नामनी भवतः" (नि० ४।३।५)

चूँकि इसके सारे अमेध्य भाग को पानी बहा ले जाता है इसीलिए "विश्वं हि०" इत्यादि कहा है—

"सर्वं ह्यस्मादमेध्यं प्रवहन्ति तस्मादाह—
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति" ।। ११ ।।

देवकर्म्म में कई स्थानों पर—पूर्व दिक् की ओर—उत्क्रमण किया जाता है अर्थात् कई कम ऐसे होते हैं जिनमें यजमान को गार्हपत्य से पूर्व की ओर जाना पड़ता है। तो बस जैसे और—और कर्म्मों में यह पूर्व की ओर उत्क्रमण करता है तद्वत् यहाँ स्नान करे, स्नानान्तर उत्तर की ओर उत्क्रमण करता है। एवं उधर जाता हुआ यह मन्त्र बोलता है—

"उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि" । उत्—उत्—आभ्यः—शुचिः—आ—पूतः—सन—एमि। आभ्यः (अद्भ्यः)—शुचिः—सन्—आ—समन्तात् पूतः सन्—इत् एव उदेमि"। इन पानियों से सारे मल को दूर कर अतएव आ—समन्तात् पूत हो कर ही मैं वस्त्र पहिनने के लिए उत्तर की ओर जाता हूँ। याज्ञवल्क्य इस मन्त्र का खुलासा अर्थ बतलाते हुए कहते हैं कि यह यजमान इन पानियों से स्वच्छ एवं पवित्र होकर ही वस्त्र पहिनने के लिए जाता है—

"आभ्यः शुचिः पूत एति" ।। १२ ।।

तदनन्तर यह यजमान मनुष्यत्व सम्पत्ति—प्राप्ति के लिए अपने अधूरेपने को मिटाने के लिए वस्त्र पहिनता है। जो त्वचा इसकी उखाड़ ली गई थी उसी अपनी त्वचा को **सर्वत्व के लिए** फिर धारण करता है—

"अथ वासः परिधत्ते सर्वत्वायैव। स्वामेवास्मिन् एतत् त्वचं दधाति"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—जो त्वक् आज गौ में देखी जाती है वह पहिले पुरुष में थी—

या ह वाऽइयं गौस्त्वक् पुरुषे हैषाऽग्रऽआस ।। १३ ।।

सृष्टिनिर्माण करने वाले देवताओं ने विचार किया कि यह गौ संसार के प्राणिमात्र का भरण—पोषण करती है। गौ से दुग्ध होता है। उससे तो छोटे बच्चों का पालन होता है एवं गौ से उत्पन्न बलवर्द्दों से खेती करा के अन्न उत्पन्न कराया जाता है जिससे कि मनुष्यादि अन्य पशु—पक्षियों का पेट भरता है। इस प्रकार से यह गौ सबका पालन—पोषण करती है—**'गौर्वाऽइदं सर्वं बिभर्त्ति"**।

भला इस उपकार के बदले जो त्वक् पुरुषों में है—उसे गाय में रख दें। यह निर्दोष अखिल जगत् का पालन करने वाली गौ—माता इस त्वचा से बरसात—शीत—आतप—सबको सह सकने में समर्थ

हो जायगी । ऋतु कुल तीन हैं, अतएव उनके सर्दी, गर्मी, वर्षा यह तीन ही दुःख हैं । बिना त्वक् के—संसार का पालन करने वाली इन गौओं को—गर्मी–सर्दी–वर्षा का कष्ट सहना पड़ता है अतः इस कष्ट की निवृत्ति के लिए पुरुष के शरीर की जो त्वचा है—उसे इनके ऊपर लगा देनी चाहिए । इससे यह गर्मी–सर्दी सारी आपत्तियों को सहने में समर्थ हो जायंगी—

"हन्त येयं पुरुषे त्वक्–गवि एतां दधाम । तयैषा वर्षन्तं, तया हिमं, तया घृणिं तितिक्षिष्यते, इति" ।। १४ ।।

बस यह विचार कर देवताओं ने पुरुष के शरीर पर से त्वचा को उतार कर उसे गाय के शरीर में लगा दी । उसी त्वचा से यह गौमाता वर्षात्, सर्दी और गर्मी सब को सहती है । त्वचा के प्रभाव ही से सर्दी–गर्मी–वर्षा किसी का असर इसके शरीर पर नहीं होगा—

"तेऽवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुः तयैषा वर्षन्तं, तया हिमं, तया घृणिं तितिक्षते" ।। १५ ।।

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्य एव देवताभ्यः"—यह वैदिक सायन्स का अटल सिद्धान्त है । संसार के जितने भी पदार्थ उत्पद्यमान हैं—उत्पन्न होने वाले हैं—वे सब इन्हीं देवताओं से उत्पन्न होते हैं । "देवता" कोई विग्रहधारी नहीं है अपितु पदार्थ–विशेष का नाम देवता है । वैज्ञानिक परि-भाषा में देवता को विग्रहवान् समझना नितान्त भूल है । अग्नि, वायु, इन्द्र, वसु, रुद्र, आदित्य यह सब पदार्थ हैं—जिनके–अवयजन–यजन (सम्मिश्रण–विशकलन) से सारे पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं । देवता कुल ३३ माने जाते हैं—इनमें ८ वसु, ११ रुद्र एवं १२ आदित्य हैं । यदि इन ३३ देवताओं का असली स्वरूप पूछा जाय तो "अग्नि" है । अग्नि की घन, तरल, विरल अवस्था भेद से ३३ देवता बन जाते हैं । जो अग्नि की घनावस्था है उसे "अग्नि" ही कहते हैं, जो अग्नि की तरलावस्था है उसे "वायु" कहते हैं, जो अग्नि की विरलावस्था है उसे आदित्य कहते हैं, जो कि प्राणस्वरूप है अतएव रूपरसगन्धस्पर्शशब्द रहित है । **एक दीपक की ओर ध्यान दीजिए—उसकी जो लौ है वह अग्नि स्थानापन्न है, उसका जो प्रकाश मण्डल है वह लौ की अपेक्षा तरल होने के कारण वायुस्थानापन्न है, एवं उस प्रकाशमण्डल के बाहर जो प्रकाश अदृश्य रूप में बिल्कुल निराकार रूप में परिणत हो निकलता रहता है वह आदित्य स्थानापन्न है ।** स्थानापन्न समझाने के लिए कहा है, वास्तव में वह आदित्य है । दीपक तो दूर रहा । संसार के यच्चयावत् पदार्थों में—अग्नि वायु आदित्य–रहते हैं । सब अपनी–अपनी पृथक् संस्था रखते हैं । इस संस्था ही का तो—जिसे कि ऋग् यजुः साम कहते हैं—हमें प्रत्यक्ष होता है । **पार्थिव जितने भी पदार्थ हैं, उनके केन्द्र में अग्नि रहती है । इसी को तप्त पुरुष पुरुष–प्रजापति कहा जाता है ।** यह पदार्थ के केन्द्र में बैठा हुआ उस पदार्थ की सत्ता कायम रखता है । पदार्थ पिण्ड का स्वरूप अपने चुनाव से अग्नि ही बनाता है अतएव यह पिण्ड उसकी कहलाती है एवं चूँकि वही प्रजा का अधिष्ठाता है अतएव उसे प्रजापति कहते हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ।।

(यजु० सं० ३१।१९)

यह अग्नि मर्त्य अमृत भेदेन दो प्रकार का है । जो पिण्डाग्नि है अर्थात् जो अग्नि पिण्डस्वरूप में (चयन क्रियया) परिणत हो गया है, वह तो मर्त्य है । किसी न किसी दिन अवश्य ही उस पिण्ड का नाश होगा । एवं उस पिण्ड के बाहर ३३ तक जो अपना मण्डल बनता है—जो कि मण्डल वाक्-प्राण-मनोमय होने के कारण **"वषट्कार मण्डल"** कहलाता है—वही अमृताग्नि है । इसी असृताग्नि द्वारा हम पदार्थ का प्रत्यक्ष करने में समर्थ होते हैं । जहाँ तक इस अमृताग्नि का सोलर-सिष्टम रहता है—उस पदार्थ का उसी स्थान तक प्रत्यक्ष होता है । जहाँ उस अमृत-मण्डल की सीमा से बाहर निकले कि वह पदार्थ अदृश्य हुआ । किसी पुरो आस्थित वस्तु को आप देखते हुए दूर हटते जाइए । हटते-हटते जहाँ वह वस्तु बिन्दु मात्र दिखाई देने लगे वहीं उसके अमृताग्नि मण्डल की समाप्ति समझनी चाहिए । परन्तु जब वह वस्तु सर्वथा दिखाई न दे तो समझ लीजिए कि हम उसके अमृताग्नि मण्डल के बाहर हैं । प्रत्येक पिण्डाग्नि का हमें विचार नहीं करना । करना है केवल पार्थिवाग्नि, सौर्याग्नि और अन्तरिक्ष्याग्नि का । इससे पहिले इतना और समझ लेना चाहिए कि यह अग्नि ऋत-सत्य भेदेन दो प्रकार का होता हैं । पिण्ड-केन्द्र में रह कर अमृतमण्डल तक एक सूत्र में बँधे रहने वाला अग्नि 'सत्य' है अर्थात् सकेन्द्र अग्नि सत्य है एवं केन्द्र-रहित इधर-उधर पानी की तरह व्याप्त रहने वाला अग्नि 'ऋत' है । सोम मिश्रित यही 'ऋताग्नि "ऋतु" शब्द से व्यवहृत होता है । पृथिवी का अग्नि पृथिवी के केन्द्र से बद्ध रहता है, सूर्य्य का अग्नि सूर्य्य के केन्द्र से बद्ध रहता है अतएव पार्थिव और सौर दोनों अग्नि सत्य हैं । परन्तु अन्तरिक्ष का अग्नि अपना केन्द्र न रख कर इधर-उधर व्याप्त रहता है अतएव हम इसे **"ऋताग्नि"** कहने के लिए तैयार हैं । बस प्रकृत में इन्हीं पार्थिव सौर (सत्य) एवं अन्तरिक्ष्य (ऋत) अग्नि से हमारा प्रयोजन है ।

एक ही अग्नि स्थानभेद से, अवस्थाविशेष से नाना नाम धारण कर लेता है । इसीलिए जो पृथिवी का अग्नि है, उसे अङ्गिरा कहने लगते हैं एवं सूर्य्य के अग्नि को सावित्राग्नि कहने लगते हैं । यह पार्थिवाग्नि अर्थात् अङ्गिरा हर वस्तु केन्द्र में से निकल कर किन्तु केन्द्र में बद्ध रह कर सूर्य्य की ओर, द्युलोक की ओर जाया करता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभुर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययुः" इति ।।

(साम. सं० पू० १।२)

तो जिस प्रकार से यह अङ्गिरा 'द्यु' की ओर हर वख्त जाता रहता है तद्वत् सावित्राग्नि हर-वख्त द्युलोक की ओर से पृथिवी की ओर आता रहता है । जैसे पार्थिवाग्नि का एक सोलर सिष्टम है

जिसे कि "**रथन्तरसाम**" कहते हैं, वैसे ही इस सूर्य्य का भी एक सोलर सिष्टम है। इसका जो प्रकाश-मण्डल है उसी का नाम सोलर सिष्टम है। इसो को "**बृहत्साम**" कहते हैं। इस सोलर सिष्टम ही को संवत्सर कहते हैं। इस संवत्सर मण्डलाधिष्ठाता सूर्य्य ही से संसार का निर्म्माण होता है। जैसा कि श्रुति कहती है "**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**"। चूँकि संवत्सराधिष्ठाता सूर्य्य ही विश्व का उत्पादक है अतएव वेद में इस संवत्सर को भी "प्रजापति" कहा जाता है।

हमें प्रकृत में यही बताना है कि ऊपर जाते हुए पार्थिवाग्नि से एवं ऊपर से नीचे आते हुए संवत्सराग्नि से अर्थात् सावित्राग्नि से पृथिवी-सूर्य्य दोनों के बीच में रहने वाले अन्तरिक्ष्याग्नि का जब परस्पर संघर्ष होता है तो एक तीसरा तापधर्मा अग्नि उत्पन्न हो जाता है। **पूर्वोक्त तीनों ही अग्नियों में ताप नहीं है। तीनों ताप और आकार रहित हैं।** परन्तु इन तीनों के मेल से जो एक यह चौथा अग्नि पैदा हुआ है उसमें ताप और रूप दोनों हैं। लौकिक मनुष्य जिसे अग्नि कहते हैं वह यही चौथा अग्नि है। इसी अग्नि का नाम है "**वैश्वानर**" जिसे कि भाषा में '**बेसन्दर**' कहते हैं। इसी वैश्वानर के अभिप्राय से वेद भगवान कहते हैं—

"अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर" ॥

(ऋ० ५।६।१)

मैं अग्नि (वैश्वानराग्नि) उसे मानता हूँ जिसमें से कि सूर्यास्त होने पर चारों ओर किरणें निकलती हैं। 'विश्व' लोक को कहते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ यह तीन लोक हैं अतएव विश्व भी तीन ही कहलाते हैं। इन विश्वों के अग्नि, वायु और आदित्य यह तीन अधिष्ठाता हैं। अधिष्ठाता ही को वेद "नर" शब्द से व्यवहृत करते हैं। चूँकि इन तीनों विश्वों के तीनों नरों के मेल से यह चौथा वैश्वानराग्नि उत्पन्न होता है अतएव "**विश्वेभ्योनरेभ्योजातः**" इस व्युत्पत्ति से इसे "**वैश्वानराग्नि**" कहते हैं। वैश्वानर में 'वैश्वा' पद दिया है। यह वैश्वा पद "विश्वानि" इन तीनों लोकों के संकेत के लिए समझना चाहिए। हमने बतलाया है कि पृथिवी के केन्द्र में अग्नि रहता है। अग्नि का स्वभाव विशकलन करने का है। लकड़ी में अग्नि इस समय सो रहा है—आप जरा अन्याग्नि से उसे जगा दीजिए, बस जगने के साथ ही—जो लकड़ी ठोस थी वह विशकलित हो जायगी—खिल जाएगी। कहने का तात्पर्य यहो है कि अग्नि विशकलनधर्म्मा है। बस अग्नि के इस विशकलन को रोकने के लिए—पृथिवी के चारों ओर ४८ तक एक भूवायु का स्तर विद्यमान है। प्रतिक्षण विशकलित होने वाले इस पार्थिव अग्नि का उस भूवायु ने स्तम्भन कर रखा है। चारों ओर से उस अग्नि की विशकलन शक्ति को इस भूवायु ने रोक रक्खा है। यदि इसे रोकने वाला इसके चारों ओर यह भूवायु स्तर न होता तो-विशकलन धर्म्मा अग्नि-पृथिवी के खण्ड-खण्ड कर डालता। इसी वायु का नाम "**एमूष वराह**" है। यह वायु इस पृथिवी को संवरण करके चारों ओर इस पर व्याप्त हो कर इस पर आक्रान्त हो रहा है अतेएव इसे "एमूष वराह" कहते हैं। "**वृणते इति वरः, अह्नोतीति अहः वरन्चासौ अहश्चेति वराहः।**

आ (आ समन्तात्–इमं (पृथिवीम्) वसति–इति एमूषः । एक साथ चारों ओर से संवरण कर रक्खा है । इसी बात को बतलाने के लिए इसका नाम "एमूष वराह" रखा गया है । यदि एक साथ चारों ओर से संवरण न करता एवं एक–देश में ही करता तो दूसरी ओर का अग्नि स्वतन्त्र हो पृथिवी को टुकड़े–टुकड़े कर देता । बस यही "एमूष वराह भगवान्" इस पृथिवी को अपने दाँत पर उठाए हुए हैं । यदि यह न होते तो पृथिवी का कहीं पता भी नहीं रहता । बस यही वराह भगवान् का अवतार है जो हर घड़ी–हर मिनिट, हर सेकिण्ड, हर पल, हर प्रतिविपल हो रहा है । सूर्य्य की जो आती हुई रश्मिएँ हैं उनका नाम "सावित्री" है एवं प्रतिफलित तेज का नाम गायत्री है । आतप–प्रकाश का नाम सावित्री है—छाया–प्रकाश का नाम गायत्री है । हमने बतलाया है कि पृथिवी के ऊपर चारों ओर ४२ कोस तक भूवायु स्तर रहता है । प्रातःकाल क्षितिज से २००० (दो हजार) कोस नीचे रहने वाला भी सूर्य्य हमें क्षितिज पर दिखलाई पड़ता है—वह इसी भूवायु की महिमा है । भूवायु पानी की तरह तरल है । इस तरल भूवायु पर सीधी ऊपर की ओर जाती हुई सूर्य्य रश्मिएँ प्रतिफलित हो जाती हैं । पानी में पड़ी हुई सरला सीधी भी लकड़ी जैसे टेढी प्रतीत होने लगती है वरना वास्तव में वह टेढी नहीं है—ठीक इसी प्रकार से पानी के सदृश तरल इस भूवायु पर सीधी जाती हुई वे सूर्य्य रश्मिएँ फिसल पड़ती हैं—एवं उसी स्थान की सीध में हमें सूर्य्य दिखलाई देने लगता है । वास्तव में यह सूर्य्य लम्बितयष्टिवत् मिथ्या है । सच्चा सूर्य्य अभी (प्रातः) क्षितिज से दो हजार कोस नीचे है । सूर्य्य से हमारा आत्मा बनता है एवं प्रातःकाल का सूर्य्य मिथ्या है—अतः इसे देखने से हमारे आत्मा पर बुरा असर पड़ेगा, इसीलिए भगवान् मनु उपदेश करते हैं—

"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्य नभसोगतम्" ।।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इस भूवायु पर लम्बित हो कर जो छायामय सौर–प्रकाश आता है उसे ही "गायत्री" कहते हैं । गौ पृथिवी को कहते हैं । इसके पेट में हो कर यह प्रकाश निकलता है अतएव इसे गायत्री कहते हैं । इसी वैज्ञानिक रहस्य को समझाने के लिए भगवान् व्यास ने निम्न कथा बना दी है—ब्रह्मा के एक स्त्री थी । उसका नाम गायत्री था । ब्रह्मा यज्ञ करना चाहते थे । यज्ञ बिना पत्नी के हो नहीं सकता था एवं सावित्री नाराज होकर चली गई थी अतः उन्होंने एक ग्वाले की छोरी को गाय के मुँह में डाल कर उसे पूँछ के रास्ते से निकाल उसका नाम गायत्री रख कर उसके साथ यज्ञ किया । सूर्य्य प्रजापति ही ब्रह्मा हैं, उनका सीधा सत्यरूप से जाने वाला तेज ही सावित्री है । जो जाती हुई किरणें हैं उन्हीं का नाम सावित्री है । वह जाने वाली हैं इसीलिए **"सावित्री रूस कर चली गई"** कहा जाता है । बस मायके अर्थात् पृथिवी के भूवायु में प्रतिफलित हो पृथिवी के पेट में से निकलने वाला जो प्रकाश है—उससे ही प्राणियों की सत्ता रखने वाला यज्ञ सूर्य्य प्रतिदिन करते रहते हैं ।

बस भू–वायु में प्रविष्ट इस सावित्र्याग्नि के और भू–वायु अन्तर्गत पार्थिवाग्नि के मेल से एक विजातीय वस्तु बन जाती है । गायत्री और पार्थिवाग्नि की जो मिश्रित अवस्था है उसे ही "उषा" कहते

हैं। बस उषा में जब उस वैश्वानराग्नि का सम्बन्ध होता है तो उससे "कुमाराग्नि" पैदा होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

तद्यदसृज्यत अक्षरत्। तद्यदक्षरत् तस्मादक्षरम्। यदष्टौ कृत्वा अक्षरत् सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति। तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत्। तस्यामस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सरायादीक्षन्त। भूतानांपति गृहपतिरासीत् उषाः पत्नी॥ तद्यानितानि भूतानि ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानांपतिः संवत्सरः सः। अथ या सोषा पत्नी औषसी सा। तानि इमानि भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सरे उषसि रेतोऽसिञ्चत्। स संवत्सरे कुमारोऽजायत"—(श० ६।१।३।६)

इस कुमार-अग्नि के आठ भेद हो जाते हैं। यह आठ स्वरूपों में परिणत हो जाता है उन आठों के नाम यह हैं—१ रुद्र २ सर्व, ३ पशुपति ४ उग्र ५ अशनि ६ भव ७ महादेव ८ ईशान।

इन्हीं को इन निम्नलिखित नामों से भी व्यवहृत किया जाता है—१ अग्निः २ आप ३ औषधि ४ वायु ५ विद्युत् ६ पर्जन्य, ७ चन्द्रमा ८ आदित्य। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अग्निर्वै(१) रुद्रः(१)। आपो(२) वै सर्वः(२)। ओषधयो(३) वै पशुपतिः(३)। वायुर्वा(४) उग्रः(४)। विद्युद्वा(५) अशनिः(५)। पर्जन्यो(६) वै भवः(६)। प्रजापतिर्वै चन्द्रमा(७)—प्रजापतिर्वै(७) महादेवः(८)। आदित्यो(८) वा ईशानः(८)।

उस कुमाराग्नि के ८ प्रकार से दर्शन होते हैं। वह ८ स्वरूप से स्वतन्त्र रहता हुआ आठ विभागों में विभक्त हो जाता है। यह आठों अग्नि ही के रूप हैं। अवस्था-भेद मात्र से ८ नाम हो गए हैं—वास्तव में आठों अग्नि हैं—एवं कुमार ९ वाँ अग्नि है चूँकि यह (अग्नि)—**कुमार आठ स्वरूपों में परिणत हो जाता है—इसीलिए अग्नि को गायत्री कहते** हैं एवं चूँकि कुमार सहित अग्नि ९ भागों में विभक्त रहता है अतएव इस अग्नि को त्रिवृत् कहते हैं जैसा कि श्रुति कहती है—

"तस्यैतान्यष्टावाग्नि रूपाणि कुमारो नवमः। सैवाग्नेस्त्रिवृता। यद्वेवाष्टावग्निरूपाणि—अष्टाक्षरा गायत्री—तस्मादाहुः—गायत्रोऽग्नि इति"—

(श० ६।१।३।१८)

इन पूर्वोक्त आठों अग्नियों को ही **"चित्राग्नि"** कहते हैं—

१	रुद्रः —	अग्निः	॥	"अग्निर्वै रुद्रः"	(पृथिवी)	चित्राग्निः
२	सर्वः —	आपः	॥	"आपोवै सर्वः"	(जल)	
३	पशुपतिः —	ओषधयः	॥	"ओषधयोवै पशुपतिः"	(औषधिः)	
४	उग्रः —	वायुः	॥	"वायुर्वा उग्रः"	(वायु)	
५	अशनि —	विद्युत्	॥	"विद्युद्वा अशनिः"	(विद्युत्)	
६	भवः —	पर्जन्यः	॥	"पर्जन्योवै भवः"	(आत्मा)	
७	महादेवः —	चन्द्रमाः	॥	"प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः"	(प्रज्ञान)	
८	ईशानः —	आदित्यः	॥	"आदित्योर्वा ईशानः"	(विज्ञान)	

यह आठों चित्राग्नि हैं इसीलिए श्रुति कहती है—

"चित्रमात्मानं करोति–चित्रोऽसीति । सर्वाणि हि "चित्र्याण्यग्निः" ।

तदनन्तर इसी चित्राग्नि से पशु-अग्नि उत्पन्न होती है। अर्थात् इन पृथिवी, जल, वायु, चन्द्रमा, आदित्य, पर्जन्य, विद्युत् एवं औषधियों से ही पुरुष, अश्व, गो, अवि और अज—यह पाँच पशु उत्पन्न होते हैं। पशु से तात्पर्य्य अग्नि है। इन आठों के मेल से एक अग्नि उत्पन्न होता है जो कि पशु नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में हमारे और गौ आदि के शरीर में पृथिवी, जलादि यह आठ ही तो पदार्थ हैं। इनके अवयव सन्निवेश में एवं मात्रा में तारतम्य रहता है अतएव हमारे में और गाय वगैरहों में फरक हो जाता है।

हमारे में विज्ञान है त्वचा नहीं, उनमें त्वचा है विज्ञान नहीं। जो ८ में आदित्य है उसके रस से हमारा विज्ञानात्मा बनता है, चन्द्रमा के रस से प्रज्ञानात्मा बनता है एवं पर्जन्य उस आत्मा का नाम है जो कि अखण्ड है, निर्धर्षक है। इन आठों अग्नियों को 'संवर्ग्य' अग्नि भी कहते हैं।

कहना हमें यही है कि इस चित्राग्नि से पशु–अग्नि उत्पन्न होती है परन्तु इसमें प्रजापति की इच्छा से मात्रा में तारतम्य हो जाता है। प्रजापति इस भुवन के केन्द्र में बैठा है **"बृहद्धतस्थौ भुवनेश्वन्तः"** उसी की इच्छा से सारे विश्व का निर्माण होता है। हम संसार में पुरुष अश्वादि में सर्वथा वैचित्र्य देखते हैं एवं नरा-नरा भावों का परिवर्तन देखते हैं। **यह परिवर्तन–क्रिया, बिना प्राण व्यापार के नहीं हो सकती, एवं प्राण व्यापार इच्छा के बिना नहीं हो सकता। इच्छा होती है जब तप होता है, अर्थात्** प्राणव्यापार होता है तभी श्रम अर्थात् क्रिया (भूत–व्यापार) होती है। चूंकि पुरुषादि की निर्म्माण क्रिया हम देखते हैं अतएव मानना पड़ता है कि इस क्रिया का प्रेरक

कोई इच्छा करने वाला अवश्य ही है। बस उसी को प्रकृत में देवता कहा है। वह प्रजापति एक स्वरूप होता हुआ भी प्रतिबिम्बवत् यच्चयावत् पदार्थों के केन्द्र में बैठा रहता है। इसे ही सप्तपुरुष पुरुषप्रजापति कहते हैं जिसका कि छठे काण्ड के प्रारम्भ में विस्तृत विवेचन किया गया है। वह पुरुष प्रजापति चूंकि आग्नेय है—**एवं अग्नि ही को कहते हैं देवता—अतएव प्रकृत में प्रजापति का नाम लेकर "ते देवा अब्रुवन्"** यह कह दिया गया है। वस्तुतः "देवा" से अभिप्राय है "आग्नेय प्रजापति" का। इस प्रजापति ने मनुष्य-पशु में बुद्धि 'प्रधान' कर दी है अतएव यह स्वयं उद्योग कर वस्त्र पहिन सकता है परन्तु गौ-पशु में बुद्धि नहीं है अतएव उसमें उसने त्वचा का निर्माण कर दिया है।

"पाँचों पशु हैं"। इसमें लोगों को प्रश्न हो सकता है कि जब पाँचों में पशु-अग्नि है तो फिर निर्माण में इतना वैषम्य क्यों? बस इसी प्रश्न को हल करने के लिए भगवान याज्ञवल्क्य को यह सृष्टि-विज्ञान बतलाना पड़ा। उन्होंने बतलाया कि पुरुष-पशु में त्वक् नहीं है एवं गौ में है। इसका कारण यही समझो कि प्रजापति भगवान ने पुरुष-पशु में से उस चर्म्म-निर्म्माण करने वाले अग्नि की मात्रा निकाल ली एवं उसमें बुद्धि की मात्रा अधिक रख दी एवं गायों में से बुद्धि की मात्रा निकाल ली एवं चर्म्म की मात्रा रख दी।

अग्नि ही से पाँचों पशु बनते हैं इसीलिए **"त एते सर्वे पशवो यदग्निः"** यह कहा जाता है **(श० ६।२।१।१२)।**

बस इसी प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रख कर ही—**"या ह वा गोस्त्वक्—पुरुषे हैषाग्रऽआस ते देवा अब्रुवन्"** इत्यादि कहा कहा गया है।

अन्त में भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वास्तव में पुरुष **अवच्छित** है अर्थात् वाकई गौ सदृश इसमें त्वचा नहीं है। होती भी कैसे? जब कि प्रजापति ने इसमें से अग्नि के उस हिस्से को ही निकाल लिया जो कि त्वचा बनाता है—

"अविच्छतो हि वै पुरुषः"।

इसके त्वचा नहीं है इसीलिए इसके शरीर में जहाँ कहीं पानी की फाँस (मूंज की फाँस) अथवा चक्कू वगैरह लग जाते हैं, उसी स्थान से लोही (रुधिर) निकलने लगता है। जरा सी फाँस लगते ही इसके खून निकल आता है। परन्तु यह बात पशुओं में नहीं है। पशुओं का चमड़ा बहुत मोटा होता है। उनके चाहे काँटे वगैरह लग जाओ—उनके एकाएक खून नहीं निकलता। अपि च वधिक लोग जब बकरे किंवा भेड़ के ऊपर के चर्म्म को तराश कर जब उतार लेते हैं तो उसके भीतर लाल सुर्ख पतली सी झिल्ली दिखाई पड़ती है। बस वही हमारे शरीर में है। उसे काटने पर पशुओं के खून निकलता है परन्तु हमारे ऊपर की को काटते ही रुधिर निकलने लगता है।

पशुओं के त्वचा होने का और हमारे न होने का इससे ज्यादा और क्या प्रमाण हो सकता है—इसी अभिप्राय से कहते हैं—

अविच्छतो वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा (अन्यत्) विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति"।

पूर्वोक्त प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि पुरुष–पशु की त्वचा उतार ली गई है और इनमें विज्ञान देकर प्रजापति ने इन्हें आज्ञा दे दी है कि तुम अपने सर्वत्व के लिए वस्त्र पहिनो। वस्त्र ही तुम्हारी त्वचा है। जब तक तुम वस्त्र न पहिनोगे तब तक तुम अधूरे हो। तुम्हारा सर्वत्व वस्त्रों के अधीन है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—चूंकि देवताओं ने (प्रजापति ने) इनकी त्वचा को गौओं के सुपुर्द कर दिया अतः इनके निस्त्वक्त्व के परिहार के लिए, इनके सर्वत्व के लिए इनके शरीर में इस वास स्वरूप त्वचा को रखा।

"तस्मिन्नेतां त्वचमदधुः" भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—चूंकि पुरुषों के लिए ही देवताओं ने वस्त्र की व्यवस्था की है—अतएव पृथिवी मण्डल भर में, सिवाय पुरुष के और कोई भी वस्त्र नहीं पहिनता है। पहिने कसे–जबकि इन्हीं में त्वचा की व्यवस्था की है—

"तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्ति। एतां हि अस्मिन् त्वचमदधुः।" तात्पर्य कहने का यही है कि पुरुषों में गौ सदृश त्वचा नहीं है, इससे समझना चाहिए कि भगवान् प्रजापति की मनुष्यों की त्वक्स्थानापन्न वस्त्र पहिनने की ही आज्ञा हुई है। जब तक वस्त्र नहीं पहिने जाते हैं तब तक मनुष्य अधूरे रहते हैं अतः अपनी तरक्की चाहने वाला–समृद्धि चाहने वाला–अपने अधूरे भाव को पसन्द न करने वाला मनुष्य सदा सर्वदा सुवासा रहने ही की इच्छा रखे। सदा दिव्य वस्त्र पहिने रहे— **"तस्माद् सुवासा एव बुभूषेत्–(भवितुमिच्छेत्)" "स्वया त्वचा समृध्यै"–इत्यतः।**

वस्त्र मनुष्य की त्वचा है—यह मनुष्य को समृद्ध करने वाले हैं, अतएव जो महाघृणित नीच मनुष्य होता है—यदि वह भी सुन्दर, दिव्य, स्वच्छ वस्त्र पहिन लेता है तो उसकी तरफ सबकी नजर पड़ने लगती है। वस्त्र पहिनने मात्र से उसकी तरफ होने वाले घृणा के भाव उठ जाते हैं। हट कैसे नहीं जाय–जबकि वह अपनी त्वचा से समृद्ध हो रहा है। अर्थात् घृणित भाव हटने का एकमात्र कारण वस्त्र ही हैं, इसीलिए कहते हैं—**"तस्मादप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते। स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति।"** अतः दिदृक्षन्ते–इति भावः।

इससे कहना यही है कि यजमान को भी सर्वत्व के लिए, समृद्धि के लिए—देवताओं की नजर मेरे ऊपर पड़े, इसलिए वस्त्र पहिनना चाहिए। बस इसीलिए—**"सः वासः परिधत्ते सर्वत्वाय"** यह कहा गया है॥ १६॥

सृष्टि निर्माण में प्रजापति ने किंवा देवताओं ने पुरुष पशु का हिस्सा गौओं को दे डाला था जो कि आज तक उन्हीं में चला आता है। गायों की अन्तरात्मा इस प्राकृतिक रहस्य से परिचित है कि

मनुष्यों की त्वचा हमें मिलती है अतः गायों के पास बिना वस्त्र पहिने–नग्न हो कर–कभी नहीं जाना चाहिए—"**नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात्**"। क्योंकि गाय इस रहस्य को जानती है कि मैं इसी पुरुष की त्वचा को धारण किए हुए हूँ। अतएव वह डरती हुई कांपती है, त्रास खाती है कि अब यह अवश्य ही मेरी त्वचा को ले लेगा। त्रास और भय एक वस्तु नहीं है भिन्न-भिन्न वस्तु हैं—अतएव "बिभ्यति–त्रसति" कहा है। अज्ञात प्रकृतिक पुरुष से जो डर लगता है वह "भय" कहलाता है एवं ज्ञात–प्रकृतिक पुरुष से जो डर लगता है वह "त्रास" कहलाता है—

"अज्ञात प्रकृतिकादनिष्ट संभावना भयम्
ज्ञात द्रोहादनिष्ट संभावना–त्रासः।"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसीलिए गाएँ सुवासस मनुष्य का आश्रय लेती हैं। अर्थात् जो कपड़े पहिन कर उनके पास जाता है उसे प्यार की नजर से देखती हैं। इससे वास्तव में प्रतीत होता है कि चर्म्म उनकी वस्तु नहीं है अपितु पुरुषों की है।

"तस्मादु गावः सुवाससमुपैव निश्रयन्ते" ॥ १७ ॥

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" यह सिद्धान्त इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही हम बतला आए हैं। इससे वस्त्र भी उन्हीं देवताओं से बना है, यह बात सिद्ध हो जाती है। सिद्ध ही नहीं हो जाती, वास्तव में बात सच है। रूई को पैदा करने वाले देवता हैं। पार्थिवाग्नि ही रूई उत्पन्न करती है, उसी का वस्त्र बनता है, फिर क्यों न हम वस्त्र को देवता का बनाया हुआ एवं देवतायुक्त कह सकते हैं। अवश्य ही कह सकते हैं। हमने बताया है कि अवस्था विशेष से एक ही अग्नि के अग्नि, नक्षत्र, वायु, पितर, विश्वेदेव इत्यादि नाम हो जाते हैं, जैसा कि "देवता निरूपण" नाम के मन्त्र में बतलाया गया है। तो बस इस वस्त्र में भी स्थान-भेद से नाना देवता का भाव उत्पन्न हो जाता है, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

इस वस्त्र को जो पर्य्यास (वस्त्र के अन्त की झालर) अग्निदेवताक है। अग्नि देवता से पर्य्यास बनता है, एवं जो वस्त्र है जिससे छादन क्रिया होती है अताप–अनुच्छाद कहा गया है—वायु देवताक है, एवं धोती की किनार पितृदेवताक है। अर्थात् नीवी का जो बन्धन है वह पितृ–बन्धन है। सर्प या ग्रन्थि–बन्धन वरुण प्राण का स्वरूप है। बिलकुल खुला देवता का भाव है, एवं मध्य भाव पितरों का है एवं उस वस्त्र में बीच-बीच में जो एक लम्बा तागा आ जाता है जो कि वस्त्र की बुनगट से स्वतन्त्र ही दीखता है, वही सर्पों का है। उसमें सर्प–प्राण हैं। एवं जो ताने-बाने हैं वे विश्वेदेवताओं के हैं, एवं जो ताने-बानों के छिद्र हैं वे नक्षत्रों के हैं। बात वास्तव में ठीक है, रोमावली के निर्माता छिद्रों के अधिष्ठाता नक्षत्र ही हैं जैसा कि श्रुति कहती है—

"एभ्योलोम गर्त्तेभ्यो ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यायन् तद्यानि तानि ज्योतींषि एतानि तानि नक्षत्राणि । यावन्त्येतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्त्ताः । यावन्तो लोमगर्त्तास्तावन्तः सहस्र संवत्सरस्य मुहूर्ताः" (श० १०।४।४।२)

कहने का तात्पर्य यही है कि छिद्रों के देवता नक्षत्र ही हैं। इस प्रकार से इतने देवता इस वस्त्र की पकड़ में हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तस्य वा एतस्य वाससः अग्नेः पर्यासो भवति। वायोरनुच्छादः। नीविः पितॄणाम्। सर्पाणां प्रघातः। विश्वेषां देवानां तन्तवः। आरोका नक्षत्राणाम्। एवं हि वा एतत् सर्वे देवा अथायत्ताः" ।

एक प्रश्न उठता था कि यह यजमान देवता बनने वाला है अतः सामान्य मनुष्यों के काम में आने वाले वस्त्र यह पहिन सकता है या नहीं। बस इसी के लिए **"तस्य वा०"** इत्यादि कहना पड़ा है। वस्त्र भी दैवत ही है अतः दीक्षित यजमान भी अवश्य पहिन सकता है। चूंकि इसमें सारे देवता हैं अतएव यह दीक्षित–वसन हो जाता है अर्थात् दीक्षित अवश्य ही वस्त्र पहिन सकता है—

"तस्माद्दीक्षितवसनं भवति"—इति ।।१८।।

वह वस्त्र एकदम नया होना चाहिए। किसी का पहिना हुआ नहीं होना चाहिए—**तद्वाऽअहतं स्यात्'** ।

वह वस्त्र मजबूती के लिए और मेध्यता के लिए एकदम नया होना चाहिए—**"तद्वाऽअहतं स्यादयातयामतायै"** ।

जिस समय वस्त्र आ जाय उस समय किसी नौकर से उस वस्त्र को कूट कर साफ करने के लिए कह दे। निर्म्माण के समय, जो कि इसमें माँडी लगाते हैं एवं बुनते हैं, उस समय की जो अमेध्यता है, वह हट जाय एवं पवित्र और स्वच्छ हो जाय, इसीलिए धुलवाने के लिए कह दे अर्थात् माँडी–वाँडी निकालने से यह साफ हो जाता है अतः उसे कुटवा कर साफ करवाना ही चाहिए—

"तद्वै निष्पेष्ट्वै ब्रूयात् । यदेवास्यात्रा-मेध्या (नीच मनुष्याः शूद्रादयः) कृणत्ति वा वयति वा तदस्यमेध्यमसदिति" ।

यदि माँडी आदि प्रत्यक्ष दोष न हो तो भी 'पवित्र हो जाय' इसलिए पानी से तो धुलवा ही डालना चाहिए—

"यद्युऽअहतं स्यात् अद्भिरभ्युक्षेत् मेध्यमसदत्-इत्यतः" ।

अथवा प्रतिदिन स्नान करने के अनन्तर (अपल्यूनकृत) क्षार वगैरह—साबुन वगैरह से नहीं धोया गया अर्थात् अपवित्र पदार्थों से नहीं धोया हुआ वही जो वस्त्र होता है उससे भी दीक्षा ले सकता है—

"अथो यदिदं स्नातवस्यं निहितं अपल्यूलनकृतं भवति—तेनो हापि दीक्षेत्" ।। १९ ।।

वस्त्र क्यों पहिनना चाहिए—कैसा पहिनना चाहिए यह बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं—

वह यजमान निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ वस्त्र पहिनता है—"दीक्षातपसोस्तनूरसि"—हे वस्त्र ! तुम दीक्षा और तप के शरीर हो। इसके पहिले यह वस्त्र अदीक्षित का शरीर था अर्थात् दीक्षा के पहिले यह मामूली मनुष्य की त्वचा थी परन्तु यहाँ अब वही दीक्षातप वाले यजमान की त्वचा बन रही है। इसी अभिप्राय से **"दीक्षातपसोस्तनुः"** कहा गया है। फिर मन्त्र का शेष भाग बोलता है—

"तां त्वा शिवां शग्मां परिदधे"

कल्याणी और साध्वी अर्थात् सुन्दर ऐसी तुझ तक (वस्त्र) को मैं धारण करता हूँ।

फिर मन्त्र शेष बोलता है **"भद्रं वर्णं पुष्यन्"**-भद्रवर्ण को पुष्ट करते हुए तुझको मैं धारण करता हूँ।

दीक्षा के पहिले यह वस्त्र पापभावयुक्त मनुष्य वर्ण (शरीर) की पुष्टि करता है। परन्तु अब तो दीक्षित की करता है। अर्थात् आज यह वस्त्र एक दीक्षित पहिन रहा है। दीक्षित जैसा महापुरुष वस्त्र को अपना रहा है। इसी बात को दिखलाने के लिए—

"भद्रं वर्णं पुष्यन्" इति । यह कहा है ।। २० ।।

बस इस प्रकार से जब क्षौर करा के, स्नान करा के यह यजमान वस्त्र धारण कर लेता है तो तदनन्तर इसे उस शाला में प्रविष्ट करवाते हैं—

"अथैनं शालां प्रपादयति"

इसके अनन्तर यह यजमान गाय का दूध और बैल से खेती किया हुआ अन्न न खाय—

"स धेन्वै च अनडुहश्च नाश्नीयात्" ।

इसका कारण बतलाते हैं। धेनु और बैल ही सारे जगत का पालन करते हैं। यह देख कर देवताओं ने (प्रजापति ने) कहा कि गाय और बैल ही प्राणिमात्र का पालन करते हैं अतः अन्य वयों (पक्षि) के अन्न का जो वीर्य्य है उसे इन दोनों में रख दें। बस यह विचार कर देवताओं ने जो वयों का एवं अन्यान्य पशुओं का अर्थात् प्राणिमात्र का जो रस था उसे इनमें रख दिया। इसीलिए गाय और बैल सदा चरते ही रहते हैं। चरें कैसे नहीं? जब कि सबका आत्मा—सबकी बुभुक्षा इनमें बैठी हुई है।

तो बस जो धेनु और अनुडुह सम्बन्धी खाता है वह एक प्रकार से सर्वभक्षी बनता है जो कि दीक्षित के लिए बुरा है। उसके सन्तान खराब होती है एवं पाप करता है एवं उसकी दुनियाँ में बदनामी होती है इसलिए दूध और कर्षण-साध्य अन्न नहीं खाना चाहिए परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं जबकि इसका दूध और अन्न शरीर पुष्ट करता है तो अवश्य ही खाना चाहिए।

पूर्वोक्त अर्थ सायण मतानुसार समझना चाहिए। वास्तव में मांस ही प्रदत्त अर्थ से अभिप्रेत है। उपक्रमोपसंहार से मांस हो का प्रकरण सिद्ध होता है। यदि गाय के दूध से एवं बैल की खेती से उत्पन्न अन्न में अधोगति होना, संतान का खराब होना-पापी होना-अपयश होना-सर्व भक्षी होना इत्यादि दोष होते तो फिर तो सारा संसार ही पातकी होता क्यों कि सभी का इन्हीं दोनों से पालन होता है अतः सायण मत अशुद्ध है।

इति दीक्षाब्राह्मणं-संस्कार ब्राह्मणं समाप्तम्

इति तृतीय काण्डे प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् समाप्तम्

अथ तृतीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः

प्रथमोऽध्यायः

तत्र तृतीयं ब्राह्मणम्

।। अथ आग्नावैष्णवेष्टि ब्राह्मणम् ।।

[मूल]—अपः प्रणीय । आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निर्वै सर्वा देवताऽअग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वत्यग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यस्तत्सर्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दीक्षाऽइति तस्मादाग्नावैष्णवऽएकादशकपालः पुरोडाशो भवति ।। १ ।।

तद्धैके । आदित्येभ्यश्चरुं निर्वपन्ति तदस्ति पर्युदितमिवाष्टौ पुत्रासोऽअदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।। देवाँ२ऽउपप्रैत्सप्तभिः परामार्ताण्डमास्यदिति ।। २ ।।

अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः । यास्त्वेतद्देवाऽआदित्या इत्याचक्षते सप्त हैव तेऽविकृतं हाष्टमं जनयाञ्चकार मार्ताण्डं संदेघो हैवास यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्यङ् पुरुषसंमितऽइत्युहैकऽआहुः ।। ३ ।।

त उ हैतऽऊचुः देवाऽआदित्या यदस्मान्नवजनि मा तदमुयेव भूद्धन्तेमं विकरवामेति तं विचक्रुर्यथाऽयं पुरुषो विकृतस्तस्य यानि मांसानि संकृत्य सन्यासुस्ततो हस्ती समभवत्तस्मादाहुर्न हस्तिनं प्रतिगृह्णीयात्पुरुषाजानो हि हस्तीति यमु ह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः ।। ४ ।।

स होवाच । राध्नवान्मे स प्रजायां य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपादिति राघ्नोति हैव य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपत्ययं त्वेवाग्नावैष्णवः प्रज्ञातः ।। ५ ।।

तस्य सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति । उपांशु देवते यजति पञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयोऽनुयाजाः संयाजयन्ति पत्नीः सर्वत्वायैव समिष्टयजुरेव न जुहोति नेदिदं दीक्षितवसनं परिधाय पुरा यज्ञस्य संस्थायाऽअन्तं गच्छानीत्यन्तो हि यज्ञस्य समिष्टयजुः ॥ ६ ॥

अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते अरुर्वै पुरुषोऽवच्छितोऽनरुरेवैतद्भवति यदभ्यङ्क्ते गवि वै पुरुषस्य त्वग्गोर्वाऽएतन्नवनीतं भवति स्वयैवैनमेतत्त्वचा समर्धयति तस्माद्वाऽअभ्यङ्क्ते ॥ ७ ॥

तद्वै नवनीतं भवति । घृतं वै देवानां फाण्टं मनुष्याणामथैतन्नाहैव घृतं नो फाण्टं स्यादेव घृतं स्यात्फाण्टमयातयामतायै तदेनमयातयाम्नैवायातयामानं करोति ॥ ८ ॥

तमभ्यनक्ति । शीर्षतोऽग्रऽआपादाभ्यामनुलोमं महीनां पयोऽसीति मह्य इति ह वा एतासामेकं नाम यद्गवां तासां वाऽएतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥ ९ ॥

अथाक्ष्यावानक्ति । अरुर्वै पुरुषस्याक्षि प्रशान्ममेति ह स्माह याज्ञवल्क्यो-दुरक्षऽइव हास पूयो हैवास्य दूषीका तेऽएवैतदनरुष्करोति यदक्ष्यावानक्ति ॥१०॥

यत्र वै देवाः । असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णो दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारकऽइव परिभाषते तस्माऽएवै-तद्यज्ञमुपप्रयन्सर्वतोऽश्म पुरां परिदधात्यश्मा ह्याञ्जनम् ॥ ११ ॥

त्रैककुदं भवति । यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुद-मकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति चक्षुष्येवैतच्चक्षुर्दधाति तस्मात्त्रैककुदं भवति यदि त्रैककुदं न विन्देदप्यत्रैककुदमेव स्यात्समानी ह्येवाञ्जनस्य बन्धुता ॥ १२ ॥

शरेषीकया अनक्ति । वज्रो वै शरः । विरक्षस्तायै । सतूला भवति । अमूलं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति । यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः । परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति । तद्यत्सतूला भवति—विरक्षस्तायै ।। १३ ।।

स दक्षिणमेवाग्रऽआनक्ति । सव्यं वाऽअग्रे मानुषेऽथैवं—देवत्रा ।। १४ ।।

स आनक्ति । वृत्रस्यासि कनीनकइति वृत्रस्य ह्येष कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ।। १५ ।।

स दक्षिणं सकृद्यजुषाऽऽनक्ति । सकृत्तूष्णीमथोत्तरं सकृद्यजुषाऽऽनक्ति द्विस्तूष्णीं तदुत्तरमेवैतदुत्तरावत् करोति ।। १६ ।।

तद्यत्पञ्चकृत्व आनक्ति । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्चकृत्वऽआनक्ति ।। १७ ।।

अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति । अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वै दर्भा मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति पवित्रं वै दर्भाः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति ।। १८ ।।

तद्वा एकं स्यात् । एको ह्येवायं पवते तदेतस्यैव रूपेण तस्मादेकं स्यात् ।। १९ ।।

अथोऽअपि त्रीणि स्युः । एकोह्येवायं पवते सोऽयं पुरुषेन्तः प्रविष्टस्त्रेधा विहितः प्राणऽउदानो व्यानऽइति तदेतस्यैवानु मात्रां तस्मात् त्रीणि स्युः ।। २० ।।

अथोऽअपि सप्त स्युः । सप्त वाऽइमे शीर्षन्प्राणास्तस्मात् सप्त स्युस्त्रिः सप्तान्येव स्युरेकविंशतिरेषैव संपत् ।। २१ ।।

तं सप्तभिः सप्तभिः पावयति । चित्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह वाक्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै वाक्पतिः प्रजापतिर्मापुनात्वित्येवैतदाह–देवो मा सविता पुनात्विति तद्वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात्तस्मादाह देवो मा सविता पुनात्वित्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति योवाऽअयं पवतऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ।। २२ ।।

तस्य ते पवित्रपतऽइति । पवित्रपतिर्हि भवति पवित्रपूतस्येति पवित्रपूतो हि भवतियत्कामः पुने तच्छकेयमिति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ।। २३ ।।

अथाशिषामारम्भं वाचयति । आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे ।। आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहऽइति तदस्मै स्वाः सतीर्ऋत्विजऽआशिषऽआशासते ।। २४ ।।

अथाङ्गुलिर्न्यचति । स्वाहा यज्ञं मनसऽइति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति द्वे स्वाहा वातादारभऽइति मुष्टीकरोति न वै यज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे यथाऽयं दण्डो वा वासो वा परोऽक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः ।। २५ ।।

स यदाह । स्वाहा यज्ञं मनसऽइति तन्मनस आरभते स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति तदन्तरिक्षादारभते स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामारभते ययोरिदं सर्वमधि स्वाहा वातादारभऽइति वातो वै यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमारभते ।। २६ ।।

अथ यत् स्वाहा स्वाहेति करोति । यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्तेऽत्रोऽएव वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्ते ।। २७ ।।

अथैनं शालां प्रपादयति । स जघनेनाहवनीयमेत्यग्रेण गार्हपत्यं सोऽस्य संचरो भवत्यासुत्यायै तद्यदस्यैष संचरो भवत्यासुत्यायै तद्यदस्येष संचरो भवत्या सुत्यायाऽअग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य गर्भो दीक्षितोऽन्तरेण वै योनिं गर्भः संचरति स यत्स तत्रैजति त्वत्परि त्वदावर्तते तस्मादिमे गर्भाऽएजन्ति त्वतपरि त्वदावर्तन्ते तस्मादस्यैष संचरोभवत्यासुत्यायै ।। २८ ।।

[अनुवाद]—जल ले कर अग्नि तथा विष्णु को एकादश कपालपुरोडाश भेंट करता है । अग्नि ही देव-समष्टि है क्यों कि सारे देवताओं तक पहुँचाने के लिए अग्नि में ही तो आहुति डालता है । अग्नि तो यज्ञ (पुरुष) का निम्न-स्थानीय आधा भाग है तथा विष्णु शिखरस्थ आधा भाग । (वह यजमान निश्चय करता है) कि सारे देवों को वश में कर के तथा पूरे यज्ञ को अपना कर दीक्षित बनूँ इसी कारण आग्नावैष्णव पुरोडाश (चावल की बटिया) ग्यारह कपालों वाला (मिट्टी के तवों पर पकाया गया) होता है ।। १ ।।

(विकल्प रूप में) कुछ लोग आदित्य के लिए चरु की आहुति देते हैं । यह नियमापवाद जैसा है । अदिति के जो आठ पुत्र कहे जाते हैं (वे) उसकी अपनी देह से उत्पन्न हैं । सात (पुत्रों) को लेकर तो वह देवताओं में मिल गई (किन्तु आठवें) मार्ताण्ड को (उसने) दूरातिदूर फेंक दिया । (अष्टौ पुत्रासो अदितिर्ये जातास्तन्वस्परि । देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् । (ऋ. १०।७२।८) ।। २ ।।

अदिति के आठ पुत्र थे । वे तो सात ही हैं जिन्हें आदित्य देवता कहा जाता है । (अदिति ने) आठवें (पुत्र) मार्ताण्ड को (हाथ-पैर आदि अङ्ग-विकार-रहित) पिण्ड मात्र सा उत्पन्न किया । उसका आकार-प्रकार संशय में डालने वाला था क्यों कि वह जितना लम्बा था उतना ही चौड़ा था अतः कुछ लोग उसे पुरुष-प्रमाण वाला बतलाते हैं (लोक में माना जाता है कि पुरुष की लम्बाई-चौड़ाई बराबर है अर्थात् यदि वह हाथ फैला कर खड़ा हो जाए तो जितनी चौड़ाई उसके दोनों हाथ घेरेंगे उतनी ही उसकी लम्बाई मानी जाएगी । मार्ताण्ड के गोल पिण्ड होने के कारण अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई बराबर होने के कारण उसे पुरुष-संमित कहा गया है) ।। ३ ।।

वे आदित्य-संज्ञक देव कहने लगे कि जो हम सबके बाद उत्पन्न हुआ है वह (कहीं) ऐसा न रह जाय ? अहो ! इसे अङ्गयुक्त करें । इस प्रकार (उन्होंने) उसे विकार

अर्थात् अङ्गों से युक्त कर दिया जैसा कि यह पुरुष विकृत अर्थात् विविध अङ्गकृत होता है। (अङ्ग निर्माण के समय) उसका जो मांस काट कर अलग किया उससे हाथी बन गया। इसीलिए कहा जाता है कि दान-दक्षिणा के रूप में 'हाथी' नहीं लेना चाहिए क्यों कि हाथी पुरुष प्रकृतिक होता है। उन आदित्य देवों ने जिसे विकृत बनाया था वही अदिति पुत्र 'विवस्वान्' कहलाता है। उसी की यह जीव सृष्टि है ॥ ४ ॥

वह (मार्तण्ड) कहने लगा "मेरी इस प्राणि-सृष्टि में वही ऐश्वर्यवान होगा जो इस चरु नामक हवि को आदित्यों को समर्पित करेगा। यही कारण है कि जो इस चरु की आहुति आदित्यों के लिए देता है वह निश्चिंतरूपेण ऐश्वर्यवान् होता है। यह हवि ही आग्नावैष्णव हवि के नाम से जानी जाती है ॥ ५ ॥

इसकी सत्रह सामिधेनी ऋचाएँ होती हैं। इन दोनों (अग्नि तथा विष्णु) देवताओं को उपांशु आहुतियाँ (उच्चरित होते हुए भी अन्य को सुनाई न पड़े, इस प्रकार के मन्त्रोच्चारण द्वारा दी गई आहुतियाँ) प्रदान की जाती हैं। पाँच प्रयाज (मन्त्र समष्टि विशेष) होते हैं तथा तीन अनुयाज। पूर्णत्व के लिए पत्नी संयाज (नामक यागक्रिया) करवाते हैं। किन्तु वह (यजमान) समष्टि यजुः आहुतियाँ नहीं प्रदान करता है (यह सोच कर कि कहीं मैं) इन दीक्षित वस्तुओं को धारण कर यज्ञ पूरा होने से पहिले ही यज्ञ-संस्था के अन्त में न पहुँच जाऊँ? क्यों कि समष्टि यजुः मन्त्र यज्ञ के अन्त में बोले जाने के कारण यज्ञान्त है ॥ ६ ॥

अब शाला के अगले भाग में खड़ा हो कर (वह) अभ्यञ्जन अर्थात् नवनीत मक्खन से मालिश करता है। क्यों कि त्वचा के खिंच जाने के कारण पुरुष क्षत–युक्त हो गया है तथा इस किए जा रहे अभ्यञ्जन द्वारा वह क्षतरहित हो जाता है। गो पर पुरुष की त्वचा चढ़ी हुई है तथा (गो–विकार होने के कारण) गो ही नवनीत है। अपने (अंश) द्वारा ही यह गाय उस यजमान की क्षतिपूर्ति करे इसीलिए अभ्यञ्जन किया जाता है ॥ ७ ॥

नवनीत का स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार का होता है। घृत तो देवता स्वरूप है तथा फाण्ट अर्थात् दही बिलोते समय आने वाले भाग मनुष्य स्वरूप। और यह यजमान न घृत है न फाण्ट (क्यों कि वह देवता तथा मनुष्य दोनों का मध्यवर्ती है) तथैव यह नवनीत न घृत है न फाण्ट। उसके पूर्व रूप को अलग करने के लिये उसमें देवत्व तथा मनुष्यत्व (घृतत्व तथा फाण्टत्व) दोनों होने चाहिये। अतः उस अपूर्णता को दूर करने के लिए (यह नवनीत यजमान को) पूर्णत्व प्रदान करता है ॥ ८ ॥

तदनन्तर "महीनां पयोऽसि-(यजु० ४।३)" इस यजुः को बोलता हुआ वह सिर से पैर तक अनुलोम अभ्यञ्जन करता है (ऊपर मुख की ओर से नीचे की ओर मालिश करना अनुलोम अभ्यञ्जन कहलाता है।) (नवनीत का) अनेक में से एक नाम 'मह्य' भी है क्यों कि यह गव्य है। यह (नवनीत) उन (गायों) का पय अर्थात् सार होता है इसीलिए वह कहता है कि "महीनां पयोऽसीति"। "वर्चोदा असि वर्चो मे देहि"—(वाज० सं. ४।३) अर्थात् (हे नवनीत!) तू वर्चस्व देने वाला है अतः मुझे वर्चस्व प्रदान कर। अर्थ स्पष्ट ही है ॥ ९ ॥

अब वह आँख में अञ्जन लगाता है। पुरुष की आँख जब घावयुक्त होती है त याज्ञवल्क्य का कथन है कि "मेरी आँखों को शान्ति मिल जाए" (इस उद्देश्य से) अञ्जनो लगाना चाहिए। पहिले (उस यजमान की आँख) मालिन्ययुक्त थीं अब उस अक्षि-अञ्जन द्वारा वह उस मालिन्य को दूर कर घाव रहित करता है ॥ १० ॥

जब देवों ने असुर रक्षसों का हनन किया तो दानव शुष्ण पीछे उछल कर मनुष्यों की आँख में प्रविष्ट हो गया। यह वह कनीनक है जो आँख की पुतली के रूप में चमकता है। उस अञ्जन द्वारा वह यजमान इस यज्ञ की परिधि में जाता हुआ प्रस्तर-प्राचीर में सब ओर से (अपने को) छिपा लेता है। यह अञ्जन ही यजमान के लिए प्रस्तर-प्राचीर है ॥ ११ ॥

यह अञ्जन (सुरमा) त्रिककुद् पर्वत का है। जब इन्द्र ने वृत्र को मारा था तब उस (वृत्र) की जो आँख है उसे (इन्द्र ने) त्रिककुद् पर्वत बना दिया। और यह अञ्जन भी त्रिककुद पर्वत का है (तो जब सुरमा आँख में डाला जाता है तो मानो) आँख में आँख को ही रख दिया जाता है। इस प्रकार सुरमा त्रिककुद् पर्वत का ही होता है (किन्तु) यदि त्रिककुद् पर्वत का सुरमा न मिले तो त्रिककुद् के अतिरिक्त इतरस्थानीय सुरमा भी चलेगा। क्यों कि सुरमे के भीतर का मेल-मिलाप तो एकसा ही होता है ॥ १२ ॥

अञ्जन नरकुल या सरपत की सींक से लगाता है। क्यों कि नरकुल वज्र है। उसमें से राक्षसत्व-भाव निकल जाय इसीलिए वह सलाई रूई से युक्त होती है। यह राक्षस मूल रहित हो कर दोनों ओर से बँधा अन्तरिक्ष में विचरता है जैसे कि यह 'पुरुष' मूल रहित हो कर अन्तरिक्ष में विचरता है तो इसीलिए यह शरेषीका (सलाई) रूई से युक्त होती है ताकि राक्षस-भाव इससे विगत हो जाय ॥ १३ ॥

वह पहिले दाहिनी आँख में अञ्जन लगाता है। मनुष्य विधि के अनुसार पहिले बाईं आँख में लगाया जाता है। किन्तु दाहिनी आँख में सुरमा लगाने की प्रथा देवों की है ॥ १४ ॥

"वृत्रस्यासि कनीनकः—(यजु० ४।३)" इस मन्त्र को बोलता हुआ वह अञ्जन लगाता है। सचमुच यह आँख की पुतली वृत्र सम्बन्धी ही है। (अब मन्त्र का शेषार्ध बोलता है) "चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि"। इसका भावार्थ अस्पष्ट है ही नहीं ।। १५ ।।

वह दाईं आँख में अञ्जन एक बार यजुष् मन्त्र पढ़ कर लगाता है तथा एक बार मौन रह कर। इसके बाद बाईं आँख में एक बार यजुष् मन्त्र बोल कर अञ्जन लगाता है तथा दो बार मौन रह कर। इस प्रकार वह बाईं आँख को अधिक गौरव शाली बना देता है ।। १६ ।।

वह पाँच बार अञ्जन इसलिए लगाता है कि यज्ञ संवत्सर प्रमाण वाला है। संवत्सर की ऋतुएँ पाँच होती हैं। पाँच काल-संख्याओं द्वारा वह यज्ञ को प्राप्त कर लेता है इसीलिए वह पाँच बार अञ्जन लगाता है ।। १७ ।।

अब वह (ऋत्विज) उसे दर्भ से बनी पवित्रा (तृणगुच्छ) से पवित्र करता है। पुरुष अयज्ञिय है क्यों कि असत्य वादन करता है। उस दर्भ-पवित्र से उसे भीतर से पवित्र बनाता है। क्यों कि दर्भ यज्ञिय हैं। (यजमान विचारता है कि) यज्ञिय बन कर दीक्षा लूँ। दर्भ शुद्धि लाने वाले हैं। पवित्र (दर्भगुच्छ) से शुद्ध हो कर दीक्षा लूँ। अतएव इस यजमान को 'पवित्र' से शुद्ध करता है ।। १८ ।।

और वह 'पवित्र' एक ही होना चाहिए क्यों कि यह 'पवन' भी अकेला है। वह 'पवन' इस 'पवित्र' जैसा ही है (क्यों कि दोनों शोधन कार्य ही करते हैं) अतः 'पवित्र' संख्या में एक ही होना चाहिए ।। १९ ।।

अन्यथा पवित्र तीन होने चाहिएँ। जो यह पवन बहता है वह तो एक ही है किन्तु यह पुरुष के अन्दर प्रविष्ट हो कर तीन प्रकार का हो जाता है जैसे प्राण, उदान तथा व्यान। वह 'पवित्र' इस पवन परिमाण वाला ही है अतः पवित्राएँ तीन होनी चाहिए ।। २० ।।

अन्यथा सात (पवित्राएँ) भी हो सकती हैं। ये शीर्ष प्राण सात ही हैं अतः पवित्राएं सात ही होनी चाहिएँ। और सात की तिगुनी भी हो सकती हैं अर्थात् इक्कीस। यही गौरवपूर्ण आकलन है ।। २१ ।।

उस यजमान को सात पवित्राओं से (यह मन्त्र पढ़ कर) सात बार पवित्र करता है "चित्पतिर्मा पुनातु····"—"चैतन्य अर्थात् बोधशक्ति का स्वामी प्रजापति है वह मुझे

पवित्र करे"—यही वह यहाँ कहता है। "वाक्पतिर्मा पुनातु····"—"वाणी का स्वामी भी प्रजापति है वह प्रजापति मुझे पवित्र करे" यही वह यहाँ कहता है। "देवो मा—सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण····"—अपनी दोषरहित पवित्रा से सविता देव मुझे पवित्र करें—। यह जो (वायु) प्रवाहित होता है यही दोषरहित 'पवित्र' है इसीलिए इस प्रकार कहता है "सूर्यस्य रश्मिभिः··· (यजु० ४।४)" ये जो सूर्य की रश्मियाँ हैं ये पवित्र करने वाली हैं इसीलिए (यजमान) बोलता है "सूर्यस्य रश्मिभिः····" (प्रस्तुत ब्राह्मण के सभी मंत्रांश एक समग्र मन्त्र हैं द्रष्टव्य यजु० ४।४) ॥ २२ ॥

(वह मन्त्र उच्चारित करता है) "तस्य ते पवित्रपते" अर्थात् हे पवित्रा अथवा पवन के स्वामी ! ये सब तुम्हारा है। "पवित्र पूतस्य" (मन्त्र बोल कर) वह यजमान मानो 'पवित्रपति' ही बन जाता है क्यों कि वह पवित्रा से शुद्ध हो जाता है। "यत् कामः पुने तच्छकेयम्—(यजु० ४।४)" अर्थात् जिस लक्ष्य के लिए मैं पवित्र हुआ हूँ उसे पूरा कर सकं। यज्ञ की समाप्ति द्योतक ऋचा को पढ़ कर यज्ञ—समाप्ति तक पहुँच जाऊँ। यही वह यहाँ कहता है ॥ २३ ॥

तदनन्तर वह मङ्गलकामना का प्रारम्भिक रूप बोलता है "आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे। आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे"—हे देवो हम आपका आना यज्ञ में समृद्धि और फल प्राप्ति के लिए चाहते हैं। हे यज्ञयोग्य देवो ! मङ्गलकामना के लिए हम आपको बुलाते हैं। इस प्रकार ऋत्विक् जन (उन आशिषों को) अपनाते हुए इस (यजमान) को आशीर्वाद प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

अब वह (मुष्टिबन्धन क्रिया हेतु) दोनों हाथों की (कनिष्टिका) अंगुलियों को (यह मन्त्र बोलता हुआ) मोड़ता है "स्वाहा यज्ञं मनसः" अर्थात् यज्ञ मन से (पकड़ा जाता है) दोनों (अनामिकाओं) को (यह मन्त्र बोलते हुए) मोड़ता है—"स्वाहोरोरन्तरिक्षात्" (यजुः ४।६) अर्थात् (यज्ञ) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से (पकड़ में आता है)। तदनन्तर दोनों (माध्यमिका) अंगुलियों को (यह मन्त्र पढ़ता हुआ) मोड़ता है "स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्" (यजु० ४।६) अर्थात् (यज्ञ) द्युलोक तथा पृथिवीलोक से (पकड़ में आता है)। दो तर्जनियों को (इस मन्त्र से) मोड़ता है "स्वाहा वातादारभे" (यजु० ४।५) अर्थात् (यज्ञ) वायु से पकड़ा जाता है। (यज्ञ को मुट्ठी में करने के लिए) मुट्ठी बाँधता है क्योंकि यज्ञ प्रत्यक्ष तो पकड़ा नहीं जा सकता। जैसे कोई लाठी या वस्त्र पकड़ा जाता है। देवता परोक्ष है (तथा) यज्ञ भी परोक्ष है (इस प्रकार यज्ञ के परोक्षरूपत्व को इस क्रिया द्वारा मुट्ठी में बंद कर लेता है) ॥ २५ ॥

वह जब यह मन्त्र बोलता है "स्वाहा यज्ञं मनसः" तब वह (यजमान) उसे मन से पकड़ता है। "स्वाहोरोरन्तरिक्षात्" (बोलने पर) वह यज्ञ को अन्तरिक्ष से पकड़ता है। "स्वाहाद्यावा–पृथिवीभ्याम्" (मन्त्रोच्चारण करने पर) वह यजमान इन दोनों द्यावा–पृथिवियों से यज्ञ को पकड़ लेता है जिन दोनों पर यह सारा जगत् आश्रित है। "स्वाहा वातादारभे" (मन्त्र) बोलने का यह अभिप्राय है कि वायु ही यज्ञ है। इस (विधि) से वह यज्ञ को प्रत्यक्ष सा ही पकड़ लेता है (क्योंकि मुट्ठी के भीतर छिपी वस्तु वायु ही है) ॥ २६ ॥

और यह जो पुनः पुनः स्वाहाकार करता है (उसका कारण है कि) यज्ञ ही स्वाहाकार है। इस प्रकार (स्वाहाकार के द्वारा) यह यज्ञ को ही अपने भीतर रख लेता है अब वह वाक् विसर्जन (मौन धारण) करता है। वाक् ही यज्ञ है। इस विधि से वह यज्ञ को ही अपने अन्दर धारण कर लेता है ॥ २७ ॥

तदनन्तर (ऋत्विज) उसे (यजमान को) शाला में लिवा ले जाता है। आहवनीय वेदी को पीठ पीछे तथा गार्हपत्य को सामने रखता हुआ (दोनों के बीच से) तब तक संचरण करता है जब तक कि सोम न निचोड़ लिया जाए। सोम निचोड़े जाने तक वह इस विधि से सञ्चरण इसलिए करता है कि अग्नि यज्ञ की योनि है तथा यह दीक्षित, यज्ञ का गर्भ है। गर्भ वस्तुतः योनि में सञ्चरण करता है। जैसे वह (दीक्षित यजमान) वहाँ (आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच) गति करता है (अर्थात्) एक बार दूर तक जाता है, दूसरी बार पलट कर आता है इसी प्रकार यह गर्भ भी स्फुरण करते हैं, एक बार दूसरी ओर जाते हैं दूसरी बार पलटा खाते हैं। इसीलिए इस यजमान का यह सञ्चरण सोम निचोड़े जाने तक होता है ॥ २८ ॥

[विज्ञानभाष्य]-अति प्राचीनकाल में जब कि भारतवर्ष में वैदिक विज्ञान का सूर्य्य अपनी सहस्त्रों कलाओं से तप रहा था–एक वैदिक विज्ञान के महामहर्षि ने जो कि उस जमाने में सब से श्रेष्ठ थे, अपनी विद्या के प्रभाव से सब को प्रभावित कर रक्खा था। इनकी स्त्री का नाम **'इतरा'** था। यह भी उन्हीं के समान विदुषी एवं ब्रह्मवादिनी थी। दैवयोग से एक १० वर्ष के महीदास नाम के अबोध बालक को अनाथ बना एवं उस बेचारी इतरा को निराश्रय छोड़ थोड़ी ही उम्र में वे महर्षि परलोक सिधार गए। इतरा चूँकि विदुषी थी, समझदार थी अतः उसने हिम्मत करके उस वज्रपात को सहा। केवल उसे चिन्ता इसी बात की रही कि मेरा यह पुत्र भी किसी प्रकार से अपने पिता के समान विद्वान् बन जाय। बस इसके लिए सिवाय दैवाराधन के और कोई उपाय न देख कर उसने वेद–विद्या प्राप्त्यर्थ यज्ञवेदि–स्वरूप भगवती पृथिवी की आराधना प्रारम्भ की। करते–करते एक दिन सहसा भगवती पृथिवी स्त्री रूप बना कर इतरा के सामने खड़ी हो गई और बोली कि **'वरं ब्रूहि-वरं ब्रूहि'**—इतरा को **'मेरा पुत्र वेद का**

प्रखर पंडित हो जाय' इसलिए इसके अतिरिक्त और किसी की वाञ्छा न थी अतः उसके मुँह से निकल पड़ा कि **सर्वे वेदाः प्रतिभान्तु नः'** । **"तथास्तु"** कह कर पृथिवी अन्तर्हित हो गई । फिर क्या था, वर के प्रभाव से १६ वर्ष का इतरा-पुत्र "ऐतरेय" जिसका कि नाम "महीदास" था—सारे शास्त्रों में पारंगत हो गया।

उसी समय पञ्जाप के किसी राजा ने बड़ी धूमधाम से यज्ञ की–सोमयज्ञ की–तय्यारियाँ कर रक्खी थीं । ऋत्विक् आ पहुँचे थे एवं यज्ञ का प्रारम्भ हो चुका था । देवयजन निर्माण हो चुका था । उसमें शाला बन चुकी थी एवं यजमान क्षौर बना, स्नान कर, वस्त्र पहिन यज्ञशाला में प्रविष्ट हो चुका था । वहाँ पर दीक्षा के लिए **'अपां प्रणय'** हो चुका था एवं तदनन्तर होने वाले **आदित्य चरु** की तैय्यारिएँ हो रहीं थीं । इतने ही में इतरा अपने पुत्र ऐतरेय को साथ ले कर उस यज्ञशाला में आ पहुँची । ऐतरेय थे १६ ही वर्ष के परन्तु वर प्रभाव से वेद के अद्वितीय तत्त्वज्ञ बन चुके थे । अतः जहाँ ऋत्विक् लोग "आदित्य चरु" की तैय्यारिएँ कर रहे थे, वहाँ पहुँच गए और एकदम बोल उठे कि **'इदमशुद्धम् इदमशुद्धम्'** । ऋत्विक् लोग भौंचक्के हो कर उस अबोध बालक की ओर झाँकने लगे, परन्तु इससे क्या हुआ–उम्र में वह छोटा अवश्य था परन्तु विद्या में सब से श्रेष्ठ था । **"न एतस्य पलितं शिरः……… । यो वै युवाप्यधीयानस्तंदेवास्थविरं विदुः,"** यह उन महर्षियों का सिद्धान्त था अतः उन्होंने उसी समय यज्ञ बन्द करवा दिया और उस बालक ऐतरेय को–सब से ऊँचे सिंहासन पर बैठा दिया–और समिधा हाथ में ले सारे वयोवृद्ध महर्षियों ने उसका शिष्यत्व स्वीकार करते हुए प्रश्न किया कि हे ऐतरेय ! हमने सुना है कि–आपने अपनी पूजनीया ब्रह्मवादिनी माता की उपासना द्वारा वेदविद्या प्राप्त की है । हमें विश्वास है कि अवश्य ही आप हमारे इस आदित्य-चरु के सन्देह को दूर करेंगे । दीक्षणीयेष्टि में आदित्य–चरु क्यों न किया जाय इसके करने में क्या हानि है–कृपा कर इसका उत्तर देकर हमारे सन्देह को मिटाइए । ऐतरेय वास्तव में इसी दर्जे के थे । वास्तव में इसी आदर एवं प्रतिष्ठा के अधिकारी थे । महर्षियों के प्रश्न करने पर–ऐतरेय ने सब से पहिले कहा कि—

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः" ।

आदित्य-चरु का खण्डन करते हुए सब से पहिले ऐतरेय ने यही कहा । ऐतरेय ने कहा कि हे महर्षियो यह सोम यज्ञ है । **सोम परमेष्ठिमण्डल की वस्तु है–यह रोदसी के अग्नि में हुत होता रहता है–** इसी से सारे विश्व का संचालन हो रहा है । रोदसी का अग्नि ही यज्ञ है । यह अग्नि अवस्था भेद से इन स्वरूपों में परिणत हो रहा है । इसकी अन्तिम अवस्था का ही नाम विष्णु है । यही यज्ञ का स्वरूप है । बस इस यज्ञ को आत्मसात् करने के लिए दीक्षणीयेष्टि में **"आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश** करना चाहिए न कि आदित्य-चरु ।

ऐतरेय के इस वैज्ञानिक उत्तर को तत्कालीन महर्षियों को मानना पड़ा । उन्होंने तब से पूर्व की पद्धति को छोड़ कर इस ऐतरेय–पद्धति का अनुसरण किया–जो कि पद्धति आज 'ऐतरेय ब्राह्मण'

नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रारम्भ **"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु:परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता"** यहीं से होता है। बस इसी ऐतरेय सम्मत आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप बतलाते हुए याज्ञवल्क्य **"अप: प्रणीय आग्नावैष्णवमेकादशकपालपुरोडाशं निर्वपति:"** यह कहते हैं।

"ब्रह्म और यज्ञ" भारतीय विज्ञान इन्हीं दो भागों में विभक्त है। जो ब्रह्म है उसे ही मौलिक तत्त्व कहते हैं, जो यज्ञ है उसे ही यौगिक तत्त्व कहते है। बस यही दोनों हमारे सायंस के–फिजिक्स और केमेष्ट्री हैं। संसार में जो दृश्य पदार्थ हैं वह सारा यज्ञ है, यौगिक तत्त्व है। एवं जिससे यह दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है—इसी का नाम ब्रह्म है। ब्रह्म अति सूक्ष्म है—गन्ध, रस, रूप, स्पर्शादि से रहित है अतएव अप्रत्यक्ष है। इन्द्रियागोचर है। मौलिक तत्त्व का आँखों से प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। अतएव आधुनिक साइन्टिस्ट–जो गन्धक को मौलिक तत्त्व बतलाते हैं—हमारे हिसाब से यह उनकी नितान्त भ्रान्ति है।। जो दृश्य वस्तु है वह मौलिक हो ही नहीं सकती। यज्ञ ही का प्रत्यक्ष होता है, ब्रह्म का नहीं। यह यज्ञ, याग और योग भेदेन दो प्रकार का है। दो पदार्थ मिलकर भी अपने स्वरूप से स्थिर रहें—दोनों का स्वरूप नष्ट न हो—वह योग कहलाता है। जैसे–वस्त्र और रंग। रंग अब भी वस्त्र से भिन्न प्रतीत हो रहा है। कपड़े को धुलवा दीजिए कपड़ा सफेद का सफेद परन्तु जब दो वस्तु मिल कर किसी तीसरे स्वरूप में परिणत हो जाती है—पहिले के दोनों स्वरूप नष्ट हो जाते हैं—वह याग कहलाता है। जैसे बारूद। सोरा और कोयला दोनों के मेल से बारूद बनी हैं। अब न इसमें आपको सोरा ही उपलब्ध हो सकता है एवं न कोयला ही। यही रासायनिक प्रक्रिया कहलाती है। **आत्मा को अव्ययाक्षरक्षरसमष्टि के अभिप्राय से त्रैधातव्य बतलाया जाता है।** इन तीनों में से जो क्षर है—वह आत्म, विकार, यज्ञ भेदेन तीन प्रकार का है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम, यह पाँच अक्षर हैं। बस अक्षर के साथ—इन्हीं पाँचों कलाओं को अपने में रखने वाला जो आत्मक्षर है—उससे ब्रह्मादि के क्रम से–प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न यह पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। यही पाँचों पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश नाम से प्रसिद्ध है। यही हमारे पाँच मौलिक तत्त्व हैं। अपञ्चीकृत जो विकारक्षर है—उन्हीं का नाम–प्राण आदि हैं। इस अपञ्चीकृत तत्त्व के स्वरूप को न पहचान कर–हमारी परिभाषाओं से अपरिचित २० वीं सदी का वैज्ञानिक जगत् हमारे इस पृथिवी जलादि को तत्त्व मानने की मजाक उड़ाता है। कहता है कि कहीं मिट्टी–जल–ऐसे स्थूल पदार्थ भी मौलिक हुए हैं। इनका यौगिकत्व तो सर्वसाधारण की दृष्टि में स्फुट है। उन्हें पता नहीं है कि जिन्हें वे पृथिवी–जल-तेज समझ रहे हैं—वे हमारे सायंस में यौगिक ही माने गए। पञ्चीकृत पृथिवी–तेज अपादि वास्तव में यौगिक हैं जिन्हें हम 'पञ्चमहाभूत' कह कर पुकारते हैं। महाभूत को तो हम स्वयं यौगिक मानते हैं। जिन्हें हम तत्त्व कहते हैं वे पाँचों ही 'भूत' शब्द से व्यवहृत होते हैं। एवं वे पाँचों ही अपञ्चीकृत हैं। इन पाँचों में जब पाँचों की आहुति होती है तो इन पाँचों यौगिक महाभूतों की उत्पत्ति होती है—जिन्हें कि हम **'यज्ञक्षर'** कहते हैं। यही पाँचों यौगिक हैं। इस प्रकार हमारे वैज्ञानिक तत्त्व को–हमारी परिभाषा को न समझ कर जो कल्पना रसिक पाश्चात्य विद्वान् अपञ्चीकृत पाँचों भूतों पर अर्थात् विकारक्षरों को तत्त्व मानने पर हमारी हँसी करते हैं—यह उनकी बड़ी भारी भूल है। भारत पराधीन है—

यह उनकी कृपादृष्टि के कारण–अपने सायंस का प्रेक्टिकल वर्क करके नहीं दिखला सकता—अतएव मदमत्त जो कुछ कहे सो थोड़ा है। अधिक समय नहीं है—शीघ्र ही वह दिन आने वाला है—जिस दिन जगद्गुरु भारतवर्ष अपनी खोई हुई सम्पत्ति पुनः प्राप्त कर अपने जगद्गुरुत्व को—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥"

भगवान मनु के इस वाक्य को चरितार्थ करेगा।

हाँ तो हम बतला रहे थे कि–आत्मक्षर से पहिले पहल–प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न यह पाँच मण्डल उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर जब इन पाँचों की पाँचों में आहुति होती है तो उस पञ्चीकरण प्रक्रिया से–प्राण, आप, वाक्, अन्नाद एवं अन्न यह पाँच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। संसार के यच्चयावत् पदार्थ इन्हीं पाँचों से उत्पन्न होते हैं। यही सर्वहुत यज्ञ संसार के यच्चयावत् पदार्थों का उत्पादक है—इसीलिए श्रुति कहती है—

"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥" (ऋ १०.९०)

चूंकि इन्हीं पाँचों से सारे पदार्थ बनते हैं—अतएव इन पाँचों को वेद में 'विश्वसृज' भी कहा जाता है। सर्वहुत यज्ञ से सर्वप्रथम होने वाले इन पाँचों यज्ञक्षरों को ही क्रमशः—स्वयम्भूः, परमेष्ठि, सूर्य्य, पृथिवी और चन्द्रमा इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। जो स्वयम्भूमण्डल है—वही प्राणमण्डल है। परमेष्ठि आपोमण्डल है–सूर्य्य वाङ्मण्डल है, पृथिवी अन्नादमण्डल है और चन्द्रमा अन्नमण्डल है। परमेष्ठि का वाय्वात्मक पानी ही–हाईड्रोजन है, इसे ही वेद में 'अम्भः' कहा जाता है। भगवति भागीरथी का और नदियों की अपेक्षा अधिक माहात्म्य–इसी अम्भः की बदौलत है। एवं जो पवमान सोम है वही आक्सिजन है। इस हाईड्रोजन और आक्सिजन अर्थात् अम्भः और पवमान सोम के मेल से ही यह स्थूल पीने का पानी उत्पन्न होता है। **परमेष्ठि के पानी का नाम 'अम्भः' है। सूर्य्य के पानी का नाम मरीचि है, पृथिवी के पानी का नाम मर है एवं चन्द्रमा के पानी का नाम आप है–जिसे 'श्रद्धा' भी कहते हैं।** सबसे पहिले स्वयंभू प्रजापति इन चारों लोकों को पैदा करता है, जो कि आपोलोक है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीत् । नान्यत् किंचन मिषत् । स ईक्षत लोनान् नु सृजा इति–सदमाँल्लोकाँनसृजत्–अम्भोमरीचिर्मर आपः ।।" (ऐत० उप०)

सबसे पहिले स्वयम्भू के अनन्तर स्वयम्भू से पानी ही पैदा होता है—इसी श्रुति के अनुसार भगवान् मनु भी कहते हैं—

"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।। इति ।।" (मनु १।८)

संसार की पैदाइश पूर्वोक्त पाँचों मण्डलों से होती है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच ही महाभूतों की समष्टि से यच्चयावत् पदार्थों का निर्म्माण होता है । इन पाँचों में जो प्राण है—वह असंग पदार्थ है । मानसी सृष्टि का अधिष्ठाता प्राण है—एवं मैथुनी सृष्टि का अधिष्ठाता पानी है । पानी ही बरस कर औषधि स्वरूप में परिणत होता है—उससे वीर्य्य होता है—वीर्य्य से सन्तानोत्पत्ति होती है । कहने का तात्पर्य यही है कि पानी से ही पुरुष की उत्पत्ति होती है । इसीलिए **'वेत्थयथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"** इस उद्दालक के प्रश्न करने पर श्रद्धा-सोम वीर्य्य-अन्न-रेतः एवं योनि इत्यादि क्रम से उत्तर में प्रवाहण ने **'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३)** यह कहा है । इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पानी ही से मैथुनी सृष्टि होती है । प्रकृतियज्ञ पानी ही से प्रारम्भ होता है—बस इसीलिए प्रकृतियज्ञ के अनुसार कल्पित मनुष्ययज्ञ में भी सबसे पहिले अपां प्रणयन ही किया जाता है । यज्ञ द्वारा नया आत्मा जो कि "दिव्यात्मा" नाम से प्रसिद्ध है बनाया जाता है । उसी के बन्धन में बंध कर यह मानुष प्रज्ञानात्मा १७वें (सप्तदश) स्वर्ग में जाता है । एवं प्रजनन क्रिया में पानी ही प्रधान है । प्रकृत संसार को उत्पन्न करने वाला यज्ञ–पहिली संस्था पानी ही की रूपता है । अतएव इस दिव्यात्मप्रजनन स्वरूप इस सोमयाग में–प्रकृतियज्ञवार अवश्य-अवश्य पानी के प्रणयन की आवश्यकता है । बस इसीलिए **'अपः प्रणीय'** कहा गया है । यज्ञारम्भ में पानी ही का प्रणयन क्यों किया जाता है–इसका यही वैज्ञानिक रहस्य है । हम जो भोजन करते हैं यह भी यज्ञ है । यज्ञ में पहिला स्थान पानी का है अतएव भोजन के पहिले और अन्त में आचमन करने की महर्षि लोग सख्त हिदायत करते हैं । वेद में इसी आचमन की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा जाता है—

"अनग्नतायावै बिभेमि । का ते अनग्नता–इति–आपो वा अनग्नता ।।"

शरीरस्थ प्राण कहता है कि मैं नग्नता के डर से डरता हूँ । महर्षि पूछते हैं कि तुम्हारी अनग्नता क्या है—प्राण उत्तर देता है कि पानी ही मेरी अनग्नता है । प्राण को यज्ञात्मा में शामिल करने का काम इसी 'पानी' का है । पानी ही संघाता है–मल को हटाने वाला है–यज्ञ का पहिला

स्वरूप है। अतएव भोजन करने से पहिले एवं बाद में-ब्रह्मवर्चस् की रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण को अवश्य-अवश्य ही आचमन करना चाहिए।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि यह यजमान स्नान कर वस्त्र पहिन यज्ञशाला में प्रविष्ट हो चुका। अब यह दीक्षा लेने वाला है। दीक्षा यज्ञाङ्ग है—यज्ञ का प्रारम्भ पानी से है—अतः सर्वप्रथम **अप प्रणयन कर्म** करके अर्थात् **अपां प्रणयन** करके तदनन्तर-आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है।

"अपः प्रणीय-आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति ।।"

दीक्षा के पहिले क्यों **आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप** किया जाता है—इसका कारण बतलाते हैं—

अग्नि ही सारे देवता हैं। एवं अग्नि में ही सारे देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। हम जितने भी पदार्थ देखते हैं—वे सब अग्निसोमात्मक है। पदार्थ दो प्रकार के हुआ करते हैं—**स्थानावरोधि** और **स्थानानवरोधि**। जो स्थानावरोधि पदार्थ हैं उन्हें ही वेद में **धामच्छद** शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र वह तीन तो अन्तर्य्यामि में अर्थात् हृद्य हैं-एवं **अधामच्छद** हैं। एवं अग्नि और सोम यह दोनों हृदय से बाहर की चीज हैं एवं धामच्छद हैं। उसी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र के अन्तर के आधार पर इस धामच्छद अग्नि और सोम की स्थिति रहती है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र तीनों अन्तर्य्यामी हैं, हृद्य हैं-इसी भाव को सूचित करने के लिए **शरीर के केन्द्र का नाम 'हृदय' रक्खा गया है। हृ-विष्णु के अभिप्राय से है, द-इन्द्र के अभिप्राय से है एवं य- ब्रह्मा के अभिप्राय से है**। इन्द्र आक्षेपणधर्मा भी है। केन्द्र में आई हुई वस्तु को यह इन्द्र प्रतिक्षण बाहर फेंका करता है। इसीलिए **'द्यति-खण्डयति' के अभिप्राय से इन्द्र के लिए "द" कहा जाता है**। एवं **विष्णु** आहरण कर उस क्षति की पूर्ति किया करता है। बस इसीलिए **आहरंति के अभिप्राय से हृ कहा जाता है**। उस आए हुए अन्न का जो नियमन करता है, उसी का नाम ब्रह्मा है। एवं **विष्ण जिसे बाहर से लाते हैं-उसका नाम सोम है-जो कि अन्न कहलाता है, एवं इन्द्र जिसे बाहर फेंकते हैं-वह अग्नि है**। बस इस प्रकार इन पाँचों अन्तरों से सारा जगत् व्याप्त है। मायावच्छिन्न जो केन्द्रीय रस है-वह प्राण कहलाने लगता है। उस प्राण का कुछ हिस्सा बाहर जाता है, कुछ केन्द्र में ही प्रतिष्ठित रहता है। एवं कुछ हिस्सा अन्नदों से बाहर से केन्द्राभिमुख आता रहता है। बस इस प्रकार से एक ही प्राण, अवस्था भेद के कारण भिन्न-भिन्न कार्य्य करता हुआ—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र इन तीनों नामों में परिणत हो जाता है। कहने को तीन हैं—वास्तव में तीनों एक हैं—इसी अभिप्राय से पौराणिक कहा करते हैं—

"एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः ।।"

इन्द्र ही को पौराणिक परिभाषा में महेश्वर कहते हैं। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि यह तीनों ही **'हृद्य' हैं, अन्तर्य्यामी हैं, अधामच्छद हैं।** संसार में जो वस्तु नाँव से व्यवहृत करने लायक है वह अग्नि सोम ही है। धामच्छद–यह दो ही तत्त्व हैं–जिसे 'जगत्' कहते हैं–वह इन्हीं दोनों की समष्टि है। यही दोनों जगत् कहलाते हैं। यद्यपि ब्रह्माविष्णुइन्द्र हैं अवश्य पर वे तो अन्तर्य्यामी हैं। वे तो जगन्नियन्ता हैं न कि जगत्। जगत् तो अग्नि और सोम ही है। इसीलिए तो 'अग्नी-सोमात्मकं जगत्' कहा जाता है।

यह अग्नि भी वायु स्वरूप है, एवं सोम भी वायु स्वरूप है। घन—विरल भेद से इसी वायु की अग्नि और आदित्य यह दो अवस्थाएँ और हो जाती हैं। एवं इन्हीं दो भेद से वायु की (सोम की) सोम और आपः—यह दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि घन-तरल-विरल इन अवस्थाओं के भेद से अग्नि, वायु, आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अग्नि और आदित्य, आप और सोम वायुस्वरूप अग्नि की एवं वायुस्वरूप सोम की घन–विरल अवस्था भेद से—यह दो अवस्थाएँ होती रहती हैं। स्वभावतः अग्नि और सोम वायुस्वरूप ही हैं। बस यही अग्नि—वायु—आदित्य, अप्—वायु—सोम षड्ब्रह्म कहलाते हैं। यही जगत् के कर्त्ता–धर्त्ता हैं। देवता, पितर, गन्धर्व, असुर, मनुष्य, पशु इत्यादि सारा प्रपञ्च–इन्हीं के आधार पर अवलम्बित है। जो आग्नेय प्राण हैं—वही देवता हैं, जो सौम्य प्राण हैं—वही पितर एवं गन्धर्व हैं। जो आप्य प्राण हैं—वही असुर हैं। जो वैश्वानराग्नि प्राण हैं–वही मनुष्य हैं। गरज यह है कि सारा प्रपञ्च–इन्हीं छओं के अर्थात् अग्नि और सोम इन दो के आधार पर स्थित है। अव्यय रूपत्वबलशा स्वरूप पञ्च पुण्डीर युक्त सारे ब्रह्माण्ड को स्वयंभू, परमेष्ठि, सूर्य्य, चन्द्र और पृथिवी इन पाँच मण्डलों में विभक्त बतलाया था। इन पाँचों मण्डलों में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्–यह (सात) लोक–विभाग किए जाते हैं। एवं इन्हीं में तीन त्रिलोकिएँ मानी जाती हैं।

जो पिण्ड जिसके चारों ओर घूमता है–उस घूमने वाले पिण्ड को पृथिवी कहते हैं। एवं जिसके चारों ओर वह घूमता है—उसे "द्यौ" कहते हैं। एवं इन दोनों के बीच जो खाली स्थान है—उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। बस पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ इनकी यही सामान्य परिभाषा है। इसी परिभाषा के अनुसार—जिस पर हम बैठे हुए हैं वह गोला चूंकि सूर्य्य के चौतरफ घूम रहा है, अतएव इसे हम पृथिवी कहेंगे–और सूर्य्य को द्युलोक कहेंगे–एवं सूर्य्य और पृथिवी का जो बीच का भाग है–उसे ही अन्तरिक्ष कहेंगे। बस इस प्रकार पृथिवी से सूर्य्य तक एक त्रिलोकी हो जाती है।

एवमेव सूर्य्य चूंकि–परमेष्ठिमण्डल की परिक्रमा करता है–अतएव उसी परिभाषा के अनुसार सूर्य्य हुआ पृथिवी और परमेष्ठि हुआ द्यौ और बीच का स्थान अन्तरिक्ष। बस यही दूसरी त्रिलोकी है।

एवमेव परमेष्ठि चूँकि स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता है–अतएव परमेष्ठि हुआ पृथिवी और स्वयम्भू हुआ द्यौ–एवं बीच का स्थान हुआ अन्तरिक्ष। बस यह तीसरी त्रिलोकी है।

बस चूँकि स्वयम्भू स्थिर है–वह किसी के परिक्रमा नहीं लगाता–अतएव त्रिलोकी व्यवस्था–तीन त्रिलोकी पर ही आ के समाप्त हो जाती है। इसीलिए लोक में जब परमावधि बतलाना होता है— **तीन तिरलोकी दीख आई'** यह कहा जाता है।

इन तीनों त्रिलोकियों में—तीन पृथिवी हैं, तीन ही अन्तरिक्ष हैं, तीन ही द्यौ हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एकायमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यमभृताधितस्थुरिह ब्रवीतु यद् तधिकेतत्॥
तिस्रोभूमीर्धारयन् त्रीरुतद्यून् त्रीणि व्रताविदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥
तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षडविधानाः।
गृत्सोराजा वरुणश्चक्रएनं दिविप्रेङ्खं हिरण्ययं शुभेकम्॥

वेद में पृथिवी को माता कहते हैं—एवं द्युलोक को पिता कहते हैं। चूँकि तीन पृथिवी हैं और तीन द्यौ हैं। अतएव श्रुति कहती है—

"तिस्रो मातॄन् त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौनमेवग्लापयन्ति
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचं विश्वमिन्वाम्"

तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष और तीन द्यु के हिसाब से लोक कुल ९ होने चाहिए थे–परन्तु सूर्य्य और परमेष्ठि–दोनों पृथिवी और द्यु बन जाते हैं। इन तीनों त्रिलोकियों का नाम क्रमशः—रोदसी, क्रन्दसी और संयती–यह है। जो रोदसी का द्यु है–वही क्रन्दसी की पृथिवी बन जाती है–एवं जो क्रन्दसी की द्यु है–वही संयती की पृथिवी बन जाती है। इस प्रकार तीन त्रिलोकियों में से ७ (सात) ही लोक रह जाते हैं। यही सातों १ भूः, २ भुवः, ३ स्वः, ४ महः, ५ जनः, ६ तपः, और ७ सत्यम् नाम से प्रसिद्ध हैं। भगवान् प्रजापति की यह ७ (सात) ही व्याहृतिएँ हैं। इनमें से ६ तो चल हैं–एवं एक अर्थात् स्वयम्भू स्थिर है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांसि अजस्यरूपे किमपि स्विदेकम॥

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यही है कि पाँचों मण्डलों में—रोदसी, क्रन्दसी और संयती यह तीन त्रिलोकिएँ हैं। इनमें से यज्ञ का सम्बन्य रोदसी और क्रन्दसी त्रिलोकी से है। क्रन्दसी सूर्य्य और परमेष्ठि का नाम है। रोदसी पृथिवी और सूर्य्य का नाम है। बस इन्हीं से हमारे यज्ञ का सम्बन्ध है।

पृथिवी से सूर्य्य तक–निविड, तरल, विरल भेद से अग्नि, वायु, आदित्य स्वरूप में परिणत होता हुआ अग्नि रहता है। एवं सूर्य्य से ऊपर से परमेष्ठि तक तीनों अवस्थाओं में–(अप्, वायु, सोम) परिणत सोम रहता है। अग्नि में सोम की आहुति का नाम ही यज्ञ है। एवं अग्नि है रोदसी की वस्तु, एवं सोम है क्रन्दसी की वस्तु, अतएव हमने–यज्ञ में रोदसी और क्रन्दसी त्रिलोकी का सम्बन्ध है—यह कहा है।

सूर्य्य भी अग्नि का पिण्ड है। पृथिवी भी अग्नि का पिण्ड है। सूर्य्याग्नि, सावित्राग्नि कहलाता है। पार्थिवाग्नि गायत्राग्नि कहलाता है। कहने को दो अग्नि हैं–वास्तव में गायत्र ही सावित्र है–एवं सावित्र ही गायत्र है। सूर्य्य का अग्नि पृथिवी में प्रतिफलित हो पृथिवी की चीज बन जाता है तो वही गायत्राग्नि कहलाने लगता है। यह अग्नि मर्त्य–अमृत भेदेन दो प्रकार का है। जो अग्नि पिण्ड स्वरूप में परिणत हो रहा है–वह मर्त्य है–एवं २१ तक जाने वाला अग्नि अमृताग्नि है। **अमृताग्नि मण्डल को रथन्तर साम कहते हैं**। जैसे—सूर्य्य में ज्योतिः, गौ, आयु,–यह तीन मनोता हैं तद्वत् पृथिवी में–वाग्- गौ और-द्यौ यह तीन मनौता हैं। गौ क्या है–वाक् क्या है–और द्यौ क्या है–इसका विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। हमें कहना यही है कि १००० गौओं में वितत जो वायु-मण्डल है—जो कि वषट्कार कहलाता है उसके ३३ विभाग हैं। केन्द्र में से जाने वाला जो अग्नि है—वह निविड-तरल-विरल भेद से २१ तक चला जाता है। ऊपर की पृष्ठ से ऊपर की ओर जाता हुआ जो अग्नि है—उसकी जहाँ घनावस्था समाप्त हो जाती है—वहीं तक–वह अग्नि–अग्नि नाम से व्यवहृत होता है। पूर्वोक्त वषट्कार मण्डल में ३'–३' गौ के हिसाब से ३३ अहर्गण होते हैं। इनमें कुल ६ स्तोम रहते हैं। १ २ ३ ४ ५ ६

३।६।६।६।६।६—यह ६ स्तोम रहते है। एक-एक स्तोम में १८–१८ गौ रहती हैं। बाकी १० गौ बच जाती हैं–वही प्रजापति है। पूर्वोक्त स्तोमों के नाम हैं–त्रिवृत्स्तोम, पञ्चदशस्तोम, एकविंशस्तोम, त्रिणवस्तोम, त्रयस्त्रिंशत्स्तोम, एवं एक पहिला। इस प्रकार ६ स्तोम होते हैं।

पूर्वोक्त अग्नि की घनावस्था–पृथिवी के त्रिवृतस्तोम पर जा के समाप्त हो जाती है–अतएव अग्नि को त्रिवृत् कहा जाता है। पृथिवी के ६ तक अग्नि घनावस्था में परिणत होकर रहता है यही तात्पर्य्य है। एवं जो १५ तक अग्नि तरलावस्था में रहता है–जो कि वायु कहलाता है–एवं २१ तक अग्नि विरलावस्था में रहता है–जो कि आदित्य नाम से व्यवहृत होता है बस २१ पर जाकर अग्नि की मात्रा समाप्त हो जाती है। २१ के बाहर सोम ही सोम है। एक ही अग्नि–घन–तरल–विरल भेद से—अग्नि, वायु, आदित्य स्वरूप में परिणत हो जाता है–यही तात्पर्य्य है।

फिर इन तीनों में अवान्तर भेद होने लगते हैं—जो त्रिवृत अग्नि है—८ संस्था रखता है। अवस्थाविशेष से वही अग्नि—आठ नामों से व्यवहृत होने लगता है—यही आठों वसु हैं। एवं वायु ११ भागों में परिणत हो जाता है—यही ११ रुद्र हैं। परमेष्ठि का जो वायु है—वह पानी में ओत-प्रोत रहता है—अतएव वह बदन में चुभता नहीं—इसीलिए उसको साम्बसदाशिव कहा जाता है, परन्तु सूर्य्य के नीचे का यह वायु पानी के अभाव से रुक्ष रहता है—बदन में चुभ कर पीड़ा पहुँचाया करता है अतएव—**'रोदयन्ति जनान्'** इस व्युत्पत्ति से इसे रुद्र कहते हैं। एवमेव १५ से ऊपर का वह आदित्य—१२ अवस्थाओं में परिणत रहता है। यही १२ आदित्य कहलाते हैं। इनमें जो बारहवाँ आदित्य है—उसे ही विष्णु कहते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वह एक ही अग्नि अवस्था भेद से—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य—इन ३१ स्वरूपों में परिणत हो जाता है। ३२ वां है प्रजापति—जो कि सर्व-प्रजापति नाम से प्रख्यात है एवं ३३ वाँ है—वषट्कार। इस प्रकार ३३ देवता कहने को ३३ हैं—वास्तव में देवता एक है—जिसका कि नाम "अग्नि" है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य—शाकल्य संवाद बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"अथ हैनं विदग्धः शाकल्य पप्रच्छ—कतिदेवा—याज्ञवल्क्येति। स हैनमैवनिविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शताच, त्रयश्च त्री चसहस्रेत्यो मिति होवाच"।

कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति। त्रयस्त्रिंशादित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति—षडित्यो मिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयइत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञ-वल्क्येति—अध्यर्ध इत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति—एक इत्यो-मिति होवाच।"

श्रुति के अन्त में एक ही देवता बतलाया है। वास्तव में ऐसा ही है। अग्नि की अवस्था विशेष का नाम ही तो देवता है। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर—भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अग्निर्वै सर्वा देवताः।" इति।

इस २१ तक वितत रहने वाले अग्नि में हर वक्त—पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती रहती है। बस पृथिवी के १७वें स्थान से २२ तक का जो एक यज्ञ होता है—वही नवाह यज्ञ कहलाता है। १७वां स्थान आहवनीय है—क्योंकि पार्थिव अग्नि यहीं तक रहता है। चूँकि इसमें सोम हुत होता है—अतएव इसे **"आहवनीय"** कहते हैं। इस सोम के पड़ने से अग्नि की ज्वाला चूँकि २१ तक जाती है अतएव अग्नि की सत्ता—२१ तक मान ली जाती है। बस इस अग्नि में हर वक्त सोम की आहुति पड़ा

करती है। इन्द्र–वसु–रुद्र–आदित्य सारे देवता अग्नि में ही रहते हैं। रहते क्या हैं—आग्नेय हैं—एवं इसी अग्नि में पड़ती है—सोमाहुति—बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति।"

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि—पारमेष्ठ्य भृगु की (क्रन्दसी त्रिलोकी के सोम की) हर वख्त पार्थिव अङ्गिरा (रोदसी की अग्नि) में आहुति होती रहती है। इस प्रकार से संसार का स्वरूप बनाने वाला यह प्राकृतिक सोमयाग अनवरत होता रहता है।

हमने कहा था कि देवता कुल ३३ हैं। इनमें ८ वसु हैं, ११ रुद्र हैं एवं १२ आदित्य हैं। जो ८ वसु हैं—उनमें पहिला वसु—अग्नि है—जैसा कि श्रुति कहती है—

"कतमे वसव इति—अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षंच आदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च। एते वसवः एतेषुहीदं सर्वं वसुहितम्। एतेहीदं सर्वं वासयन्ते। तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसवः।"

एवं १२वाँ आदित्य विष्णु है। अग्नि ही को यज्ञ कहते हैं क्योंकि इसमें जब क्रन्दसी के सोम की आहुति होती है—तभी तीन–यज्ञ का स्वरूप बनता है। इसीलिए—**"अग्निर्वै यज्ञः"** कहा जाता है। इस रोदसी के अग्नि यज्ञ के प्रारम्भ में तो—अग्नि है—और अन्त में विष्णु है। इस छोर अग्नि है, उस छोर विष्णु है। सारे देवताओं के आदि में अग्नि है, एवं अन्त में विष्णु है। इसीलिए—**'विष्णुर्वै देवानां द्वारपालः'** कहा जाता है। अपिच इसीलिए **"अग्नि च ह वै विष्णुश्च देवानां दीक्षापालौ"** कहा जाता है। बस इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः।"

इसीलिए तो—आदित्यचरु का खण्डन करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।" इति।

सोमयज्ञ में सोम को आत्मसात किया जाता है—एवं सारी रोदसी के देवताओं को दिव्यात्मा बना आत्मसात किया जाता है। बस सम्पूर्ण देवताओं को एवं यज्ञ को आत्मसात करके—मैं दीक्षा लूँ—इसीलिए—दीक्षा से पहिले एवं अपांप्रणयन् के अनन्तर—आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश होता है।

ब्रह्म और यज्ञ यह दो ही तत्त्व हैं—यह हम इस ब्राह्मण के प्रारम्भ में बतला आए हैं। ब्रह्म मौलिक तत्त्व है—यज्ञ यौगिक तत्त्व है। सोमयाग करने वाला यह यजमान—दोनों ही तत्त्वों का—ब्रह्म और यज्ञ को आत्मसात करता है—इसी अभिप्राय से—देवता और यज्ञ कहा गया है। देवता ब्रह्म अभिप्रेत है, यज्ञ से यह ही अभिप्रेत है। सारे देवता एवं सारा यज्ञ तभी पकड़ में आ सकता है—जबकि उनके आद्यन्त छोर को पकड़ा जाय। आद्यन्त छोर में—अग्नि और विष्णु है—अतएव आग्नावैष्णव पुरोडाश किया जाता है। अग्नि अपने स्वरूप से (घन स्वरूप से) ८ भागों में विभक्त है इसीलिए तो **"अष्टाक्षरा वै गायत्री"** यह कहा जाता है। एवं विष्णु २१ तक जाता है। इसके तीन विक्रम होते हैं। ९ तक पहिला विक्रस, १५ तक दूसरा विक्रम एवं २१ तक तीसरा विक्रम होता है। इस प्रकार हृद्य पिण्ड अग्नि द्वारा तीन विक्रम होते हैं। इसीलिए तो **'यज्ञो वै विष्णुः'** एवं **'विष्णुर्वै यज्ञः'** कहा जाता है। बतलाना इस प्रपञ्च से हमें यही है कि—अग्नि चूँकि अष्टावयव है, विष्णु त्रिविक्रम है—अतएव दोनों के लिए ८-३ के हिसाब से एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है। बस इसी विज्ञान को बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अपः प्रणीय-आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति। अग्निर्वै सर्वा देवताः। अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति। अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः सर्वाश्चैतद्देवताः परिगृह्यः, सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दीक्षै इति—तस्मादाग्नावैष्णव एकादश कपालः पुरोडाशो भवति" ॥१॥

"तद्धैके-आदित्येभ्यश्चरुं निर्वपन्ति"—

ऐतरेय से पहिले के याज्ञिक लोग दीक्षणीयेष्टि में आदित्यों के लिए चरु का निर्वाप करते थे। परन्तु ऐतरेय ने **"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"** कहकर उस चरु को अशुद्ध बतलाया। उन्होंने कहा कि यह सोमयाग की दीक्षा है। हमें अपने आत्मा का सम्बन्ध पारमेष्ठ्य सोम से करना है—अतः रोदसी के सारे देवताओं को एवं यज्ञ को आत्मसात करने के लिए-आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश ही का निर्वाप करना चाहिए। अग्नि यज्ञ के अवरार्ध्य अर्थात् इस छोर के देवता हैं एवं विष्णु यज्ञ के परार्ध्य देवता अर्थात् उस छोर के देवता हैं। **'आदिरन्त्येन सहेता'** वत् दोनों के आत्मसात् करने से सारा यज्ञ और सारे देवता पकड़ में आ जाते हैं अतः दीक्षणीयेष्टि में—आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश ही करना चाहिए। अग्नि अष्टावयव है—एवं विष्णु त्रिविक्रम है—अतः दोनों के लिए मिलाकर एकादश कपाल पुरोडाश ही करना चाहिए—जैसा कि भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

'तदाहुर्यदेकादश कपालः पुरोडाशो-द्वावग्नाविष्णू, कैनयोस्तत्र क्लृप्तिः का विभक्तिरिति। अष्टा कपाल आग्नेयः। अष्टाक्षरा वै गायत्री। गायत्रमग्नेच्छन्दः। त्रिकपालो वैष्णवः। त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत्। सैनयोस्तत्र क्लृप्तिः सा विभक्तिः।"

(ऐ० ब्रा०, प्र० ख०, प्र० अध्या० ८।९)

बस भगवान् याज्ञवल्क्य इसी अभिप्राय से आदित्यचरु का प्रतिपादन करते हुए—उसे खण्डनीय बतला के अन्त में '**अयं त्वे वाग्नावैष्णवः प्रज्ञातः**' से आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश निर्वाप पक्ष का ही समर्थन करते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—कई याज्ञिक लोग दीक्षणीयेष्टि में आदित्यों के लिए चरु का निर्वाप करते हैं। परन्तु यह निर्वाप सर्वथा प्रत्याख्यात है। इस मत का खण्डन हो चुका है अतः चरु का निर्वाप नहीं करना चाहिए—यही तात्पर्य्य है।

"तद्धैके–आदित्येभ्यश्चरुं निर्वपन्ति।" तदस्ति पर्युदितमिव (प्रत्याख्यात-मिव)–तस्मान्न कर्त्तव्यमिति भावः।

आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश करना चाहिए—यह सिद्धान्त स्थापित करने से पहिले—आदित्यचरु निर्वाप में प्राचीन लोग जो उपपत्ति बतलाते थे—उसका उपपादन करते हैं।

आदित्यचरु—किस अभिप्राय से किया जाता था—पहिले इसका विज्ञान बतलाते हैं।

सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलता है। सूर्य्य चलता है—यह बात हमने दृश्य मण्डल के अभिप्राय से कही है। वास्तव में प्रकृति मण्डल के अनुसार सूर्य्य स्थिर है—एवं पृथिवी चल है। कैसे स्थिर है—कैसे चल है—इत्यादि बातों का विशद विवेचन 'अहोरात्रवाद के चिरस्थिर विमर्श' नाम के प्रकरण में किया गया है। यहाँ अप्राकृत समझ कर उस प्रकरण को छोड़ते हैं। बतलाना हमें यही है कि—सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलता है। इस प्रकार सावन वर्ष के अनुसार सूर्य्य ३६० दिन में अपने वृत्त की जो कि क्रान्ति वृत्त नाम से प्रसिद्ध है—परिक्रमा लगा लेता है।

उत्तर ध्रुव से ९० अंश दक्षिण एवं दक्षिण ध्रुव से ९० अंश उत्तर का जो कल्पित वृत्त है—उसी का नाव विषुवद् वृत्त है। इसी को 'इक्वेटर' लाइन कहते हैं। इस इक्वेटर से ठीक ९० अंश उत्तर—उत्तर ध्रुव है, ठीक ९० अंश दक्षिण—दक्षिण ध्रुव है। इस विषुद्वृत से—२४ अंश उत्तर और २४ अंश दक्षिण—इतनी दूर का अर्थात् ४८ अंश का जो एक वृत्त है, उसे ही "क्रान्ति वृत्त" कहते हैं। इस क्रान्तिवृत्त की उत्तर में परम क्रान्ति २४ अंश तक है। एवं इसी प्रकार २४ अंश दक्षिण में हैं। विषुवत् से उत्तर का भाग 'उत्तरगोल' कहलाता है एवं दक्षिण का भाग 'दक्षिणगोल' कहलाता है। दक्षिणगोल स्थित सूर्य्य जब दक्षिण की परम क्रान्ति पर अर्थात् २४वें अंश में पहुँच कर वापस लौट पड़ता है—अर्थात् उत्तर दिशा की ओर मुख कर लेता है—तो बस यही सूर्य्य का "उत्तरायण" होना है। एवमेव उत्तरगोल स्थित सूर्य्य उत्तर की परम क्रान्ति पर पहुँचकर—वहाँ से दक्षिण की ओर रुख कर लेता है—तो यह उसका 'दक्षिणायन' कहलाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि—उत्तरायण दक्षिणगोल में होता है, एवं दक्षिणायन उत्तरगोल में होता है। बस इस ४८ अंश के परिसर के बीच में में ही सारे ग्रह रहते हैं। सिवाय चन्द्रमा को छोड़कर बाकी सारे ग्रह—इसी क्रान्तिवृत्त के परिसर को छोड़कर बाहर नहीं जाते। चन्द्रमा अलबत्ता २८ तक चला जाता है। स्वाती नक्षत्र—करीब ३० अंश

पर है—चन्द्रमा कभी स्वाती के पास नहीं जाता। परन्तु चन्द्रमा का स्वाती के साथ योग बतलाया है। चन्द्रमा जब स्वाती के पास जाता है—तो वह स्वाती योग कहलाता है। परन्तु यह योग बन ही कैसे सकता है—जब कि स्वाती चन्द्रमा से २ डिग्री आगे निकला हुआ रहता है। इसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए कहा जाता है—

"सममुत्तरेण तारा चित्रायाः कीर्त्यते ह्यपां वत्सः।
तस्यासन्ने चन्द्रे स्वातेर्योगः शिवो भवति ॥"

इस ४८ अंश के मार्ग में—चन्द्रमा के लिहाज से—तीन मार्गों की कल्पना की जाती है। वे तीनों मार्ग १६-१६ अंशों के हैं। वे ही मार्ग—ऐरावत मार्ग, जरद्गव मार्ग एवं वैश्वानर मार्ग से प्रसिद्ध हैं। उत्तरमार्ग ऐरावत मार्ग कहलाता है, मध्यममार्ग जरद्गव मार्ग कहलाता है एवं दक्षिणमार्ग वैश्वानर मार्ग कहलाता है। इस मार्ग कल्पना में भी बड़ा भारी रहस्य है—

हम विषुवत् से उत्तर रहते हैं अतः दृश्य मण्डल के हिसाब से दक्षिण मार्ग सबसे छोटा है। यही कारण है कि जब सूर्य्य दक्षिण की परम क्रान्ति पर पहुँच जाता है तो दिन सबसे छोटा होने लगता है। जब सूर्य्य वहां से उत्तराभिमुख होता है तो दिन उत्तरोत्तर बडा होने लगता है। होते-होते उत्तर की परमक्रान्ति पर आ जाने से दिन सबसे बड़ा हो जाता है। हाथी से छोटा बैल होता है, बैल से छोटा बकरा होता है। चूँकि दक्षिण मार्ग से मध्यम मार्ग बड़ा है, मध्यम से उत्तरमार्ग बड़ा है, अतः इस छोटे-बड़े रहस्य को बतलाने के लिए इन तीनों भागों के क्रमशः—वैश्वानर, जरद्गव एवं ऐरावत यह नाम रक्खे हैं।

वैश्वानर अग्नि को कहते हैं। बकरा आग्नेय है—जैसा कि श्रुति कहती है—

"तद्धैकेऽजमुपबध्नन्ति। आग्नेयोऽजः। अग्नेरेव सर्वत्वायेति वदन्तः"।

इसलिए भी—इस दक्षिणवीथी को "अजवीथी" कहा करते हैं। अपि च—दक्षिणमार्गस्थ नक्षत्र संस्था बकरे ही की शकल की है, मध्यममार्गस्थ नक्षत्रसंस्था बैल ही की शकल की है, एवं उत्तरामार्गस्थ नक्षत्र संस्था हाथी की ही शकल की है—जैसा कि नक्षत्र-दर्शन से स्फुट प्रतीत हो जाता है। बस इस संस्था रहस्य को बतलाने के लिए भी—इन भागों के नाम—ऐरावतादि' रक्खे गए हैं।

इन तीनों मार्गों में प्रत्येक में तीन-तीन वीथिएं हैं। कुल मिलाकर ९ वीथिएं हैं। उनके नाम दक्षिण की ओर से प्रारम्भ करके निम्नलिखित हैं—

१ अजवीथी, २ मृगवीथी, ३ वैश्वानरवीथी ।। इति वैश्वानर मार्गः प्रथमः।
१ आर्षभवीथी, २ गोवीथी, ३ जारद्गववीवीथी ॥ इति जारद्गवमार्गो द्वितीयः।
१ ऐरावतवीथी, २ गजवीथी, ३ नागवीथी ॥ इत्यैरावत मार्गस्ततृतीयः।

पूर्वोक्त तीनों मार्गों को ही आदिनाडी, मध्यनाडी, अन्त्यनाडी शब्द से ज्योतिषी व्यवहृत किया करते हैं। पूर्वोक्त जो वीथी विभाग है, वह अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि नक्षत्रों के हिसाब से है। उन तीनों मार्गों में इन २७ नक्षत्रों की ९ संस्था है—अतएव—तीनों मार्गों में ९ वीथी अर्थात् गली हो जाती हैं।

अश्विनी, भरणी, कृत्तिका यह तीन नक्षत्र आकाश के जिस खण्ड में हैं—उस वीथी को "नागवीथी" कहते हैं। रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा यह जिस खण्ड में हैं उसे 'गजवीथी' कहते हैं। पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा यह जिस खण्ड में है—उसका नाम 'ऐरावती वीथी' है। बस इन तीनों वीथियों को ही—उत्तरमार्ग किंवा 'ऐरावत मार्ग' कहते हैं।

मघा, पूर्व फल्गुनी, उत्तर फल्गुनी (नक्षत्र), इनके मार्ग को "आर्षभी वीथी" कहते हैं। विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा इनके मार्ग को 'जारद्गवी वीथी' कहते हैं। बस इन तीनों को ही मध्यममार्ग किंवा 'जारद्गव मार्ग' कहते हैं।

मूल, पूर्व आषाढा, उत्तरी आषाढा इनके मार्ग को अजवीथी कहते हैं। श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक् इनके मार्ग को मृगवीथी कहते हैं। पूर्व भाद्रपदा, उत्तर भाद्रपदा तथा रेवती इनके मार्ग को—वैश्वानरी वीथी कहते हैं। बस इन तीनों ही को दक्षिणमार्ग किंवा वैश्वानर मार्ग कहते हैं। बस सारे ग्रह इन्हीं वीथियों वाले वैश्वानरादि तीनों मार्गों पर अवलम्बित रहते हैं। चन्द्रमा जिस वृत्त पर घूमता है उसका नाम 'दक्ष' वृत्त है। सोम में स्नेहन शक्ति अधिक है। जिसमें स्नेहन अधिक होता है वह बलिष्ठ अर्थात् दक्ष होता है। चन्द्रमा सोममय है—जैसा कि श्रुति कहती है—

"एतद्वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः ।।"

इसीलिए इसके परिभ्रमण वृत्त को दक्ष कहते हैं। यह चन्द्रमा २७ दिन में अपने इस वृत्त की परिक्रमा लगा लेता है। दक्ष प्रजापति की ६० लड़किएँ थीं—उनमें से २७ चन्द्रमा को दी। आधिदैविक मण्डल में इसका यही रहस्य है। २७ दिन में इस कक्षा का जो कि उसकी लड़किएँ हैं—चन्द्रमा भोग करता है—इसीलिए—**'सप्तविंशतिमिन्दवे'** कहा जाता है।

यह दक्ष वृत्त—पूर्वोक्त तीनों नाड़ियों पर अवलम्बित है—अतएव चन्द्रमा के रथ को तीन पहिये का बतलाया जाता है। बस इसी अभिप्राय से चन्द्रमा के रथ का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

"वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः।
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयतस्य वै रथः ॥१॥

शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः ।
दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यै रसङ्गैस्तैर्मनोजवैः ॥२॥
रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति ।
सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभिः शुक्लैः शुक्ल गभस्तिमान् ॥३॥
क्रमते शुक्ल पक्षादौ भास्करात् परमास्थितः ।
देवैः पीतंक्षये सोममाप्याययति नित्यशः ॥४॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनेकेन भास्करः ।
आपूरयन् सुषुम्णेन भागं भागमनुक्रमान् ॥५॥
इत्येषा सूर्य्य वीर्य्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः ।
स पौर्णमास्यां दृश्यते शुक्लः सम्पूर्ण मण्डलः ॥६॥

(लिङ्ग पुराण अ० ५६)

एवमेव इन नौ वीथियों और नदियों का स्वरूप भी प्रकरण में बतलाया गया है जिसे कि प्रमाणत्वेन उपन्यस्त करना अनुचित न होगा—

"सर्व ग्रहणेत्रीण्येव स्थानानि द्विजसत्तम । स्थानं
जरद्गवं मध्ये तथैरावतमुत्तमम् । वैश्वानरं दक्षिणतो
निर्दिष्टमिहृतत्वतः अश्विनी कृत्तिका याम्या नागवीथी
तिशाष्टिता । रोहिण्यार्द्रा मृगशिरोगजवीथीत्यभिधीयते" ॥१॥
पुष्याश्लेषा तथादित्या वीथीचैरावती स्मृता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्त्र उत्तरोमार्ग उच्यते ॥२॥
तथा द्वेचार्थे फाल्गुन्यौ मघाचैवार्षभीमता ।
हस्तश्चित्रा तथास्वाती गोवीथीति शब्दिता ॥३॥
ज्येष्ठा विशाखाऽनुराधा वीथी जारद्गवी मता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्त्रो मध्यमो मार्ग उच्यते ॥४॥
पूर्वाषाढ़ोत्तराषाढ़ा साऽजवीथ्यभि शब्दिता ।
श्रवणं च घनिष्ठा च मार्गोशतभिषक्तथा ॥५॥

वैश्वानरी, भाद्रपदे रेवती चैव कीर्तिता।
एतास्तु वीथयस्तिस्रो दक्षिणोमार्ग उच्यते ॥६॥

नीचे लिखी तालिका से सारा विभाग स्पष्टतया समझ में आ जाता है—

आदिनाड़ी	अश्विनी —भरणी —कृत्तिका —	नागवीथी
	आर्द्रा— मृगशिरा — रोहिणी	गजवीथी
	पुनर्वसु — पुष्य —अश्लेषा —	ऐरावती वीथी —इत्यैरावत मार्ग षोडशांशः
मध्यनाड़ी	उ०फ०—पू०फ०— मघा —	आर्षभीवीथी
	—हस्त —चित्रा—स्वाति —	गोवीथी
	जेष्ठा—अनुराधा—विशाखा-	जरद्गवीवीथी —इति जरद्गव मार्ग षोडशांशः
	—मूल—पू.आ. —उ.आ. —	अजवीथी
अन्त्यनाड़ी	शतभिषक् -घनिष्ठा —श्रवण-	मृगवीथी
	पू.भा.प.—उ.भा.प.—रेवती-	वैश्वानरी वीथी—इति वैश्वानर मार्गः षोडशांशः

चूँकि द्वादशादित्य यज्ञ में चन्द्रमा का ही सम्बन्ध है अतएव पहले उसके मार्गादि का स्वरूप बतला दिया है, अब सूर्य्य के रथ का स्वरूप बतलाते हैं—

हमने इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही बतलाया था कि जिस-जिस मार्ग पर हो के सूर्य्य घूमता है उसका नाम क्रान्तिवृत्त है। विषुवद्वृत्त से उत्तर और दक्षिण इस क्रान्तिवृत्त को काटते हुए १८।८।४ अंशों के फासलों पर ६ वृत्त और बनते हैं। विषुवत् से उत्तर कान्तिवृत्त को काटते हुए क्रान्तिवृत्त ही के १२वें अंश से एक पूर्वापर वृत्त बनता है। तदनन्तर दूसरा पूर्ववृत्त ८ अंश के फासले पर बनता है एवं अन्त में ४थे अंश पर एक तीसरा पूर्वापर वृत्त बनता है। इस प्रकार से विषुवत् से और क्रान्तिवृत्त के २४ अंशों में १२।८।४ अंशों पर तीन पूर्वापर वृत्त बनते हैं। इसी प्रकार तीन पूर्वापर वृत्त विषुवत् से दक्षिण बनते हैं एवं एक स्वयं विषुवद् वृत्त रहता है, कुल मिलाकर ७ पूर्वापर वृत्त हो जाते हैं। इन्हीं सात पूर्वापर वृत्तों को **"अहोरात्र वृत्त"** कहते हैं। वेद में इन्हीं का नाम छन्द है। इन सातों छन्दों के नाम यह हैं—

१ गायत्री, २ उष्णिक्, ३ अनुष्टुप्, ४ बृहती, ५ पंक्ति, ६ त्रिष्टुप् ७ जगती।

"गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांसि"

जो गायत्री छन्द है उसे ही ज्योतिषी लोग "मकरवृत्त" कहते हैं, एवं इसे ही पाश्चात्य विद्वान् 'केप्रीकार्न' कहते हैं एवं जगती छन्द को ज्योतिषी लोग कर्कवृत्त, और पाश्चात्य विद्वान् 'कैन्सर' कहते हैं। बस सूर्य्य के यही सात घोड़े हैं। प्रकृति मण्डल के अनुसार भगवान् सूर्य्य इसी बृहती छन्द पर स्थिर रूप से तपा करते हैं, इसीलिए **"सूर्य्यो बृहतीमध्यूढ़स्तपति"** कहा जाता है। प्रकृति मण्डल के हिसाब से गायत्री छन्द सबसे छोटा है एवं जगती छन्द सबसे बड़ा है। इसी विज्ञान को बतलाने के लिए गायत्री मन्त्र भी ८ ही अक्षर का होता है—"अष्टाक्षरा वै गायत्री", एवं जगती छन्द ४८ अक्षर का होता है, इसीलिए श्रुति ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है कि जगती छन्द सबसे बड़ा है तो उसी का नाम "बृहती" होना चाहिए, न कि मध्य के छन्द का। इसका अन्त में वह स्वयं ही उत्तर देती है कि जगती बड़ी है परन्तु दृश्य मण्डल के हिसाब से। हम चूँकि विषुवत् से उत्तर हैं अतएव हमारी अपेक्षा यह जगती छन्द बड़ा है। परन्तु प्रकृति मण्डल के हिसाब से मध्य ही का वृत्त बड़ा है। जो वस्तु वर्त्तुलवृत्त होती है उसका मध्य भाग सबसे बड़ा होगा। चूँकि आकाश गोल है, ख—गोल है अतः उसका मध्य स्थान ही बड़ा है। इसीलिए इस मध्य के छन्द को ही "बृहती" छन्द कहा जाता है न कि जगती को। **सम्पूर्ण कथन से बतलाना हमें यही है कि क्रान्तिवृत्त के ४८ अंश का जो एक परिसर है—वही सूर्य्य का रथ है। सूर्य्य आग्नेय है। अग्नि सोने के रंग के माफिक चमकता है, अतएव "हिरण्येन सविता रथेनादेवो-याति भुवनानि पश्यन्"**—कहा जाता है। एवं जो क्रान्तिवृत्त है वही इसके रथ का एक पहिया है। क्रान्तिवृत्त एक है अतएव सूर्य्य के रथ का एक पहिया बतलाया जाता है। एवं जो ७ छन्द हैं वे ही सात घोड़े हैं। बस इसी प्राकृतिक रथ स्वरूप को बतलाते हुए वेद भगवान कहते हैं—

"सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमाविश्वा भुवनानि तस्थुः।। ऋ० १।१६४।२
इमं रथमधि ये सप्ततस्थुः सप्तचक्रं सप्तवहन्त्यश्वाः।
सप्तस्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नामा" ।। ऋ० १।१६४।३

एक ही क्रान्तिवृत्त के ७ विभाग से ७ अहोरात्र बने हुए हैं, इसीलिए—**"एको अश्वो वहति सप्त नामा"**—यह कहा जाता है।

इस प्रकार से यह सूर्य्य भगवान् इस रथ पर सवार होकर मर्त्य और अमृत प्रजा का शासन करते रहते हैं, अर्थात् जड़ और चेतन दोनों की सत्ता भगवान् सूर्य्य ही के अधीन है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"आकृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेनसविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।" (ऋ० १।३५।२)

इस सूर्य्य के ताप से ही यच्चयावत् पदार्थों का निर्म्माण होता है। ज्योति, गौ और आयु—सूर्य्य के यह तीन मनोता हैं। ज्योतिमार्ग से देवता उत्पन्न होते हैं, गौ भाग से भूत उत्पन्न होते हैं एवं आर्य-मार्ग से हमारा आत्मा उत्पन्न होता है, इसीलिए—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे ॥"
(ऋ० १।११५।१)

सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलता है, यह हम बतला आए हैं। जिस प्रकार सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलता है, तथैव चन्द्रमा १३ अंश बीस कला प्रतिदिन चलता है। सूर्य्य ३६० दिन में अपने क्रान्तिवृत्त की परिक्रमा समाप्त करता है, एवं चन्द्रमा—२७ दिन कुछ कला में अपने इस वृत्त की परिक्रमा लगा लेता है। कल्पना कर लीजिए—आज सूर्य्य और चन्द्रमा एक बिन्दु पर अर्थात् अश्विनी नक्षत्र पर हैं। अब यहाँ से चन्द्रमा भी चलता है, और सूर्य्य भी चलता है। सूर्य्य एक दिन में एक अंश ही का रास्ता काटता है एवं चन्द्रमा १३ अंश २० कला का मार्ग काट देता है। इस प्रकार से २८वें दिन चन्द्रमा ठीक उसी स्थान पर पहुँचता है, जहाँ से कि रवाना हुआ था। परन्तु सूर्य्य उससे तीन अंश आगे निकल जाता है, अतएव चन्द्रमा को सूर्य्य से मिलने के लिए तीन दिन और लगते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि चन्द्र—सूर्य्य का सम्बन्ध ३०वें दिन हुआ करता है। एक संवत्सर के हैं ३६० अंश, अतः पूरे संवत्सर में चन्द्र-सूर्य्य का सम्बन्ध १२ दफे होता है। बस यही १२ आदित्य कहलाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्य। एते आदित्याः। एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्याः—" इति। (श० १४.३.७.६)

अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है। सूर्य्य अग्नि स्वरूप है, चन्द्रमा सोम का गोला है। यह अग्नि की खुराक है। ३०वें दिन यह सूर्य्य चन्द्रात्मक यज्ञ हुआ करता है, इस प्रकार एक संवत्सर में कुल १२ यज्ञ होते हैं। इसी अग्नि-सोमात्मक यज्ञ से जगत् के यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतएव **"संवत्सरो वै यज्ञः"**—**"संवत्सरः प्रजापतिः"**—यह कहा जाता है। ३०—३० अंश में एक-एक यज्ञ होता है एवं ये बारहों यज्ञ परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। सबका स्वरूप पृथक्-पृथक् है, अतएव ३६० अंशात्मक खगोल को ३०-३० अंश की ढेरी के हिसाब से १२ भागों में विभक्त कर दिया जाता है। यही १२ राशि हैं। चन्द्रमा के हिसाब से जैसे आकाश को २७ दिन के हिसाब से विचार किया जाता है तो चन्द्रमा १३ दफे सूर्य्य से सम्बन्ध जोड़ता है। सूर्य्य को ही कश्यप कहते हैं, इसीलिए **"कश्यपाय त्रयोदशः"**—कहा जाता है। सूर्य्य से ही सारे जगत् की उत्पत्ति होती है, अतएव **"कश्यपात् सकलं जगत्"**—यह कहा जाता है। सूर्य्य ही का नाम कश्यप कैसे है, **कश्यप ही सारे जगत का निर्म्माण कैसे करता है, इसके लिए श्री गुरुप्रणीत "कृषि रहस्य" ग्रन्थ देखना चाहिए।** कहना हमें सिर्फ इतना ही है

कि सूर्य्य हिसाब से आकाश १२ भागों में विभक्त है एवं यही (१) मेष, (२) वृष, (३) मिथुन, (४) कर्क, (५) सिंह, (६) कन्या, (७) तुला, (८) वृश्चिक, (९) धनु, (१०) मकर, (११) कुम्भ एवं (१२) मीन यह १२ राशि हैं। इन राशियों के नाम भी रहस्य से रक्खे गए हैं। सारा आकाश तारों से व्याप्त है। बस इन नक्षत्रों की तस्वीरों के माफिक ही राशियों के नाम रक्खे गए हैं। वास्तव में उन-उन आकाश खण्डों से उन-उन प्राणों ही का स्रोत आता रहता है। अतएव यह नाम कल्पित नहीं समझने चाहिए।

भगवान् सूर्य्य सदा आधे खगोल पर ही प्रकाश डालते हैं। १८० अंश पर ही सौर प्रकाश पड़ता है। बीच में सूर्य्य-बिम्ब रहता है एवं ९० अंश इस बिम्ब से पूर्व और ९० अंश ही पश्चिम, बस इतनी दूर तक प्रकाश मण्डल रहता है। इसी १८० अंशात्मक प्रकाश मण्डल का नाम **"अदिति"** है। एवं सूर्य्य के "वर्क्स" का जो अन्धकार तपोमय मण्डल है, उसका नाम **"दिति"** मण्डल है। १८० अंश के बाद में प्रकाश कट जाता है अतएव अधोभाग को "दिति" मण्डल कहते हैं। एवं १८० अंश तक प्रकाश अविच्छिन्न रूप से रहता है अतएव इस प्रकाशमण्डल को "अदिति" मण्डल कहते हैं। अदिति से आदित्य पैदा होते हैं, दिति से दैत्य पैदा होते हैं। जो प्रकाशी प्राण है उसी का नाम देवता है, जो तपोमय प्राण है उसी का नाम दैत्य किंवा असुर है। तपोमय प्राण का अधिष्ठाता दिति मण्डल है, एवं प्रकाशी प्राण का अधिष्ठाता—अदिति मण्डल है। इसीलिए दैत्य दिति के पुत्र कहलाते हैं, आदित्य अदिति के पुत्र कहलाते हैं।

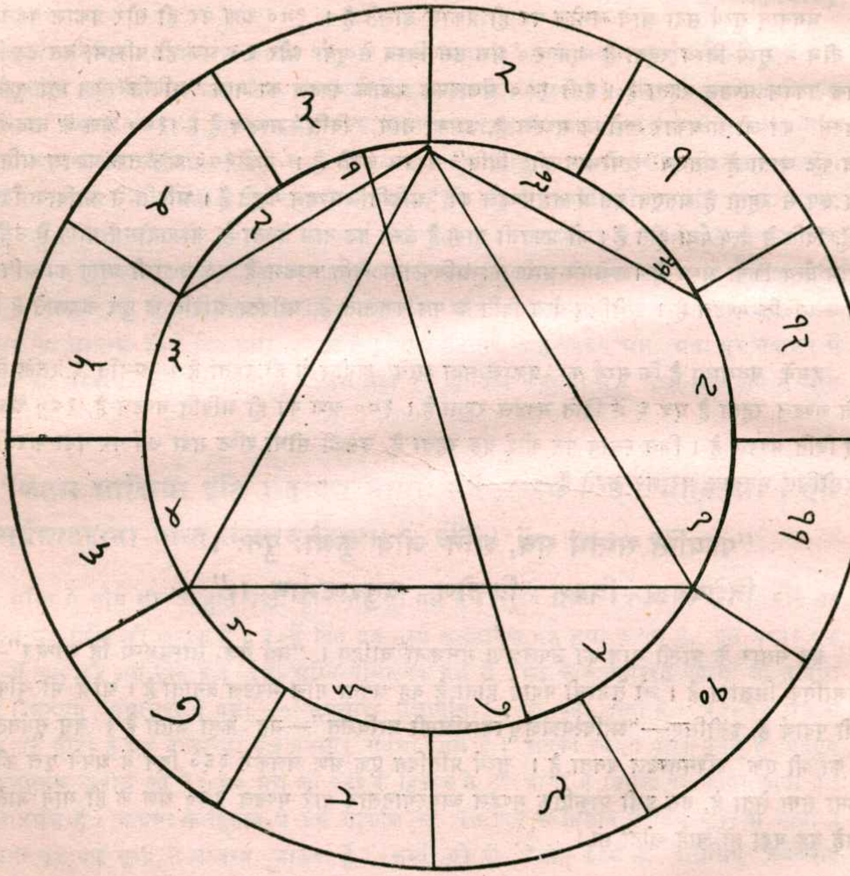
हमने बतलाया है कि सूर्य्य का प्रकाश सदा आधे खगोल में ही रहता है। अर्थात् ६ राशि में अदिति मण्डल रहता है एवं ६ में दिति मण्डल रहता है। १८० अंश का ही अदिति मण्डल है, १८० अंश का ही दिति मण्डल है। जिस स्थान पर कोई ग्रह रहता है, उसकी सीधी दृष्टि सदा ७वें पर पड़ा करती है। इसीलिए भगवान् पराशर कहते हैं—

"पश्यन्ति सप्तमं सर्वे, शनि जीव कुजाः पुनः।
विशेषतश्च त्रिदश त्रिकोण चतुरष्टमान् ॥"

ग्रह संसार के प्राणी मात्र का उपलक्षण समझना चाहिए। **"सर्वं तेजः साम्यरूप्यं हि शाश्वत्"**—यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है। जो तेजस्वी पदार्थ होता है वह अपना गोल मण्डल बनाता है। आँखें भी चूंकि तेजस्वी पदार्थ हैं, इसीलिए—**"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्"**—यह कहा जाता है। बस सूर्यवत् आँख का भी एक रश्मिमण्डल बनता है। सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलकर ३६० दिन में अपने वृत्त की परिक्रमा लगा लेता है, बस इसी प्राकृतिक मण्डल व्यवस्थानुसार सारे मण्डल ३६० अंश के ही माने जाते हैं, चाहे वह बड़ा हो चाहे छोटा हो।

वर्त्तुलवृत्त सब ३६० अंश के होते हैं, हमारा रश्मिमण्डल भी वर्त्तुल है, अतएव इसके भी ३६० अंश मानने पड़ेंगे, एवं सूर्य्य मण्डलवत् इसके भी १२ ही टुकड़े मानने पड़ेंगे। आश्चर्य मत कीजिए, हमारी सारी व्यवस्थाएँ उसी प्राकृतिक मण्डल पर व्यवस्थित हैं—**"यदत्रिह तदमुत्र यदमुत्र तदत्रिह"**।

"मृत्योः समृत्युमाप्नोतियद्हन्त नेव पश्यति"—यह हमारा घण्टाघोष है। इस रश्मिमण्डल के १२ विभागों में ७वें विभाग पर हमारी पूर्ण दृष्टि पड़ती है। यदि ७वें पर कोई परत रक्खी होगी तो उसका हमें अच्छी तरह प्रत्यक्ष होगा। बात वास्तव में ठीक है। जिस स्थान पर हम बैठे हैं—वह तो हमारे से ही घिर गया, फिर ६ठे पर हमारी दृष्टि क्योंकर पड़ सकती है। हमारी दृष्टि तो ७वें पर ही पड़ेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि ७ विभाग हमारे कब्जे में आ जाते हैं। ७वें पर ही दृष्टि कैसे पड़ती है, यह बात नीचे लिखे नक्शे से स्पष्ट समझ में आ जाती है—



कहने का तात्पर्य यही है कि तेजस्वी पदार्थों का मण्डल गोल बनता है, उसमें ३६० अंश होते हैं, एवं १२ विभाग होते हैं एवं सदा ७वें पर दृष्टि पड़ती है। ६ठा ऊपर ही रह जाता है। लग्न से ७वें

पर ही पूर्ण दृष्टि पड़ती है । पूर्णक्षिजित जिसे कि वेद में 'हरित-जन' और पाश्चात्य विद्वान् 'होराइजन' कहते हैं—यही लग्न कहलाता है । पृथिवी और आकाश इस स्थान पर भिड़ा हुआ अर्थात् लगा हुआ रहता है अतएव इस स्थान को "लग्न" कहते हैं । इसके ठीक सामने सदा सातवाँ रहता है । आधा पूर्व की ओर का आधा पश्चिम की ओर का एवं ६ स्वयं, इस प्रकार अदिति मण्डल हो जाता है । इन सातों के बीच मे ८वाँ सूर्य्य बिम्ब रहता है । इससे ३.१/२ पूर्व और ३.१/२ पश्चिम प्रकाशमण्डल अभिव्याप्त यही सातों अधोमण्डल में हो जाते हैं, इन्ही को १४ मन्वन्तर कहते हैं, जैसा कि आगे के प्रकरण से स्पष्ट रहता है । हो जायेगा ।

३०–३० अंश का अग्नि-सोमात्मक अर्थात् चन्द्रसूर्य्यात्मक यज्ञ होता है । वे यज्ञ परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । चूंकि अदिति मण्डल में ३.१/२–३.१/२ के हिसाब से ७ यज्ञ हो जाते हैं एवं ८वां स्वयं सूर्य्य बिम्ब रहता है, अतएव अदिति के ८ पुत्र माने जाते हैं । अदिति के सदा यह आठ पुत्र ही रहते हैं । एक सूर्य्य बिम्ब है, पूर्व–पश्चिम मिला के ७ यज्ञात्मक पुत्र हैं । बस इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्येजातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः परामार्त्ताण्डमास्यत्"—इति ॥

"अदितेः तन्वस्परि, ये अष्टौ पुत्रासः जाताः तेषु सप्तभिः देवाँ उपप्रैत् । मार्त्ताण्डम् परास्यत् ॥"

अदिति के शरीर पर जो आठ पुत्र उत्पन्न हुए थे उनमें से सात पुत्रों को प्रजोत्पत्ति के लिए अदिति ने साथ ले लिए एवं मार्त्ताण्ड नाम के अपने आठवें पुत्र को छोड़ दिया ।

सूर्य्य अग्नि का पिण्ड है । अग्नि मर्त्यअमृत भेदेन दो प्रकार का है । जो पिण्डाग्नि है वही मर्त्याग्नि है, जो मण्डलाग्नि है वही अमृताग्नि है । सूर्य्य पिण्डस्वरूप है पिण्ड का कभी न कभी नाश अवश्य ही होता है, अतएव पिण्ड को मर्त्य कहते हैं । बस इसीलिए सूर्य्य-बिम्ब को—सूर्य्य के गोले को मार्त्ताण्ड कहा है । सृष्टि प्रवर्ग्य भाग से हुआ करती है । सूर्य्य का जो भाग अर्थात् अग्नि का जो हिस्सा पार्थिव पदार्थों में रहता है, उसी से पार्थिव पदार्थों का स्वरूप बनता है । सूर्य्य का पिण्ड ज्यों का त्यों रहता है, प्रजोत्पत्ति से उसका कोई ताल्लुक नहीं । इसके १८० अंशात्मक में व्याप्त रहने वाला प्रकाश-मण्डल है, ताप है—वही प्रजोत्पत्ति करता है । ३.१/२ पूर्व–३.१/२ पश्चिम इस प्रकार ७ देवताओं से ही जगत् का निर्म्माण होता है । अमृत भाग से सृष्टि होती है । सूर्य्य तो मर्त्य है—पिण्ड है । भला उससे सृष्टि क्यों कर हो सकती है । उसके प्रकाशमण्डल से–संवत्सरमण्डल से–जो कि सप्तावयव है–सृष्टि होती है ।—प्रजापति—यही संवत्सर है । इसीलिए तो "**संवत्सरो वै प्रजापतिः**"—यह कहा जाता है । सम्पूर्ण

कथन का तात्पर्य यही हुआ कि सूर्य्य-बिम्ब के सहित जो अदिति के आठ यज्ञस्वरूप पुत्र हैं उनमें से ७ से अर्थात् संवत्सर यज्ञ से सृष्टि का निर्म्माण होता है एवं सूर्य्य पिण्ड—मार्त्ताण्ड—सृष्टि—निर्म्माण—प्रक्रिया से अलग रहता है। बस इसी अभिप्राय से—

"परामार्त्ताण्डमास्यत्"—(मार्त्तण्डं परास्यत्) यह कहा गया है ॥२॥ इसी मन्त्र का भाष्य करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—"अदिति के वास्तव में आठ ही पुत्र हैं—**"अष्टो ह वै पुत्रा अदितेः"**। अदिति के जो आठ पुत्र बतलाए हैं, उनमें जो देवता 'आदित्य' नाम से व्यवहृत होते हैं, वे तो सात ही हैं। अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया में आदानविसर्गात्मक यज्ञ में उपयोगी तो सात ही देवता हैं। वास्तव में बात सच है, संवत्सर यज्ञ ही से सृष्टि होती है। इसी अर्थ को पेट में रखते हुए कहते हैं—

"परंस्वित् देवा आदित्या इत्याचक्षते सप्त हैव ते"।

पूर्वोक्त जो सातों पुत्र उत्पन्न किए वे विकृत हैं। परन्तु इस मार्त्ताण्ड नाम के ८वें पुत्र को अदिति ने अविकृत ही उत्पन्न किया।

सूर्य्य इन सातों आदित्यों की प्रकृति है एवं सातों इसकी विकृति हैं। सूर्य्य पिण्ड ही से तो यह प्रकाशमण्डल निकला है। पुत्र की प्रकृति जैसे पिता है—तद्वत् सातों आदित्यों की प्रकृति भगवान् सूर्य्य है। इसी अभिप्राय से—

"अविकृतं हाष्टमं जनयांचकार मार्त्ताण्डम्"।

अविकृत है इसका तात्पर्य एक और भी है। वीर्य्य की पिण्ड जब माता की योनि में प्रविष्ट होती है तो वहाँ बैठा हुआ त्वष्टा नाम का वायु उसे विकृत कर देता है। हाथ, पाँव, नाक, कान, मुँह इत्यादि अवयव निर्म्माण के लिए वीर्य्य का विशकलन कर देता है। उसी विशकलन क्रिया से शरीरावयव निर्म्माण होता है। तो जैसे वीर्य्य-बिन्दु विकृत रहती है, जैसे त्वष्टा से विकृत होकर गर्भ हाथ, पैर, नाक, मुँह वाला हो जाता है, तद्वत् यह सूर्य्य-बिम्ब हाथ, पैर वाला नहीं है। वह तो अविकृत है। गोल-मटोल है, वर्त्तुल वृत्त है। सर्वतः पाणिपाद है, इसीलिए कहा जाता है—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ॥

वास्तव में ठीक है जो वर्त्तुलवृत्त है उसमें कर चरणादि विकार कैसा। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि वह पिण्ड संदेघ था अर्थात् घिलमिल था। उसके छोर का कहीं पता ही न था। वास्तव में बात सच है, जो गोल वस्तु होती है—उसका कहीं अन्त ही नहीं होता।

"संदेघ हैवास"—"यावानेवोर्द्ध स्तावान्तिर्य्यक" (गोल वस्तु ऐसी ही होती है)—यह तो हुआ एक मत। अब कितने ही वैज्ञानिक कहते हैं कि यह सूर्य्य बिम्ब तो पुरुष के माफिक ही था। जैसा आकार पुरुष का है, वैसा ही इसका है। उनका कहना भी एक प्रकार से ठीक है। सूर्य्य का जो गोला है वह तो मस्तक स्थानापन्न हो सकता है, एवं पृथिवी पर जो सूर्य्य का प्रकाशमण्डल संसक्त होता है—वही पैर हैं, एवं पूर्व पश्चिम में पसरने वाला प्रकाश हस्त स्थानीय है एवं सूर्य्य बिम्ब से लेकर पृथिवी तक के बीच का प्रकाश भाग धड़ है, अतः हम सूर्य्य को पुरुषाकार कह सकते हैं। एक बात और दूसरी लीजिए। पुरुष का जो मस्तक है, उसमें और हिस्सों की अपेक्षा चेतना अर्थात् विज्ञान अधिक रहता है। वह विज्ञान उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यहाँ तक कि पैरों तक आते-आते तो विज्ञान का सर्वथा अभाव ही हो जाता है। सूर्य्य में भी यही बात है। सूर्य्य का जो बिम्ब है वह ज्योतिर्घन है। उत्तरोत्तर वह घनता कम होती जाती है। यहाँ तक कि पृथिवी पर आते-आते तो घनता एकदम मारी जाती है। जिस ज्योतिर्घन की तरफ हम एक सैकण्ड भी नहीं झाँक सकते, उससे निकले हुए पृथिवी पर आने वाले प्रकाश की हम कोई परवाह ही नहीं करते। बस इस कारण से भी इसे पुरुष सम्मत कहा है। इसी अभिप्राय से—

"योऽसावादित्येपुरुषः सोऽसावहम्" यह कहा जाता है। सूर्य्य के पुरुषत्व में वैज्ञानिक भाव बतला दिया गया। परन्तु जो प्रमाणभाक् हैं उनके लिए प्रमाण देना चूंकि आवश्यक है अतः प्रमाण भी बतला देते हैं। श्रुति कहती है—"**द्यौमूर्द्धा........इति।**

बस इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"पुरुष संमित इत्युहैक आहुः" ॥३॥

सूर्य्य पिण्ड घन है, वह संदेव है, उसमें सारे प्राण घिलमिल हैं। उसमें प्राणों का विशकलन नहीं है। विशकलन प्रकाशमण्डल में आ कर होता है। जो संवत्सर यज्ञ है, उसी में प्राण विभाग होता है। सूर्य्य प्राणघन है इसीलिए—**"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः"**—कहा जाता है। ऋतुं विभाग से सारे प्राण विशकलित रहते हैं। आकाश में सारे प्राणों का जमाव हो रहा है। भिन्न-भिन्न प्राणों के स्रोत परस्पर अलग होते हुए भिन्न-भिन्न काम करते रहते हैं। हाड, मांस, चर्बी, त्वचा, चर्म्म, मज्जा, शुक्र, शोणित, दधि, मधु, घृत, रस, उपरस, विष, उपविष, सोना, चांदी, लोहा, तांबा, जस्त, पीतल, काँसा, हीरा, पन्ना, माणिक, पुखराज इत्यादि-इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं, उन सबका निर्म्माण इन्हीं सौर-प्राणों से होता है।

इन प्राणों के तारतम्य से ही पदार्थों में वैचित्र्य होता है। किसी में कोई प्राण अधिक है, तो किसी में कोई कम। किसी में क्या शक्ति है, किसी में क्या। हमारे घरमें प्राघुणिक आवेगा, **विज्ञान का गर्व करने वाले हमें इसका पता भी नहीं रहता, परन्तु हमारे से सर्वथा कम प्राण मात्रा रखने वाला कौवा इस प्राघुणिक आगमन को समझ जाता है।** परन्तु साथ ही में हम जैसे बोलते हैं, वैसे वह बोल नहीं

सकता। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी में क्या शक्ति है—किसी में क्या है। **यह शक्ति तारतम्य प्राणाधीन है।**

एक आम का फल हाथ में लीजिए, उसमें आप अनन्त प्राण समष्टि पावेंगे। एक प्राण तो ऐसा था—जिसने उसे हरित बना रक्खा था, आज इसका वह प्राण निकल गया एवं पीला बनाने वाला प्राण इसमें प्रविष्ट हो गया। एवमेव एक प्राण ऐसा है जिसने इसकी अस्थि का अर्थात् गुठली का निर्म्माण कर दिया। एक प्राण ऐसा है जिसने गूदे का अर्थात् मांस का निर्म्माण कर दिया। एक प्राण ऐसा था जिसने गुठली के भीतर एक कच्ची गुठली का अर्थात् मज्जा का निर्म्माण कर दिया। कहने का तात्पर्य यही है कि यह प्राण अनन्त है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त प्राण रहते हैं। जिसमें जो प्राण नहीं रहता उसमें उसी की कमी रहती है। किसी का मस्तिष्क राजनीति में प्रवीण है तो किसी का धर्म्मनीति में। किसी का परोपकार में है तो किसी का अपकार में। सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि जगत् का **वैषम्य साम्य** जो कुछ है, जगत् के जो कुछ पदार्थ हैं, **जो "है"** कहने लायक है वह इसी प्राण की महिमा है, जिसका कि अधिष्ठाता सूर्य्य है। इसीलिए भगवती श्रुति कहती है—

"नूनं जनाः सूर्य्येणप्रसूता अयन्नर्थः कृण्वन्नपांसि।"

यह प्राण अनन्त है। प्राण ही को वैदिक परिभाषा में "ऋषि" कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"असद्वेदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः केते ऋषय इति, प्राणा वा ऋषयः"। (श० ६।१।१।१)

वेद भगवान् कहते हैं कि यह ऋषि अर्थात् प्राण अनन्त हैं। इनको समझना बड़ा दुर्व्वार है—

"विरुपास इदृषयस्त इद् गम्भीर वेपसः।
तेऽङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥ (ऋ० १०।६२।५)

यह प्राण व्यवस्था प्राणों की काँट-छाँट उस मण्डल में प्रतीत नहीं होती। वह तो संदेघ है। वह जब पदार्थों के निर्म्माण में उपयुक्त होता है तब उसके संदेघ भाव की निवृत्ति होती है।

आदित्य हमने १२ बतलाए थे, उनमें ८ तो बतला ही चुके। बाकी बचते हैं ४। उनके नाम हैं— मित्र, वरुण, पर्ज्जन्य, विवस्वान्। सारे खगोल को पूर्व और पश्चिम—इन दो भागों में विभक्त कर दीजिए, जो पूर्व का कपाल है उसका नाम मित्र है, पश्चिम कपाल का नाम वरुण है। जो आती हुई वस्तु है, उसका नाम मित्र है, जाती हुई का नाम वरुण है। रात्रि के १२ बजे बाद से सूर्य्य हमारी ओर आता है एवं दिन के १२ बजे बाद से जाने लगता है। इसीलिए पूर्व कपाल को मित्र कहा गया है एवं

पश्चिम को वरुण कहा गया है। यही मित्रवरुण की सामान्य परिभाषा है। तीसरा है—पर्ज्जन्य, यह सारे मण्डल में एकल्ला है। चौथा है—विवस्वान्–यह सारे मण्डल में पूरा है। प्रकृत में इसी विवस्वान् प्रजापति का सम्बन्ध है। हमने बतलाया था कि सूर्य्य का जो गोला है—वह संदेघ है, जितना ही ऊपर है, उतना ही नीचे है। गोल वस्तु के केन्द्र में से आप ऊपर नीचे चाहे जिधर नाप लीजिए, आपको वह एकसार मिलेगी। इस संदेघ की निवृत्ति अर्थात् प्राण-विकृति, प्राण-विशकलन संवत्सर मण्डल में जिसे कि हम विवस्वान् प्रजापति कहेंगे—आ कर होती है। इस विशकलन के कारण वे ही ७ आदित्य हैं जिनकी समष्टि को हमने यज्ञ किंवा संवत्सर बतलाया था। संवत्सर में ६ ऋतु होती हैं, कहने को ६ हैं वास्तव में अनन्त हैं प्रत्येक वस्तु की ऋतु भिन्न-भिन्न है। जिसकी ऋतु होती है उसमें वही वस्तु उत्पन्न होती है। भरणी पर जब सूर्य्य आवेगा तभी शहत ऊपर से नीचे गिरेगा। सब प्राणों की ऋतु विभागेन व्यवस्था नियत है। यह ऋतु व्यवस्था संवत्सर में होती है, संवत्सर ही में वे आदित्य सातों देवता हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि इस प्राण-जिशकलन के संदेघ निवृत्ति के अधिष्ठाता यही आदित्य देवता हैं।

बस इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—उस सूर्य्य पिण्ड से अपनी प्रकृति से उत्पन्न होने वाले—उन देवता आदित्यों ने कहा कि, हम सबको इसी ने पैदा किया है, अतः हमको वैसा उपाय करना चाहिए जिससे कि यह बिगड़े नहीं, अपितु स्वस्वरूप में स्थिर रहे—

"तऽउहैतऽऊचुः–देवा आदित्याः–यदस्मानन्वजनि मा तत्–अमुयेवभूत्"

भला अपन इसकी संदेघ निवृत्ति कर इसकी छाँट कर दें अर्थात् इसके प्राणों का विभाग कर उसे सृष्टि क्रम में लगादें। जब तक आदान-विसर्गात्मक यज्ञ होता रहता है तभी तक उस पदार्थ की स्थिति रहती है। सूर्य्य में से हर वख्त अनन्त प्राण संवत्सर द्वारा पृथिवी में आकर पदार्थों में परिणत होते रहते हैं, एवं हर वख्त पार्थिव पदार्थ सूर्य्याग्नि में हुत होते रहते हैं। बस इस आदान विसर्गात्मक यज्ञ से ही सूर्य्य की सत्ता है। यदि सूर्य्य-पिण्ड में से प्राण विभक्त हो कर पार्थिव सृष्टि का निर्म्माण न करे तो सूर्य्य-पिण्ड यज्ञ बन्द होने से उसी समय नष्ट हो जाय। जब उसमें से प्राण निकलेंगे ही नहीं तो पदार्थ ही नहीं बनेंगे, जब पदार्थ ही नहीं तो फिर उस सौराग्नि में आहुति किसकी होगी, अतः सूर्य्य-पिण्ड की स्थिति के लिए उसके प्राण विभाग की परम आवश्यकता है। बस इसी प्रकृतिसिद्ध विज्ञान को बतलाते हुए कहते हैं—**"हन्त इमं विकरवामेति"**।

अपन इसका विभाग कर दें अर्थात् आदान विसर्गात्मक यज्ञ में प्रवृत्त कर दें। यह विचार कर देवताओं ने उसको विभक्त कर दिया। जैसे कि यह पुरुष विकृत है। शुक्र बिन्दु त्वष्टा वायु द्वारा जैसे हाथ, पैर, अस्थि, मज्जा, मांस वगैरह-वगैरह स्वरूपों में परिणत कर दी जाती है। तद्वत् इन देवताओं ने उन प्राणों की छाँट कर दी, अर्थात् जो प्राण सूर्य्य-पिण्ड में घन रूप से, संदेघ रूप से, अविकृत रूप से थे वे ही इस संवत्सर मण्डल में अर्थात् प्रकाश मण्डल में आ कर विभक्त हो जाते हैं। जैसे पुरुष के शरीर में अस्थि मांसादि सारे विभक्त हैं तद्वत् उसमें मांस वगैरह सारे अवयव विभक्त हो जाते हैं। हमारे शरीर

के मांसादि उन-उन भिन्न-भिन्न प्राणों ही से बनते हैं, जैसा कि पूर्व में बतला आए हैं। चूंकि उन-उन प्राणों से ही अस्थि मांसादि बनते हैं अतः हम उनको मांसादि शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। कर नहीं सकते अपितु वही मांस है। मांसादि के बीज तो प्राण ही हैं। असली मांस तो वही है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—**"तं विचक्रुर्यथायं पुरुषो विकृतः"**।

उस प्रजापति विवस्वान् का जो मांस था उससे इकठ्ठा हुआ जो हिस्सा था उससे हाथी बना। अर्थात् उस विवस्वान् प्रजापति का जो मांस-निर्म्माण करने वाला प्राण है, उसी से हाथी का मांस बना है।

मांस बनाने वाले प्राण भी अनेक हैं। अतएव सबके मांस भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं। उनमें से एक जाति के मांस निर्म्माता प्राण से हाथी बना है। **"तस्य यानि मांसानि संकृत सन्यासुः ततो हस्ती समभवत्।"** भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिस जाति के मांस प्राण से हाथी का शरीर बना है, उसी प्राण से मनुष्य का शरीर बना है। दोनों का मांस एकजातीय है अतः हाथी का दान कभी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि अपनी वस्तु का आप ही दान लेना सर्वथा अनुचित है। हाथी के दान लेने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है—**'तस्मादाहुर्न हस्तिनं प्रतिगृह्णीयात्। पुरुष जानोहि हस्तीति।'**

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिसको उन्होंने विकृत किया वह वही विवस्वान् नाम का आदित्य है। अर्थात् सूर्य्य से निकल कर अस्थि मांसादि प्राणों वाला जो एक संवत्सर व्यापी प्राण है उसी का नाम विवस्वान् है। इसी विवस्वान् की यह प्रजा है। उसी प्राणप्रदाता संवत्सर व्यापी अतएव संवत्सर यज्ञ स्वरूप विवस्वान् से ही इस सारी प्रजा की उत्पत्ति होती है। इसीलिए तो इस मन्वन्तर को वैवस्वत मन्वन्तर कहते हैं।

भगवान् ब्रह्मा का जो दिन है वह सृष्टि है, रात्रि प्रलय है। दिन-रात ३० मुहूर्त्त का होता है। एक मुहूर्त्त दो घड़ी का होता है। इस प्रकार दिन-रात में कुल ६० घड़ी होती हैं। मुहूर्त्त ही को वेद में "मनु" कहते हैं। दिन-रात में कुल ३० मुहूर्त्त होते हैं अर्थात् ३० 'मनु' होते हैं। इनमें से १५ तो रात्रि में अर्थात् प्रलय में चले जाते हैं, बाकी बचते हैं—१५। बस सृष्टि इन्हीं में होती है। १५ में से आधा-आधा सायं-प्रातः की सन्धि में चला जाता है, बाकी बचते हैं १४। बस चतुर्दश मन्वन्तर ही एक महा-सृष्टि का समय है। प्रत्येक मन्वन्तर में सृष्टि का फरक है। हर मन्वन्तर में विलक्षण सृष्टि होती है। मन्वन्तर चौदह हैं, इनमें ७ तक सृष्टि का चढ़ाव रहता है, ७ तक उतार रहता है। जो पूर्व के ७ मन्वन्तर हैं उन्हीं में से ७वें मनवन्तर को वैवस्वत मनु कहते हैं, इसके पहिले चाक्षुष-मन्वन्तर था, इसके पहिले श्राद्ध मन्वन्तर था। गरज यह है कि ६ मन्वन्तर पहिले हो चुके हैं। अभी सातवाँ मन्वन्तर है। ब्रह्मा के दिन के अभी १.१/२ बजे हैं इसीलिए संकल्प में—**"ब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्द्धे"** बोला जाता है। जब १२ बज जायेंगे, वैवस्वत कल्प समाप्त हो जायगा। इसके बाद पूर्व के सातों को जोड़ कर उत्तरोत्तर उतार वाले सात मन्वन्तर और आवेंगे चूंकि ये सातों पूर्व के जोड़ के होंगे, अतएव यह "सावर्णि'

मन्वन्तर कहा जाता है। वैवस्वतान्त विकास है, बाद में ह्रास है। हमें प्रकृत में केवल इतना ही बतलाना है कि आजकल की जो प्रजा है वह वैवस्वतादित्य की प्रजा है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यमु ह तद् विचक्रुः, स विवस्वानादित्यः। तस्येमा प्रजाः" ॥४॥

आदित्य-चरु निर्वाप करने वाले महर्षि कहते हैं कि—"वह आदित्य कहता है कि जो मेरे चरु का निर्वाप करेगा उसकी वह प्रजा बढ़ेगी।

अर्थात् आदित्य-चरु से प्रजा-वृद्धि होती है। महर्षि कहते हैं कि हँसी नहीं है, वास्तव में वह यजमान और उसकी प्रजा बढ़ती है, जो इस प्राकृतिक विज्ञान को जानकर आदित्य के लिए चरु-निर्वाप करता है—

"स होवाच—राध्नवान् मे स प्रजायां य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपात्। राध्नोति हैव य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपति ॥

बस आदित्य चरु का निर्वाप करने वाले—यही उपपत्ति बतलाते हैं।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वास्तव में आपकी उपपत्ति ठीक है परन्तु क्या करें! ऐतरेय के प्रबल विज्ञान के सामने आज सारे सम्प्रदायों के आग्नावैष्णव चरु ही प्रख्यात हैं। अतः दीक्षणीयेष्टि में एकादश कपाल पुरोडाश ही करना चाहिए।

"अयं त्वेवाग्नावैष्णवः प्रज्ञातः" ॥५॥

इति आ.वै.ए.क.पु. स्थापनम्, आदित्य-चरुः खण्डनं च समाप्तम्।

———

अथातो आवृत् (पद्धतिः)

दीक्षणीयेष्टि में आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश क्यों करना चाहिए, यह बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। दीक्षणीयेष्टि एक स्वतन्त्र कर्म्म है। इसमें प्रयाजानुयाज पत्नी संयाजादि सारे कर्म्म होते हैं। किसी कर्म्म में एकादश सामिधेनी होती हैं, किसी में सप्तदश होती हैं। यहाँ कितनी होनी चाहिए। प्रकृति-यज्ञ से इसमें कितनी विशेषता है, यह बतला देते हैं। बाकी का सारा कर्म्म—**"प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या"** के अनुसार प्रकृतिवत् करना चाहिए। इस कर्म्म की १७ सामिधेनी होती हैं अर्थात् १७ सामिधेनी मन्त्रों का ('प्र वो वाजा' इत्यादि का) अनुवचन होता है। **"तस्य सप्तदश समिधेन्यो भवन्ति"**।

प्रकृति-यज्ञ में ऊँचे स्वर से मन्त्र बोल कर देवताओं का यजन किया जाता है, परन्तु यहाँ अग्नि और विष्णु देवता का "उपांशु" (धीरे-धीरे बोल कर) यजन करता है—**"उपांशु देवते (अग्नाविष्णू) यजति"**। इस कर्म्म में पाँच प्रयाज होते हैं, और तीन अनुयाज होते हैं—**पञ्चप्रयाजा भवन्ति, त्रयोऽनुयाजाः"**।

ऋत्विक् लोग अन्त में देवपत्नियों का यजन करवाते हैं। बिना इनके यजन के यज्ञ सम्पत्ति प्राप्त ही नहीं होती अतः यज्ञ सम्पत्ति प्राप्त्यर्थ पत्नीसंयाज कर्म्म करना आवश्यक है। बिना पत्नीसंयाज के कर्म्म कैसे अधूरा रहता है, इसकी उपपत्ति प्रथम काण्ड के "पत्नी संयाज" कर्म्म में देखनी चाहिए—**"संयाजयन्ति पत्नीः सर्वत्वायैव"**।

प्रकृति यज्ञ में समिष्ट-यजु की आहुति होती है परन्तु यहाँ समिष्ट-यजु की आहुति नहीं देते हैं। समिष्ट यजु की आहुति देना यज्ञ में से देवताओं को बिदा करना है। जो देवता यज्ञ में बुलाए जाते हैं वे समिष्ट हो चुके अर्थात् उनका यजन सम्यक् प्रकार से हो चुका अतः अन्त में देवताओं के समिष्ट होने पर यह यजन क्रिया होती है, अतएव इसका नाम समिष्ट-यजु है। जैसा कि प्रथम काण्ड में लिखा है—

"अथ यस्मात् समिष्ट यजुर्नाम। या वा यतेन यज्ञेन देवताह्वयति, याभ्य एष यज्ञ स्तायते सर्वा वैतत्ताः समिष्टाः भवन्ति। तत् यत्तासु समिष्टासु अथैतज्जुहोति—"तस्मात्त् समिष्ट यजुर्नाम" (पत्नी संयाज ब्राह्मण) ॥
(श० १.६.२.२६)

प्रकृत में यही बतलाना है कि समष्टि-यजु यज्ञ संस्था से बाहर जाना है अतः—"हम इस समिष्ट-यजु कर्म्म को करके इस दीक्षित वस्त्र को पहिनकर यज्ञ समाप्ति के पहिले ही यज्ञ संस्था के अन्त में न चले जायँ अर्थात् यज्ञ से बाहर न निकल जायँ"—अतः समिष्ट-यजु नहीं करना चाहिए—

"नेदिदं (वस्त्रं) दीक्षितवसनं परिधाय पुरा यज्ञस्य संस्थाया अन्तं गच्छानि"—इति ॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि समिष्ट-यजु, यज्ञ का अन्त है। इसके करने के बाद देवता बिदा हो जाते हैं। अतः प्रधान यज्ञ से पहिले ही समिष्ट-यजु नहीं करना चाहिये–**"अन्तो हि यज्ञस्य समिष्ट-यजुः ॥६॥**

बस दीक्षणीयेष्टि समाप्त हो चुकी। तदनन्तर यजमान शाला में पूर्वाभिमुख खड़ा होकर घृत का अभ्यञ्जन करता है अर्थात् सारे शरीर पर घृत का लेप करता है। **"अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते।"** क्यों करता है? इसका कारण बतलाते हैं—यह मनुष्य चूंकि अवच्छित है, अतएव यह 'अरु' है अर्थात् घाव वाला है। संस्कार ब्राह्मण में हम बतला आए हैं कि मनुष्य पशु-प्राण में त्वचा निर्माता जो प्राण था उसे भगवान् प्रजापति ने निकाल कर उसे गौ पशु-प्राण में शामिल कर दिया। वास्तव में यह चर्म्म-प्राण पुरुष-पशु का था परन्तु चूँकि इनमें विज्ञान की अधिक मात्रा प्रदान की थी एवं गौ-पशु में नहीं, अतः इनके चर्म्म-प्राण को उनमें दे दिया। जब शरीर पर से चमड़ा उतर जाता है तो शरीर पर घाव हो जाता है। संसार में जितने भी मनुष्य हैं सब उत्कृत्यचर्म्मा हैं अर्थात् अवच्छित हैं। अतएव सब अरु हैं अर्थात् घाव वाले हैं। आज यह दीक्षित सामान्य मनुष्य नहीं है—देवता है, ऐसी हालत में यदि इसके शरीर में घाव रहेगा तो फिर इसकी सामान्यता कथमपि नहीं हट सकती। सामान्यता हटाने का, इसको 'अनरु' बनाने का एकमात्र उपाय नवनीत ही है। वह नवनीत भी गाय का होना चाहिए। कारण इसका यही है कि गाय ही में मनुष्य-पशु का चर्म्म है। मनुष्य पशु के चर्म्म प्राण को गाय में ही शामिल किया गया है अतः वह इस पुरुष की अपनी चीज है। इस प्रकार से गाय के नवनीत से इस यजमान का अभ्यञ्जन करते हुए अपनी ही उसकी खुद की ही त्वचा से इसे समृद्ध करते हैं अर्थात् इसके 'अरु' भाव को नष्ट करने के लिए, सामान्य मनुष्यत्व को हटाने के लिए, नवनीत स्वरूप स्वयं की त्वचा से समृद्ध करने के लिए—नवनीत का लेप करते हैं। इसके लेप से यजमान अनरु (बिना घाव का) हो जाता है, समृद्ध हो जाता है, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं---

"अरुर्वैपुरुषोऽवच्छितः" (यतः अवच्छितः ततः अरुः, इति हेनं गर्भ विशेषणम्) अनरुरेवैतद् भवति यदभ्यङ्क्ते। गवि वै पुरुषस्य त्वक्। गोर्वा एतन्नवनीतं भवति। स्वया एवैनं एतत्त्वचा समर्धयति, तस्माद् वा अभ्यङ्क्ते॥"

"तस्माद् वा" से अभ्यञ्जन के दो फल सूचित करते हैं। एक तो घाव भर जाता है एवं यजमान समृद्ध हो जाता है ॥७॥

जिस द्रव्य का यजमान के लेप किया जाता है, वह नवनीत होता है। मक्खन का लेप किया जाता है— **"तद्वै नवनीतं भवति ॥"** नवनीत ही का लेप क्यों किया जाता है, इसका कारण बतलाते

हैं। घृत अर्थात् आज्य देवताओं की वस्तु है, एवं फाण्ट अर्थात् घनीभूत घृत मनुष्यों की वस्तु है। एवं यह नवनीत न घृत है और न फाण्ट है। अर्थात् न तो घन है और न तरल है, दोनों के बीच की वस्तु है—**"घृतं वै देवानाम्, फाण्टं मनुष्याणाम्।"** **"अथैतन्नाहैव" घृतं नो फाण्टम्॥"** घृत अर्थात् आज्य एवं फाण्ट अर्थात् घृत में फरक है। जैसा कि कहा है—

"सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः॥"

जो तपा हुआ घृत है वह देवताओं की चीज है, एवं जो घनीभूत घृत है वह मनुष्यों की वस्तु है, एवं जो जरा-सा तपा हुआ है वह पितरों की वस्तु है। बात वास्तव में सच है, देवता प्राण स्वरूप हैं वे पिण्डरूप में परिणत नहीं रहते। जो पिण्ड देखते हो, वह भूत समष्टि है। यद्यपि पिण्ड में भी प्राण हैं, क्योंकि भूत और प्राण दोनों अविनाभूत हैं, तथापि प्रतिबिम्बवत् प्राण असंग पदार्थ हैं बस इस ग्रन्थि-बन्धन रहित्व भाव की अपेक्षा से ही—**"घृतं वै देवानाम्"** कहा है। मनुष्य भूत समष्टि है, घन है अतएव इसके लिए **"फाण्टं वै मनुष्याणाम्।"** यह कहा है। पितर दोनों के बीच की चीज है अतएव ईषद् विलीन आज्य को पितरों का बतलाया है, इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी लिखा है—**घृतं वै देवानां-मस्तु पितॄणां, निष्पक्वं मनुष्याणाम्।"** ईषद् विलीन आज्य ही को मस्तु कहते हैं। यह कल्पना मात्र नहीं है अपितु यथार्थ है। तरल पदार्थ में देवता उल्बण रहते हैं, घन में मनुष्य-प्राण उल्बण रहता है, एवं मस्तु में पितृप्राण रहता है।

घृत और फाण्ट दोनों दही से निकलते हैं परन्तु नवनीत दूध में से निकलता है। जो दूध में से निकाला जाय वही मक्खन है, उसे ही नवनीत कहते हैं। इस प्रकार यह आज्य और फाण्ट इन दोनों के बीच की चीज है। न यह घृत है न फाण्ट। गर्भ की वस्तु है। यजमान इस समय गर्भ में है। मनुष्यत्व से हट चुका है परन्तु देवता बना भी नहीं है। अभी गर्भ में है, दीक्षान्त गर्भ में से निकल कर यह देव-योनि में चला जायगा, अतः इस समय नवनीत ही से लेप करना चाहिए। गर्भ से (नवनीत से) गर्भ को (मध्यपतित यजमान को) समृद्ध करना चाहिए। यह यजमान न तो इस समय मनुष्य ही है क्योंकि अभी यज्ञशाला में प्रविष्ट हो चुका है, एवं न यह देवता ही है, क्यों कि अभी दीक्षा नहीं ली है, अभी बीच के दर्जे की चीज है अतः देवता और मनुष्यों घृत और फाण्ट के बीच के दर्जे की जो वस्तु है, उसी का लेप करना मुनासिब है। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर—**"अथैतन्नाहैवघृतं नो फाण्टम्"** यह कहा गया है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य साथ ही में कहते हैं कि यह नवनीत दोनों नहीं होकर भी दोनों है, यह घृत भी है और फाण्ट भी है। दूध ही तो दही बनता है, उसी से तो घृत और फाण्ट निकलता है एवं उसी दूध में से ही तो हम नवनीत निकालते हैं अतः एक प्रकार से इसे घृत भी कह सकते हैं और फाण्ट भी कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—**"स्यादेव घृतं स्यात् फाण्टम्"** इसे घृत और फाण्ट बतलाने की आवश्यकता क्या हुई, इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं—**"अयातयामतायै।"** **घृत देवता की चीज है, फाण्ट मनुष्यों की है।** यदि सर्वथा विजातीय पदार्थ का ही लेप किया जायगा तो न यह मनुष्य रहेगा न देवता अपितु या तो पितर हो जायगा अथवा इसमें आसुर भाव प्रविष्ट हो जायगा।

अतः दोनों इसमें बने रहें, मनुष्य भाव भी बना रहे, देव भाव भी बना रहे। क्योंकि इस समय इसमें दोनों भाव ही मौजूद हैं बस इसी अयातयामिता के लिए (अव्यर्थता=आसुर भाव निवारणार्थ) नवनीत लिया जाता है। यह नवनीत घृत भी है और फाण्ट भी है। शुद्ध घृत से भी लेप नहीं कर सकते क्योंकि यह सर्वथा देवता नहीं है, एवं फाण्ट से भी नहीं कर सकते क्यों कि यह एकदम मनुष्य भी नहीं है एवं आसुर भाव प्रवेश दोष 'भिया' किसी विजातीय से भी नहीं कर सकते अतः अयातयामिता के लिए फाण्ट, घृत स्वरूप अयातयाम इस नवनीत से लेप करके इस यजमान को अयातयाम ही बनातें हैं—

'स्यादेव घृतं स्यात्फाण्टमयातयामतायै। तदेनमयातयाम्नैव (नवनीतेनैव) अयातयामानं करोति।"

इसी अभिप्राय से ऐतरेय श्रुति भी कहती है—

"नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति। आज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणां, आयुतं पितृणं, नवनीतं गर्भाणम्। तद्यन्नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति, स्वेनेवैनं तद्भागधेयेन समर्धयन्ति" (ऐ०ब्रा०प्र० ३ ख०)

बस नवनीताभ्यञ्जन की यही उपपत्ति है ॥८॥

क्यों अभ्यञ्जन करना चाहिए यह बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं—

यह यजमान पहिले माथे की ओर से लेप करता हुआ पैर की तरफ जाता है। इस प्रकार अनुलोम विधा से लेप करता है—**"तमभ्यनक्ति शीर्षतोऽग्र आपादाभ्यामनुलोमम्।"** एवं लेप करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र बोलता है—

"महीनांपयोऽसि, वर्चोदा असि वर्चो मे देहि॥"

हे नवनीत तुम गाय के हो, वर्च के देने वाले हो अतः मुझे ब्रह्मवर्चस् प्रदान करो। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'मही' यह उन गायों के अनेक नामों में से एक नाम है अर्थात् 'मही' यह नाम गायों का ही है। चूंकि यह इन्हीं का पय है, अतएव —**"महीनां पयोऽसि"** यह कहा गया है—

"मह्य इति ह वाऽएतासामेकं नाम यद्गवाम्। तासां वा एतत् पयो भवति। तस्मादाह—"महीनां पयोऽसिति।" वर्चोदाअसि वर्चो मे देहि।"

इसके लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है —**"नात्रतिरोहितमिवास्ति"** ॥९॥

इति घृताभ्यञ्जनविधिः समाप्तः

अथ अञ्जन विधिः प्रारम्भः

घृतलेपानन्तर यजमान दोनों आँखों में अञ्जन डालता है—**"अथाक्ष्यावनक्ति।"**

क्यों डालता है इसका कारण बतलाते हैं—मनुष्य की जो आँख है, वह 'अरु' है अर्थात् घाव वाली है। इसमें से पानी चूता रहता है, गीड़ आते रहते हैं अतः यह घाव सदृश है। **"अरुर्वैपुरुषस्याक्षि।"** याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—**"मेरी आँखों में शान्ति हो जाय, उनका घाव मिट जाय, उनमें ठंडक हो जाय" बस यही अञ्जन डालने का कारण है—"प्रशान् मम"—इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः।** इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—यह आँखें 'दुरक्ष' की तरह ही हैं अर्थात् बिना अञ्जन के आँखें खराब रहती हैं—यही तात्पर्य है। इस यजमान की आँखों का जो नेत्रमल है अर्थात् गीड़, पानी वगैरह है, वह पूय है अर्थात् दुर्गन्धियुक्त है—**"पूयो हैवास्य दूषिका"**, इसीलिए—**"दूषिका नेत्रयोर्मलम्"**—यह कहा जाता है। चूंकि यजमान देवमण्डली में शामिल होने वाला है, पूय आसुर भाव है अतः उसे हटा कर' आँखों के अरु भाव को नष्ट करके ही दीक्षा लेनी चाहिए। तो बस जो कि यह यजमान आँखों में अञ्जन डालता है वह उन अपनी दोनों आँखों को अनरु बनाता है। तात्पर्य यही है कि दुर्गन्धि को हटाने के लिए दीक्षित को अवश्य ही अञ्जन लगाना चाहिए।

"ते एवैतदनरुष्करोति यदक्ष्यावानक्ति।" बस अञ्जन लगाने का पहिला कारण यही है ॥१०॥

यह तो हुई साधारण उपपत्ति, अब इसकी वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाते हैं। पूर्व के ब्राह्मणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सारा महा ब्रह्माण्ड स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, इन पाँच मण्डलों में विभक्त है। इन पाँचों में प्रत्येक में (१) वेद, (२) लोक, (३) प्राण, (४) भूत, (५) नाड़ी, (६) मनोता यह ६–६ पदार्थ रहते हैं।

१—जो स्वयम्भू मण्डल है, उसके वेद का नाम है—ब्रह्मनिःश्वसित त्रयीवेद। परमेष्ठि मण्डल के वेद का नाम है—भृग्वङ्गिराक्रियात्मक "अथर्ववेद।" सूर्य्य-मण्डल के वेद का नाम है—"गायत्री-मात्रिक त्रयीवेद।" एवं अथर्ववेद ही चन्द्रमा का वेद है एवं गायत्री-मात्रिक ही पृथिवी-मण्डल का वेद है।

२—लोक—स्वयम्भूमण्डल-"वाचां लोक" अर्थात् वाग् लोक कहलाता है, परमेष्ठि-मण्डल को "वायु लोक" कहते हैं, जो कि वायु अम्भः नाम से प्रसिद्ध है, सूर्य्य-मण्डल को—ज्योतिर्लोक" कहते हैं। चन्द्र-मण्डल को—"अमृत लोक" कहते हैं। एवं पृथिवी-मण्डल को—"रस लोक" कहते हैं।

३—प्राण—इन पाँचों के प्राणों का नाम क्रमशः ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व और मनुष्य है। असुर और पशु दो प्राण और बच जाते हैं। इनमें पितॄननु असुर है अर्थात् असुर प्राण भी परमेष्ठि की वस्तु है। एवं मनुष्यानुपशु है अर्थात् पशु पृथिवी की ही वस्तु है। एवं पाँचों के आकाश, वायु, तेज, जल,

मिट्टी यह पाँच भूत कहलाते हैं। एवं सत्य और ऋत यह दो नाड़ी है—जिन्हें कि ऋत-सत्य-सूत्र भी कहते हैं—स्वयम्भू मण्डल की हैं। ऊर्जस्वती और औदुम्बरी यह दो नाड़ी परमेष्ठि-मण्डल की हैं एवं इडा और पिङ्गला दोनों ही सूर्य्य-मण्डल की हैं एवं श्रद्धा नाड़ी चन्द्र-मण्डल की है एवं सुषुम्णा नाड़ी पृथिवी-मण्डल की है एवं वेद, सूत्र, नियति तीन मनोता स्वयम्भू के हैं। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि यह तीन मनोता परमेष्ठि के हैं। ज्योतिः, गौ, आयु, यह तीन मनोता सूर्य्य के हैं। रेतः श्रद्धा, यश यह तीन मनोता चन्द्रमा के हैं। वाक्, गौ, द्यौ यह तीन मनोता पृथिवी के हैं। बस अखिल ब्रह्माण्ड में कुल इतने ही पदार्थ हैं। नीचे लिखी तालिका से यह स्पष्टतया समझ में आ जाता है—

(महा ब्रह्माण्ड स्वरूपम्)

		स्वयम्भूः	परमेष्ठी	सूर्य्य	चन्द्रमा	पृथिवी
१	वेद	ब्रह्मनिःश्वसित त्रयीवेदः	अथर्व वेदः	गायत्री-मात्रिक वेदः	अथर्ववेदः	गायत्री मात्रिक वेदः
२	लोक	वाग् लोकः	वायु लोकः	ज्योति लोकः	अमृतलोक.	रस लोकः
३	प्राण	ऋषयः	पितरः (असुरा)	देवाः	गन्धर्वाः	मनुष्याः-पशवः
४	भूत	आकाशः	वायुः	तेजः	जलम्	मृत्तिका
५	नाडी	सत्य-ऋत	ऊर्जस्वती-औदुम्बरी	इडा, पिङ्गला	श्रद्धा	सुषुम्णा
६	मनोता	वेदाः, नियतिः, सूत्रम्	भृग्वङ्गिरा-अत्रिः	ज्योतिर्गौरायुः	रेतः श्रद्धा यशः	वाग् गौ द्यौः

इति पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य बल्शा।

पूर्वोक्त ६ओं विशेषों में से जो देवप्राण और असुर प्राण हैं—इन दोनों का प्रकृत से सम्बन्ध है। परमेष्ठि का जो प्राण है वही असुर है, एवं सूर्य्य का जो प्राण है वही देवता है। सूर्य्य पृथिवी से १३ हजार गुना बड़ा है। बस सूर्य्य 'सोलर सिस्टम' में जितनी हैसियत पृथिवी की है, सोलर सिस्टम सहित सूर्य्य की परमेष्ठि मण्डल में उतनी ही हैसियत है। उस महापारमेष्ठ्य समुद्र में सूर्य्य एक बुद्-बुद् के समान है। इसीलिए पौरिक-सूर्य्य को बुद् बुद् कहा करते हैं।

यह सूर्य्य परमेष्ठि-मण्डल के पेट में एक कौने में पड़ा हुआ है। परमेष्ठि-मण्डल का आप्य-प्राण जिसे कि प्रकाश-विरोधी होने के कारण हम असुर कहेंगे, सूर्य्य पर जिसे कि प्रकाशमय होने के कारण

देव-समष्टि कहेंगे —हरवख्त आक्रमण करता रहता है। पारमेष्ठ्य आप्य-प्राण सौर-प्राण पर अनवरत आक्रमण करता रहता है। जो प्रकाश प्राण हैं उन्हें देवता कहते हैं एवं तमोमय प्राण को असुर कहते हैं। सूर्य्य की रोशनी परमेष्ठि मण्डल में नहीं जा सकती अतएव उसके प्राण को हम तमप्रधानत्वात् असुर कह सकते हैं। चूँकि पारमेष्ठ्य 'आप्य' है अतएव हम आप्य प्राण को भी असुर कह सकते हैं। आप्य और तमोमय दोनों का एक अर्थ है। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ प्रजापति, १ इन्द्र इस प्रकार जैसे देवता ३३ जाति के हैं, तद्वत् असुर ९९ जाति के हैं। असुर देवताओं से तिगुने हैं। इसीलिए— "जघान नवतीर्नव" यह कहा जाता है। होना भी ऐसा ही चाहिए, वास्तव में परमेष्ठि की विशालता के सामने सूर्य्य कोई चीज नहीं। परमेष्ठि मण्डल सूर्य्य से ऊपर है। पानी ही सूर्य्य से पहिले उत्पन्न होता है, अतएव असुरों को स्वयम्भू प्रजापति की ज्येष्ठ सन्तान बतलाया जाता है। यहाँ हमें सिर्फ इतना ही कहना है कि वह आप्य-प्राण उस सौरआग्नेयप्राण को चारों ओर से घेर कर उस पर हर वख्त हमला किया करता है। परन्तु साथ ही में सूर्य्य की रश्मिएँ अपने में आने वाले उस आप्य-प्राण को प्राणनअपानन क्रिया से धक्का दे कर बाहर फेंकती रहती है। उधर से असुर-प्राण आग्नेय-प्राण पर अर्थात् देवप्राण पर आक्रमण करता रहता है एवं इधर से देवप्राण धक्का मार कर उसे बाहर निकाला करते हैं। बस यह देवासुरं संग्राम प्रकृति में सदा होता रहता है। हमने बतलाया है कि असुर कुल ९९ तरह के हैं। किलाताकुली, जिन्हें कि केल्ट कहते हैं, वृत्र, विश्वरूप इत्यादि उनकी ९९ जातिएँ हैं। उनमें एक खाँप का नाम है—"शुष्ण" असुर। शुष्ण असुरप्राण वह है जो कि सूखे स्थान पर अग्नि के स्थान पर रहे। जो असुर देवताओं से अर्थात् प्रकाश से धक्का खा कर सूखे स्थान पर चला जाता है अर्थात् अग्नि के चारों ओर वेष्टित हो जाता है वही "शुष्ण" असुर है। **प्रकाश का नाम देवता है छाया का नाम असुर है।** जहाँ प्रकाश नहीं होता है वहाँ असुर आप से आप कूद पड़ता है। छाया प्राण असुर है, वह गीला नहीं है अपितु शुष्क है अतएव इस छाया प्राणासुर को "शुष्ण" असुर कहते हैं। **हमारा शरीर वैश्वानर अग्निमय है।** आलोमभ्य आनखग्निभ्य सर्वाङ्ग शरीर में वैश्वानर अग्नि धधक रहा है। कान, नाक बन्द करने पर जो एक आवाज मालुम होती है—वह इसी अग्नि का शब्द है। जिस वख्त यह आवाज बन्द हो जाती है, समझ लो वह मनुष्य अति शीघ्र ही मर जायगा। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथाप्य पिधायकर्णा उपश्रृणुयात् स एषोऽग्नेरिव प्रज्वलतो रथस्येवोपाब्दिस्तं यदा न श्रृणुयात् तदप्येवमेव विद्यात्" (ऐ०आ०तृ० अ० २ ख० ४)

हमें कहना यही है कि हमारा शरीर अग्निमय है। इस हमारे शरीर की जो छाया है, उसमें रहने वाला जो प्राण है वही शुष्ण-असुर है। देवता तो प्रकाश का नाम है। प्रकाशाभाव ही का तो नाम असुर है। प्रकाशाभाव ही का नाम छाया है। बस इस छाया-पुरुष को ही "असुर" कहते हैं, जैसा कि द्वितीय काण्ड में भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्वयं कहा है —

"मध्यन्दिन एवादधीत। तर्हि ह्येषोऽस्य लोकस्य नेदिष्ठं भवति। तन्नेदिष्ठा-देवैनमेतन्मध्यान्निर्मिमीते। छाययेव वाऽअयं पुरूषः पाप्मनामनुषक्तः। सोऽस्यात्र कनिष्ठो भवति। अधस्पदमिवेयस्यते तत् कनिष्ठमेवैतत्पाप्मानमवबाधते। तस्माद् मध्यन्दिनएवादधीत" – (श०पुनराधान ब्राह्मण: २.२.३.६-१०)

चूंकि यह छाया आग्नेय पुरुष के चारों ओर रहती है, सूखे स्थान में रहती है अतएव हम इस छायामय प्राण को—"शुष्ण" असुर कहने के लिए तय्यार हैं।

प्रकाश का नाम देवता है। इसके धक्के से पाप्मा (छाया) बाहर निकल जाता है अर्थात् असुर (तम) यद्यपि देवता पर (मनुष्याग्नि पर) आक्रमण करना चाहता है, परन्तु वह प्रकाश असुर को धक्का मारकर के अलग कर देता है, जो कि छाया है।

- हमारे सामने यदि कोई अन्य मनुष्य खड़ा होता है तो उसकी जो कृष्ण कनीनिका है, उसमें हमारा वह छायापुरुष छोटे से छोटे बच्चे के आकार में परिणत हो घुस पड़ता है। हमारा छाया पुरुष हमारे प्रकाश से (देवता से) धक्का खाकर पुरोऽवस्थित मनुष्य की कृष्ण कनीनिका में जा घुसता है। वह छाया पुरुष वास्तव में शुष्ण असुर है। यदि असुर (तमोमय) न होता, वहाँ उसकी स्थिति ही नहीं होती। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यत्र वै देवा असुररक्षसानि जघ्नु, तच्छुष्णोदानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश। स एष कनीनिकः कुमारक इव परिभासते।"

मनुष्य के शरीर पर आनेवाला जो सौर प्रकाश है, वही देवता है, उससे धक्का खाकर पैदा होने वाला छाया पुरुष ही शुष्ण असुर है। इसे सिद्ध करके बड़े-बड़े काम होते हैं। इसी को छाया-पुरुष-सिद्धि कहते हैं। बस यही देवासुरों का युद्ध है एवं यही छाया पुरुष जो कि कनीनिका में घुस गया है—शुष्ण असुर है।

आज यजमान दीक्षा लेकर देवताओं की मण्डली में शामिल होने जा रहा है। ऐसी अवस्था में इसे वैध उपायों से अपने सारे असुरभाव को दूर कर देना चाहिए। जो शरीर पर अमेध्यता थी, उसे तो स्थान से दूर कर दी, अब इस छायापुरूष के शुष्ण असुर को दूर कैसे करे? बस इसका एकमात्र उपाय अञ्जन है। अञ्जन त्रैककुद नाम के पत्थर का बनता है इस प्रकार से आँखों में पत्थर से बने हुए अञ्जन को लगाना उस शुष्ण असुर को पत्थर के किले में कैद करना है। इसमें कैद करने से असुर यज्ञ में शामिल नहीं हो सकता है। यदि कज्जल न डाला जायगा तो आँखो में पानी आ जायगा। **पानी असुर को मदद पँहुचाने वाला है** आप्य प्राण ही को तो असुर कहते हैं, अपिच प्रतिबिम्ब पानी पर ही पड़ता है। जब आँखों में कज्जल लगा दिया जायगा तो पानी सूख जायगा। इससे वह असुर नष्ट नहीं तो

निर्बल अवश्य हो जायगा, अतएव अञ्जन लगाना चाहिए। अञ्जन आँख के पानी को रोकता है, पानी को रोकना असुर को बेदम बनाना है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तस्मै (शुष्णा सुराय) एतत् यज्ञमुपप्रयन् सर्वतोऽश्मपुरां परिदधाति। अश्मा हि अञ्जनम् ।।

यज्ञ में शामिल होता हुआ यह यजमान इसके लिए चौतरफ से पत्थर की किलेबन्दी करता है। अञ्जन पत्थर ही तो है। बस अञ्जन लगाने की यही दूसरी वैज्ञानिक उपपत्ति है।

यह अञ्जन (सुरमा) त्रिककुद पर्वत का होता है। जिस समय इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था, उस समय उसकी जो आँख थी, उसे त्रिककुद् पर्वत बना दिया।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सबमें ३३ देवता, ९९ असुर, २७ गन्धर्व, ५ पशु, ८ पितर यह पदार्थ रहते हैं। इन सबकी समष्टि से ही जगत् के यच्चयावत् पदार्थों का निर्म्माण होता है। द्वादश प्राण-समष्टि का नाम सूर्य्य है। इन्हीं को १२ आदित्य कहते हैं। इनमें से एक अन्यतम प्राण का नाम इन्द्र है। यह इन्द्र १४ प्रकार का है जिसका कि विशद विवेचन श्री गुरुप्रणीत "ब्रह्म समन्वय" नाम के ग्रन्थ में किया गया है। जो अमृत भाग है, आसमन्तात् व्याप्त रहने वाला प्राण है, उसी का नाम 'इन्द्र' है। इस इन्द्र प्राण से कोई भी स्थान खाली नहीं है। इसीलिए—**"नेन्द्राद्ऋते पवते धाम किञ्चन"** यह कहा जाता है। आदित्य को इस ब्राह्मण के प्रारम्भ में पुरुष संमित बतलाया है। तद्वत् आदित्य में भी पिण्ड, प्रकाश इत्यादि को लेकर पुरुष कल्पना की गई है। उसी आदित्य प्राणसमष्टि से जिसे कि विवस्वान् बतलाया गया है, हमारे अस्थि, मांसादि का निर्म्माण होता है। अतएव आँख, नाक, कान, मुँह इत्यादि का निर्म्माण करने वाले जो अधिदैवत में प्राण है उन्हें आँख, नाक, कान, मुँह इन नामों से व्यवहृत किया गया है। जो वस्तु जिसके लिए है उसे उस वस्तु के नाम से हम पुकार सकते हैं। "तादार्थ्यात् ताद्यत:" यह नियम है। बस आदित्य प्राण समष्टि की पुरुष कल्पना का यही रहस्य है। इसीलिए **"पुरुष संमित इत्युहैक आहु:"** यह कहा गया है। हमने कहा है कि देवता की तरह असुर का सृष्टि निर्म्माण में उपयोग होता है। आँख, कान, नाक वगैरह में अनन्त प्रकार के भिन्न भिन्न असुर-प्राण भी शामिल रहते हैं। जैसे देवप्राणों में आँख नाक की कल्पना कर उसे पुरुष संमत कहा जाता है, तद्वत् यही कल्पना इन असुर प्राणों भी कर ली जाती है। जिस असुर-प्राण का अक्षि निर्म्माण में उपयोग होता है, उस प्राण को आँख कहने लगते हैं, जिससे मस्तक बनता है उसे मस्तक कहते हैं। इसी विज्ञान को विस्तृतरूपेण प्रथम काण्ड के इन्द्रवृत्रासुरोपाख्यान में बतलाया गया है, जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"त्वष्टुर्हं वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्ष आस। तस्य त्रीण्येवमुखान्यासुः। तद्य-देवंरूप आस तस्माद्विश्वरूपो नाम। तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास। सुरापाण-मेकम्। अन्यस्माऽअशनायैकम्। तमिन्द्रोदिद्वेष। तस्यतानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद।

स यत् सोमपानमास ततः कपिञ्जलः समभवत् । अथयत् सुरापाणमास ततः कलविङ्कः समभवत् । अथ यदस्माऽशनायास ततस्तित्तिरिः समभवत्" ।

(श० १. ६.३. १-५)

यह असुर प्राणसमष्टि सूर्य्य से ऊपर रहती है, क्योंकि परमेष्ठि मण्डल सूर्य्य से ऊपर ही तो है। इस असुर समष्टि को "वृत्र" भी कहा करते हैं। अंधकार सबको आच्छादित कर उन सब पदार्थों पर सो जाता है, ऊपर चढ़ बैठता है, अतएव—**"सर्वं वृत्वाशिश्ये"** इस व्युत्पत्ति से इसे वृत्रासुर कहते हैं। देवप्राणवत् इसमें भी आँख, नाक, कान की कल्पना करली जाती है। यह सारे असुर प्राण सूर्य्य द्वारा ही हमारे पास इस पृथिवी लोक में आते हैं। सूर्य्य तो मर्त्यपिण्ड है, वह तो अपने स्थान पर ही स्थिर रहता है। धक्का देकर असुर प्राण को अर्थात् वृत्र को पृथिवीलोक में गिराने वाला तो आसमन्तात् व्याप्त रहने वाला सूर्य्य का अन्यतम वैद्युतप्राण इन्द्र ही है। इन्द्र ही वृत्र को नीचे गिराता है। सोना, चाँदी, ताँबा, शहत (शहद) इत्यादि-इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं वे सारे के सारे सूर्य्य से अर्थात् इन्द्र से गिरते हैं। इनमें कई पदार्थ सौर हैं, कई पारमेष्ठ्य हैं। जो सौर हैं वे देवता हैं, जो पारमेष्ठ्य हैं वह आसुर है। त्रिककुद् भी एक पर्वत है। यह काला है। अञ्जन इसी का बनता है (बना करता था)। काला प्राणरूप आसुर है। इसीलिए हम इस पर्वत को असुर कह सकते हैं। यह सूर्य्य ही से गिरा है, इसीलिए "इन्द्र ने वृत्र को गिरा दिया" यह भी कह सकते हैं। इससे हमारी आँखों की ज्योति बढ़ती है, अतएव हम कह सकते हैं कि, यह पर्वत वृत्र की आँख है। अर्थात् वृत्रप्राणसमष्टि में जो प्राण आँख का निर्म्माता है, वही चूंकि यह त्रिककुद् है, अतएव इस त्रैककुद् को हम वृत्र की आँख बतला सकते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जब हम त्रैककुद् पर्वताञ्जन को आँख में डालते है तो हमारी आँखों की ज्योति बढ़ती है। इससे मानना पड़ता है कि वास्तव में त्रैककुद आँख है अर्थात् अक्षिप्राणसमष्टि है। चूंकि यह पर्वत काला है, काला असुर होता है। वृत्र को असुर कहते हैं अतएव हम इस पर्वत को वृत्र की आंख कह सकते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवन् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य यदक्ष्यासीत् तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्" ।

जो कि यहां त्रैककुद् अञ्जन होता है इससे चक्षु में चक्षु ही रखते हैं अर्थात् आंखों में त्रैककुद् अञ्जन क्या लगाते हैं, आंख में दूसरी आंख लगाते हैं।

"तद्यत्त्रैककुदं भवतिः चक्षुष्येवैतत् चक्षुर्दधाति ।"

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि चूंकि त्रैककुद् आंख है अर्थात् अक्षि–ज्योति को अधिक बढ़ाने वाला है अतः त्रैककुद् पर्वत का सुरमा ही लगाना चाहिए—

"तस्मात्त्रैककुदं भवति ।"

यदि त्रैककुद् उस समय न मिले, तो त्रैककुद् से भिन्न और ही किसी का अञ्जन लगा लें।

"यदि त्रैककुदं न विन्देत् अप्यत्रैककुदमेवास्यात्"।

क्योंकि अञ्जन की बन्धुता तो दोनों में ही समान है। आंख के पानी को रोकना है, वह त्रैककुद् अञ्जन से भी रुक सकता है एवं अन्य अञ्जन से भी रुक सकता है—

"समानी ह्येवाञ्जनस्य बन्धुता"।

इस प्रकार अञ्जन के लगाने से "दूषिका" नष्ट हो जाती है, असुर कैद हो जाता है एवं आंखों की ज्योति बढ़ती है। अञ्जन में तीन फायदें हैं। अतः दीक्षित मनुष्य को अवश्य ही अञ्जन लगाना चाहिए—॥१२॥

सामान्य मनुष्य जस्त की सलाई से आंख में अञ्जन डाला करते हैं। परन्तु यह यजमान सामान्य मनुष्य नहीं है अपितु, देवता है अतएव इसे एक विशेष प्रकार की शलाका से अञ्जन लगाना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"शरेषीकया अनक्ति"।

जिस को सरकण्डा कहते हैं उसकी जो बीच की "इषीका" (तूली) है उससे अञ्जन लगाता है। तूलिएं कई प्रकार की होती है परन्तु अञ्जन शर की तूली से जिनके ऊपर गन्धक लगाकर प्राचीन समय की दीप शलाकाएँ बना करती थीं, लगाना चाहिए।

दीप शलाका से अञ्जन क्यों लगाना चाहिए इसका कारण बतलाते हैं। यह शर वज्र है। अग्नि और पानी दोनों वज्र हैं। वज्र बिजली से सम्बन्ध रखता है इसीलिए वज्र ही कहीं भी गिरता है। एकदम एक सन्नाटे से आस-पास के वृक्षादि को जलाता हुआ जमीन में घुस जाता है। जैसे अग्नि का यह स्वभाव है तद्वत् पानी का भी यही स्वभाव है। पानी में भी विद्युत् रहता है। वह भी जहां वेग से घुसता है, खड्डा कर देता है एवं शीतकाल में यही पानी अर्थात् सर्दी आग्नेय वज्रवत् जङ्गल के जङ्गल जला डालते हैं, इसीलिए "**वज्रो वा आपः**"—कहा जाता है।

यह पानी जब अग्नि से–सूर्य्य किरणों से ऊपर खेंच लिया जाता है तो 'शर' बन जाता है। जहां तक पार्थिव मिट्टी का हिस्सा जाता है वहां तक तो पानी आग से जम कर शर वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है, अवशिष्ट पानी सूर्य्य खेंच लेता है। पार्थिव पानी को सूर्य्य–किरणें ही उपर खेंचती हैं, इसीलिए महर्षि कणाद कहते हैं—"**नाड्यो वायु संयोगादारोहणम्**"—इति–(वैं० दर्शन)।

यह शर पानी और आग है। इसीलिए तो इसे भाषा में "पानी" कहते हैं। इसमें विद्युत् है। विद्युत् ही वज्र का स्वरूप है अतएव "**वज्रो वै शरः**"—कहा जाता है। कनीनिका में असुर बैठा हुआ है, अतः इस शर से अञ्जन लगाना मानो उस असुर पर वज्र प्रहार करना है अर्थात् वीरता के लिए, राक्षस को नेस्तनाबूद करने के लिए, ही वज्र स्वरूप शर–इषीका से अञ्जन लगाता है।

"वज्रो वै शरः । विरक्षस्तायै (शरेषिकया अनक्तीति शेषः)" ।

लोक में जस्त की सलाई से ही अञ्जन लगा लिया जाता है, उसके मुंह पर रूई वगैरह कुछ नहीं लगाई जाती है, परन्तु यह शरेषिका सतूला होती है अर्थात् इस शरेषिका के मुंह पर रूई लगाकर बाद में उससे अन्जन करना चाहिए ।

"सतूला भवति" । रूई क्यों लगानी चाहिए, इसका कारण बतलाते हैं ।

यह राक्षस अमूल होता हुआ, उभयतः परिच्छिन्न होता हुआ आकाश में घूमता फिरा करता है । जैसा कि यह अमूल पुरुष उभयतः परिच्छिन्न होकर अन्तरिक्ष में डोला करता है अर्थात् जैसे पुरुष अमूल है वैसे ही राक्षसवर्ग भी अमूल ही है । जीव कुल तीन ही प्रकार के होते हैं—"धातु, मूल, जीव । सोना, चांदी, तांबा, लोहा इत्यादि–इत्यादि जो जीव हैं वे धातु–जीव कहलाते हैं । धातु तो जड़ है, फिर इन्हें जीव कैसे कहा–कहीं इस भ्रम में नहीं पड़ जाना है । वैदिक वैज्ञानिक परिभाषा में कोई जड़ है ही नहीं । मन, प्राण, वाक् अर्थात् ज्ञान, क्रिया, अर्थ अर्थात् अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीनों की समष्टि का नाम ही आत्मा है । धातुओं में हवा रोकने की, स्थान रोकने की जब क्रिया है तो प्राण अवश्य मानना पड़ेगा । प्राण है तो मन अर्थात् ज्ञान अवश्य ही मानना पड़ेगा । कहते यही हैं—सारा प्रपञ्च, मनप्राण-वाङ्मय है । इसीको कहते हैं जीव, अतः धातु भी अवश्य ही जीव है ।

दूसरे जीव हैं मूल । वृक्षादि जितने भी जीव हैं उन सबका मूल पृथिवी में बद्ध रहता है । तीसरे जीव हैं हम और असुरादि । हम अमूल हैं, हमारे पैर पृथिवी की पकड़ में नहीं हैं अपितु हम सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं परन्तु साथ ही में हम दोनों ओर से घिरे हुए भी हैं । नीचे जमीन है । ऊपर आसमान है । द्यावा–पृथिवी से उभयतः परिच्छिन्न हैं । बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अमूलं वाऽइदमुभयतः परिच्छिन्नो रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति, यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति" ।

कहने का तात्पर्य यही है कि पुरुषवत् राक्षस अमूल हैं । इन्हीं को "नाष्ट्रा" भी कहते हैं । यह आकाश में–वायु में फिरा करते हैं । आज यही अमूल असुर–छायापुरुष शुष्ण असुर, यजमान की आंखों में आ घुसा है । ऐसी हालत में–तज्जातीय पदार्थ ही से उस पर वज्र प्रहार किया जायगा तो वह दब जायगा । लोटे पर के मैल को उतारने के लिए मैल (माटी) ही लगाना पड़ता है । वस्त्र के मैल को उतारने के लिए मैल (साबुन) ही लगाना पड़ता है । चूंकि राक्षस अमूल हैं अतः इसके लिए तूल ही लगाना चाहिए । तूल अमूल ही तो है ।

मूल और तूल यह दो ही पदार्थ होते हैं । मूल ब्रह्म कहलाता है, तूल जगत् कहलाता है । तूल चूंकि मूल से उत्पन्न होने वाला है–जगत् है, अतएव यह तूल अमूल है । रूई का भी नाम तूल ही है । तूल अमूल है एवं असुर भी अमूल है अतः अमूल को मारने के लिए, निशाने के लिए शरेषिका में अमूल

ही (तूल) लगाना चाहिए। इस अमूल-तूल से अमूल राक्षस का सर्वनाश हो जायगा। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तद्यत् सतूला भवति-"विरक्षस्तायै" ॥१३॥

वह यजमान सर्वप्रथम दाहिनी आंख में ही अञ्जन लगाता है—"**स दक्षिणमेवाग्रे आनक्ति**"। मानुष कर्म्म में मनुष्य पहले बांई आंख में अञ्जन लगाते हैं—"**सव्यं वा अग्रेमाजुषे**" एवं पहले दाहिने में लगाना देवतापना है अर्थात् यह यजमान मनुष्य नहीं है अपितु देवता है अतः इसे पहले दाहिनी आंख में लगाना चाहिए। देवता सारे आग्नेय हैं। अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर हरक्षण जाता रहता है अतः इस दक्षिण भाग से ही सारा काम करना चाहिए, यही दक्षिण में अञ्जन लगाने की उपपत्ति है।

''अथैवं देवत्रा" ॥१४॥

अब यह यजमान निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ सतूला शरेषिका से पहले दाहिनी आंख में अञ्जन लगाता है—

''वृत्रस्यासि कनीनिकः, चक्षुर्दाअसि-चक्षुर्मेदेहि —इति"।—
(वा. सं. ४. ३)

यह जो अञ्जन है वह वृत्रासुर की कनीनिका है अर्थात् आँख है। अतएव कहते हैं कि हे अञ्जन! तुम वृत्र की कनीनिका हो, चक्षु को देने वाले हो, अतः मुझे चक्षु प्रदान कीजिए अर्थात् मेरे नेत्रों की ज्योति बढ़ाइये। इसी अभिप्राय से ऐतरेय महर्षि कहते हैं—

"आञ्जन्त्येनम्। तेजो वा एतदक्ष्मोर्यदाञ्जनम्। स तेजसमेवैनं त्वत् कृत्वा दीक्षयन्ति—ऋत्विजः" ॥१५॥ (ऐ० ब्रा० प्र० अ०। ३ खण्ड। १८)

वह यजमान पहले, दाहिनी आँख में मन्त्र से एकबार अञ्जन डालता है—"**स दक्षिणं सकृद्यजुषा अनक्ति**" एवं उसी दहिनी आँख में एक बार तूष्णीं डालता है—"**सकृत्तूष्णीम्**"। इस प्रकार दहिनी आँख में एक बार मन्त्र से, एक बार चुपचाप-दो बार अञ्जन लगाता है। बाद में बाई आँख में वह एक बार मन्त्र से और दो बार तूष्णीं लगाता है—

"अथोत्तरं सकृद्यजुषानक्ति, द्विस्तूष्णीम्"

हम पूर्वाभिमुख होकर यदि खड़े होते हैं तो हमारी दाहिनी आँख दक्षिण दिक् की ओर रहती है एवं बांयी अर्थात् उत्तरा उत्तरदिक् की ओर रहती है। चूंकि बांयी आँख उत्तरा है अतः उसमें अञ्जन भी उत्तर में (बाद ही में) डालता हुआ यह यजमान उत्तर आँख को उत्तरावत् करता है—

"तदुत्तरमेवैतदुत्तरावत् करोति–इति ।।१६।।

इस प्रकार इस अञ्जन कर्म्म में, जो कि यह यजमान पाँच बार करके अञ्जन डालता हैं, इसका कारण बतलाते हैं—

"तद्यत् पञ्जकृत्व आनक्ति"—(तदुच्यते)

यह यज्ञ संवत्सर संमित है। पृथिवी के केन्द्र से लेकर चारों ओर जहाँ तक इस पार्थिव अग्नि का मण्डल जाता है, उसे संवत्सर-मण्डल कहते हैं। इसी संवत्सर मण्डल को रथन्तर कहते हैं। यह अग्नि का मण्डल २१ तक जाता है जहाँ पर कि सूर्य्य तप रहा है। इस अग्नि में चूंकि पारमेष्ठ्य सोम आहुत होता रहता है एवं अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का ही नाम है यज्ञ, अतएव इस संवत्सराग्नि को यज्ञ कहते हैं। सोम यज्ञ द्वारा इसी संवत्सर यज्ञ को आत्मसात् किया जाता है अर्थात् आत्मा का बन्धन उस १७ वें स्थान में कर दिया जाता है।

संवत्सर में पाँच ऋतु होती हैं। यद्यपि ऋतु होती हैं छः, परन्तु "**पाङ्क्तो वै यज्ञः**" के अनुसार हेमन्त, शिशिर को एक मानकर पाँच ही ऋतु मान ली जाती हैं, जैसा कि ऐतरेय कहते हैं—

"सप्तदशो वै प्रजापतिः। द्वादश मासाः, पञ्चर्त्तवः। हेमन्त शिशिरयोः समासेन। तावान् संवत्सरः। संवत्सरः प्रजापतिः"–इति।

इस प्रकार उस संवत्सर यज्ञ को जो पाँच अवयवों में विभक्त है, पाँच बार अञ्जन डालकर प्राप्त कर लेता है अर्थात् पांच बार अञ्जन लगने में मन प्राण वाक् का सम्बन्ध पञ्चर्त्तुयुक्त संवत्सर यज्ञ से हो जाता है—

"तस्मात् पञ्चकृत्व आनक्ति" ।।१७।।

इस प्रकार जब यजमान पांच बार करके अञ्जन लगा लेता है तो तदनन्तर इस यजमान को, डाभ की पत्ती से, जो कि दो के बीच में से पतली सी निकलती है—पवित्र कर देते हैं अर्थात् उस पत्ती को यजमान की दोनों आँखों पर फेर देते हैं। इससे यजमान का आत्मा भी पवित्र हो जाता है एवं कज्जल भी एकसार होता है। इस प्रकार से "**एकाक्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा**" वाला आभाणक चरितार्थ हो जाता है—

"अथैनं दर्भपवित्रैण पावयति"।

मनुष्य अपवित्र कैसे है, जिससे कि इसे दर्भ से पवित्र करने की आवश्यकता हुई। यह बतलाते हैं—चूंकि मनुष्य झूठ बोलता है, झूठ बोलना मनुष्य का स्वभाव है अतएव वह अमेध्य रहता है, इसका अन्तरात्मा गिरा हुआ रहता है। पानी यदि सम होता है तो उस पर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अच्छी

तरह पड़ता है , परन्तु यदि पानी कुटिल रहता है तो उस पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता । मनप्राणवाङ्मय ही प्रज्ञानात्मा है जो कि एक प्रकार का पानी अर्थात् सोम है । मनुष्य झूठ बोलता है, इसका अर्थ है अपने मनप्राणवाक् को कुटिल बनाता है । मन में कुछ है, व्यापार में कुछ है, वाक् में कुछ है । कहता कुछ है, करता कुछ है, बोलता कुछ है । यही कुटिलता है । मनप्राणवाक् की विरुद्धता है । यही आत्मा का-पातन-है, इसी को "दुरात्मा" कहते हैं । जैसा कि कहा जाता है—

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम् ।।"

बस इस कुटिलता की वजह से इस आत्मा में पवित्रता–मेध्यता का असर नहीं होने पाता है । 'इसको छुपा जाऊँ", यह छिपाव का रंग उस पर चढ़ जाता है । यही पर्दा इसे मेध्य नहीं होने देता । तेल से रंगे हुए वस्त्र पर जैसे रंग नहीं चढ़ता तद्वत् मिथ्या–तेल से आत्मा के रंगे रहने के कारण मनुष्य का अन्तःकरण सर्वथा अपवित्र रहता है । बस इसी अभिप्राय से कहते हैं--

"अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति । पूतिरन्तरतः" ।

यह दर्भ मेध्य है क्योंकि पानी और आग से बना हुआ है एवं दोनों ही में है–विद्युत् एवं दर्भ-पवित्र भी हैं । ऊपर आए हुए दोष को हटा देने का नाम पवित्रता है । जिस अन्तराय के कारण ऊपर की वस्तु आत्मा पर ठहरने नहीं पाती, इसी का नाम अपवित्रता है, एवं दोष न रहने पर भी जैसे लोटे पर मिट्टी नहीं ठहरती तद्वत् आत्मा पर संस्कार के न जमने का नाम अमेध्यता है ।

दोष–निवारण पवित्रता है, अतिशयाधान मेध्यता है । दर्भ में दोनों गुण हैं । जैसे बुहारी से कूड़ा-कर्कट साफ हो जाता है तद्वत् दर्भ विद्युत् से दोनों दोष हट जाते हैं । बस हम मेध्य और पवित्र बनकर दीक्षा ले, अतएव दर्भ पवित्र से इसे पवित्र करते हैं—

"मेध्या वै दर्भाः । मेध्यो भूत्वा दीक्षै इति । पवित्रं वैदर्भाः । पवित्रपूतो दीक्षै इति । तस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति" ।।१८।।

जिससे इसको पवित्र करते हैं वह बीच की एक कोमल कुशा होनी चाहिए अर्थात् एक ही होनी चाहिए—**"तद्वा एकं स्यात्"** ।

इसका कारण बतलाते हैं—यह वायु एक है । वायु एक ही रूप से बह रहा है । वायु में एक हिस्सा इन्द्र का रहता है इसीलिए—**"इन्द्रतुरीयग्रहा गृह्यन्ते"**—कहा जाता है कि इन्द्र ही विद्युत् हैं, विद्युत् पानी और आग में रहता है, इन्हीं दोनों से दर्भ बनी है । चूंकि वायु एक है एवं उसी से बनी है दर्भ, अतः उसकी प्रतिकृति पर एक ही दर्भ होनी चाहिए—

"एको ह्येवायं पवते । तदेतस्यैवरूपेण–(पावयतीतिशेषः) । तस्मादेकं-स्यात्" ॥१९॥

अथवा तीन कुशा भी ले सकते हैं—"अथोऽअपि त्रीण्यपि स्युः" ।

यह वायु यद्यपि एक रूप से ही बाहर बहता रहता है परन्तु वही शरीर में अन्तः प्रविष्ट हो प्राण, उदान और व्यान भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है । चूंकि हमें शरीर को पवित्र करना है, उसमें यह वायु तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है । जो आता है वह प्राण है जो वापस निकलता है वह उदान है, एवं जो केन्द्र में हृत्-प्रदेश में ठहरता है वह व्यान है । एक ही वायु, उत्पत्ति, स्थिति लय भेदेन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है । अतः उसी की प्रतिकृति पर तीन ही कुशा से पवित्रता करनी चाहिए ।

"तदेतस्यैवानुमात्राम् । तस्मात् त्रीणि स्युः" ॥२०॥

अथवा सात भी कुशा ले सकते हो । क्योंकि हमारे मस्तष्क में सात ही प्राण हैं । दो कान हैं, दो आंख हैं, दो नाक हैं एवं एक मुँह है । **यह सातों ही सप्तपुरुष "पुरुष" नाम से प्रसिद्ध हैं ।** यह सातों प्राण सप्तर्षि शब्देन व्यवहृत होते हैं । यह सातों एक साथ रहते हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः । तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः" ।

यह सातों प्राण एक साथ पैदा होते हैं । इसी अभिप्राय से "**साकं जानाम्**-(सहोत्पन्नानाम्) यह कहा है । वेद कहता है इन सातों का जो सातवाँ है । उसे विद्वान् लोग एक ही से उत्पन्न होने वाला बतलाते हैं अर्थात् वाक् अकेली है एवं जो अवशिष्ट ६ हैं वे यम हैं अर्थात् कान, नाक, आंख दो–दो हैं परन्तु मुँह एक ही है, एवं यह सातों ही ऋषि हैं । अर्थात् प्राण है परन्तु देवता से उत्पन्न होने वाले ऋषि हैं । ऋषि प्राण स्वयम्भू की चीज है । उसी से पहले पितृ अर्थात् परमेष्ठि-मण्डल उत्पन्न होता है बाद में देवता अर्थात् सौर-मण्डल उत्पन्न होता है । इस प्रकार देवता ऋषियों के पोते हैं, इसी अभिप्राय से भगवान मनु कहते हैं—

"ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥

परन्तु यह प्राणऋषि देवताओं से उत्पन्न हुए हैं । अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्, भास्वर सोम, इन्हीं से यह सातों प्राण उत्पन्न हुए हैं । इसीलिए तो—"**पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति**" कहा जाता है । बस इसी विशेषता को बतलाने के लिए "**ऋषयो देवजा**" कहा जाता है ।

वेद भगवान् कहते हैं कि इन सातों के इष्ट अर्थात् विषय अपने-अपने स्थान पर ही नियत हैं। अपने ही स्थान पर, अपने नियत ही विषय को यह ग्रहण करते हैं अर्थात् सारी इन्द्रियाँ अप्याप्यकारी हैं। एवं अपने अपने अर्थ में नियत हैं। आँख कभी बोल नहीं सकती, मुँह कभी देख नहीं सकता। जो मनुष्य चक्षुरिन्द्रिय को "प्याप्यकारी" मानते हैं उन्हें भ्रांत समझना चाहिए, एवं यह सातों ही स्थाता के लिए अर्थात् विज्ञानात्मा के लिए अपने नाना रूपों को विकृत किया करते हैं अर्थात् इनका सारा काम उसी विज्ञानात्मा के लिए होता है।

प्रकृत में हमें सिर्फ यही कहना है कि दर्भ से आध्यात्म मण्डल को पवित्र करना है। सात प्राण अतः सात कुशा से काम लेना चाहिए।

"सप्त वा इमे शीर्षन् प्राणाः। तस्मात् सप्तस्युः।

अथवा तीन सप्तक अर्थात् २१ ले सकते हो। एकविंशति ही तो यह यज्ञसंपत् है। २१ पर सूर्य्य है। यही यज्ञ का स्वरूप है अतः सम्पूर्ण सम्वत्सर यज्ञ सम्पत्ति को आत्मसात् करने के लिए २१ भी कर सकते हो—

"त्रिःसप्तान्येव स्युः—एकविंशतिः। एषैव सम्पत् (यज्ञस्येति शेषः)॥ २१॥

एक कुशा से पवित्रता की जाती है, तीन से की जाती है, सात से की जाती है। इसमें २१ से करना यह अन्तिम मत है। इन इक्कीस कुशाओं को अलग अलग नहीं रखना चाहिए, अपितु ७-७ के तीन सप्तक कर लेने चाहिए। ७ को एक डोरे से बांध लेनी चाहिए, सात को एक से एवं सात को एक से। इस प्रकार तीन सप्तक कर लेने चाहिए। ७-७ का एक एक सप्तक है और वह तीन ही करें। इसमें थोड़ा सा वैज्ञानिक रहस्य है। हमारे शरीर में नाभि से कण्ठ तक कुल २१ प्राण हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ अर्थात् जमीन की गर्मी, वायु की गर्मी और सूर्य्य की गर्मी। इन तीनों गर्मियों से हमारे शरीर का निर्म्माण होता है। जो पृथिवी की गर्मी है वह पृथिवी ही में रहती है अतः पृथिवी को अग्निलोक कहते हैं एवं वायु की गर्मी अन्तरिक्ष्य (रिक्त) में रहती है अतएव अन्तरिक्ष्य को "वायु लोक" कहते हैं एवं सूय्याग्नि को सूर्य्यलोक कहते हैं। इसी त्रिलोकी को पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक को वैदिक परिभाषा में "रोदसी" त्रिलोकी कहा जाता है। बस इस रोदसी से ही अर्थात् अग्नि, वायु, सूर्य्य से ही हमारी, हमारी ही क्या यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अग्नि तो अग्नि है ही, वायु भी अग्नि ही है एवं सूर्य्य भी अग्नि ही है। इस अग्नि की वास्तविक अवस्था वायु है। जब वायु घन हो जाता है तो यही अग्नि कहलाने लगता है एवं विरल हो जाता है तो आदित्य कहलाने लगता है। अग्नि की घन, तरल, विरल, अवस्था का नाम ही "अग्नि, वायु, आदित्य है"।

यह अग्नि संसार के यच्चयांवत् पदार्थों का पिता है। यही अग्नि-अग्नि, वायु, आदित्य तक फैला हुआ है। इस अग्नि में जब पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती है तो इस अग्नि सोमात्मक यज्ञ से यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह अग्नि ऋत-सत्य भेदेन दो प्रकार का है। पार्थिव केन्द्र से बद्ध जो

अग्नि है, वह सत्य है एवं चारों ओर व्यापक जो अग्नि है, जिसका कि कोई केन्द्र नहीं वह ऋताग्नि है। बस इस ऋताग्नि में जब सोम की आपूर्ति पड़ती है तो यही "ऋतु" कहलाने लगती है। बस इस ऋतु से ही संसार के यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस ऋतु सम्बन्धी अग्नि को ही "आर्त्तव" अग्नि कहते हैं। स्त्री जब ऋतुमती होती हैं, अर्थात् सोममिश्रित प्रजनन क्रियाशील ऋतुप्राण जब उसके रुधिर में प्रविष्ट होता है तभी सन्तानोत्पत्ति होती है। इसीलिए जब तक (अर्थात् १५ दिन तक) स्त्री ऋतुमती रहती है उसके १५ दिन तक ही गर्भाधान हो सकता है। यह आर्त्तव अग्नि गर्भ में अपनी आठ संस्था बनाता है। कैसे बनाता है इसके पहले इस अग्नि की संस्था का स्वरूप लमभ लेना चाहिए।

अग्नि चित्यचितेनिधे भेदेन दो प्रकार का है। इन्हीं को मर्त्य–अमृत भी कहते हैं। जो पिण्डाग्नि है उसे मर्त्य अग्नि कहते हैं एवं जो पिण्ड के बाहर प्राण रूप से रहने वाला अग्नि है उसे ही अमृताग्नि कहते हैं। अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीनों की समष्टि का नाम ही प्रजापति है। तीनों ही पुरुष कहलाते हैं। असल में पुरुष तो केवल अव्यय ही है। अक्षर और क्षर तो अव्यय की परा और अपरा प्रकृति हैं परन्तु सादेश्यात् तीनों को पुरुष कह दिया जाता है। इन तीनों में जो क्षर है, उसका जो विकारभाग है उससे ही जगत् का निर्म्माण होता है। निर्म्माण नहीं होता, विकारक्षर का नाम ही जगत् है एवं प्रतिक्षण में परिवर्तनीय जो क्षर है उसको "अस्ति" इस प्रतीति में लाने वाला जो एक अमृतप्राण है अर्थात् अमृताग्नि है वही अक्षर है एवं इन दोनों का जो आलम्बन है वही अव्यय है। अव्ययरूप जमीन पर अक्षर रूप कुम्हार क्षर स्वरूप घटपटादि का निर्म्माण किया करता है। अव्यय जगत् का आलम्बन है, असमवायि कारण है। अक्षर निमित्त कारण है, क्षर समवायि कारण है। अव्यय मनस्वरूप है, अक्षर-प्राणस्वरूप है, क्षर वाक् स्वरूप है। इसी मनप्राणवाक् प्रपञ्च ही को जगत् कहते हैं। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

इन तीनों में से जो अक्षर–प्राण है, वह अपनी ९ संस्था रखता है अर्थात् इसमें ९ प्राण रहते हैं। इन ९ में से एक प्राण तो महामाया द्वारा जो रसपरिच्छिन्न हो अव्यय बन गया है उस पर अभिव्याप्त हो उसीकी वस्तु बन जाता है। बाकी रहते हैं आठ प्राण। इन आठों में से जो ४ प्राण हैं उनसे तो हमारा आत्मा बनता है, दो प्राणों से दक्षिणोत्तर पक्ष (हाथ पैर) बनते हैं एवं एक प्राण से पुच्छ प्रतिष्ठा बनती है जो कि स्वयं अनस्थियुक्त होती हुई भी इस अस्थि वाले शरीर को उठाए हुए है। इसी अभिप्राय से—**"अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति"**—कहा जाता है। मनुष्य में जो एक तनाव सा दीखता है, जिससे कि वह खड़ा रहता है, बस वही प्रतिष्ठा पुच्छप्राण है, जो कि मेरुदण्ड के अन्त तक गुदा के समीप तक रहता है। इन ७ प्राणों को मिलाकर इनका जो सार भाग है, रस भाग है, मक्खन है

जो कि परिमाण में एक प्राण–भाग जितना है उससे मस्तक बनता है, जिसे कि "शिर" कहते हैं। चूंकि सातों के रस–भग से, सार–भाग से, श्रीभाग से मस्तक बना है अतएव यह मस्तक इन नीचे के सातों पर अर्थात् सर्वाङ्ग शरीर पर हुकूमत करता है। सातों से इसकी कड़ी जुड़ी रहती है इसी मस्तक के द्वारा सम्पूर्ण प्राणों को अपनी–अपनी खुराक मिला करती है। इस मस्तक में जब अन्नाहुति होती है तभी सारे प्राणों की स्थिति रहती है। हमने इन सातों में से जिन ४ प्राणों को आत्मा बतलाया था, उस आत्मा से नित्यआत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। सिर, हाथ, पैर सब इस धड़ ही पर रहते हैं एवं औरों की अपेक्षा इसमें प्राण–मात्रा अधिक है। केवल इसीलिए हाथ पैरों की अपेक्षा से ही इस चतुःप्राणसमष्टि युक्त धड़ को आत्मा बतला दिया गया है।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है–धड़ हाथ से चाहे जैसा काम ले सकता है, उसे इधर घुमा सकता है, उधर घुमा सकता है एवं यही धड़ मस्तक को भी चाहे जैसे हिला सकता है परन्तु हाथ पैरों की हुकूमत धड़ पर नहीं चलती। इस धड़ में इस प्रकार आत्मत्व है अवश्य परन्तु चूंकि इनका रसभाग–सारभाग निकल गया है जिससे कि मस्तक बना है अतः यह सातों प्राण मूर्च्छित ही रहते हैं। चेतना भाग विज्ञान का हिस्सा मस्तक ही में रहता है। मस्तक की अर्थात् विज्ञान की सहायता के बिना यह सातों ही बेकार हैं। इसी अभिप्राय से शिर को "श्री" कहा जाता है। श्री कहते हैं रस भाग को इसको जो धारण करता है वह कहलाता है "श्रीधार" इसीको लोक में "सरदार" कहते हैं। "सरदार" श्रीधार का ही अपभ्रंश है।

प्रकृत में हमें कहना यह है–जहां तक मायावच्छिन्न अव्यय का स्वरूप है, वहां तक उसी में नीचे के एक हिस्से में तो अक्षर पुच्छप्राण रहता है एवं दोनों पार्श्वों में दो पक्ष प्राण रहते हैं एवं बीच में ४ प्राणों को मिलाकर के आत्मा रहता है, जिसे कि धड़ कहते हैं एवं जो बाकी का ऊपर का चौथा हिस्सा है उसमें इन सातों के रस भाग से युक्त जो शिर भाग है वह रहता है। इस प्रकार से चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ एवं आठवां शिर इन सबकी समष्टि को ही पुरुष कहते हैं–जो कि अव्यय स्वरूप आलम्बन पर अपनी स्थिति कायम करता है। इसी विज्ञान को श्रुति बतलाती है—

"एतान् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन् यदवाङ्-नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदतस्य शिरोऽभवत्। श्रियः समुदौहंस्तस्माच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वेवैतच्छिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणा श्रियः। अथ यत् सर्वस्मिन्न श्रयन्त तस्मादुशरीरम्। स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्यं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि"—(शत० ६।१।१।४–६)

हमने जिन ८ प्राणों की ऊपर चर्चा की है उन्हें आग्नेय प्राण समझने चाहिए। क्योंकि हाथ-पांव, धड़ इत्यादि का निर्म्माण इस अग्नि के चुनाव से ही होता है। इन आठों प्राणों में से जो ७ प्राण हैं उनको तो चित्याग्नि कहते हैं। इन्हीं सातों के चुनाव से चूंकि शरीर का निर्म्माण होता है अतएव यह प्राणसमष्टि चित्याग्नि कहलाती है एवं जो आठवां रसमय श्रीप्राण है उसे चित्तेनिधे (अमृताग्नि) अग्नि कहते हैं। यह रस भाग कभी नष्ट नहीं होता अतएव हम इस रसभाग को तो 'अक्षर' कहेंगे एवं चूंकि इन सातों मर्त्य प्राणों से अस्थि मांसादि नई-नई वस्तुएं पैदा होती रहती हैं अतः क्षरणात् उस मर्त्य भाग को 'क्षर' नाम से व्यवहृत करते हैं। परन्तु इतना इस क्षर में विशेष समझना चाहिए, चाहे इसमें से करोड़ों विकारक्षर निकल जायँ तथापि यह क्षर अपने स्वरूप से वैसा ही रहता है जैसाकि विकारोत्पत्ति के पहले था। इस क्षर को, चूंकि यह अपनी ही स्थिति में रहता है अतः आत्मक्षरकहते हैं। इस आत्मक्षर से ही चूंकि विकारक्षर और यज्ञक्षरों की उत्पत्ति होती है अतः इनकी अपेक्षा से इसे "प्रजापति" कहा जाता है। विकारक्षर और यज्ञक्षर ही इस आत्मक्षर की प्रजा है।

कहने का तात्पर्य यही है कि जो अष्टप्राणात्मक अक्षर था उसीमें चित्यचित्तेनिधे भेद से अक्षर और क्षर अर्थात् मर्त्य और अमृत यह दो भेद हो जाते हैं; वस्तुतः प्रजापति का स्वरूप दोनों को मिलाकर के ही सम्पन्न होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अर्द्ध वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्"।

इस प्रपञ्च से हमें यही बतलाना है कि यह प्राण जो कि शरीर निर्म्माता है, आग्नेय है, अपनी ७ संस्था रखता है अर्थात् ७ प्राण इकट्ठे ही रहते हैं जो आठवां रस प्राण बतलाया था वह भी ७ ही हैं। सातों ही के हिस्सों से चूंकि रस-प्राण निकला है अतः उसे भी सप्तावयव कह सकते हैं।

"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्" यह कहा जाता है। गायत्री से प्रजापति ने ब्राह्मण का शरीर बनाया, यही इस श्रुति का तात्पर्य है। गायत्री अग्नि को कहते हैं—**"गायत्रो वा एषयदग्निः"**। इसी अग्नि से शरीर बनता है। इस अग्नि के आठ अवयव होते हैं। आठ अक्षर में इस अग्नि की मात्रा समाप्त होती है, इसीलिए—**"अष्टाक्षरा वै गायत्री"** यह कहा जाता है। अक्षर ही को प्राण कहते हैं। यह प्राण प्रादेशमित होता है **"प्रादेशमितो वै प्राणः"**। एक-एक प्रादेश साढ़े दस-दस अंगुल का होता है। चूंकि आठ प्राणों से मनुष्य का शरीर बना है एवं प्रत्येक प्राण है साढ़े दस-दस अंगुल का, अतएव अपने बिलांद की नाप से ८४ अंगुल का होता है। बस, **"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्"**—इसका यही रहस्य है।

ब्रह्मरन्ध्र से गुदा तक ४ प्रादेश हैं। अर्थात् ४ प्राण हैं, एवं गुदा से पैर तक ४ प्राण हैं। इन ८ में से गुदा से नीचे के प्राणों के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। कहना ऊपर के चार प्राणों के विषय में है। गुदा से ऊपर के जो ४ प्राण हैं उनमें प्रत्येक में सात-सात प्राण रहते हैं। सप्त प्राणसमष्टि ही एक-एक प्राण का स्वरूप है। गुदा से नाभि तक एक प्राण है, नाभि से हृदय तक एक प्राण है, हृदय से कण्ठ तक एक प्राण है एवं कण्ठ से ब्रह्मरंध्र तक एक प्राण है। चारों प्राण साढ़े दस-दस अंगुल की अभि-

व्याप्ति में हैं। प्रत्येक में ७-७ प्राण हैं। इस प्राण का नाम ही "सप्तऋषि" प्राण है। यह सातों साथ रहकर ही अपनी स्थिति कायम करते हैं। **इन चारों प्राणों के रहने का जो स्थान है उसे ही वेद में "गुहा" शब्द से व्यवहृत किया जाता है।** चूंकि प्राण चार हैं अतः गुहा भी चार ही हैं। उनके नाम यह हैं—(१) शिरोगुहा, (२) उरोगुहा, (३) उदरगुहा, (४) बस्तिगुहा।

इनमें जो प्राण रहता है वह सप्तसंस्था है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि प्रत्येक गुहा में ७-७ ही वस्तुएं दिखलाई पड़ती हैं। प्रारम्भ में ही लीजिए—ब्रह्मरंध्र से कण्ठ तक २ कान हैं, दो आँख हैं, दो नासिका छिद्र हैं, एक मुँह है। कण्ठ से हृदय तक दो हाथ हैं, दो स्तन हैं, दो फुफ्फुस हैं, एक हृदय है। हृदय से नाभि तक यकृत और प्लीहा हैं। बाद में दो क्लोम हैं, दो वृक्क हैं, सातवीं नाभि है। नाभि से गुदा तक दो श्रोणी हैं, मूत्ररेतसी है, दो अण्डकोष हैं, सातवीं गुदा है। इस प्रकार प्रत्येक प्राण सप्तावयव है। सातों में ६-६ तो जोड़ले (जुड़वा) हैं अर्थात् दो-दो हैं एवं एक (मुँह, हृदय, नाभि, गुदा) अकेला ही है। परन्तु सातों एक साथ ही पैदा होने वाले हैं। सातों ही देवजा ऋषि हैं अर्थात् अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम (दिक् सोम, भास्वर सोम) इन देवताओं से उत्पन्न होने वाले ऋषि है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं—

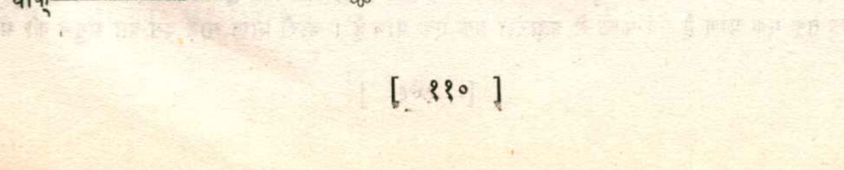
"साकंजानां सप्तथमेकमाहुः षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

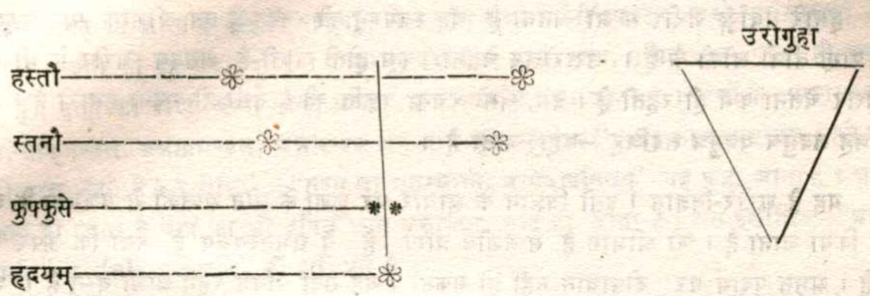
प्रत्येक गुहा में ७-७ प्राण रहते हैं, यह बात विज्ञान से स्पष्ट हो जाती है परन्तु बिना प्रमाण के सन्तोष नहीं होता, अतएव प्रमाण बतला देते हैं। श्रुति कहती है—

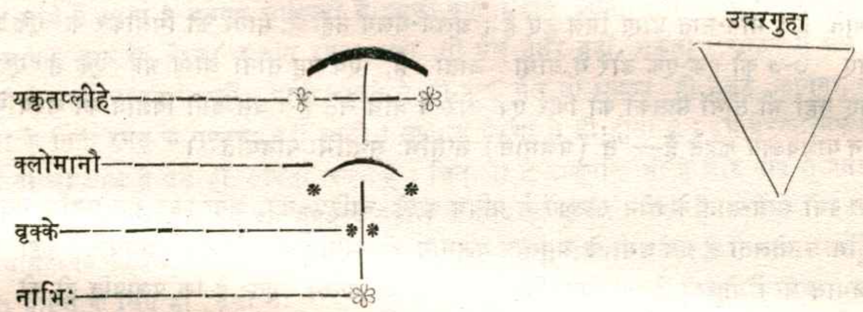
"सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः।
सप्त इमे लोका येषुचरन्ति प्राणा, गुहाशया निहिताः सप्तसप्त॥ (मु० २-१)

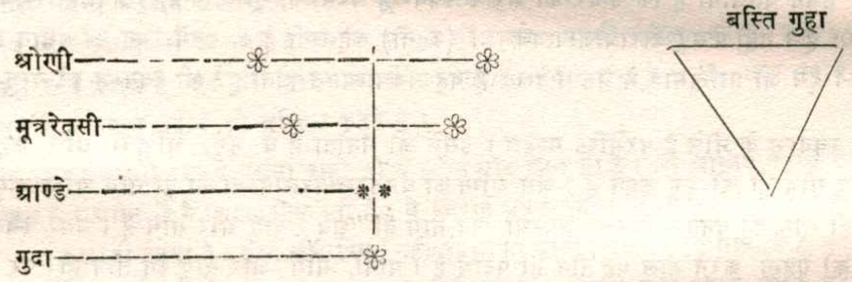
पूर्वोक्त प्राण विभाग नीचे लिखे परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—

"गुहा चित्रम्" (मनुष्य कङ्कालम्)









पूर्वोक्त चार सप्तकों में से कण्ठ से नीचे तक में तो त्रिलोकी है एवं कण्ठ से ऊपर को चतुर्थ लोक है जो कि आपोलोक कहलाता है। गुदा से नाभि तक अग्निलोक है। नाभि से हृदय तक वायु लोक है। हृदय से कण्ठ तक आदित्यलोक है। कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र तक "आपोलोक" है जो कि शिवलोक भी कहलाता है। इन्हीं को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः भी कहते हैं। प्रकृतिमण्डल में सबसे पहले स्वयम्भू मण्डल है बाद में परमेष्ठि मण्डल है, बाद में सूर्य्यमण्डल है बाद में चन्द्रलोक है जिसे कि अन्तरिक्ष कहेंगे। बाद में पृथिवी लोक है।

हमारे सर्वाङ्ग शरीर में जो चेतना है वह स्वयम्भू की वस्तु है एवं श्रीभाग पारमेष्ठ्य है एवं तीनों प्राण तीनों लोकों के हैं। उत्तरोत्तर चेतना कम होती जाती है, अतएव शरीर में भी मस्तक से उत्तरोत्तर चेतना कम ही रहती है। बस, जैसी रचना प्रकृति की है वैसी ही रचना हमारी है। इसीलिए **"यदत्रिह तदमुत्र यदमुत्र तदत्रिह"**–कहा जाता है।

यह है शरीर-विज्ञान। इसी विज्ञान के आधार पर कुशा के तीन सप्तकों से यजमान के शरीर को पवित्र किया जाता है। जो श्रीभाग है, सप्तशीर्ष प्राण हैं वे अमृतस्वरूप हैं, जैसा कि ऊपर कह दिया गया है। अमृत पदार्थ पर दोषाधान नहीं हो सकता। वह सदा पवित्र रहने वाली वस्तु है। भला उसे पवित्र कौन करेगा जो कि सबको पवित्र करता है। परन्तु कण्ठ से नीचे के जो गुदा तक के तीन सप्तक हैं, वे मर्त्य हैं अतएव अमेध्य हैं। बस इन तीनों की अमेध्यता दूर करने के लिए तीन ही सप्तक काम में लाए जाते हैं। सात-सात प्राण मिले हुए हैं। अलग-अलग नहीं हैं, सातों को मिलाकर के एक प्राण है। इसीलिए ७-७ को एक-एक डोरे से बांधा जाता है, एवं यह तीनों प्राण भी एक से एक बद्ध हैं इसीलिए यहाँ भी तीनों सप्तकों को फिर एक डोरे में बांध लेते हैं। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं—**"तं (यजमानं) सप्तभिः सप्तभिः पावयति"**।

क्यों सात-सात के तीन सप्तकों से पवित्र करने चाहिए–यह बतलाकर अब पद्धति बतलाते हैं। अध्वर्यु मन्त्र बोलता है एवं उसी के अनुसार यजमान भी बोलता है इसीलिए **"पावयति"** कहा गया है। वह यजमान मन्त्र बोलता है—**"चित्पतिर्मांपुनातु"**। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रजापति ही को चित्पति कहते हैं। प्रजापति मुझे पवित्र करें यही तात्पर्य है।

हमने बतलाया है कि ईश्वर का शरीर–स्वयम्भू, परमेष्ठि, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी इन पांच भागों में बंटा हुआ है। यही पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा (टहनी) कहलाती है। इनमें चित् का प्रधान स्थान स्वयम्भू है। हम जो प्राणिमात्र में चेतना देखते हैं वह सर्वत्र व्याप्त होती हुई भी स्वयम्भू की वस्तु है।

स्वयम्भू के नीचे है परमेष्ठि मण्डल। इसमें जो मनोता है वे भृगु, अङ्गिरा अत्रि कहलाते हैं। अब वायु सोम ही को भृगु कहते हैं। जैसे अग्नि की घनतरलविरलावस्था का ही नाम अग्नि वायु आदित्य है वैसे ही सोम की घनतरलविरल अवस्था का नाम ही "अब्" वायु और सोम हैं। बस स्वयम्भू की चेतना को ग्रहण करने वाले यह तीन ही पदार्थ हैं। पानी, सोम और वायु इन तीन ही पर चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। चूंकि चित् ग्राहक तीन ही हैं अतः संसार के जीव कुल तीन ही प्रकार के हैं। तीनों आप्य, वायव्य और सोम्य कहलाते हैं। जल के जितने भी मत्स्यादि जीव हैं वे "आप्य" कहलाते हैं एवं वायु के अस्मदादि जितने भी जीव हैं वे वायव्य कहलाते हैं एवं चन्द्रमा की चाँदनी में अर्थात् सोम में रहने वाले देवता सौम्य जीव कहलाते हैं। शरीर में जब तक चेतना रहती है तभी तक वह पवित्र रहता है। यह चेतना हर वक्त हवा फिल्टर करती रहती है। जब शरीर में से चेतना निकल जाती है तो शरीर सड़ने लगता है। इस शरीर-प्रजा का वह चित् ही प्रजापति है। यही शरीर को पवित्र रखता है। बस उसी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—**"चित्पतिर्मांपुनातु"**। "प्रजापति वैं चित्पति" से पारमेष्ठ्य प्रजापति का ग्रहण है।

फिर यजमान मन्त्र बोलता है—"**वाक्पतिर्मापुनातु**" ।। वाक्पति मुझे पवित्र करे। जैसे चित्-शक्ति में पवित्र करने की शक्ति है वैसे ही वाक्पति में अर्थात् सूर्य्य में भी फिल्टर करने का सामर्थ्य हैं। सौराग्नि सारी गन्दगी को दूर कर देता है। स्वयम्भू, परमेष्ठि, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी यह पांचों ही पञ्चीकृत यज्ञक्षर हैं। इन्हीं को प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न शब्द से कहा जाता है। पांचों के प्राणमण्डल, आपोमण्डल, वाङ्मण्डल, अन्नादमण्डल, अन्नमण्डल यह नाम हैं। सूर्य्यमण्डल ही को वाङ्मण्डल कहते है। अग्नि ही को वाक् कहते हैं। इसीलिए—"**तस्य वा एतस्याग्नेः वागेवोपनिषत्**" यह कहा जाता है। अग्नि का प्रवेश जहां हो जाता है वहाँ का भी दूषित भाव एकान्ततः नष्ट हो जाता है। बस इसीलिए "**प्रजापतिर्वै वाक्पति**" से "**सौर प्रजापति**" ही अभिप्रेत है।

सूर्य्य में १२ आदित्य हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न काम करने वाले १२ प्राण हैं। **इनमें से एक प्रेरयिता प्राण का नाम है "सविता"** । यह सविता वास्तव में बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति से भी ऊपर की वस्तु है। यही सविता सूर्य्य में आता है अतएव आदित्यों में इसकी गणना होने लगती है। पानी शरीर पर गिरा और यदि आपने हाथ से प्रेरणा अर्थात् रगड़ा नहीं तो मैल उतर नहीं सकता। रगड़ने से मैल उतरता है, खाली पानी डालने से नहीं। पानी डालने से भी कुछ मैल तो अवश्य ही उतर जायेगा, परन्तु बिना प्रेरणा के बिना रगड़ के सुपूतता नहीं आती। सुपूतत्व प्रेरणा से ही होता है। इस प्रेरणात्मक क्रिया का अधिष्ठाता जो प्राण है उसे ही 'सविता' कहते हैं। चित् भी है वाक्पति भी है और यदि सविता नहीं है तो सुपूतत्व नहीं हो सकता। बस इस सुपूतत्व संपत्ति के लिए ही प्रार्थना करते हैं—'**देवो मा सविता पुनातु**'। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वही वस्तु सुपूत है जिसे कि सविता देवता पवित्र करें। बस इसी सुपूतत्व संपत्ति प्राप्ति के लिए ही "**देवो मा सविता पुनातु**" कहा गया है—"**एतद्वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात्। तस्मादाह—"देवो मा सविता पुनातु"**।

अखिल विश्व में ऋत और सत्य यह दो ही पदार्थ हैं। सत्य उस पदार्थ का नाम है जो केन्द्र रखता है एवं ऋत उस पदार्थ का नाम है जो कि अकेन्द्र हो। जो अपनी लाइन को न छोड़कर सीधा आता है, वही सत्य पदार्थ है एवं जो लाइन को छोड़ देता है, वही ऋत है। जो सत्य पदार्थ है उसे सच्छिद्र कहते हैं एवं ऋत पदार्थ को अच्छिद्र कहते हैं।

यदि इनका असली स्वरूप पूछना चाहो तो ये अग्नि और सोम ही हैं। जो आग्नेय पदार्थ हैं वे सत्य है। सोम ऋत है। अग्नि में से किरणें निकलती हैं। वे किरणें अपना स्थान नियत रखती हैं। इन किरणों के बीच का स्थान खाली रहता है। सूर्य्य की रश्मिएं नहीं ही अपितु आग्नेय पदार्थ मात्र सच्छिद्र हैं, परन्तु वायु अर्थात् ब्रह्मणस्पति का सोम चूंकि ऋत है अतएव वह अच्छिद्र है। सोम से कोई खाली स्थान नहीं रहता है। उसके लिए तो "**त्वमाततनो सर्वन्तरिक्षम्**" कहा जाता है। पानी सच्छिद्र नहीं है, सूर्य्य की रश्मिएं सच्छिद्र है। बस सूर्य्य की रश्मिएं अर्थात् अग्नि एवं सोम ही पवित्रता करने वाले हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"**अच्छिद्रेण पवित्रेण**"।

अर्थात् सविता देवता अच्छिद्र पवित्र से हमें पवित्र करे। याज्ञवल्क्य कहते हैं, यह जो सोमात्मक वायु बह रहा है वही अच्छिद्र पवित्र है। इसी अभिप्राय से "**अच्छिद्रेण पवित्रेण**" कहा गया है। इसी ब्रह्मणस्पति के वायु (सोम) के लिए श्रुति कहती है—

"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ।।

(ऋक् सं० ९।८३।१)

फिर मन्त्र का शेष बतलाते हैं–"**सूर्यस्य रश्मिभिः**" । सविता देवता सूर्य्य की रश्मियों से मुझे पवित्र करें । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह पवित्र करने वाली है, जो कि सूर्य्य की रश्मिएं हैं । इसीलिए—"**सूर्य्यस्य रश्मिभिः**" कहा है ।

चित्पति सोम का अभिमानी देवता है, वाक्पति सूर्य्य का अभिमानी देवता है एवं सोम और सूर्य्य दोनों ही पवित्र करने वाले हैं । बिना सविता के सुपूतत्व हो नहीं सकता है । बस इसीलिए सविता द्वारा चारों ओर से पवित्रता की जाती है ।।२२।।

इस प्रकार से कुशा से अपने शरीर को पवित्र करता हुआ यजमान मन्त्रशेष बोलता है—"**तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत् कामः पुने तच्छकेयम्**" ।

अग्नि ही पवित्रपति कहलाता है । इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्नि पवित्रपति ही होता है—"**पवित्रपति र्हि भवति**" । आज यह यजमान पवित्र से पूत हो जाता है अतएव कहता है कि हे पवित्रपते ! जिस काम के लिए मैंने आपसे अपने को पवित्र किया, वह काम मैं कर सकूं, यही वाञ्छा है ।

मैं यज्ञ की समाप्ति पर पहुँच जाऊं, यही कहना है । "**यज्ञस्योदृचं गच्छानि**"—**इत्येवैतदाह अर्थात् 'तच्छकेयम्' का यही तात्पर्य है** ।।२३।।

"**आ वो देवास**" इस मन्त्र का नाम "**आशिषामारम्भः**" है । इसी मन्त्र से आशी मांगना प्रारम्भ किया जाता है, अतएव इसे 'आशिषामारम्भ' कहते हैं । अध्वर्यु अब इसे यही मन्त्र बुलवाता है, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथाशिषामारम्भं वाचयति" (यजमानमितिभावः)

यजमान बोलता है—

"आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे ।

आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे" ।। (वा० सं० ४।५)

अध्वर्यु स्वयं भी इसे बोलता है एवं यजमान भी उसकी देखादेख बोलता है—

"हे देवासः अध्वरे वामं प्रयति सति वः आ ईमहे । हे यज्ञियासः देवा सः वः आ आशिषः हवामहे"

हे देवताओ ! यज्ञ के उत्तर जाने पर हम आपकी स्तुति करते हैं। हे यज्ञिय देवताओ ! आशिषों के लिए अर्थात् फलप्राप्त्यर्थ हम आपका इस यज्ञ में आह्वान करते हैं। यज्ञ कहते हैं अग्नि को। अग्नि में सोम डालने का नाम ही यज्ञ है। यज्ञ अर्थात् **अग्नि सदा दक्षिण से उत्तर की ओर ही जाता है। इसी अभिप्राय से "वामं प्रयत्यध्वरे" कहा गया है।** इस यजमान के लिए इन आशिषों को अपना बनाते हुए ऋत्विक लोग देवताओं से मांगते हैं अर्थात् ऋत्विक लोग 'हमें दो, हमें दो" इस अपने नाम से ही यद्यपि आहुति मांगते हैं परन्तु यह आहुति है वास्तव में यजमान के लिए।

"तदस्मै स्वाः सतीर्ऋत्विज आशिष आशासते" ॥२४॥

इसके बाद यजमान यज्ञ संपत्ति ग्रहण भावनार्थ मुष्टिबन्धन करता है—

अथांगुलीर्न्यचति"—(संकोचयति)

किस तरह से मुष्टिबन्धन करना चाहिए, इसका प्रकार बतलाते हैं—

"स्वाहा यज्ञं मनसे" इस मन्त्र से दोनों हाथों की कनिष्ठकादि दोनों को बन्द कर ले, एवं **'स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्'** इससे फिर दो आगे की बन्द कर ले, एवं अन्त में **'स्वाहावातादारभे'** इससे एकदम बन्द कर ले, अर्थात् पहले मन्त्र से दोनों हाथों की दोनों कनिष्ठिकाओं को बन्द करे, दूसरे से, उसके आगे की दोनों करे एवं तीसरे से, उसके आगे की करे एवं चौथे से मुट्ठी बांध ले। मुष्टि क्यों बांधनी चाहिए इसका कारण बतलाते हैं—

देवता ब्रह्म है, यज्ञ कर्म्म है। यज्ञ सांयोगिक पदार्थ है। जब देवता अर्थात् ब्रह्म (मौलिक तत्त्व) ही अदृश्य है तो उनके योग से उत्पन्न यज्ञ क्योंकर इन्द्रियगोचर हो सकता है। अग्नि में सोमाहुति से यज्ञ का स्वरूप बनता है। वह कैसा है, उस यज्ञ के हाथ-पैर कैसे हैं, यह हम नहीं जान सकते। इसी मूल पर वैशेषिकों का चातुर्भौतिकत्व मत अवलम्बित है। उनका कहना है कि आकाश अदृश्य है एवं अवशिष्य चारों भूत दृश्य हैं। भला अदृश्य आकाश शरीर निर्म्माण में क्यों कर उपयुक्त हो सकता है, अतः शरीर चातुर्भौतिक ही मानना चाहिए।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जैसे वस्त्र, घट, पट का हम हाथ से ग्रहण करते हैं, वैसे यज्ञ का ग्रहण नहीं कर सकते। यज्ञ तो अदृश्य पदार्थ है फिर भला वह मुठ्ठी में क्यों कर पकड़ा जा सकता है। क्योंकि देवता जब परोक्ष है तो उनके संयोग से उत्पन्न होने वाला यज्ञ भी परोक्ष ही होगा।

हमें यज्ञस्वरूप को पकड़ना है अर्थात् वैध प्रक्रियाओं द्वारा अध्यात्म यज्ञ को अधिदैवत यज्ञ में में मिलाना है, परन्तु मिलावें कैसे, जबकि यज्ञ परोक्ष है, कैसे उसे आत्मसात् करें। बस उसी यज्ञ को आत्मसात् करने के लिए ही मुष्टिबन्धन किया जाता है। मैने यज्ञ को मुठ्ठी में पकड़ लिया, यह अध्यवसाय, यह मन की श्रद्धा ही सर्वतः व्यापक यज्ञ को आत्मसात् कर देती है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि यज्ञ सम्पत्ति ग्रहण भावनार्थ ही मुष्टिबन्धन किया जाता है।

"स्वाहा यज्ञं मनसे"–इति द्वे । 'स्वाहोरोरन्तरिक्षात्' इति द्वे । स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्' इति द्वे । 'स्वाहावातादारभे' इतिमुष्टिं करोति । न वै यज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे । यथायं दण्डो वा वासो वा । परोक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः" ।।२५।।

यज्ञ–मन में, द्यावा पृथिवी में, वायु एवं अन्तरिक्ष में, इतने ही स्थानों में रहता है । बस इन सारे स्थानों से यज्ञ को आत्मसात् करने के लिए ही **'स्वाहा यज्ञं मनसे'** इत्यादि कहा है ।

इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं–जो कि वह यजमान–'स्वाहा यज्ञं मनसे' कहता है उससे मन से यज्ञ को मुठ्ठी में पकड़ता है ।

स यदाह स्वाहा यज्ञं मनसे"–इति तन्मनस आरभते"

एवं **'स्वाहोरोरन्तरिक्षम्'** से अन्तरिक्ष में व्याप्त यज्ञ को पकड़ता है । एवं **'स्वाहाद्यावापृथिवीभ्याम्'** से द्यावापृथिवी में व्याप्त यज्ञ को पकड़ता है । इस प्रकार तीनों से तो यज्ञ को मुठ्ठी में करना परोक्षभाव से करना है । परन्तु—**'स्वाहावातादारभे'** इससे तो साक्षात् यज्ञ को ही (प्रत्यक्षरूपेण ही यज्ञ को) पकड़ता है । क्योंकि वायु ही तो यज्ञ है ।

मन में, द्यावापृथिवी में, अन्तरिक्ष में इन में सभी में यज्ञ रहता है परन्तु हमारे अध्यात्म-यज्ञ का अधिदैवत के साथ सम्बन्ध वायु द्वारा ही होता हैं । वायु ही संचारी है । हम वायु के स्वरूप को पहचानते हैं । वायु द्वारा ही आहुति अर्थात् यज्ञ देवताओं में पहुंचता है । अतएव हम कह सकते हैं कि औरों की अपेक्षा वायु-यज्ञ प्रत्यक्ष ही है । बस इसीलिए **"वातो वै यज्ञः"** कहा गया है । **'स्वाहावातादारभे'** इससे यज्ञ को प्रत्यक्ष ही मुठ्ठी में करता है ।

"तद्यज्ञं प्रत्यक्षमारभते" ।।२६।।

वादी प्रश्न करता है कि यज्ञ को तो मुष्टि में किया सो अच्छा किया परन्तु चारों मन्त्रों में "स्वाहा स्वाहा" क्यों बोला जाता है । इसी का उत्तर देते हैं–"किसलिए वह चारों में स्वाहा-स्वाहा बोलता है" इसका कारण बतलाते हैं—

'अथयत् स्वाहा स्वाहेति करोति तदुच्यते'

स्वाहाकार ही तो यज्ञ है । 'स्वाहा' इस वाक् ही में तो शक्ति है । जब तक स्वाहा न बोला जाय उस आहूति को देवता नहीं ले सकते । देवता असंग हैं । वे असंगतया सर्वथा व्याप्त हो रहे हैं । संसार में जितने भी तुम भौतिक पदार्थ देखते हो उन सबमें प्राण अन्तःस्फूर्त है । बिना प्राण के भूत नहीं रह

सकता। बिना भूत के प्राण नहीं रह सकता। दोनों अन्योन्याविनाभूत हैं। देवता भूत में रहते हैं। भूत देवता के चारों ओर रहते हैं परन्तु देवता फिर असंग हैं। भूत उस पर, उस देवता पर सवार मात्र है। वह देवता का आत्मा नहीं बन सकता। प्राण सर्वथा बेलाग है। स्वाहा देवता का अन्न है। वे असंग हैं। आहुति उन पर जा के सवार हो जाती है अर्थात् देवता आहुति को ले जरूर लेते हैं परन्तु यह आहुति उनमें मिलने नहीं पाती क्योंकि वे तो असंग हैं।

बस यह प्रकृति-यज्ञ का स्वरूप है। ऐसी अवस्था में यदि हम **'स्वाहा' 'स्वमन्होति व्याप्नोति'** बोलते हैं तो इस सजातीय वाक्लहर से देवता अन्न को ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु यदि **'स्वधा'** बोला जायगा तो देवता दूर हट जायेंगे एवं उस स्थान पर पितर प्राण घुस पड़ेगा। स्वधा पितरों का अन्न है, स्वाहा देवताओं का अन्न है। बिना स्वाहा के यज्ञ नहीं हो सकता अतएव हम 'स्वाहा' को यज्ञ कह सकते हैं। बस इसीलिए— **'यज्ञो वै स्वाहाकारः'** कहा गया है। ऐसी हालत में यज्ञ को मुष्टि द्वारा आत्मसात् करता हुआ यह यजमान यदि 'स्वाहा' न बोलेगा तो यज्ञ आत्मसात् होगा ही नहीं। क्योंकि यज्ञ का स्वरूप तो 'स्वाहा' ही है। बस इसीलिए **'स्वाहा यज्ञं मनसे'** इत्यादि में स्वाहा-स्वाहा बोला जाता है।

इसी अभिप्राय से कहते हैं—'स्वाहा' यह बोलता हुआ यजमान यज्ञ को आत्मसात् करता है।

'यज्ञमेववैतदात्मन्धत्ते'

इसके अनन्तर यहीं से यजमान वाक् संयमन कर लेता है।

अत्रोऽएव वाचं यच्छति'।

वाक् एक तत्त्व का नाम है जो कि सूर्य्यमण्डल की वस्तु है। इसीलिए तो सूर्य्य को वाङ्मण्डल कहा जाता है। वाक् सर्वव्यापी तत्त्व है। मन-प्राण-वाक् को ही आत्मा कहते हैं। मन अव्यय का स्वरूप है। प्राण अक्षर का स्वरूप है। वाक् क्षर का स्वरूप हैं। मन प्राण एक दर्जे की चीज है, वाक् एक दर्जे की चीज। वाक् ही आकाश कहा जाता है। आकाश भी एक पदार्थ है। पोल (शून्यता) का नाम आकाश नहीं है। पञ्चभूतों में से पहला भूत यही वाक् है। यह वाक् ही पृथिवी, जल, तेज, वायु में परिणित हो जाता है, अतएव हम कह सकते हैं सब कुछ वाक् ही वाक् है।

'अथो वागेवेदं सर्वम्'।

इसीलिए— **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** कहा जाता है।

अग्नि ही को यज्ञ कहते हैं एवं यह है वाक्, जैसा कि श्रुति कहती है—

तस्य वा एतस्याग्ने वागेवोपनिषत्।

हम जो बोलते हैं वह भी वाक् ही है । क-च-ट-त-प इत्यादि मन्त्रातत्मक वाक् का निर्म्माण अग्नि ही से होता है । इसीलिए तो—'**अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्**' कहा जाता है । मन्त्र से ही होता है यज्ञ एवं वह मन्त्र स्वयं आग्नेय है । अग्नि ही को कहते हैं यज्ञ, बस इसी अभिप्राय से '**वाग्वै यज्ञः**' कहा गया है । स्वाहा इत्यादि मन्त्रों से अभी-अभी यजमान ने अग्नि स्वरूप यज्ञ को आत्मसात् किया था, यदि अभी यह बोलने लग जायगा तो वाक् स्वरूप अर्थात् अग्नि स्वरूप यज्ञ इस अग्नि स्वरूप वाक् (बोली) के जरिये बाहर निकल जायगा । बस आत्मसात् किया हुआ यज्ञ बाहर न निकल जाय, इसीलिए वाक् संयमन करता हुआ वाक् रूप यज्ञ को आत्मा में स्थिर करता है ।

वाग्वै यज्ञः । यज्ञमेवैतदात्मन् धत्ते" । ॥२७॥

दीक्षणीयेष्टि शाला में होती है एवं घृताभ्यञ्जन आदि से लेकर वाक् संयमन पर्यन्त सारे कर्म्म यज्ञ शाला के बाहर होते हैं । इस प्रकार जब वाक् संयमन हो जाता है तो ऋत्विक् लोग फिर इसे शाला में ले जाते हैं ।

"अथैनं शालां प्रपादयति" ।

वह यजमान आहवनीय के पश्चिम में एवं गार्हपत्य के पूर्व में अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य के बीच में होकर ही जाता है । जब तक सब याग न कर लेगा तब तक यजमान के आने जाने का रास्ता यही रहेगा । सुत्या के पहले इन दो के बीच के मार्ग के अलावा और किधर से हर्गिज नहीं जा सकता । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

स जघनेनाहवनीयमेति अग्रेण गार्हपत्यम् । सोऽस्य सञ्चरो भवति—आसुत्यायै" ।

सृष्टि दो प्रकार की हुआ करती है—मानसी और मैथुनी । मानसी सृष्टि के विषय में हमें कुछ नहीं कहना । कहना है केवल मैथुनी सृष्टि के विषय में । मैथुनी सृष्टि में—योनि, बीज और गर्भ यह तीन चीजें होती है । तीन ही से मैथुनि सृष्टि होती है । बीजवपन का जो स्थान है, उसी का नाम तो 'योनि' है, एवं जो वप्ता है उसी का नाम बीज है अर्थात् जब तक वह बीज योनि में नहीं डाला जाता तब तक तो वह बप्ता ही कहलाता है । परन्तु योनि में जाकर वह बीज ही अर्थात् वप्ता ही गर्भ कहलाने लगता है ।

(गृह्यते इति गर्हः गर्ह एव गर्भः ऋग्रहोर्भरछन्दसि)

पिता ही पुत्र बनता है । "**पिता वै जायते पुत्रः**" यह सिद्धांत है । तीन तो कहने के हैं, वास्तव में तो बीज और योनि दो ही पदार्थ हैं । बीज ही योनि से अलग रहकर बीज कहलाता है, एवं योनि में जाकर 'गर्भ' कहलाने लगता है । यदि इस बीज और योनि का असली स्वरूप पूछना चाहो तो अग्नि और

सोम ही है । अग्नि ही संसार के यच्चायवत् पदार्थों की योनि है एवं सोम ही बीज है । अग्नि और सोम के अलावा कोई तीसरी वस्तु है ही नहीं । स्त्री का जो रुधिर है वह अग्नि है वही योनि है, उसमें वीर्य्य की अर्थात् सोम की जब आहुति होती है तभी लड़का उत्पन्न होता है । निदर्शन मात्र है—संसार की पैदा-इश इसी अग्नि सोम से है । इसीलिए तो "अग्निषोमात्मकं जगत्" कहा जाता है । इसीलिए भगवान् कहते हैं—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

आज यह यजमान अपना नया दिव्यात्मा बनाना चाहता है । स्वयं दिव्य स्वरूप में जन्म लेना चाहता है, अतएव यह आज गर्भ में है । इसी आहवनीय गार्हपत्य अग्नि के गर्भ में दिव्यात्मा उत्पन्न होगा ।

बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—"गर्भ की योनि यज्ञ है" । आज यह यजमान अर्थात् दीक्षित गर्भ में है । अर्थात् यज्ञशाला में क्या है अग्नि के गर्भ में है । गर्भ योनि के अन्दर अन्दर ही फिरा करता है । वह योनि से बाहर नहीं निकलता, जब तक कि परिपक्व नहीं हो जाता, अतएव इसे अपनी योनि के बाहर सुत्या पर्यन्त बाहर नहीं जाना चाहिए ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं–यह यजमान वहां चलता भी है एवं इधर-उधर बैठता है अतएव गर्भ योनि के पेट में चलते ही पर्य्यावर्त्तन भी करते हैं अर्थात् गर्भ एक ही स्थान में नहीं चिपकता अपितु चलता फिरता रहता है परन्तु योनि के बाहर नहीं निकलता । अतएव इसी प्राकृतिक प्रजनन क्रियानुसार गर्भस्थ दीक्षित को बाहर नहीं जाना चाहिए, सुत्यापर्य्यन्त बाहर नहीं जाना चाहिए । सुत्या से पहले बाहर जाना गर्भस्राव एवं गर्भपात होना है । सुत्या ही इस दिव्यात्मा का प्रसव है अतः 'आसुत्यायै यजमान का यही मार्ग रहता है ।

तस्मादस्यैष संचरो भवति–आसुत्यायै ।।२८।।

इति संस्कार ब्राह्मणं समाप्तम् ।

संस्कार ब्राह्मणान्तर्गत आग्नावैष्णवेष्टि ब्राह्मणं च समाप्तम् ।

इति तृतीयकाण्डे प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।।

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्

।। तत्र औद्ग्रभण ब्राह्मणम् ।।

[मूल]—सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूंष्यौद्ग्रभणानि । उद्गृभ्णीते वाऽएषोऽस्माल्लोकाद्देव लोकमभि यो दीक्षतऽएतैरेव तद्यत् यजुर्भिरूद्गृभ्णीते तस्मादाहुः सर्वाणि दीक्षाया यजूंष्यौद्ग्रभणानीति ततऽएतान्यवान्तरामाचक्षतऽ औद्ग्रभणानीत्याहुतयो ह्येताऽआहुतिर्हि यज्ञः परोऽक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षं यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि ।।१।।

ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति । तान्याधीतयजूंषीत्याचक्षते सम्पद एव कामाय चतुर्थं हूयतेऽथ यत्पञ्चमं स्रुचा जुहोति तदेव प्रत्यक्षमौद्ग्रभणनुष्टुभा हि तज्जुहोति वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्धि यज्ञः ।।२।।

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं नऽइदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यं स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्द्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ।।३।।

तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञं समभरन् यथाऽयं यज्ञः सम्भृतऽएवं वाऽएष यज्ञं सम्भरति यदेतानि जुहोति ।।४।।

तानि वै पञ्च जुहोति । संवत्सर सम्मितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्च जुहोति ।।५।।

अथातो होमस्यैव । आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेत्या वाऽअग्रे कुवते यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन्कुरुते ।।६।।

मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति । मेधया वै मनसाऽभिगच्छति यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् सम्भृत्यात्मन्कुरुते ।।७।।

दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति । अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु हूयते ।।८।।

सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति । वाग्वै सरस्वतीवाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टि र्वै पूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्सम्भृत्यात्मन् कुरूते ।।९।।

तदाहुः । अनद्धेवैताऽआहुतयो हूयन्तेऽप्रतिष्ठिताऽअदेवकास्तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति ।।१०।।

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति । नात एकं चनाग्निर्वाऽअद्धेवाग्निः प्रतिष्ठितः स यदग्नौ जुहोति तेनैवैताऽअद्धेव तेन प्रतिष्ठितास्तस्माद् सर्वास्वेवाग्नये स्वाहेति जुहोति ततऽएतान्या धीतयजूंषीत्या चक्षते ।।११।।

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति । आत्मनावाऽअग्रऽआकुवते यजेयेति तमात्मनऽएव प्रयुङक्ते यत्तनुते तेऽअस्यैतेऽआत्मन्देवतेऽआधीते भवत आकूतिश्च प्रयुक्च ।।१२।।

मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति । मेधया वै मनसाऽभिगच्छति यजेयेति तेऽअस्यैतेऽआत्मन्देवतेऽआधीते भवतो मेधा च मनश्च ।।१३।।

सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति । वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः साऽस्यैषाऽऽत्मन्देवताऽऽधीता भवति वाक्पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तेऽस्यैतऽआत्मन्पशव आधीता भवन्ति तद्यदस्यैताऽआत्मन्देवताऽआधीता भवन्ति तस्मादाधीतयजूंषि नाम ।।१४।।

अथ चतुर्थीं जुहोति । आपोदेवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽन्तरिक्ष ।। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेत्येषा ह नेदीयो यज्ञस्यापां हि कीर्त्तयत्यापो हि यज्ञो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्षेति लोकानां हि कीर्तयति बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्म यज्ञ एतेनो नेदीयो यज्ञस्य ।।१५।।

अथ यां पञ्चमीं स्रुचा जुहोति । सा हैव प्रत्यक्षं यज्ञोऽनुष्टुभा हि तां जुहोति वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्घियज्ञः ।।१६।।

अथ यद्ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वामानयति त्रिःस्रुवेणाज्यविलापन्याऽअधिजुह्वां गृह्णाति यत्तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति ।।१७।।

स जुहोति । विश्वोदेवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यतिद्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहेति।।१८।।

सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । विश्वोदेवस्येति वैश्वदेवं नेतुरिति सावित्रं मर्तो वुरीतेति मैत्रं द्युम्नं वृणीतेति बार्हस्पत्यं द्युम्नं हि बृहस्पतिः पुष्यसऽइति पौष्णम् ।।१९।।

सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । पाङ्क्तोयज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्यैतमेवैतयाऽऽप्नोति यद्देवताभिः पङ्क्तिर्भवति ।।२०।।

तां वाऽअनुष्टुभा जुहोति । वाग्वाऽअनुष्टुब्वाग्यज्ञस्तद् यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति ।।२१।।

तदाहुः । एतामेवैकां जुहुयाद्यस्मै कामायेतरा हूयन्तऽएतयैव तं काममाप्नोतीति तां वै यद्यैकां जुहुयात् पूर्णां जुहुयात्सर्वं वै पूर्णं सर्वमेवैनयैतदाप्नोत्यथ यत् स्रुवमभिपूरयति स्रुचं तदभिपूरयति तां पूर्णां जुहोत्यन्वेवैतदुच्यते सर्वास्त्वेव हूयन्ते ।।२२।।

तां वाऽअनुष्टुभा जुहोति । सैषाऽनुष्टुप्सत्येकात्रिंशदक्षरा भवति दश पाण्याऽअङ्गुलयो दश पाद्या दशप्राणा आत्मैकत्रिंशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिताऽएतावान्वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः पुरुषसंमितो यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमयैतदाप्नोति यदनुष्टुभैकत्रिंशदक्षरया जुहोति ।।२३।।

[**अनुवाद**] ॥ॐ॥ दीक्षा के जितने भी यजुर्मन्त्र हैं सब औद्ग्रभण (औद्ग्रहण) कहलाते हैं क्योंकि अध्यात्म देवताओं (आध्यात्मिक प्राणों) का आधिदैविक देवताओं (प्राणों) से सम्बन्ध कराने वाले हैं। अध्यात्म के देवता को यजुर्मन्त्र द्वारा अधिदैवत से योग कराना ही दीक्षा हैं। अध्यात्म का अधिदैवत के साथ मेल यजुर्मन्त्रों से होता है। दीक्षा के यजुर्मन्त्र अध्यात्म को अधिदैवत के साथ मिलाने में सहायक हैं। अतः दीक्षा सम्बन्धी यजुर्मन्त्रों का उत्-ऊर्ध्वं अधिदैवतं अध्यात्मप्राणान्तं ग्रहणे-योगे साधनानि, इस व्युत्पत्ति से इन यजुर्मन्त्रों को 'औद्ग्रभण' कहा गया है। जो यजमान यज्ञ में दीक्षा लेता है वह इस पृथ्वीलोक से देवलोक को पहुँचता है। किन्तु उसके देवलोक में पहुँचने के साधन में ये दीक्षाङ्गभूत यजुर्मन्त्र ही हैं। अतः उद्ग्रहण साधनत्स्वात् इन यजुर्मन्त्रों को औद्ग्रभण कहा गया है। दीक्षाङ्गभूत सभी यजुर्मन्त्र औद्ग्रभण हैं। सब यजुर्मन्त्रों में दीक्षाहुति-साधनभूत आकूतमारि मन्त्र उद्ग्रभण में अत्यन्त संनिहित हैं प्रधान सहायक है ऐसा कहते हैं। क्योंकि अन्य यजुर्मन्त्रों का जाप होता है उनके द्वारा आहुति नहीं दी जाती किन्तु ये औद्ग्रभण नामक यजुर्मन्त्र आहुतिस्वरूप ही हैं। आहुति का नाम ही यज्ञ है। जपसाधनभूत यजुर्मन्त्रों का यज्ञ से परोक्ष सम्बन्ध है, क्योंकि जप्ययजुर्मन्त्र केवल वाग्रूप है। जप से हमारी वाक् का अधिदैवत वाक् से सम्बन्ध होता है और अधिदैवत वाक् द्वारा उन मन्त्रों का देवताओं से सम्बन्ध होता है। क्योंकि देवता वाङ्मण्डल (सूर्य्यमण्डल) में रहते हैं। किन्तु दीक्षाहुति साधन भूत यर्जुमन्त्रों का साक्षात् देवताओं से सम्बन्ध होता है। क्योंकि आहुति अग्नि में सोम की आहुति है और अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है। यज्ञ से यजमानात्मा का आधिदैविक देवताओं से साक्षात् सम्बन्ध होता है। अतः दीक्षाहुति साधनभूत यजुर्मन्त्र साक्षात् अध्यात्म का अधिदैवत से सम्बन्ध कराते हैं। अतः इन औद्ग्रभण यजुर्मन्त्रों को अन्य यजुर्मन्त्रों की अपेक्षा प्रधान बतलाया है ॥१॥

औद्ग्रभण होम में ५ आहुतियाँ होती हैं। उनके साधन ५ ही यजुर्मन्त्र हैं। उनमें आदि के ३ यजुर्मन्त्र जो स्रुवा से आहुति देने से सम्बन्ध रखते हैं उन्हें मंत्र कहते हैं। आधानलिंगक होने से 'आधीतयजु' नाम से कहते हैं। किये जाने वाले कार्य्य का प्रथम संकल्प करना ही आधान हैं। प्रकृत में यज्ञकर्म्म करने से पूर्व, मैं यज्ञ करूंगा, इत्याकारक संकल्प ही तीन यजुर्मन्त्रों से किया जाता है। अतएव इन तीनों यजुर्मन्त्रों को 'आधीतयजु' कहा गया है। संकल्पानन्तर चतुर्थ यजुर्मन्त्र से उस संकल्प को कार्य रूप में परिणत किया जाता है। स्वर्गसम्पत्फलरूप के लिए चतुर्थ यजुर्मन्त्र से आहुति दी जाती है। पाँचवें यजुर्मन्त्र द्वारा स्रुक् से आहुति दी जाती है। इस आहुति से अध्यात्म का अधिदैवत के साथ मेल हो जाता है। अतः पञ्चममन्त्र से अध्यात्म का अधिदैवत के साथ मेलरूप फल प्राप्त हो जाने से ये पञ्चम यजुर्मन्त्र ही साक्षात् उद्ग्रभण का साधन है। वह प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् उद्ग्रभण का साधन है। अतः वही मुख्यतया औद्ग्रभण यजु है। यह पञ्चम आहुति अनुष्टुप् छन्दवाले यजुर्मन्त्र से देनी चाहिए क्योंकि अनुष्टुप् पृथिवीवाक् है। इसी का बृहती

रूप दिव्य वाक् से सम्बन्ध कराना है। यही यज्ञ है। अतः इस वाक् को यज्ञ (अध्यात्मप्राण का अधिदैवत से सङ्गतिकरण) कहा गया है ।।२।।

इसी यज्ञ के द्वारा देवताओं ने उस विजय को प्राप्त किया जो कि 'इन्द्र ने असुरों को मार दिया' इत्याकारक विजय उनकी सुनी जाती है अर्थात् सकल विश्व पर देवताओं का अधिकार है, यह जो महिमा सुनी जाती हैं वह सब यज्ञ का ही प्रताप है। उन देवताओं ने विचार किया कि हमने यज्ञ द्वारा यह महिमा प्राप्त की है। अब ऐसा उपाय करें कि जिससे यह यज्ञविद्या मनुष्यों को प्राप्त न हो अन्यथा वे भी हमारे समकक्ष हो जायेंगे और स्वभावतः अनृतसंहित मनुष्य दुराचार कर बैठेंगे। यह विचार कर उन देवताओं ने यज्ञ के सार भाग को, जिस तरह मधुमक्खियाँ मधु के रस का पूर्णतया पान कर लेती है, उसी प्रकार दोहन कर, वे यूप द्वारा विलुप्त कर तिरोहित हो गए, अर्थात् स्वर्ग में चले गए। क्योंकि यज्ञ को यूप के द्वारा आच्छादन किया, अतः यज्ञ का आच्छादन साधन होने से इसे यूप कहा जाता है ।।३।।

किन्तु ऋषिलोग देवताओं के इस काम को जानते थे। उन्होंने अपने मस्तिष्क से सोचकर मालूम कर लिया कि इस यज्ञ में इतना वास्तविक सत्य है और बाकी ढोंग मात्र है, यज्ञ रहस्य को छिपाने के लिए। क्योंकि दीक्षाकर्म ही यज्ञ में सार भाग है। देवताओं ने इस होम को ही संभरण किया था। अतः उन्होंने औद्ग्रभण होम को सार समझ कर औद्ग्रभण होम को यज्ञ में संमिलित कर लिया, जो होम उपर्युक्त यजुर्मन्त्रों द्वारा होता है ।।४।।

वह यजमान इस होम में पाँच आहुतियों को डालता है, क्योंकि यह संवत्सर से परिच्छिन्न है। अर्थात् अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ का स्वरूप है। अग्नि का रयन्तर-सामपर्यन्त जो सौरमण्डल है यही संवत्सराग्नि है। इस अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती रहती है। अतः अग्नि के संवत्सरसमित होने अग्नि में सोमाहुति रूप यज्ञ संवत्सर से परिछिन्न है। संवत्सर में ७२, ७२ दिन की बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्तशिशिर रूप पाँच ऋतुएँ होती हैं। इस होम में पाँच आहुतियों को डालता हुआ यजमान पाँचों ऋतुओं की प्राप्ति के द्वारा पञ्चर्तुसमष्टि संवत्सर को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस होम में पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं ।।५।।

अब होम की मीमांसा की जाती है अर्थात् औद्ग्रभण होम के पाँचों आहुतिरूप पाँचोंमन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। चार युग्मों में ही वैज्ञानिक महर्षियों ने यज्ञ के सार भाग को मालूम किया था। वे चार युग्म निम्नलिखित हैं।

१ आकूति व प्रयुक्। २ मेधा व मन। ३ दीक्षा व तप। ४ सरस्वती व पूषा। इसी बात को बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञानुष्ठान से पूर्व मैं यज्ञ करूंगा यह दृढ़ संकल्प

किया जाता है, यही आकृति है तथा संकल्पानन्तर उस संकल्प को कार्य रूप में परिणत करना ही प्रयुक् है। इन्हीं को क्रमशः क्रतु व दक्ष शब्द से तथा मित्र व वरुण शब्द से भी अन्यत्र कहा गया है। इसी आकूति व प्रयुक् रूप अग्निसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए 'आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा' कह कर आहुति दी गयी है। इस संकल्प तथा उसकी कार्रवाई में परिणतिरूप प्रयुग् के द्वारा यज्ञ के तत्व का अपनी आत्मा में स्थापन करता है ।।६।।

दूसरा तत्व मेधा व मन है। किये हुए संकल्प का धारणावती बुद्धि में धारण करना ही मेधा है तथा साधन भूत मन है। 'मेधायै मन से अग्नये स्वाहा:' कह कर आहुति दी जाती है। अर्थात् यज्ञ में मेधायुक्त मन रहना चाहिए। वही यज्ञ का दूसरा भाग है। आहुति के द्वारा इसे सारभाग को अपनी आत्मा में रखना है। इसीलिए कहा है कि "मेधया वै मनसाऽभिगच्छति)" इति ।।७।।

तीसरा तत्त्व है दीक्षा व तप। दीक्षा व तप की प्राप्ति के लिए 'दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा' यह मन्त्र केवल बोल दिया जाता है। इसमें आहुति नहीं दी जाती। तप शब्द से यहाँ प्राणव्यापार अभिप्रेत है। संकल्प व धारणावती बुद्धि के पश्चात् यज्ञ के लिए प्राणव्यापार भी अभीष्ट है। इसके बिना यज्ञ का अनुष्ठान नहीं हो सकता।

चौथा तत्व हैं सरस्वती व पूषा। वाक् को सरस्वती कहते हैं। वाक् ही यज्ञ है। सरस्वान्नामक पारमेष्ठ्य समुद्र में आम्भृणीवाक् उत्पन्न होती है। अतः सरस्वान् के समन्वय से वह वाक् सरस्वती कहलाती है। अतः 'वाग् वै सरस्वती' यह कहा गया है। पारमेष्ठ्य अप्तत्व से ही यज्ञ का प्रारम्भ होता है। अतः वाक् को यज्ञ कहा गया है। पार्थिवप्राण ही पशु हैं। उपकरणसामग्री पूषा कहलाते हैं। उपकरण सामग्री से वस्तु की पुष्टि होती है। इसी अभिप्राय से 'पशवो वैषा, पुष्टि वैं पूषा पुष्टिः पशवः' यह कहा है। पुरोडाश क्षीर एवं अजादि पशुओं के बिना यज्ञ नहीं होता। अतः 'पशवो ही यज्ञः' इस वचन से यहां साधनत्वात् पशुओं को यज्ञ बतलाया है। अतः सरस्वती व पूषा की प्राप्ति के लिए 'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नेय स्वाहा' यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति डालता है। इससे सरस्वती व पूषा में विद्यमान यज्ञसम्पत्ति को एकत्रित करता है। इस प्रकार संकल्प से लेकर पूषा तक की सम्पत्ति को आत्मसात् करने के लिए पूर्वोक्त औद्ग्रभण होम किया जाता है। ।।८।।

यहां कतिपय याज्ञिक विद्वान् कहते हैं कि औद्ग्रभण होम में जो आहुति दी जाती है वह सर्वथा अप्रत्यक्ष, अप्रतिष्ठित व अदेवक है। क्योंकि आहुति देवता को दी जाती है और आकूति, प्रयुग् आदि देवता नहीं है किन्तु अग्नि, इन्द्र, सोम आदि देवता है। उनमें से यहां किसी भी देवता को आहुति नहीं दी गई है। अतः यह औदग्रभण होम अदैवक है। तथा बिना देवता के आहुति कहीं प्रतिष्ठित नहीं होती। अतः यह आहुति अप्रतिष्ठित भी है। यद्यपि प्रथम तीनों आहुतियों में तीनों मन्त्रों में अग्नये पद देकर अग्नि देवता के नाम

का उल्लेख है तथापि यहाँ अग्नि का कोई प्रसङ्ग नहीं है। आहुति तो आकूति आदि को आत्मसात् करने के लिए दी गई है। ॥१०॥

उपर्युक्त कथन का निराकरण करते हुए कहा है कि "आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा" इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण कर आकूत्यादि को आत्मसात् करने के लिए जो आहुति दी जाती है वह 'अग्नेय स्वाहा' कहकर स्पष्ट रूप से अग्नि में ही दी जाती है। अतः अग्नि देवता का स्पष्ट उल्लेख होने से औंद्ग्रभण होम की आहुति प्रत्यक्ष की तरह है अपरोक्ष नहीं। और ये आहुतियाँ अप्रतिष्ठित भी नहीं है क्योंकि अग्नि देवता पर वे प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए सभी आहुतियों में 'अग्नेय स्वाहा' ऐसा कहा गया है ॥११॥

प्रथम मन्त्र की व्याख्या की जा रही है–यज्ञानुष्ठान से पूर्व मैं यज्ञ करूँ, ऐसा संकल्प 'आकूत्यै' इत्यादि मन से करता है। तत्पश्चात् संकल्पित वस्तु का आत्मा के लिए प्रयोग (अनुष्ठान) करता है जो यज्ञ का वितान करता है। अर्थात् संकल्पानुसार ही कर्म्म का वितान करता है। इस पर आकूति और प्रयुग् (प्रयोग) दोनों देवता इस यजमान के आत्मा में आध्यान के विषय बन जाते हैं। ॥१२॥

'मेधायै स्वाहा मन्त्र की व्याख्या-मेधायुक्त मन के द्वारा ही मैं यज्ञ करूँ। इस संकल्प की ओर यजमान अभिमुख होता है। अतः मेधा और मन भी ये दोनों देवता भी यजमान की आत्मा में आहित हो जाते हैं। आध्यान के विषय बन जाते हैं। ॥१३॥

'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा' इस मन्त्र की व्याख्या–जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि वाक् ही सरस्वती है और वह वाक् ही यज्ञ है। पशु ही पूजा हैं। क्योंकि पूजा पुष्टि का नाम है और पशुओं से यजमान पुष्ट होता है। ये पशु ही यज्ञसाधन होने से यज्ञरूप हैं। अतः इस मन्त्र के द्वारा वाग्रूप सरस्वती तथा पशुरूप पूषा दोनों ही यजमान की आत्मा में आध्यान का विषय बन जाते हैं। यहां काण्डिका में वाग्रूप सरस्वती एक है। अतः उसके लिए 'आधीता भवति' इत्याकारक का प्रयोग किया गया तथा पूषा पशुरूप होने से और पशुओं के अनेक होने से उसके लिए 'आधीता भवन्ति' इत्याकारक बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इसलिए आध्यान विषयक होने से इनकी 'आधीत यजु' नाम से व्यपदिष्ट किया गया है।

चतुर्थी आहुति के मन्त्र का अर्थ करते हैं—वह मन्त्र निम्नाङ्कित है—

आपोदेवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरोऽन्तरिक्ष।

बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा "इति"

ये विशाल जो आपोदेवो हैं अर्थात् जलदेवता है ये संसार का कल्याण करने वाले हैं। द्यु लोक, पृथिवीलोक तथा विशाल अन्तरिक्ष इन के कार्य हैं क्योंकि जल से ही उत्पन्न होते हैं। हम बृहस्पतिदेवता के लिए आहुति प्रदान करते हैं। यह इस मन्त्र का शब्दार्थ है, किन्तु इस के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए बृहद् व्याख्या की आवश्यकता है। जिसका प्रतिपादन हिन्दी विज्ञानभाष्य में है।

प्रत्येक वस्तु में आत्मा, पद तथा पुनः पद अर्थात् केन्द्र, पिण्ड तथा महिमामण्डल ये तीन विभाग होते हैं। जैसे पृथिवी का केन्द्र, पृथिवीपिण्ड (चित्यमर्त्य पृथिवी) तथा २१वें अहगर्णा से भी ऊपर तक वितत् महिमामण्डल जिसे चितेनिधेय पृथिवी या अमृता पृथिवी कहा जाता है। वस्तु का महिमामण्डल ही सोममण्डल कहलाता है। पास से वस्तु जितनी बड़ी मालूम पड़ती है, दूर जाने पर उत्तरोत्तर छोटी प्रतीत होगी। यहां तक कि किसी सीमा पर वह एक बिन्दु मात्र प्रतीत होगी। उस स्थान से वस्तु को केन्द्र में रखकर व्यासार्ध से उतनी ही दूर का जो एक मण्डल बनाया जायेगा, उस मण्डल पर खड़े होने वाले प्रत्येक मनुष्य को वह वस्तु बिन्दु मात्र ही दिखाई देगी। यही उस वस्तु का साममण्डल है। यह साममण्डल, ज्यों-ज्यों केन्द्र की ओर मनुष्य चलता जायेगा, छोटा होता जाएगा। यहा तक की अन्त में बिन्दुमात्र ही रह जायेगा। किन्तु इसके विपरीत केन्द्र से सूच्यग्रमुख होती हुई आगे बढ़ती हुई दो-दो बिन्दु कम होती हुई जो अग्नि है वह ऋक् कहलाती है। साम बाहर से छोटा होता हुआ केन्द्र में आकर बिन्दुरूप रह जाता है, किन्तु केन्द्र से बाहर जाता हुआ अन्तिम परिधि में जाकर बिन्दु मात्र शेष रह जाता है। यह ऋक् ही वस्तु की मूर्ति है। जैसाकि 'ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्तिमाहुः' यह श्रुति बतला रही है। यह मूर्ति केन्द्र में महान् है। किन्तु अन्तिम साम में पहुंच कर अत्यन्त छोटी बिन्दु मात्र शेष रह जाती है। चूंकि प्रत्यक्ष मूर्ति का ही होता है। अतः बिन्दुमात्र शेष रहने के बाद आगे ऋक् का अभाव हो जाता है। अतः वस्तु का दर्शन नहीं होता।

यह ऋक् साम सभी पदार्थों में होते हैं। पदार्थ भेद से ये लघु तथा महान् होते हैं। क्षर तथा अक्षर अर्थात् अपरा तथा पराप्रकृति विशिष्ट पुरुष प्रजापति के शरीर के स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य, पृथिवी व चन्द्रमा ये पांच अवयव हैं। इनमें पूर्व-पूर्व के उदर में उत्तर-उत्तर अवयव हैं। जैसे चन्द्रमा पृथिवी के उदर में, चन्द्रसहित रथान्तरसामान्त पृथिवी सूर्य के उदर में अपने बृहत् साममण्डल सहित सूर्य परमेष्ठी के उदर में तथा चन्द्रपृथिवी व सूर्य सभी को अपने उदर में लिये हुए अपने साममण्डल सहित परमेष्ठी स्वयंभू के उदर में है। चूंकि परमेष्ठी का साममण्डल सूर्य के साममण्डल से भी बहुत बड़ा है। अतः सूर्य परमेष्ठी के अन्दर एक बड़ी बूंद के समान है। इसीलिए 'द्रप्सश्चस्कन्द' यह श्रुति सूर्य बूंद के समान परमेष्ठी मण्डल में है, यह कह रही है। परमेष्ठी आपोमय है। अतः मन्त्र में 'आपोदेवीबृहतीः' ऐसा कहा गया है।

विश्व की उत्पत्ति, अग्नि में सोम की आहुति द्वारा ही होती है। ये अग्नि व सोम दोनों परमेष्ठी में है, क्योंकि धन, तरल, विरल भेद से क्रमशः आपः वायु सोमस्तत्व ही भृगु है। तथा घन, तरल, विरल भेद से त्रिधा विभज्य अग्नि, यम व आदित्य ही अङ्गिरा (अग्नि) कहलाता है।

अङ्गिरा अग्निरूप होने से अशांतिजनक है। भृगुरूप आपः की आहुति से वह शान्त्य् व शिव बन जाता है। अतः इन पारमेष्ठच आपोदेवियों को 'विश्व शंभुवः' विश्व कल्याण करने वाली बतलाया है। मानसी व मैथुनी भेद से द्विविध सृष्टि में मैथुनी सृष्टि का मूल पारमेष्ठच आपस्तत्व ही है। इसीलिए भगवान् मनु ने कहा है 'अप एव ससर्जादौ' इति। 'आपः, वायु, सोम भेद से त्रिविध आपः में ही चिदात्मारूप बीज की आहुति होती है। इसी से सृष्टि होती है। इसीलिए भगवद्गीता में कहा हैं :—

ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततोभवति भारत॥ इति।

क्योंकि जिसमें चिदात्मा की आहुति द्वारा सृष्टि होती हैं वह आप्यतत्व, अप्, वायु, सोमभेद से त्रिविध हैं। अतः सृष्टि भी-आप्य, वायव्य, सौम्यभेद से तीन ही प्रकार की है। इस बृहत् त्रिविध आप्य तत्व से जिस सृष्टि का निर्माण होता हैं, वह रोदसी त्रैलोक्य है जो कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु लोक भेद से त्रिविध है। उसी का निरूपण मध्य में 'द्यावापृथिवी उरोऽन्तरिक्षम्' से किया हैं।

जैसा कि ऊपर बतला दिया है कि क्षर तथा अक्षर अर्थात् अपरा प्रकृति से विशिष्ट पुरुष प्रजापति के स्वयंभू आदि ५ अवयव हैं। इन में मध्यस्थ सूर्य है। सूर्य के ऊपर के दो लोक स्वयंभू परमेष्ठी अमृतरूप हैं तथा सूर्यलोक से नीचे के दो लोक पृथिवी व चन्द्रमा मृत्युरूप हैं।

स्वयंभू व परमेष्ठी पूर्ववर्ती है तथा सूर्य, पृथिवी व चन्द्रमा उत्तरवर्त्ती हैं। बृहस्पति परमेष्ठी का अन्तिम भाग है। अतः वह पूर्ववर्ती स्वयंभू, परमेष्ठी आदि का उत्तम (अन्तिम) कहलाता है तथा उत्तरवर्ती ग्रहों में सूर्य सबसे प्रथम है। अतः श्रुति कह रही है कि 'बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति। इन्द्रउत्तरेषां प्रथमः' इति। सूर्य का प्राण इन्द्र है अतः सूर्य के स्थान में श्रुति में इन्द्र शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। बृहस्पति ब्रह्मवीर्यप्रदाता है। अतः बृहस्पति के लिए हवि प्रदान करें' यह कहा गया है।

'आपोदेवो····' इत्यादि ऋचा यहां के अत्यन्त नजदीक है। अर्थात् यह ऋक् साक्षात् यज्ञ-स्वरूप का वर्णन कर रही है। क्योंकि इस में जल का वर्णन है और अप्तत्व ही यज्ञ का साक्षात् स्वरूप है। इसीलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने 'एषा हि वेदीयो यज्ञस्य' अपां हि कीर्तयति, आपो

हि यज्ञः' ऐसा कहा है। इस यज्ञ से पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप रोदसी त्रैलोक्य की उत्पत्ति होती है। अतः मूलग्रन्थ में 'द्यावापृथिवी उरोऽन्तरिक्ष' इति लोकानां हि कीर्तयति' यह कहा है। इन तीनों से ऊपर रहने वाला बृहस्पति ब्रह्मवीर्यप्रदाता है और ब्रह्म यज्ञ है। इस प्रकार सम्पूर्ण ऋचा यज्ञ का ही प्रतिपादन कर रही है। यद्यपि ब्रह्म अमृतस्वरूप व असंग तत्व है उसे यज्ञस्वरूप यौगिक तत्व कैसे माना जा सकता है तथापि सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त रहने के कारण सृष्टि के सम्बन्ध से समन्वय से उसे यज्ञ माना जा सकता है। अतः 'ब्रह्म वै बृहस्पति ब्रह्म यज्ञः' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार मैथुनी अर्थात् यौगिक सृष्टि के कारण जलतत्व, उससे उत्पन्न होने वाली रोदसीरूपा त्रैलोक्यसृष्टि तथा उसमें व्याप्त रहने वाला ब्रह्मरूप तत्व सभी यज्ञ है। इस प्रकार सृष्ट्युत्पादक अप्तत्व तथा उससे उत्पन्न होने वाली रोदसी त्रिलोकी तथा इनका मूलभूत असंगब्रह्म, तत्व इन तीनों में ब्रह्म ही प्रधान है। अतः 'बृहस्पतये हविषा विधेय स्वाहा, ऐसा कहा गया है। ।।१५।।

उपर्युक्त चारों आहुतियां आज्य स्थालीगत स्रुवा, आदि से दी जाती है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है कि 'औद्ग्रभणानि जुहोतिस्थाल्याः सुवेणाहुत्यै प्रतिमन्त्रम् (का० श्रौ० सू० ७।७६) इति। किन्तु पांचवीं आहुति स्रुक् (जुहू) से दी जाती है। यह आहुति साक्षात् यज्ञस्वरूप है। अनुष्टुभ् छन्द के द्वारा इस आहुति को दिया जाता है। वाक् ही अनुष्टुभ् है, वाग् ही यज्ञ है। ।।१६।।

पूर्वोक्त कण्डिका के अर्थ का ही इस १७ वीं कण्डिका के द्वारा स्पष्टीकरण किया जा रहा है। अर्थात् पांचवीं आहुति में दीक्षणीयेष्टि सम्बन्धी जो आज्य ध्रुवापात्र में अवशिष्ट रह गया था उस आज्य को जुहू में डाले, यह एक अक्त (भाग) है। और आज्यस्थाली से स्रुव के द्वारा जुहू में तीन बार आज्य का निनयन करता है, डालता है, ये तीन अक्त हैं। इस प्रकार यह आज्य-चतुरक्त हो जाता है। इनमें तीसरा अक्त (धृतभाग) आज्य विलापनी से जुहू के ऊपर पर स्रुव का ऊर्ध्वमुख रख करके वह स्रुव आज्य से परिपूर्ण हो जाए, इस प्रकार डालें। अर्थात् स्रुव को चारों तरफ आज्य से पूर्ण कर दे। इसीलिए श्रौतसूत्रकार कात्यायन ने कहा है :–'जुह्वां ध्रौव मासिच्य द्विद्च स्थाल्याः स्रुवेण तृतीयम् स्रुवमभिपूरयति विश्वोदेवस्य' इति (का० श्रौ० सू० ७।८१) ।।१७।।

पांचवा होम, जिस मन्त्र से किया जाता है उस मन्त्र को बतला रहे हैं :—

'विश्वोदेवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत् सख्यम्। विश्वो रायइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा'। इति। इस मन्त्र में पञ्चदेवताकत्वरूप पाङ्क्तत्त्व अगली कण्डिका के द्वारा बतलाया जा रहा है। ।।१८।।

इस मन्त्र में विश्वदेव शब्द के श्रवण से यह मन्त्र वैश्वदेव है। 'नेतुः' इस पद के द्वारा प्रेरकत्व बतलाने से यह मन्त्र सवितृदेवताक है। क्योंकि 'सविता वै देवानां प्रसविता' इस श्रुति

के द्वारा सविता ही देवताओं को प्रेरणा देने वाला है। 'मर्तो वरीत' इस वाक्य के द्वारा मनुष्यों के द्वारा वरणीय (एष्टव्य) बतलाने से यह मन्त्र मित्रदेवताक है। क्योंकि मित्र ही वरणीय होता है। रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक आने वाला सौर तेज हम से संगम करने वाला है अतः उसे मित्र कहा जाता है। 'द्रविणं धेहि चित्रम्' इस वाक्य में द्युम्नापरपर्याय द्रविण के देने में बृहस्पति का सम्बन्ध होने से यह मन्त्र बृहस्पतिदेवताक है। क्योंकि द्युम्न तेज बृहस्पति का ही है। 'पुष्यसे' के द्वारा पोषण सम्बन्ध के श्रवण से यह मन्त्र पूषा देवताक है। क्योंकि पोषण करना 'पूषा' का ही काम है। इसीलिए 'पुष्टिर्वै पूषा' यह १४ वां कण्डिका में कहा गया है। इस प्रकार यह पञ्चदेवताक होने से पंक्ति कहलाता है। ॥१९॥

यह मन्त्र पञ्चदेवताक होने से पंक्तिसम्पत्तियुक्त है। यज्ञ पंचावयव होता है। पशु भी पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज भेद से पांच हैं। एक संवत्सर में ७२, ७२ दिन की पांच ऋतुएं होती है। अतः संवत्सर पञ्चर्तु समष्टिरूप है। संवत्सर ही यज्ञ है। इस प्रकार पञ्चदेवताकरूप पंक्ति सम्पत्तियुक्त ऋचा से यजमान संवत्सर यज्ञ को तथा पशुसम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। ॥२०॥

यह आहुति अनुष्टुप् छन्द से दी जाती है। अनुष्टुप् छन्द वाग्रूप है और वाक् (वषट्कार) यज्ञरूप हैं। अतः अनुष्टुप् छन्दस्क ऋचा से आहुति प्रदान करता हुआ यजमान प्रत्यक्षरूप से यज्ञ को प्राप्त कर लेता हैं। ॥२१॥

कतिपय आचार्य कहते हैं कि औद्ग्रभण होम में एक ही आहुति का हवन करें। किन्तु जुहू को घृत से पूरी भर कर आहुति दे। पूर्ण ही सर्व है। इस प्रकार जुहू को घृत से परिपूर्ण करके एक आहुति से सर्वकामनाओं की पूर्ति हो जाती है शेष आहुतियों की आवश्यकता नहीं है। पूर्णाहुति के समय स्रुव को धृत से पूर्ण करे उस समय स्रुव से होम न कर के घृत से जुहू को भर लें। तब उस आहुति को पूर्णाहुति करके उसकी आहुति दे। जैसाकि कात्यायन ने कहा है :–'एतमेव वा पूर्णाजुहुयात्' (का०श्रौ० सू० ७।८२) ॥२२॥

यह पाँचवीं आहुति अनुष्टुप् छन्दस्क ऋचा द्वारा दी जाती है। ३१ अक्षरों वाले अनुष्टुप् छन्द द्वारा आहुति देने से निम्न संपत्ति प्राप्त हो जाती है। इसमें १० अंगुलियाँ हाथों की, १० अंगुलियाँ पैरों की, १० प्राण एवं ३१ वां आत्मा है जिसमें कि सारे प्राण प्रतिष्ठित है। यही पुरुष का स्वरूप है। ३१ अक्षरों वाले अनुष्टुप् छन्दस्क द्वारा चारों आहुति देने पर पुरुषसम्पत्ति पूर्णतया प्राप्त हो जाती है। पुरुष ही यज्ञ है। क्योंकि यज्ञ पुरुषसंमित है। जितनी मात्रा पुरुष की है उतनी ही मात्रा यज्ञ की है। यद्यपि अनुष्टुप् छन्द में ३२ अक्षर होते हैं किन्तु एक या दो अक्षरों की न्यूनता या वृद्धि से छन्दः सम्पत्ति का नाश नहीं होता है। जैसाकि श्रुति कहती है–'नैकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम् इति'। ॥२३॥

[**विज्ञान भाष्य**] **"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः"** यही हमारे विज्ञान का सिद्धान्त है। जो कुछ **"है"** कहने लायक है वह इन्हीं देवताओं से उत्पन्न होता है। देवता कुल पाँच हैं, उनके नाम हैं (१) ऋषि (२) पितर (३) देव (४) गंधर्व (५) मनुष्य। ये पाँचों प्राण ही देवता कहलाते हैं। पितरों के साथ असुर–प्राण रहते हैं एवं मनुष्य–प्राण के साथ पशु–प्राण रहता है। इस प्रकार कुल ६ प्राण हो जाते हैं। छओं ही देवता हैं—इससे चमक नहीं जाना चाहिए कि असुर और पशु एवं पितर और ऋषि, देवता कैसे हुए? देवता तो अग्नि, वायु आदित्य ही हैं—नहीं–नहीं, देवता सबके लिए सामान्य शब्द है। अपने–अपने काम में सब देवता है छओं ही देवता है इसीलिए तो असुर देवत्य, पितृदेवत्य, पशुदेवत्य, ऋषि देवत्य इत्यादि व्यवहार होता है। यदि देवता केवल अग्नि-वायु पर ही रूढ होता तो फिर असुर कर्म्म असुर देवत्य कैसे कहलाता? इसलिए सिद्धान्त समझना चाहिए कि सब अपने–अपने कर्म के देवता हैं। हां, पितर ऋषि नहीं हैं, ऋषि पितर नहीं है, असुर ऋषि नहीं हैं—ऋष्यादि भेदेन सब पृथक् हैं। देवतात्वेन सब एक हैं। असुर देवता अवश्य है परन्तु देव नहीं हैं। देवाः से ३३ देवताओं का ही ग्रहण होता है परन्तु देवताओं से यावन्मात्र प्राणों का ग्रहण होता है। अतएव 'देवताः' और "देवाः" को पर्य्याय, अमरकार का पर्य्याय बतलाना वैज्ञानिक दृष्टि से एकान्ततः अशुद्ध है। बतलाना हमें यही है कि **जायमानो वै जायते** में जो देवता शब्द है उससे ऋषि पितरादि सबका ग्रहण समझना चाहिए।

इन्हीं देवताओं से यच्चयावत् प्राणिमात्र का—प्राणिमात्र ही का क्या जड़चेतन सबका निर्म्माण होता है। हमारे शरीर में ६६ असुर है, ३३ देवता है, २७ गंधर्व हैं, आठ पितर हैं, पुरुषाश्वगोअविअज-पांच पशु हैं। इन सब की समष्टि से हमारा शरीर बना हुआ है। इन पांचों में से ऋषि ज्ञान मात्र के प्रदाता हैं एवं पहला मौलिक तत्त्व यही ऋषि है। यह स्वयंभूमण्डल की वस्तु है। पितर और असुर परमेष्ठि मण्डल की वस्तु है। ३३ देव सूर्य्य की वस्तु है एवं गंधर्व चन्द्र मण्डल की वस्तु है एवं पशु–प्राण पृथिवी की वस्तु है। पशु के देवता है 'पूषा' एवं पशु रहते हैं पृथिवी पर–अतएव पृथिवी के लिए "इयं वै पूषा" कहा जाता है। इन पांचों में से, प्रकृत में केवल सौर देवताओं से सम्बन्ध है। यज्ञ का सम्बन्ध अग्नि से है एवं अग्नि ही की अवस्था विशेष का नाम है ३३ देवता। अतएव हमारा सम्बन्ध यज्ञापेक्षया ३३ देवताओं से है। पृथिवी से निकलने वाला अग्नि ८ वसु ११ रुद्र १२ आदित्य, प्रजापति, वषट्कार भेदेन ३३ स्वरूपों में परिणत हो जाता है। ८ वसु पृथिवी की वस्तु है, रुद्र अन्तरिक्ष की वस्तु है, आदित्य द्युलोक की वस्तु है। १२ आदित्यों में से एक आदित्य का नाम है इन्द्र। इसीलिए—

"यथाग्नि गर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" कहा जाता है। यास्क मुनि भी कहते हैं—

"अग्नि र्भूस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्ष स्थानः सूर्य्यो द्युस्थान इति"। इस सम्पूर्ण प्रपञ्च से हमें बतलाना यही है कि यह देवता त्रिलोकी में व्याप्त हो रहे हैं, एवं इनमें पारमेष्ठ्य सोम–जिसे कि अमृत कहते हैं–आहुत हो रहा है। देवता आग्नेय है। अग्नि मर्त्य है परन्तु चूंकि इस २१ वें स्थान में रहने वाली अग्नि में अर्थात् सूर्य में हर समय पारमेष्ठ्य सोम स्वरूप अमृत की आहुति पड़ती रहती है अतएव

अग्नि अमर है इसलिए देवता 'अमरा' "निर्जरा" कहलाते हैं । सूर्य में सोम हुत होता रहता है अतएव **"सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्"** यह कहा जाता है । इस प्रकार से आधिदैविक मण्डल के देवता इक्कीस से ऊपर के सोम सम्बन्ध से सदा अमर रहते हैं ।

यही देवता हमारे अध्यात्म में प्रविष्ट होते हैं । अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम आदि देवताओं से ही हमारा शरीर बना हुआ है । जैसा कि श्रुति कहती है—

अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत् । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् । आदित्यश्चक्षुर्भुत्वाऽक्षिणी प्राविशत् । दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत् । ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशत् । आपोरेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्... तमशाना पिपासे अब्रूताम्–आवभ्यामभिप्रजानी हि इति । ते अब्रवीत् एतास्वेव वां देवतास्वाभजामि । एतासु भागिन्यौ करोमि । तस्माद् यस्यै च कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावावेवास्यामशना पिपासे' (ऐ० उ० १।२)

उन व्यापक देवताओं से प्रवर्ग्य बन कर हमारा अध्यात्म मण्डल बनता है । हमारे अध्यात्म देवताओं का उनसे सम्बन्ध छूट जाता है । अध्यात्म देवता की और अधिदैवत देवता की विद्युत् का सम्बन्ध हट जाता है । अतएव अध्यात्म देवता मर्त्य हो जाते हैं । इन्हें साक्षात् सोम नहीं मिल सकता ।

यदि किसी उपाय से उन देवताओं के साथ अध्यात्म देवताओं की विद्युत् का कनक्शन जोड़ दिया जाय तो फिर २१ विंशस्थ सोम के भागी अध्यात्म देवता भी हो सकते हैं–बस इसीका नाम है 'दीक्षा', इसी का नाम है सोम–याग, इसीका नाम है यज्ञ विद्या । दीक्षा से अध्यात्म का सम्बन्ध अधिदैवता के साथ जोंड़ दिया जाता है । इस सम्बन्ध से प्राणोत्क्रान्त्यनन्तर यजमान का आत्मा सीधा स्वर्ग में १७ वें स्थान पर चला जाता है । अध्यात्म के देवता को यजुर्मन्त्र द्वारा अधिदैवत में मिलाने का नाम ही चूंकि दीक्षा है अतएव दीक्षा के जितने भी यजुर्मन्त्र होते हैं वे 'औद्ग्रभण' कहलाते हैं ।

उत् का अर्थ है-ऊर्ध्व लोक–अर्थात् अधिदैवतमण्डल । यह यजुमन्त्र चूंकि यजमान के अध्यात्म का उत्–ग्रहण करा देते हैं—उसमें मिला देते हैं अतएव इन यजु मन्त्रों को 'उद्ग्रहण' मन्त्र कहते हैं । वेद में "हृग्रहोर्भश्च्छन्दसि" से 'ह' को 'भ' हो जाता है अतएव उद्ग्रहण को उद्ग्रभण–मन्त्र कहते हैं । बस इसी अभिप्राय से याज्ञवलल्क्य कहते हैं—

सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूंषि औद्ग्रभणानि

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं "यह यजमान देवलोक की तरफ जाता है–जो कि दीक्षा लेता है । अर्थात् यजुर्मन्त्रों से दीक्षा लेना अपने अध्यात्म को अधिदैवत से मिलाना है चूंकि यजुर्मन्त्रों से

यह कहा जाता है। यजुमन्त्र ही अध्यात्म का अधिदैवता के साथ सम्बन्ध जोड़ता है— इसीलिए कहते हैं कि दीक्षा के जितने भी यजुमन्त्र हैं वे सब 'औद्ग्रभण' हैं—

"उद्गृभ्णीते वाऽएषोऽस्माल्लोकात् देवलोककमभि यो दीक्षते। एतैरेव तद् यजुभिरुद्ग्रभ्णीते-तस्मादाहुः सर्वाणि दीक्षा यजूंषि औद्ग्रभणानीति"

सोमयाग में प्रयुक्त जितने भी यजुमन्त्र हैं उन सब यजुओं में दीक्षा–आहुति साधन इस उद्ग्रहण में साधनभूत जो औद्ग्रभण यजु हैं वे ही उद्ग्रहण में अत्यंत संनिहित हैं। अर्थात् यजमान का दिव्यलोक से सम्बन्ध जोड़ने में प्रधान दर्जा औद्ग्रभण यजुओं का ही है। यदि दीक्षा अच्छी प्रकार से हो जाती है तो फिर सारा यज्ञ निर्विघ्नतया समाप्त हो जाता है और यदि दीक्षा में गड़बड़ रह जाती है तो फिर सारा कर्म्म व्यर्थ है–इन यजुओं से ही वह स्वर्ग लोक से आत्म सम्बन्ध जोड़ता है–औद्ग्रभण यजु ही–अध्यात्म को अधिदैवत के साथ मिलाने का सूत्र है अतएव इन औद्ग्रभण मन्त्रों को "अवान्तर" (उद्ग्रहण क्रिया में अत्यन्तसन्निहित, दिव्यात्म सम्बन्ध में प्रधान सहायक) कहा जाता है—

"तत एतान्यवान्तरामाचक्षतेऽ औद्ग्रभणानि"

इन यजुमन्त्रों का अवान्तरण कैसे हैं ? यह बतलाते हैं।

और-और जो यजु हैं उनका जपमात्र होता है। उनसे आहुति नहीं दी जाती परन्तु यह जो औद्ग्रभण मन्त्र हैं वे तो आहुति-स्वरूप हैं अर्थात् यह यजुमन्त्र तो आहुति ही हैं—

"आहुतयोह्येताः"

आहुति को यज्ञ कहते हैं। देवता सारे वाङ्मय हैं। अतः वाक् से उनके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। देवताओं का आधार वाङ्मण्डल है। अर्थात् सूर्यमण्डल है। सारे देवता सूर्य्य में रहते हैं अतएव **"चित्रं देवानामुदगादनीकम्"** कहा जाता है। ऐसी हालत में केवल वाक् (केवल यजु) का हम प्रयोग करते हैं तो हमारी वाक् का सम्बन्ध होता है इस अधिदैवत् वाक् से एवं तत्द्वारा देवता का सम्बन्ध होता है हमारे से। इस प्रकार वाक् से देवता का सम्बन्ध परम्परया परोक्षरूपेण होता है। परन्तु आहुति-विशिष्ट मन्त्र से तो यज्ञ से साक्षात् सम्बन्ध होता है। अग्नि साक्षात् देवता है। इसमें आहुति पड़ते ही अग्नि इसे विशकलित कर डालता है। अग्नि में सोम की आहुति का डालना ही यज्ञ कहलाता है अतएव हम आहुति को यज्ञ कहने के लिए तैय्यार हैं **"आहुति हि यज्ञः"**—

याज्ञवल्क्य कहते है कि जो केवल यजुमन्त्र का जप करता है वह परोक्षभावेन अधिदैवत मण्डल से युक्त हो जाता है एवं यह प्रत्यक्ष यज्ञ है जो कि आहुति है अर्थात् आहुति सहित यजुर्मन्त्र का बोलना साक्षात् यज्ञ को प्रत्यक्ष रूपेण आत्मसात् करना है—

"परोक्षं वै यजुर्जपति । अथैष प्रत्यक्षं यज्ञः यदाहुतिः"

इस प्रकार से यह यजमान यजुर्मन्त्र सहित आहूयमान यज्ञ से देवलोक की तरफ जाता है, अर्थात् यजुर्मन्त्र सहित दी जाने वाली आहुतियों से चूंकि इस यजमान के अध्यात्म का अधिदैवत के साथ संबंध हो जाता है अतएव हम इन औद्ग्रभण यजुमन्त्रों को यजमान के इस अधिदैवत सम्बन्ध में खाली यजुमन्त्रों की अपेक्षा अवान्तर अर्थात् प्रधान कह सकते हैं ॥१॥

औद्ग्रभण होम में पांच आहुति होती हैं। इन पाचों के पांच ही यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से पहले के जो तीन यजुर्मन्त्र हैं वे '**अधीत यजु**' के नाम से व्यवहृत होते हैं। इन्हें अधीत-यजु कहते हैं अर्थात् पांचों औद्ग्रभण यजुर्मन्त्रों में से स्रुवा से आहुति डाले जाने वाले प्रथम के जो तीन मन्त्र हैं वे "**अधीत यजुमंत्र**" कहलाते हैं—

"ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति तान्याधीतयजूंषीत्याचक्षते"

लोक में जो भी कोई काम किया जाता है उसके लिए पहले "इदं करिष्ये" यह संकल्प कर लिया जाता है। इसी संकल्प को आधान कहते हैं। पूर्वोक्त मन्त्रों में जो पहले के तीन हैं वे आधान स्थानापन्न हैं। "**अहं यज्ञं करिष्ये**" तीन मन्त्रों से इस अध्यवसाय का ही आत्मा में आधान किया जाता है अतएव तीनों यजु "अधीत" यजु कहलाते हैं एवं तदन्तर चौथे से उस संकल्प को कार्य्य रूप में परिणत किया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

स्वर्ग सम्पत् स्वरूप जो फल है उसी के लिए चौथे मन्त्र से आहुति दी जाती है—

"संपदेवव चतुर्थे कामाय (संपदे कामाय) चतुर्थं हूयते"

सायणाचार्य कहते हैं कि यद्यपि चार यजुर्मन्त्र होम साधन के अन्तर्गत नहीं हैं तथापि चूँकि आगे की पाँचवीं आहुति में स्रुचि का विधान है अतः चौथी आहुति स्रुवा से ही देनी चाहिए।

अन्त में पाँचवीं आहुति पाँचवें यजुर्मन्त्र से डालता है वही औद्ग्रभण का प्रत्यक्ष स्वरूप है। अर्थात् पहले के तीन से संकल्प है, ४थे से स्वर्ग का मिलना है, पाँचवें से अध्यात्म का उस प्राप्त अधिदैवत के साथ सम्बन्ध होना है। अध्यात्म का अधिदैवत के साथ सम्बन्ध पूर्व से ही होता है इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथयत् पञ्चमं स्रुचा जुहोति तदेव प्रत्यक्षमौद्ग्रभणम्"।

यह यजुर्मन्त्र अनुष्टुप् छन्द वाले होते हैं। जो पार्थिव वाक् हैं उसे अनुष्टुप् वाक् कहते हैं। अन्तरिक्ष्य वाक् को 'त्रिष्टुप् वाक् कहते हैं एवं दिव्यवाक् को बृहतीवाक् कहते हैं।

यजमान अध्यात्म वाक् को चूँकि दिव्यवाक् में मिलाता है अतएव इसे अनुष्टुप् वाक् ही बोलनी चाहिए। क्योंकि अध्यात्म में पार्थिव प्राण ही तो है। इसे ही तो दिव्यप्राण में मिलाना है। बस इसी

अभिप्राय से कहते हैं—**"वाग्घि अनुष्टुप्"** । **वाग्घि यज्ञः"** । इसी अध्यात्म को अर्थात् इस अनुष्टुप् वाक् को अधिदैवत में अर्थात् बृहतीवाक् में मिलाने का नाम ही यज्ञ है अतएव **"वाग्घि यज्ञः"** कहा गया है। औद्ग्रभण होम, अनुष्टुप् मन्त्र से करना चाहिए यही इस प्रपञ्च का भावार्थ है ॥२॥

भुवन स्वर्गवासी देवताओं ने इसी यज्ञ के द्वारा उस विजिति को प्राप्त किया जो कि विजिति आज उनकी सुनी जाती है। अर्थात् इन्द्र ने असुरों को मार गिराया। देवताओं का क्या कहना है। सारा विश्व ही देवताओं के अधीन है—आज इस प्रकार से जो देवताओं की महिमा सुनी जाती है वह इसी यज्ञ का प्रताप है। देवता लोगों ने इतनी प्रतिष्ठा इसी यज्ञ द्वारा पाई थी। **"यज्ञेन वै देवा इमांसि जितिं जिग्युर्या इयमेषां विजितिः"** । उन देवताओं ने विचार किया कि ऐसी कौनसी तरकीब करें जिससे कि यह यज्ञ-विद्या मनुष्यों को प्राप्त न हो सके। मनुष्य से "अनभ्यारोह्य" (अप्राप्तुं योग्य) कैसे बनाएँ—इसकी कोई तरकीब सोचनी चाहिए। उन्हें मालूम था कि मनुष्य असत्य संहित हैं। यदि उन्हें इस यज्ञ-विद्या का पता लग जायगा तो वे नाना दुराचार कर बैठेंगे, अभिचारादि में निपुण हो जायेंगे। अतः इस विद्या को किसी प्रकार उनसे छुपाना चाहिए।

"ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यम् स्यात् इति"

आखिर उन्होंने इसका रास्ता निकाल लिया। उन्होंने यज्ञ के इस भाग को (सार-भाग को) खेंचकर जिस प्रकार भौंरा (मधुकृत) पुष्प में से मधु निकाल लेता है तद्वत यज्ञ के सार-भाग का दोहन करके यज्ञ को यूप से अर्थात् दिखावटी ढोंग से–वहाँ पर छोड़ कर–स्वयं तिरोहित हो गये।

अर्थात् यज्ञ द्वारा वे स्वयं तो स्वर्गलोक में चले गए परन्तु साथ ही में जिस ढंग से वेदि-निर्म्माण आहुतिक्रम वगैरह-वगैरह कर्म्म किये थे, उन सबको तहस-नहस कर गये, जिससे कि यज्ञ-विद्या को मनुष्य न पहचान सके। उसका स्वरूप ऐसा विकृत कर दिया—ढोंग का कर्म्म इतना शामिल कर दिया, जिससे असली तत्त्व बिल्कुल तिरोहित हो गया। चूँकि उन्होंने इस महा थूण से इस यज्ञ-विद्या को छुपाया अतएव इस थूण ही का नाम "यूप" पड़ गया। यूप का अर्थ वास्तव में है ढोंग। चूँकि इस स्थूण से यूप-रचना अर्थात् ढोंग किया था, यज्ञविद्या को अन्तर्हित किया था अतएव इस स्थूण का नाम ही "यूप" पड़ गया। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुः (एवं) विदुह्य यज्ञं (सारभागं गृहीत्वा) यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्। अथ यदेनेनायोपयं तस्माद् "यूपो" नाम ॥३॥

परन्तु भारतीय महर्षि लोग देवताओं के इस कृत्य को जानते थे कि देवता इस तरह यज्ञ के असली रहस्य को छुपाकर अन्तर्हित हो गए हैं—

"तद्वाऽऋषीणाममुश्रुतमास" तात्पर्य यही है कि, अपने वैज्ञानिक मस्तिष्क से उन्होंने पहचान लिया कि इस यज्ञ में असली तत्त्व इतना है एवं व्यर्थ का काम इतना है। यदि यह सार-भाग (औद्ग्रभण होम) कर लिया जाता है तो सारा यज्ञ सुफल हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि देव-विज्ञान अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ जानने वाले महर्षियों ने यह सोम-यज्ञ "औद्ग्रभण" होम से सम्भूत कर लिया गया।

अर्थात् देवताओं ने सोमयज्ञ के जिस रस-भाग को, जिस सार-भाग को छुपाया था—महर्षियों ने उसे पहचान लिया कि इसमें सार-भाग यही "औद्ग्रभण होम" हैं। बस यह पहचान कर उन्होंने अपने यज्ञ में उसी सार-भूत औद्ग्रभण होम को शामिल कर दिया।

कहने का तात्पर्य यही है कि सोमयाग में दीक्षा ही प्रधान है। यदि दीक्षा कर्म्म हो गया तो समझ लो सब कुछ हो गया। इसी अभिप्राय से कहते हैं—**"ते यज्ञं समभरन्-यथायं यज्ञः (सोमः) सम्भृतः"**। महर्षियों ने "औद्ग्रभण होम को सार-भाग समझ कर अपने यज्ञ में शामिल किया था अतएव "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" के अनुसार यह यजमान अपने यज्ञ का सम्भरण करता है अर्थात् उसे रस-भाग से युक्त करता है जो कि "औद्ग्रभण मन्त्रों" द्वारा आहुति देना है। तात्पर्य यही है कि वेदविद्याविशारदों ने यज्ञ का सार भाग इस "औद्ग्रभण" होम ही को बतलाया है-अतः यज्ञ-समृद्धि चाहने वाले यजमान को अवश्य ही औद्ग्रभण होम करना चाहिए—

"एवं वा एष यज्ञं सम्भरति यदेतानि जुहोति" ॥४॥

वह यजमान पाँच मन्त्रों से पाँच आहुति डालता है। पाँच ही आहुति क्यों डाली जाती हैं? इसका कारण बतलाते हैं **"तानि वै पञ्चजुहोति"**।

हमने पूर्व के प्रकरणों में कई स्थानों पर बतलाया है कि यह यज्ञ सम्वत्सर संमित है। अर्थात् अग्नि में सोमाहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है एवं इस अग्नि का जो रथन्तर साम का "सोलर सिस्टम है। वही सम्वत्सर मण्डल कहलाता है एवं इसी में पारमेष्ठ्य सोम आहुत होता रहता है अतएव हम कह सकते हैं कि यह यज्ञ सम्वत्सर संमित है। अर्थात् सारा यज्ञ सम्वत्सर से परिच्छिन्न है—

"सम्वत्सर संमितो वै यज्ञः"। एवं एक संवत्सर की पाँच ही ऋतु होती हैं। तो इस प्रकार पाँच आहुति देता हुआ यह यजमान पञ्चर्त्तुयुक्त सम्वत्सर यज्ञ को पाँच आहुतियों से प्राप्त कर लेता है। अर्थात् पाङ्क्त सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए ही पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं।

"तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्च जुहोति" ॥५॥

अब होम की मीमांसा करते हैं अर्थात् औद्ग्रभण मन्त्रों की व्याख्या करते हैं—**अथातो होमस्यैव"** (मीमांसा क्रियते इति शेषः) इस सोम यज्ञ में महर्षियों ने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से जिस सार-भाग को रक्खा था, वह कुल ४ हैं। इन चारों के बिना सारा यज्ञ एकान्ततः व्यर्थ होता है अतः सोमयाजी को इन

चार कामों को पहले अवश्य ही कर लेना चाहिए, तभी उसका यज्ञ सुफल हो सकता है। वे चार काम यह हैं—

(१) आकूतिः	(३) मेधा	(५) दीक्षा	(७) सरस्वती
(२) प्रयुक्	(४) मन	(६) तप	(८) पूषा

सर्वप्रथम 'आकूति' का ही स्वरूप बतलाते हैं। मनुष्य जब भी कभी कोई काम करे, उसे "**मया इदं कर्त्तव्यम्**" इस रूप से अध्यवसाय कर लेना चाहिए। जिसका दृढ़ संकल्प कर लिया जाता है वह अवश्य पूरा होता है। बस इस इदं कर्त्तव्यत्वेन जो अध्यवसाय है, उसे ही "**आकूति**" कहते हैं। इसी आकूति को 'क्रतु' शब्द से भी कहा जाता है। जिस समय किसी काम के लिए हम "यह काम करेंगे" इत्यादि रूप से इरादा करते हैं। बस उस इरादे को—जो कि दृढ़ है—"क्रतु" कहते हैं। **कर्त्ता की जो अध्यवसायात्मिका प्रवृत्ति है उसे ही क्रतु कहते हैं।** "हम यह करें" इत्यादि स्वरूप युक्ता जो कर्म्मप्रवृत्ति हमारे पास आती है अर्थात् 'यह करें' यह इरादा चूंकि हमारे पास आता है—अर्थात् उत्पन्न होता है अतएव क्रतु को "मित्र" कहा जाता है। आने वाली वस्तु का नाम ही—वैदिकपरिभाषा में "क्रतु" है।

यह प्रवृत्ति जब अध्यवसाय में अर्थात् कार्य रूप में परिणत होती है तो इसको दक्ष कहने लगते हैं। बस इसी दक्ष को प्रकृत में "**प्रयुक्**" कहा है। प्रवृत्ति को क्रतु कहते हैं एवं अध्यवसाय को वरुण कहते हैं इसीलिए "**क्रतुदक्षौ वा मित्रावरुणौ**"—यह कहा जाता है।

इसी क्रतुदक्ष का अर्थात् 'आकूतिप्रयुक्' का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय इति स एव क्रतुः"
अथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षः। मित्र एव क्रतुः। वरुणो दक्षः"।

इस क्रतु-दक्ष का विस्तृत विवेचन "अत्रिख्याति" के अनुवाद में देखना चाहिए। यहां कहना सिर्फ इतना ही है कि "**मैं ऐसा करूंगा" "मैं यज्ञ करूंगा। यह अध्यवसाय जो दृढ संकल्प है—उसे ही आकूति कहते हैं एवं तदनुसार कार्य करना, संकल्प को कार्य्य रूप में परिणत करने का नाम ही "प्रयुक्" है।** बस इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा" इति।

"अर्थात् आकूति एवं प्रयोग के लिए सम्पत्ति प्राप्त्यर्थ अग्नि के लिए स्वाहा है"।

मन्त्र का यही अर्थ है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह यजमान यज्ञ से पहले "मया यज्ञं करिष्ये" यह आकूति करता है अर्थात् अध्यवसायात्मक दृढ़ संकल्प द्वारा यज्ञ का जो कुछ तत्त्व है उसे अपने आत्मा में रखता है अर्थात् खाली थोथा संकल्प ही नहीं करता अपितु प्रयोग की ओर लक्ष्य भी रखता है—

"आ वाऽग्रे कुवते (आ कुवते)-यजेयेति । तद्य—
देवात्र यज्ञस्य (तत्त्वमितिशेषः)तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते" ।।६।।

आकूति और प्रयुक् के अनन्तर नम्बर आता है मेधा-मन का । यज्ञ में खूब मन लगता है परन्तु यदि मेधा नहीं है तो भी सारा काम व्यर्थ है । संकल्प को सदा स्मरण रखने का नाम ही मेधा है । संकल्प किया गया था कि अपने को ये-ये काम करने हैं परन्तु समय पड़ने पर सारा काम भूल गए । बस ऐसा नहीं होना चाहिए । यदि समय पर संकल्प को भूल गए तो भी कुछ नहीं है । **संकल्प सदा स्थिर रहना चाहिए बुद्धि धारणवती होनी चाहिए । ऐसी ही बुद्धि को "मेधा" कहते हैं—"धीर्धारणवती मेधा"**—अर्थात् मन मेधायुक्त रहना चाहिए । यज्ञ में यही दूसरा सार-भाग है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा"

मेधायुक्त मन से कार्य्य की तरफ संलग्न होता है । कि "मैं यह करूँ"—यह करूँ" । तो बस इस मेधा में जो यज्ञ-तत्व है उसे इकट्ठा करता है । अर्थात् अपनी बुद्धि को मेधा से युक्त करता है—

"मेधया वै मनसाऽभिगच्छति यजेयेति" ।।७।।

तीसरा तत्त्व है दीक्षा और तप । यह मन्त्र बोल मात्र दिया जाता है । इसकी आहुति देने की कोई आवश्यकता नहीं है । **"अन्वेवैतदुच्यते, नेत्तु हूयते"**—इस मंत्र का तात्पर्य यही है कि यदि संकल्प भी दृढ़ है एवं धारणा भी अच्छी है, परन्तु काम करने की इच्छा नहीं है, तप नहीं है अर्थात् प्राणव्यापार नहीं है । आलस्य ही में आनन्द आता है यह भी नहीं होना चाहिए ।।८।।

चौथा तत्त्व है सरस्वती और पूषा । वाक् ही को सरस्वती कहते हैं एवं वाक् ही यज्ञ है । परमेष्ठी समुद्र को सरस्वान् कहते हैं । यह आम्भृणी वाक् वहीं उत्पन्न होती है । सरस्वान् की पुत्री है अतएव **"वाग्वै सरस्वती"** कहा गया है । पानी से ही यज्ञ शुद्ध होता है । यज्ञ का पहला स्वरूप पानी है अतएव **"वाग्यज्ञः"** कहा गया है एवं पुष्टि को ही पूषा कहते हैं । पार्थिव पशु प्राणाधिष्ठाता प्राण का नाम ही पूषा है । उपकरण सामग्री को ही पूषा कहते हैं । अन्न-सम्पत्ति वगैरह का नाम ही पशु है । इसी से ही पुष्टि होती है । इसी का देवता है पूषा चूंकि पूषा **"पुष्टि र्वै पूषा" "पुष्टिः पशव."** । पुरोडाश एवं अजादि पशुओं बिना यज्ञ नहीं होता अतएव **"पशवो हि यज्ञः"** कहा गया है । इन दोनों में जो यज्ञ सम्पत्ति है वही इकट्ठी करता है । तात्पर्य इसका यही है कि यज्ञ में मन्त्र का—जैसा कायदा है उसी उच्चावच स्वर से बोलना चाहिए । यदि जरा भी गड़बड़ हो गई तो यज्ञ भ्रष्ट हुआ । इसीलिए तो **"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्तियथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्"**—यह कहा गया है । इसीलिए यज्ञ में सरस्वती की ओर अर्थात् मन्त्र की ओर भी ध्यान रखना परम् आवश्यक है ।

एवमेव यज्ञ में जो-जो सामग्री चाहिए उसे पहले इकट्ठी कर लेनी चाहिए । उपकरण सामग्री के अभाव में भी यज्ञ नष्ट हो जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते" ॥९॥

इस प्रकार (१) दृढ संकल्प (आकूति), प्रयुक्, (२) मेधायुक्त मन (३) तप युक्त दीक्षा एवं (४) मन्त्र और उपकरण सामग्री–यदि यह सामग्री है तो सिद्धान्त समझो–तुम्हारा यज्ञ पूरा हो ही जायगा। बस इन सम्पत्तियों को आत्मसात् करने के लिए ही यह पूर्वोक्त औद्ग्रभण होम किया जाता है।

यहां पर वादी पूर्वपक्ष करता है कि "यह जो अग्नि में तुम आहुतिएं डालते हो वह सर्वथा अप्रत्यक्ष है–असुर है–अप्रतिष्ठित है–अदेवक है अर्थात् देवता इन्द्र, सोम और अग्नि ही हैं। प्रयुक्, आकूती वगैरह देवता थोड़े ही हैं एवं आहुति दी जाती है देवता के लिए, ऐसी हालत में बिना देवता के नाम लिए जो तुम आहुति देना व्यर्थ है, अर्थात् सोमयज्ञ में औद्ग्रभण होम करना अशुद्ध है। इसी पूर्वपक्ष को दिखलाते हुए कहते हैं—

"तदाहुः अनद्धेवैताऽ आहुतयो हूयन्तेऽप्रतिष्ठिता अदेवकाः तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति" ॥१०॥

"इसीका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि **"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा"**। इनमें इन्द्र–सोम–अग्नि इन तीनों में से एक भी तो देवता को 'उद्देश्य' नहीं बनाया गया है जिससे कि तुम्हारी आहुतिएं प्रतिष्ठित मानली जायें—**"नात्र एकं चन"**।

इसीका खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि एक भी देवता नहीं है, इसलिए आहुतिएं अप्रतिष्ठित हैं। तुम्हारा यह कहना एक दम सार शून्य है। क्या तुम्हें "अग्नये"–यह अग्नि देवता नहीं दीखता ? मन्त्र में अग्नि सर्वथा स्फुट तथा प्रतिष्ठित है।—**"अग्निर्वा"**–। **अद्धेवाग्निः प्रतिष्ठितः**। तो बस जो कि यह यजमान इस अग्नि में "अग्नये" कह कर आहुति डालता है उससे इसकी सारी अद्धा है अतएव वे प्रतिष्ठित हैं।—**"स यदग्नौ जुहोति तेनैवेता अद्धा तेन प्रतिष्ठिता"**। मेरी आहुतिएं अग्नि में आहित हो जाएं, अर्थात् प्रतिष्ठित हो जाएं। इसलिए यह यजमान सारे मन्त्रों में "अग्नये स्वाहा"–"अग्नये स्वाहा" बोलकर के ही आहुति डालता है। चूंकि इसकी ये आहुतिएं अग्नि में आहित होती हैं–प्रतिष्ठित होती हैं अतएव इन यजुमन्त्रों को **"अधीतयजु"** कहते हैं—

"तस्मादु सर्वास्वेव अग्नये स्वाहेति जुहोति। तत एतान्याधीतयजूंषीत्याचक्षते" ॥११॥

पूर्वोक्त मन्त्रों के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं—

"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा"

वह यजमान पहला "यजेय" इत्यादि रूप से आत्मा से यज्ञ का निश्चय करता है एवं उस संकल्प को आत्मा में रख कर उसका प्रयोग करता है अर्थात् जो कुछ वितान (कर्म्म) करता है वह संकल्पानुसार

ही करता है। इस प्रकार से आकूती और प्रयुक् अर्थात् क्रतु और दक्ष दोनों देवता इसके आत्मा में बैठ जाते हैं, आहित हो जाते हैं ।।१२।।

एवमेव मेधा युक्त मन से–"यजेय"–इस संकल्प की ओर अभिमुख होता है। इससे मेधा और मन यह दोनों देवता आहित हो जाते हैं ।।१३।।

एवं वाक् ही सरस्वती है। वाक् ही यज्ञ है। इस प्रकार यह दोनों देवता आहित हो जाते हैं।

इस कर्म्म में जो कि यह देवता इस यजमान के आत्मा में आहित हो जाते हैं–अतएव इन औद्ग्रभण मन्त्रों को "अधीत यजुः" नाम से व्यवहृत करते हैं—

"तद्यदस्यैताऽआत्मन्देवताऽआधीता भवन्ति तस्मादाधीत यजूंषि नाम" ।।१४।।

इस औद्ग्रभण होम में ५ आहुतिएं दी जाती हैं। इनमें से अब तक तीन आहुति बतलादी गई। **"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाह"**—यह पहली आहुति है। **"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा"**—यह दूसरी आहुति है एवं **"सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा"**—यह तीसरी आहुति है। सरस्वत्यै के पूर्व एवं मेधायै के अनन्तर दोनों के बीच में **"दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा"—यह मन्त्र बोल मात्र दिया जाता है। इससे आहुति नहीं दी जाती है**। आहुति कुल तीन ही होती है इसीलिए **"दीक्षायैतपसेऽग्नये स्वाहा"** इसके लिए याज्ञवल्क्य स्वयं कहते हैं—**"अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु हूयते"**।

कहने का तात्पर्य्य यही है कि तीन आहुतिएं हो चुकी अब चौथी का हवन करते हैं—

"अथ चतुर्थी जुहोति"।

चौथी आहुति निम्नलिखित मन्त्र से डाली जाती है—

"आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशं भुवो। द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा"।

बृहतीः, आपोदेवीः, विश्वशंभुवः। द्यावा पृथिवी उरो अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम। बृहती जो आपो देवी है अर्थात् पानी देवता हैं वे संसार का कल्याण करने वाले हैं। वह द्यावापृथिवी है एवं विशाल अन्तरिक्ष है। हम बृहस्पति के लिए आहुति प्रदान करते हैं।

प्रत्येक वस्तु में आत्मा, पद और पुनः पद यह तीन विभाग रहते हैं। इन तीनों में से पुनः पद को "महिमा" भी कहा जाता है। इसी महिमा को साममण्डल भी कहते हैं। आप एक वस्तु को सामने रख दीजिए और उस पर नजर डालिए। समीप से वह जितनी बड़ी दिखलाई देगी–दूर जाने पर सही

वस्तु छोटी दिखलाई पड़ने लगेगी। यही नहीं–अपितु ज्यों–ज्यों आप दूर हटते जायेंगे त्यों–त्यों वह वस्तु छोटी होती जायगी। यहां तक कि कोई सीमांत ऐसा आवेगा जहां पर वह एक बिंदु–मात्र दीखने लगेगी। बस जिस स्थान पर आप खड़े हुए उसे एक बिन्दु मात्र देख रहे हैं वहीं खड़े रह कर, वस्तु को केन्द्र में रख कर व्यासार्ध से उतनी ही दूर कर एक मण्डल बना डालिए। उस चौतरफ के सर्किल पर जो भी कोई मनुष्य खड़ा होगा उसे वह वस्तु बिन्द्वात्मक ही दीखेगी। बस इसे ही साममण्डल कहते हैं। यह मण्डल भीतर–भीतर छोटे बनते जाते हैं। अन्त में केन्द्र में जाकर यह साममण्डल बिन्द्वात्मक रह जाता है। ठीक इसके विपरीत–उस वस्तु के केन्द्र में से सूच्यग्र मुख बनाती हुई वर्गमूल के कारण तीन–तीन बिन्दु कम होती हुई जो अग्नि है वह ऋक् कहलाती है। पदार्थ का प्रत्यक्ष होना इसी ऋक् का धर्म्म है इसलिए **"ऋङ्मूर्त्तिर्मण्डलं साम"**—यह कहा जाता है। उस साम बिन्दु पर चारों ओर खड़े होने वाले को वह वस्तु समान दीखा करती है अतएव इसे साम कहते हैं। उतना इसके सर्किल के बीच का "ऋक्" समान रूप से रहता है अतएव इसे साम कहा जाता है। इसीलिए **"ऋचा समं मेने"**—यह कहा जाता है। **यह साम मण्डल प्रत्येक पदार्थ में होता है।** आत्मा, पद और पुनः पद यह एक अणु से अणु में भी हैं–महान से महान में भी हैं।

सारे पदार्थों में साम रहता है। परन्तु पदार्थ भेद से साम में अन्तर हो जाता है। जो पार्थिव पदार्थ है उसके साम का नाम **"रथन्तर साम"** है एवं सौर पदार्थों के साम का नाम **"बृहत् साम"** है। एक पुस्तक की बजाय दीपक का साम बड़ी दूर तक जाता है। उस पुस्तक का साम मण्डल दीपक के बृहत् साममण्डल के बीच में आजाता है।

बात वास्तव में सच है। नाहरगढ़ पर रक्खे हुए दीपक को हम अच्छी प्रकार से देख लेते हैं परन्तु वहीं पर यदि पुस्तक रखदी जाय तो किसी को न दीखे। इसी प्रकार बृहत् साम और रथन्तर साम का भेद स्पष्ट मालूम हो जाता है। अक्षर–क्षर विशिष्ट (प्रकृति विशिष्ट) पुरुष प्रजापति के शरीर के स्वयंभू, परमेष्ठि, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, यह पांच अवयव हैं। इनमें उत्तरोत्तर उत्तरोत्तर सम्बन्ध है। चांद पृथिवी के साम के पेट में है। पृथिवी चन्द्रमा को लिए हुए सूर्य के बृहत्साम के पेट में है एवं चन्द्रमा और पृथिवी को अपने साम में लिए हुए ससाम सूर्य्य परमेष्ठि के साम के पेट में है एवं इन सबको अपने पेट में लिए ससामपरमेष्ठि, स्वयंभू मण्डल के साम के पेट में है।

पृथिवी सूर्य्य से १३ हजार गुणा छोटी मानी जाती है एवं सूर्य्य वृत बडा माना जाता है। यह तो उस सूर्य्य–पिण्ड की अवस्था है। भला उसके साम का तो कहना ही क्या है। ससाम सूर्य्य मण्डल में पृथिवी की हैसियत ही कितनी सी हैं। बस साम सहित पृथिवी की जो स्थिति सूर्य्य के बृहत् साम के अन्तर्गत है वही दशा परमेष्ठि मण्डल में ससाम सूर्य्य की है। महाविशाल पारमेष्ठ्य समुद्र में बृहत् सामसहित सूर्य्य एक बुद्बुद् के समान है। इसीलिए परमेष्ठि मण्डल के लिहाज से में सूर्य्य को बुद्बुद् बतलाया जाता है।

चूंकि परमेष्ठि का साम बृहत् साम से भी बे–अन्दाज बृहत् है एवं इसी मण्डल का नाम है—**"आपो मण्डल"**। बस इसी रहस्य को बतलाने के लिए **"आपो देवीः बृहतीः"** यह कहा गया है।

संसार में अग्नि और सोम यह दो ही तत्त्व सारा काम करते हैं। सोम की जब अग्नि में आहुति पड़ती है तो उसीसे सारे संसार का निर्म्माण होता है। सोम ही घन, तरल, विरल भेद से अप्–वायु–सोम तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। एवमेव अग्नि ही घन तरल विरल भेद से अग्नि वायु आदित्य तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। **अप्–वायु–सोम इन तीनों को ही "भृगु" शब्द से कहा जाता है एवं अग्नि–वायु–आदित्य इन तीनों को "अङ्गिरा" शब्द से कहा जाता है।** बस इस भृगु की अङ्गिरा में हरसमय आहुति पड़ा करती है। इसी सोम को, जिसे कि हम घनावस्थापेक्षया पानी भी कह सकते हैं, शान्ति–धर्म्मा कहा जाता है। शान्ति करने का काम इसी पानी का है। अग्नि का स्वभाव है विशकलन करना, अतएव अग्नि अशान्ति–धर्म्मा कहा जाता है। 'पानी' अग्नि की उस विशकलन शक्ति का दमन कर डालता है अतएव यह शान्ति प्रदाता कहलाता है। जरा आपका हाथ अग्नि से जल जाय, पानी की पट्टी बांध दीजिए, उसी समय हाथ में शांति आ जायगी। इसीलिए श्रुति में बार–बार "**शान्तिरापः**"– यह कहा जाता है। शान्ति का कारण एकमात्र पानी ही है। सोकर उठने पर आंखों में जलन होती रहती है। जरा पानी लगा लीजिए। जलन शान्त। आप थके हुए कहीं से आए है। पानी से स्नान कर लीजिए–अशान्ति दूर। पानी समीक्रिया कर देता है–प्रवृद्ध अग्निताप को शान्त कर देता हैं। समीक्रिया ही को तो शान्ति कहते हैं। उच्छास ही को अशान्ति कहते हैं। समुद्र में करोड़ों-करोड़ों ही नहीं असंख्यों पानी के परमाणु रहते हैं परन्तु सब अपने-अपने स्थान में अविरोधेन स्थिर हैं। सब में समीक्रिया है–इसी का नाम शान्ति है।

समीक्रिया धर्म्म वाला यह पानी ही विश्व का कल्याण करता है। इसमें जो तरी (ठंडक) है वह वह परमेष्ठि मण्डल की वस्तु है। पानी मिले हुए वायु को ही "**पारमेष्ठ्य वायु**" कहते हैं। पारमेष्ठ्य पानी वायु स्वरूप है चूंकि इसमें जल मिला रहता है अतएव इसे साम्ब–सदाशिव कहते हैं। यही कल्याण करने वाला है। पानी के इसी प्राकृतिक शान्ति धर्म्म को बतलाने के अभिप्राय से "**विश्व-शंभुवः**" कहा गया है। अपि च पानी ही सबसे पहले पैदा होता है एवं यही सारे लोकों का निर्म्माण करता है। "**सर्वमापोमयं जगत्**" हमारे साइंस का यही सिद्धान्त है। इस व्यापकता को बतलाने के लिए ही "**विश्वशंभुवः**" कहा गया है।

इस पानी में ही पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ स्वरूपिणी रोदसी त्रिलोकी का निर्म्माण होता है। इसी बात को बतलाने के लिए "द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष"–यह कहा गया है। इस परमेष्ठि मण्डल के अन्त में एवं द्युलोक के ऊपर बृहस्पति रहते हैं। बीच में सूर्य्य है। उनके नीचे पृथिवी–चन्द्रमा है एवं ऊपर परमेष्ठि और स्वयंभू है। स्वयंभू और परमेष्ठि का नम्बर पहले आता है अतएव वे "**प्रथमजा**" कहलाते हैं। उनके अन्त में अर्थात् परमेष्ठि के अन्त में ब्रह्मवीर्य्य प्रदाता वृहस्पति का नक्षत्र है जो कि परमेष्ठि के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। उसीके लिए "**बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा**" कहा गया है।

वृहस्पति उन पूर्वजों के प्रथमजों के (स्वयम्भू तथा परमेष्ठि के) अन्त में है एवं इन्द्र (सूर्य्य) उत्तरों के (पृथिवी–चन्द्रमा के) पहले है। इसमें निम्नलिखित श्रुति ही प्रमाण है—

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः"

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं "आपोदेवी बृंहतीविश्वशंभुवः"। यह ऋचा यज्ञ के बिल्कुल नजदीक है। अर्थात् यह ऋचा साक्षात् यज्ञस्वरूप का ही वर्णन करती है—

"एषा ह नेदीयो (या–उ–) यज्ञस्य"

क्यों यह ऋचा यज्ञ के अत्यन्त समीप है–इसका कारण बतलाते हुए वे स्वयं कहते हैं–यह ऋचा पानी का जिकर कर रही है। पानी ही तो यज्ञ का साक्षात् स्वरूप है—

"अपां हि कीर्त्तयति–आपो हि यज्ञः"।

तात्पर्य्य इसका यही है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है, मैथुनी और मानसी। जो प्राण-सृष्टि है उसे मानसी-सृष्टि कहते हैं। भूत-सृष्टि को मैथुनी सृष्टि कहते हैं। मैथुनी सृष्टि जिस कायदे से होती है उसी कायदे को यज्ञ कहते हैं। अग्नि में जब सोम की आहुति पड़ती है तभी मैथुनी सृष्टि होती है। परमेष्ठी मण्डल से ऊपर स्वयम्भू मण्डल है। इसी स्वयंभू मण्डल को प्राण मण्डल कहते हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द रहित असंग जो एक निराकार मौलिक तत्त्व है उसे ही प्राण कहते हैं। इन्हीं प्राणों को "ऋषि" कहते है। सृष्टि दो के मेल से होती है। जब योषा-वृषा का परस्पर मेल होता है तभी सृष्टि होती है। इसीलिए कहा जाता है—

"द्वयोः परस्परं योगः संसृष्टिः सृष्टिरुचयते"

प्राण है असंग। वह मिलने वाला पदार्थ नहीं, अतएव प्राण मण्डल अर्थात् स्वयम्भू मण्डल सृष्टि यज्ञ के बाहर की चीज है। यज्ञ का प्रारम्भ पानी से होता है अर्थात् सोम से ही होता है। सोम अग्नि में मिल जाता है। अङ्गिरा में भृगु की आहुति हो जाती है। इसी आहुति से आगे की सारी सृष्टिएँ उत्पन्न होती है। सोम और अग्नि जिन्हें कि हम योषा-वृषा कहते हैं। दोनों के मेल से तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है। कहने का तात्पर्य यही हैं कि यज्ञ का प्रारम्भ परमेष्ठी मण्डल से है। पैदाइश की शुरुआत पानी से होती है इसीलिए परमेष्ठि मण्डल को 'जनत्–लोक' भी कहा करते हैं। 'जनत्' यही इसका असली नाम है। आज इसी जनत् को जन–लोक कहा जाता है। पैदाइश इसी लोक से होती है। इसीलिए तो यह 'जनल्लोक' कहलाता है। इस सोमयाग द्वारा हमें अग्नि में सोम की आहुति डालकर दिव्यात्म प्रजनन क्रिया करनी है। प्रजनन–क्रिया स्वरूप प्राकृतिक यज्ञ का मूल पानी है। पानी ही यज्ञ का स्वरूप है। इसीलिए इस प्राकृतिक यज्ञ सम्पत्ति को मन्त्र शक्ति द्वारा आत्मसात् करने के लिए "आपो देवी" इत्यादि ऋचा से बृहस्पति के लिए आहुति दी जाती है। इस यज्ञ से पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ का निर्माण होता है।

जिसे कि हम 'रोदसी' त्रिलोकी नाम से व्यवहृत किया करते हैं। हमारा शरीर-आत्मा इसी रोदसी से सम्बन्ध रखता है। यज्ञ का मूल यद्यपि आपोमण्डल है, परन्तु हमारा आत्मयज्ञ इसी रोदसी में व्याप्त है। हम पहले रोदसी को जब कब्जे में कर लेंगे तब उस सोम के अधिकारी होंगे जो कि परमेष्ठी मण्डल में रहता है। इसी बात को बतलाने के लिए **"द्यावा पृथिवी उरो अन्तरिक्ष"** यह कहा गया है।

एक बात—और दूसरा "द्यावा" यह कहने का तात्पर्य भी है कि-उस यज्ञ से पहले बनाकर-यह समाप्त हो सकता है यज्ञ का स्वरूप बतला दिया तो उस अग्नि सोमात्मक यज्ञ से बना क्या ? यह आकांक्षा बनी रहती है। उसी आकांक्षा को पूरा करने के लिए वेद भगवान् त्रिलोकी की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि जिस पर तुम बैठे हुए हो वह पृथिवी, एवं यह विशाल अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश, एवं यह द्युलोक जहां पर कि सूर्य तप रहा है ये तीनों लोक उसी यज्ञ से तो बने हैं। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"द्यावा पृथिवी उरो अन्तरिक्षेति-लोकानां हि कीर्तयति"

मन्त्र का तीसरा हिस्सा है **"बृहस्पतये हविषा विद्येम स्वाहा"** इसका अर्थ करते हुए भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ब्रह्म ही को बृहस्पति कहते हैं। यह ब्रह्म ही तो साक्षात् यज्ञ का स्वरूप है।

ब्रह्म मौलिक तत्त्व का नाम है। मायाबलादि पाप्माओं (बलों) के कारण ब्रह्म के समन्वय से ही यज्ञ होता है एवं यज्ञ से ही सारी सृष्टि होती है। ब्रह्म यद्यपि अमृत स्वरूप है। अतएव सर्वथा असंग है। तथापि समन्वय से असंग रहता हुआ भी ब्रह्म सृष्टि जर्रे-जर्रे में सर्वत्र व्याप्त रहता है। समन्वय से संचार क्रम से ब्रह्म ही जगत् बन जाता है। इसीलिए ब्रह्म तो असंग है। उससे जगत् उत्पन्न हो ही कैसे सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् बादरायण कहते हैं "तत्तुसमन्वयात्" (शां० सू० प्र० अ० सूत्र ३)

बादरायण कहते हैं कि समन्वय से वही ब्रह्म जगत् स्वरूप में परिणत हो जाता है अतएव हम अवश्य ही ब्रह्म को **"यज्ञ"** कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"बृहस्पतये हविषा विद्येम स्वाहेति-ब्रह्म वै बृहस्पतिः। ब्रह्म यज्ञः"।

ब्रह्म, यज्ञ और यज्ञ से उत्पन्न होने वाली सृष्टि, इन तीनों के अलावा और है ही क्या ? ब्रह्म मौलिक तत्त्व है। यज्ञ यौगिक तत्त्व है। लोक यज्ञ से उत्पन्न होने वाले हैं। भला मन्त्रशक्ति द्वारा जब इन तीनों के पास अपने मन-प्राण-वाक् स्वरूप शरीर आत्मा को पहुंचा दिया जाय तो फिर यज्ञ-सफलता में कसर ही क्या रहती है। यह ऋचा तो यज्ञ के अत्यन्त ही नजदीक है अर्थात् यज्ञ सम्पत्ति को आत्मसात् करवाने वाली है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"एतेन (३) हैवा नेदीयो यज्ञस्य"

ब्रह्म, लोक और यज्ञ तीनों में प्रधान मौलिक तत्वस्वरूप बृहस्पति ही हैं अर्थात् ब्रह्म ही है। अतएव **"बृहस्पतये हविषा विद्येम स्वाहा"** यह कहा गया है अर्थात् आहुति बृहस्पति के नाम से दी गई है।

पूर्वोक्त चारों आहुतिएँ स्रुवा से दी जाती है। इतना और समझ लेना चाहिए एवं साथ ही में इतना और समझ लेना आवश्यक होगा कि पहले की जो आहुतिएं हैं वे **"आकूत्यै प्रयुजे"** केवल इनसे दी जाती हैं, अतएव उनके द्वारा यज्ञ का साक्षात् स्वरूप आत्मसात् नहीं होता है एवं यह चौथी आहुति **"आपोदेवीर्बृहती"** इस गायत्री मन्त्र से दी जाती है। अग्नि और सोम दोनों की मिश्रित अवस्था का नाम यज्ञ है। केवल अग्नि और केवल सोम तो यज्ञ का अङ्ग है न कि यज्ञ का साक्षात् स्वरूप। अतएव चौथी आहुति से भी यज्ञ का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। इसके साक्षात् स्वरूप-सम्पादन के लिए ही यह पांचवी आहुति दी जाती है। ॥१५॥

इसी पांचवी आहुति के विषय में कहते हैं–चौथी आहुति के अनन्तर जिस पाँचवी आहुति की स्रुचि से आहुति डाली है वही आहुति यज्ञ का साक्षात् स्वरूप है। इस पांचवी आहुति से ही साक्षात् यज्ञ आत्मसात् हो जाता है—

"अथ यां पञ्चमीं स्रुचा जुहोति सा हैव प्रत्यक्षं यज्ञः"।

पांचवी ही आहुति प्रत्यक्ष यज्ञ का स्वरूप कैसे है? यह बतलाते हैं। प्रत्येक देवता की मात्रा नियत रहती है। कोई कितनी मात्रा से अपना स्वरूप कायम रखता है कोई कितनी से। इन भिन्न-भिन्न संस्था वाले देवताओं की–जो कि वाक् स्वरूप हैं–लहर चारों ओर व्याप्त रहती है। सबकी लहर परिमित है। सीमाबद्ध है। सौर प्राण लहर का नाम ही देवता है। स्वर इसी सूर्य की वस्तु है, एवं क–च–ट–त –प इत्यादि इस पृथिवी की चीज है। इस प्राकृतिक प्राणयुक्त स्वर स्वरूप प्राण देवता को पकड़ने के लिए–आत्मसात् करने के लिए क–च–ट–त–प इस अनुष्टुप् वाक् में इसी लहर के अनुरूप उच्चावच स्तर सहित मन्त्र का प्रयोग करना पड़ता है। बस इस लहर से उस प्राण–लहर की कड़ी जुड़ जाती है। यही आधिदैविक प्राण देवता का अध्यात्म देवता के साथ सम्बन्ध होना है। अग्नि देवता अष्टावयव है अतएव उसके लिए गायत्री छन्द ही बोलना पड़ता है। तभी अग्नि पकड़ में आती है। यदि स्वर में जरा भी गड़-बड़ हो जाती है। तो अच्छे की बजाए सर्वनाश होने की नौबत आ पहुंचती है। इसीलिए तो—

"स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
"स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वनोपराधात् ॥

यह कहा गया है। प्रकृत में कहना यही है कि प्रजापति की मात्रा इतने पर जाकर (३२ पर जा कर) समाप्त होती है अतएव उसके लिए ३२ अक्षर युक्त अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग करना पड़ता है। अनुष्टुप छन्द से प्रजापति आत्मसात् हो जाते हैं। प्रजापति ही तो यज्ञाधिष्ठाता है। प्रजापति ही तो यज्ञ का साक्षात् स्वरूप है। वाक् ही को अनुष्टुप कहते हैं। वाक् ही यज्ञ का साक्षात् स्वरूप है। वाक् से अभिप्रेत है वषट्कार मण्डल। वषट्कार ही को–जो कि ३३ तक जाता है, **'वाक् मण्डल"** कहते हैं। इसके केन्द्र में प्रजापति रहते हैं। प्रजापति को अनुष्टुप द्वारा आत्मसात् कर लेने पर उसी से बंधा हुआ वषट्कार स्वरूप यज्ञ (वाग् यज्ञ) आत्मसात् हो जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

इस पाँचवीं आहुति को अनुष्टुप् छन्द से डालता है। अनुष्टुप् ही वाक् है अर्थात् अनुष्टुप् ही प्रजापति है एवं प्रजापति के आधार पर ही सारे वाङ्मंडल का वितान होता है। इस प्रकार अनुष्टुप् से आहुति देना साक्षात् यज्ञ भगवान् को आत्मसात् करना है—

"अनुष्टुभा हि तां जुहोति। वाग्ध्यनुष्टुप्। वाग्धि यज्ञः" ॥१६॥

ध्रुवा में घृत रक्खा रहता है। इसी में से स्रुवा द्वारा स्रुचि में घृत लेकर आहुति दी जाती है। अब तक इस ध्रुवा में से घृत ले के चार आहुतियाँ दी जा चुकी हैं। अब पाँचवीं दी जायगी। उसके विषय में कुछ विशेष बतलाने के अभिप्राय से कहते हैं—

दीक्षणीयेष्टि सम्बन्धी जो घृत ध्रुवा में बाकी बच गया है—उसे पाँचवीं आहुति के लिए जुहू में ले लेता है। इस प्रकार यह एक अवदान (ग्रास) हो जाता है। इसके बाद आज्यस्थाली में से (जिस पात्र में घृत को गरम करके तपाया जाता है उस पात्र को अज्यस्थाली कहते हैं।) स्रुवा से उस ध्रुवा के घृतयुक्त जुहू में तीन बार डालता है। अर्थात् ध्रुवा से एक बार जुहू में घृत देना चाहिए एवं आज्यविलापिनी से स्रुचि द्वारा तीन बार घृत लेकर उह घृतयुक्त जुहू में और डाल देना चाहिए। इस प्रकार से प्रजापति देवताक अवदान "चतुरक्त" (४ ग्रास युक्त) हो जाता है—

अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति तज्जुह्वामानयति। त्रिः स्रुवेणाज्यविलापिन्या अधिजुह्वां गृह्णाति"।

हमने बतलाया है कि स्रुवा से आज्यस्थाली में से तीन बार घृत लेकर जुहू में डाला जाता है। इन तीनों बार में जो तीसरी बार स्रुवा में घृत लिया जाता है उसे पूरा भर लिया जाता है एवं पूरा भरकर उस भरे हुए स्रुवा को ही जुहू पर रख दिया जाता है—

अथ यत् तृतीयं गृह्णाति तत् स्रुवमभिपूरयति"

इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

"जुह्वां ध्रौवमासिच्य द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तृतीयं स्रुवमभिपूरयति"
(का० श्रौ० सू० ७।३।१६) ॥१७॥

क्यों पाँचवीं आहुति दी जाती है—इसकी उत्पत्ति बतला चुके। अब पद्धति बतलाते हैं—

वह यजमान निम्नलिखित अनुष्टुप् मन्त्र से पाँचवीं आहुति देता है—

"स जुहोति—"विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीतसख्यम्। विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा"।

यह मन्त्र सविता ही प्रेरयिता है अतएव उसी के लिए यह आहुति दी जाती है। परन्तु चूंकि छन्द अनुष्टुप् है अतः प्रजापति देवता का भी सम्बन्ध हो जाता है —

"विश्वमर्त्तः (सर्वे मनुष्याः) नेतुर्देवस्य (सवितुर्देवस्य) सख्यं (सहायतां) वुरीत (इच्छन्ति)। विश्वमर्त्तः राय इषुध्यति (प्रार्थयते) एवं (विश्वमर्त्तः) पोषाय द्युम्नं वृणीते"।

संसार के यावन्मात्र मनुष्य सविता देवता की सहायता चाहते हैं। बात वास्तव में ठीक है। जड़ और चेतन सबका अधिष्ठाता वही सविता तो है। हमारे पास जो भी पदार्थ आते हैं वे सविता की प्रेरणा से ही तो आते हैं। सूर्य से हमारा आत्मा बनता है। उसी की ज्योति से हमारी स्थिति रहती है परन्तु इसको भी तो प्रेरित कर हमारे में शामिल करने वाला सविता देवता ही है। भला ऐसे की सहायता कौन नहीं चाहेगा। एवं सारे मनुष्य उससे धन की इच्छा किया करते हैं। सब यही चाहते हैं कि सविता देवता हमें दौलतमन्द बनावें एवं सब के सब पुष्टि के लिए–उस सविता से द्युम्न अर्थात् तेज की प्रार्थना करते हैं।

द्युम्न तेज बृहस्पति का तेज है। उसी ब्रह्मवर्चस की कामना की जाती है। इस प्रकार यह यजमान परोक्षभाव से स्तुति करता हुआ खुद इन सम्पत्तियों को चाहता है। यज्ञ इसके पास आ भी गया और यदि सविता की प्रेरणा नहीं हुई तो सारा काम व्यर्थ है। अतएव अन्त में सविता की स्तुति करते हैं ॥१८॥

इसी मन्त्र की प्रकारान्तर से प्रशंसा करते हैं। यह देवताओं से पङ्क्ति हो जाती है। अर्थात् यद्यपि अर्थ इसका पूर्वोक्त ही है। परन्तु शब्दों द्वारा यह ऋचा पाँच देवताओं के कारण **"पङ्क्ति"** हो जाती है।

"सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति"।

"विश्वोदेवस्य"–इस से वैश्वदेव का ग्रहण हो जाता है। १ एवं नेतु–यह सवितु है–२ मर्त्तोवुरीत –यह मित्र देवता का संकेत है–३ द्युम्नं वृणीत–बार्हस्पत्य है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'द्युम्न' बृहस्पति के तेज कारी नाम है – **"द्युम्नं हि बृहस्पतिः"**। एवं पुष्यसे यह पौष्ण है ॥१६॥

इस प्रकार यह ऋचा पाँच देवताओं के शामिल रहने के कारण पङ्वित सम्पत्ति युक्त हो जाती है। एक सम्वत्सर में पाँच ऋतुएं होती हैं एवं सम्वत्सर ही को कहते हैं यज्ञ, इसीलिए **"पाङ्क्तो यज्ञः"** यह कहा जाता है। इस प्रकार पञ्चर्तु सम्बधेन यज्ञ भी पाङ्क्त है एवं पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज भेदेन पशु भी पाँच ही हैं। बस इन पाँचों देवताओं की जो **"पङ्वित"** हो जाती है। इस पङ्वित युक्त ऋचा से से यह यजमान सम्वत्सर-यज्ञ को एवं पशु सम्पत्ति को प्राप्त हो जाता है—

"पाङ्क्तो यज्ञः। पाङ्क्तः पशुः। पञ्चर्तवः सम्वत्सरस्य एतमेवैतयाप्नोति यद्देवताभिः पङ्क्तिर्भवति ॥२०॥

पूर्वोक्त मन्त्र पर एक पूर्वपक्ष होने वाला है अतएव उसका पुनः स्मरण दिलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तां वा अनुष्टुभा जुहोति । वाग्वा अनुष्टुप् । वाग् यज्ञः । तद् यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति ।।२१।।

यहाँ पर कई एक आचार्य कहते हैं–औद्ग्रभण होम में एक ही आहुति का हवन करें एवं उसे एक बार घृत से पूर्ण करके अग्नि में डाले । सर्व ही को तो पूर्ण कहते हैं । इस प्रकार ऊपर तक घृत से जुहू को लबालब भर कर आहुति देने से केवल एक मात्र आहुति से यह यजमान सारी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है । जिस कामना के लिए यजमान चारों आहुतिएं और डालते हैं, उन सब कामनाओं को इस एक आहुति द्वारा प्राप्त कर लेता है । पूर्णाहुति के जिस समय स्रुवा को भरे उसी समय स्रुवा से होम न करके आज्य से स्रुचि को भरले, अर्थात् स्रुचि को ही पूर्ण भरकर आहुति दे देनी चाहिए । पूर्णाहुति क्रम में स्रुवा से आहुति देने की आवश्यकता नहीं है—

"तदाहुः एतामेवैकां जुहुयात् । यस्मै कामायेतरा हूयन्ते एतयैव तं काममाप्नोति इति (वदन्तः)–तां वै यद्येकां जुहायात् पूर्णां जुहुयात्सर्वं वै पूर्णम् सर्वमेवैनयै तदाप्नोति । अथयत् स्रुवमभिपूरयति–स्रुचं तदभिपूरयति । तां पूर्णां जुहोति" ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह मत बतला मात्र दिया है । वास्तव में यजमान पाँचों ही से आहुति देता है—

"अन्वेवैतदुच्यते सर्वास्त्वेवहूयन्ते" ।।२२।।

इस पाँचवीं को अनुष्टुप् छन्द से आहुत करता है यद्यपि अनुष्टुप् चन्द ३२ अक्षर का होता है । परन्तु निम्नलिखित सम्पत्ति प्राप्त्यर्थ ३१ अक्षर का ही छन्द बोला जाता है । ३१ भी–सख्यम् के स्थान में–"सखियम्" बोलने से होती है । एक अक्षर कम हो गया । इससे तो छन्दोभङ्ग हो गया इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । वैदिक परिभाषानुसार एक अक्षर से, अथवा दो अक्षर की कमी से छन्द नहीं बिगड़ा करता, जैसा कि श्रुति कहती है—

"नैकेनाक्षरेण छन्दान्सि वियन्ति न द्वाभ्याम्" ।

बतलाना प्रकृत में हमें यही है कि यह ऋचा अनुष्टुभ् छन्द वाली होती हुई ३१ अक्षर की है । १० अङ्गुली पैरों की हैं, १० हाथों की हैं एवं १० प्राण हैं एवं ३१वां आत्मा है जिसमें कि ये सारे प्राण प्रतिष्ठित हैं । बस इतना ही पुरुष का स्वरूप है । पुरुष ही यज्ञ है । पुरुष ही यज्ञ कैसे हैं ? इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ पुरुष सम्मित है ।

जितनी मात्रा यज्ञ की होती है उतनी ही मात्रा पुरुष की होती। वाक्मण्डल को यज्ञ कहते हैं। अग्नि ही को यज्ञ कहते हैं। यह अग्नि ही वसु (८) रुद्र (११) आदित्य (१२) भेद से ३१ स्वरूपों में परिणत हो जाता है।

बस इन ३१ अक्षरों के छन्द से आहुति देता हुआ यह यजमान उस प्राकृतिक यज्ञ सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।

। इति तृतीयकाण्डे प्रथमाध्याये औद्ग्रभण-ब्राह्मणं उपरतम्।

।। समाप्तश्चायं शतपथ ब्राह्मणे तृतीयकाण्डे प्रथमाध्यायः ।।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

'कृष्णाजिनदीक्षा'

[मूल]—दक्षिणेनाऽऽहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिनेऽउपस्तृणाति । तयोरेनमधि दीक्षयति यदि द्वे भवतस्तदनयोर्ल्लोकयो रूपं तदेनमनयोर्ल्लोकयोरधि दीक्षयति ।।१।।

सम्बद्धान्ते भवतः । सम्बद्धान्ताविव हीमौ लोकौ तद्यं समुते पश्चाद्ध-भवतस्तदिमावेव लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरेनमधि दीक्षयति ।।२।।

यद्युऽएकं भवति । तदेषां लोकानां रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं यानि कृष्णानि तान्यस्यै यदि वेतरथा यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति ।।३।।

अन्तकमु तर्हि पश्चात् प्रत्यस्येत् । तदिमानेव लोकान् मिथुनीकृत्य तेष्वेनमधि दीक्षयति ।।४।।

अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात् प्राङ् जान्वाक्न उपविशति । स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च सन्धिर्भवति तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सामयोः शिल्पे स्थऽइति यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पमृचां च साम्नां च प्रतिरूपेस्थ इत्येवैतदाह ।।५।।

'ते वामारभ' ऽइति । गर्भो वा ऽएष भवति यो दीक्षते स छन्दांसि प्रविशति तस्मान्न्यक्नाङ्गुलिरिव भवति न्यक्नाङ्गुलय इव हि गर्भाः ।।६।।

स यदाह । ते वामारभऽइति ये वाम्प्रविशामीत्त्ये वैतदाह 'ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृच' ऽइति ते मा गोपायतमास्य यज्ञस्य संस्थायाऽइत्ये-वैतदाह ।।७।।

अथ दक्षिणेन जानुनारोहति । 'शर्म्मासि शर्म मे यच्छेति चर्म्म वा ऽएतत् कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषं शर्म्म देवत्रा तस्मादाह शर्म्मासि शर्म्म मे

यच्छेति नमस्तेऽस्त्वस्तु मा मा हिंसीरिति श्रेयांस वाऽएष उपाधिरोहति यो यज्ञं यज्ञो हि कृष्णाजिनं तस्माऽएवैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्ते ऽअस्तु मा मा हिंसीरिति ॥८॥

स वै जघनार्द्धऽइवैवाऽग्र ऽआसीत । अथ यदग्रऽएव मद्ध्य उपविशेद्य ऽएनं तत्राऽनुव्या हरेद् द्रप्स्यति वा प्र वा पतिष्यतीति तथा हैव स्यात् तस्माज्जघनार्द्ध ऽइवैवाग्रऽआसीत ॥९॥

अथ मेखलां परिहरते । अङ्गिरसो ह वै दीक्षितानबल्यमविन्दत्तेनाऽन्यद् व्रतादशनमवाऽकल्पयंस्त ऽएतामूर्ज्जमपश्यन्त्समाप्ति तां मद्धचत आत्मन ऊर्ज्जं मदधत समाप्ति तया समानुवँस्तथो ऽएवैष एतां मद्धचत आत्मन ऊर्ज्जं धत्ते समाप्ति तथा समाप्नोति ॥१०॥

सा वै शाणी भवति । मृद्धच सदिति न्वेव शाणी यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्ठमुल्ब मासीत्ते शणास्तस्मात्ते पूतयो वान्ति यद्वस्य जराय्वासीत्तद्दीक्षितवसनमन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवति तस्मादेषाऽन्तरा वाससो भवति यथैवाऽतः प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्माद् यज्ञात् ॥११॥

सा वै त्रिवृद्ध भवति त्रिवृद्धचन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रिवृद्भवति ॥१२॥

मुञ्जवल्शेनान्वस्ता भवति । वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै स्तुकासर्गं सृष्टा भवति सा यत् प्रसलवि सृष्टा स्याद्यथेदमन्या रज्जवो मानुषी स्याद्यद्वपसलवि सृष्टा स्यात् पितृदेवत्या स्यात्तस्मात् स्तुकासर्गं सृष्टा भवति ॥१३॥

तां परिहरते । उर्गस्याङ्गिरसीत्यङ्गिरसो ह्येतामूर्जमपश्यन्नूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेही' ति नाऽत्र तिरोहितमिवास्ति ॥१४॥

अथ नीविमुद्गूहते । सोमस्य नीविरसीत्त्यदीक्षितस्य वा ऽअस्यैषाऽग्रे नीविर्भवत्यथाऽत्र दीक्षितस्य सोमस्य तस्मादाह सोमस्य नीविरसीति ॥१५॥

अथ प्रोर्णुते । गर्भो वाऽएव भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तस्माद्वै प्रोर्णुते ॥१६॥

स प्रोर्णुते । विष्णोः शर्म्मासि शर्म्म यजमानस्येत्युभयं वा ऽएषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्म्मासि शर्म्म यजमानस्येति ॥१७॥

अथ कृष्णविषाणाँ सिचि बध्नीते । देवाश्च वा ऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजायतेः पितुर्द्दायमुपेयुर्म्मन एव देवा उपायन्वाच मसुरा ऽअमूमेव देवा ऽउपायन्निमामसुराः ॥१८॥

ते देवा यज्ञमब्रुवन् । योषा वाऽइयं वागुममन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योषा वाऽइयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते वै मेति तामुपाऽमन्त्रयत सा हास्मा ऽआरकादिवैवाग्र ऽआसूयत् तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रे ऽसूयति स होवाचारकादिव वै म ऽआसूयीदिति ॥१९॥

ते होचुः । उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति ता मुपामन्त्रयत सा हास्मै निपालाशमिवोवाद तस्मादुस्त्रीपुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति स होवाच निपलाशमिव वै मेऽवादीदिति ॥२०॥

ते होचुः । उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपाऽमन्त्रयत सा हैनं जुहुवे तस्मादु स्त्रीपुमांसं ह्वयन्त ऽएवोत्तमं स होवाचाऽह्वयन्त वै मेति ।२१।

ते देवा ईक्षाञ्चक्रिरे । योषा वाऽइयं वाग्यदेनं न युवितेहैव मा तिष्ठन्तमभ्येहीति ब्रूहि तां तु न आगतां प्रतिप्रबूतादिति सा हैनं तदेव तिष्ठन्तमभ्येयाय तस्मादु स्त्रीपुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति तां हैभ्य आगतां प्रतिप्रोवाचेयं वा ऽआगादिति ।२२।

तां देवाः । असुरेभ्योऽन्तरायंस्तां स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजुहवुराहुतिर्हि देवानां स यामेवामूमनुष्टुभाजुहवुस्तदेवैनां तद्देवाः स्वयकुर्वत तेऽसुराऽआत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः ।२३।

तत्रैतामपि वाचमूदुः । उपजिज्ञास्यां स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्य्या हैषा वा वागेवमेवैष द्विषतां सपत्नानामादत्ते वाचन्तेऽस्यात्तवचसः पराभवन्ति य ऽएवमेतद्वेद ॥२४॥

सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ । मिथुन्येनया स्यामिति तां सम्बभूव ॥२५॥

इन्द्रो ह वा ऽईक्षाञ्चक्रे । महद्वा ऽइतोऽभ्वं जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद्वाचश्च यन्मा तन्नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैन्मिथुनं प्रविवेश ॥२६॥

स ह संवत्सरे जायमान ईक्षाञ्चक्रे । महावीर्य्या वा ऽइयं योनिर्या मामदीधरत यद्वै मेतो महदेवाभ्वं नानुप्रजायेत यन्मा तन्नाभिभवेदिति ॥२७॥

तां प्रतिपरामृश्यावेष्टयाच्छिनत् । तां यज्ञस्य शीर्षन् प्रत्यदधाद्यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञस्तत्कृष्णाजिनं यो सा योनिः सा कृष्णविषाणाथ यदेना मिन्द्र आवेष्ट्याच्छिन्नत्तस्मादावेष्टितेव स यथैवात इन्द्रोऽजायत गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनादेव मेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनात् ॥२८॥

तां वा ऽउत्तानामिव बध्नाति । उत्तानेव वै योनिर्गर्भं बिभर्त्यथ दक्षिणां भ्रुव मुपर्य्युपरि ललाट मुपस्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीतीन्द्रस्य ह्येषा योनिरतो वा ह्येनां प्रविशन् विशत्यतो वा जायमानो जायते तस्मादाहेन्द्रस्य योनिरसीति ॥२९॥

अथोल्लिखति । सुसस्याः कृषिस्कृधोति यज्ञ मेवैतज्जनयति यदा वै सुषमं भवत्यथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न तर्ह्यात्मने च नालं भवति तद्यज्ञ मेवैतज्जनयति ॥३०॥

अथ न दीक्षितः । काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वा ऽएष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन कण्डूयेदपास्यन् स्त्रियेत्ततो दीक्षितः पामनो भवितोर्द्दीक्षितं वाऽआनु रेतांसि ततो रेतांसि पामनानि जनितोः स्वा वै

योनि रेतो न हिनस्त्येषा वाऽएतस्य स्वायोनिर्भवति यत् कृष्णविषाणा तथो हैनमेषा न हिनस्ति तस्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्ण-विषाणायाः ॥३१॥

अथास्मै दण्डं प्रयच्छति । वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै ॥३२॥

औदुम्बरो भवति । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्ज्जोऽन्नाद्य स्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरो भवति ॥३३॥

मुखसम्मितो भवति । एतावद्वै वीर्यं स यावदेव वीर्यं तावाँस्तद्भवति यन्नमुखसम्मितः ॥३४॥

तमुच्छ्रयति । उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्द्ध्वो मा पाह्यं हस आस्य यज्ञ-स्योदृच इत्यूर्द्ध्वो मा गोपायास्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाह ॥३५॥

अत्र हैके । अंगुलीश्च न्यचन्ति वाचं यच्छन्त्यतो हि किञ्च न जपिष्यन् भवतीति वदन्तस्तदु तथा न कुर्य्याद्यथा पराञ्चं धावन्त मनुलिप्सेत तन्नानु-लभेतैवं ह स यज्ञं नानुलभते तस्मादमुत्रैवांगुलीर्न्यचेदमुत्र वाचं यच्छेत् ॥३६॥

अथ यद्दीक्षितः । ऋचं वा यजुर्वा साम वाभिव्याहरत्यभिस्थिरमभि-स्थिर मेवैतद्यज्ञमारभते तस्मादमुत्रैवाङ्गुलीर्न्यचेदमुत्र वाचं यच्छेत् ॥३७॥

अथ यद्वाचं यच्छति । वाग् वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्तेऽथ यद्वाचं यमोव्याहरति तस्मादु हैष विसृष्टो यज्ञः पराङावर्त्तते तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ॥३८॥

अथैकऽउद्वदति । दीक्षितोऽयं ब्राह्मणो दीक्षितोऽयं ब्राह्मणऽइति निवे-दितमेवैनमेवत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदित्ययं युष्मा-कैकोऽभूत्तं गोपायतेत्येवैतदाह त्रिष्कृत्वऽआह त्रिवृद्धिः यज्ञः ॥३९॥

अथ यद् ब्राह्मण इत्याह । अनद्धेव वा ऽअस्यातः पुरा जानं भवतीदं ह्याहू रक्षांसि योषित मनुसचन्ते तदुत रक्षांस्येव रेते आदधतीत्यथात्रा द्धा

जायते यो ब्राह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्मादपि राजन्य वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्राह्मणो हिजायते यो यज्ञाज्जायते तस्मादाहुर्न सवनकृतं हन्या-देनस्वी हैव सवनकृतेति ।।४०।।

[अनुवाद] इसके पूर्ववर्ती ब्राह्मण में दीक्षाहुतियों का निरूपण किया जा चुका है। अब इस ब्राह्मण में कृष्णाजिन पर बैठकर यजमान को सोमयागानुष्ठान के अधिकार प्राप्त्यर्थ दीक्षा लेनी चाहिये इसका प्रतिपादन किया जा रहा है।

यज्ञशाला में आहवनीय कुण्ड, गार्हपत्य कुण्ड, तथा दक्षिणाग्नि कुण्ड भेद से तीन कुण्ड तीनों अग्नियों के लिए बनाये जाते हैं। इनमें आहवनीय कुण्ड यज्ञशाला के पूर्व की ओर बनाया जाता है। यह वर्तुलाकार (गोल) होता हैं। गार्हपत्यकुण्ड यज्ञशाला के पश्चिम की ओर बनाया जाता है। यह चतुष्कोण होता है एवं दक्षिणाग्निकुण्ड यज्ञशाला के दक्षिण भाग में होता है और वह अर्धचन्द्राकार होता है। आहवनीय कुण्ड तथा गार्हपत्यकुण्ड के मध्य में वेदि होती है। आहवनीयकुण्ड के दक्षिणभाग में मृग कृष्णमृगचर्म के मस्तक भाग को पूर्व की ओर रखकर अध्वर्यु दो कृष्णमृगचर्मों को बिछाता है। इन दोनों मृगचर्मों पर यजमान को बैठाकर उसे दीक्षित करता है, क्योंकि कृष्णमृगचर्म पर बैठकर यजमान दीक्षा ग्रहण करता है। अतः इसे "कृष्णाजिनदीक्षा" शब्द से कहा गया है।

यहां दो कृष्णमृगचर्मों को बिछाकर उन पर बैठकर दीक्षा लेना एक मत है, तथा एक मृगचर्म पर बैठ कर दीक्षा लेना दूसरा मत है। पहले प्रथम मत का निरूपण कर रहे हैं।

वह यजमान दो कृष्णमृगचर्मों पर बैठकर दीक्षा क्यों लेता है इसकी उपपत्ति बतलाते हुए 'याज्ञवल्क्य' कहते हैं कि, दो कृष्णमृगचर्म पृथिवीलोक तथा द्युलोक रूप हैं, अर्थात् दो कृष्णमृगचर्मों पर बैठना पृथिवीलोक तथा द्युलोक पर बैठकर दीक्षा ग्रहण करना है। अर्थात् वह द्यावा-पृथिवी रूप दोनों लोकों से यजमानात्मा का सम्बन्ध करता है ।।१।।

दोनों कृष्णमृगचर्मों के पर्य्यन्त प्रदेश परस्पर सम्बद्ध होने चाहिये। क्योंकि पृथिवी-लोक तथा द्युलोक दोनों के पर्य्यन्त प्रदेश सम्बद्ध हैं। निवारण प्रदेश में अर्थात् खुले मैदान में खड़े होकर देखने पर द्युलोक के पर्य्यन्त प्रदेश पृथिवीलोक के पर्य्यन्त प्रदेशों से मिले हुए ही प्रतीत होते हैं अतः अधिदैवत के प्रतिकृतिरूप इस वैद्य यज्ञ में दोनों कृष्णमृग-चर्मों के पर्य्यन्त प्रदेशों को सम्बद्ध करके ही बिछाना चाहिए। दोनों मृगचर्मों के पश्चिम भाग को सूए से सीं देना चाहिए, जिससे वे अलग न हो सके। दोनों को सम्बद्ध करके उनके पृष्ठभाग को सूए से सीं देना चाहिए। पृष्ठभाग से सीने का तात्पर्य्य यह है कि दोनों कृष्णमृगचर्मों के माँसवाले प्रदेश सम्बद्ध तथा सिले हुए प्रतीत होवे न कि लोम वाले प्रदेश। इसीलिए कात्यायन ने कहा है – "आहवनीय दक्षिणेन कृष्णाजिनं मांससंहिते

स्यूतान्ते तद्यंतु पश्चादासञ्जनवती निदधाति' (का० श्रौ० सू० ७/८३) आपस्तम्ब में भी 'अन्तर्मांसाभ्यां वहिलोमाभ्याम्' (आ० श्रौ० सूत्र १०।८।१२) ऐसा कहा है। दोनों कृष्ण-मृगचर्मों को सीं कर दीक्षा देता हुआ पृथिवी लोक व द्युलोक को सम्बद्ध कर उन सम्बद्ध लोकों पर ही यजमान को दीक्षित करता है। ॥२॥

प्रथम मत का प्रतिपादन कर अब एक कृष्णमृगचर्म को बिछाकर उस पर बैठकर दीक्षा लेनी चाहिए, इस मत का प्रतिपादन तृतीय काण्डिका में किया जा रहा है। यह कृष्णमृगचर्म पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक तीनों का रूप हैं। क्योंकि इस मृगचर्म में श्वेत, कृष्ण तथा भूरा तीन रंग हैं, वे ही तीनों लोक हैं। कृष्णमृगचर्म में श्वेतांग सूर्यलोक (द्युलोक) है क्योंकि सूर्य का प्रकाश श्वेतवर्ण होता है। कृष्णमृग का जो कृष्णवर्ण है वह पृथिवीलोक का स्वरूप है क्योंकि पृथिवी कृष्णवर्ण की है उससे कृष्णरश्मियां निकला करती हैं। दिन में सूर्य के श्वेत प्रकाश के कारण पृथिवी के वास्तविक रंग की प्रतीति नहीं होती किन्तु रात्रि में सूर्य-प्रकाश का अभाव होने से उस कृष्णवर्ण की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है अथवा प्रकारान्तर से मृगचर्म के जो कृष्ण रोम हैं वे द्युलोक हैं और श्वेत-वर्ण रोम पृथिवीलोक का रूप है। इसका कारण यह है कि सूर्य की रश्मियां श्वेतवर्ण की नहीं अपितु कृष्णवर्ण की हैं। इसलिए—

> "आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

इस श्रुति में "कृष्णेन रजसा वर्तमानः" इस उक्ति के द्वारा सूर्य रश्मियां कृष्णवर्ण की हैं, यह स्पष्ट कहा है।

सूर्य में जो श्वेत प्रकाश होता है उसका कारण कृष्णवर्ण सूर्य में कृष्णवर्ण सोम की की आहुति है। सोम भी कृष्णवर्ण है और सूर्य भी कृष्णवर्ण, किन्तु आग्नेय कृष्णवर्ण सूर्य में दाह्य कृष्णवर्ण सोम की आहुति होने पर वह सोम प्रज्वलित हो जाता है। वही उसके श्वेत रूप की प्रतीति का कारण है। इस प्रकार से भी सूर्य ही श्वेत रंग का हुआ न कि पृथिवी। तथापि पृथिवी के तरफ ४८ कोस तक एमूष वराह वायु का स्तर है। वह वायु सोमात्मक है। उसका जब आग्नेय कृष्णवर्णा-सौर रश्मियों से सम्बन्ध होता है तब वह एमूष वराहरूप सोम जल उठता है। उसी का यह श्वेत प्रकाश है किन्तु वह वायुस्तर पृथिवी का है अतः पृथिवी से उस श्वेतवर्ण का सम्बन्ध है। पृथिवी दूरातिदूर वर्तमान सूर्य के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता। इस अभिप्राय से कहा है कि मृगचर्म में श्वेतरोम हैं, वे ही शुक्लरूपा पृथिवी का रूप है तथा कृष्णवर्ण रोम, कृष्णवर्ण द्युलोक के रूप हैं।

"यदि वेतरथा, यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपम् यानि शुक्लानि तान्यस्यै।" कृष्ण व श्वेतवर्णों के मध्य में अर्थात् सन्धिस्थान में चो मृगचर्म के रोम हैं वे भूरे वर्ण के या हरितवर्ण के हैं। वे ही रोम अन्तरिक्ष लोक का रूप है। इस प्रकार एक मृगचर्म पर यजमान को बैठाता हुआ अध्वर्यु निदानविधया त्रैलोक्य से सम्बन्ध करा देता है। अर्थात् उपर्युक्त रीति से एक कृष्णमृगचर्म पक्ष में यजमान को त्रैलोक्य सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है ॥३॥

एक कृष्णाजिन पक्ष में तीनों लोकों के परस्पर सम्बद्धताभाव को बतलाने के लिए मृगचर्म के पश्चिम भाग के अन्तिम प्रदेश को संकुचित कर के, दोहरा कर लेना चाहिए। इसी अभिप्राय से कात्यायन ने कहा है—"एकं चेत् पश्चात् पाद द्विगुणम्"। इस रीति से तीनों लोकों का परस्पर सम्बन्ध कर उस बैठाकर अध्वर्यु यजमान को दीक्षित करता है। अतः पृथिव्यादि तीनों लोकों की सम्पत्ति का यजमान से सम्बन्ध हो जाता है ॥४॥

यजमान दोनों कृष्णमृगचर्मों के पश्चात् भाग से पूर्व की ओर मुख कर दाहिने जानु को संकुचित कर अर्थात् ऊपर उठाकर बैठे। पश्चात् कृष्णमृगचर्म के कृष्ण व शुक्ल रोमों की जो सन्धि है उसका स्पर्श करके निम्न मन्त्र का उच्चारण करता है।

"ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः" कृष्णमृगचर्म के कृष्ण व श्वेत लोम ऋक् और साम के प्रतिरूप शिल्प में स्थित हैं। अपूर्व तथा प्रतिरूप भेद से शिल्प दो प्रकार का है। परमेश्वरस्थित से सृष्टि से भिन्न वस्तु का निर्माण अपूर्व शिल्प कहलाता है जैसे पुस्तक, मकान, रेल, तार आदि। किन्तु ईश्वरस्थित सृष्टि की नकल पर पदार्थ का निर्माण प्रतिरूप शिल्प कहलाता है। जैसे ईश्वर रचित सिंह, गज आदि की नकल पर सिंह गजादि के चित्र का निर्माण। कृष्णमृगचर्म के कृष्ण व श्वेत लोम ऋक् और साम के प्रतिरूप शिल्प हैं। क्योंकि ऋक् का वर्ण शुक्ल है तथा साम का वर्ण कृष्ण, जैसा कि तैत्तिरीय श्रुति बतला रही है—

"एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनस्य, एष साम्नो यत् कृष्णम्" और कृष्णमृगचर्म में जो कृष्ण लोम हैं वह साम का तथा श्वेत लोम का रूप है। अतः कृष्ण मृगचर्म के श्वेत व कृष्ण लोम ऋक साम के प्रतिरूप हैं ॥५॥

पश्चात् "ते वामारभे" अर्थात् मैं आप दोनों में प्रवेश करता हूं, जो कि दीक्षा ग्रहण करता है वह ऋक् सोम का गर्भस्वरूप होता है। यज्ञ द्वारा जो नवीन दिव्यात्मा बनता है वह द्युलोक व पृथीवीलोक के उदर में रहता है। कृष्णमृगचर्मरूप द्यावा पृथिवी के मध्य में बैठा हुआ यह यजमान छन्दों में प्रविष्ट होता है। वयोनाध अर्थात् सीमाभाव का नाम छन्द है। अतः यजमान संकुचितांगुलि होकर ही कृष्णमृगचर्म पर बैठता है क्योंकि गर्भ संकुचितावयव ही रहता है क्योंकि गर्भस्थ प्राणी हस्त, पाद आदि अवयवों को समेटे हुए,

मस्तक को उदर की ओर झुकाकर ही रहता है क्योंकि यह दीक्षा लेने वाला यजमान भी द्यावापृथिवीरूप ऋक् साम का गर्भ है अतः वह भी संकुचितावयव होकर ही कृष्ण-मृगचर्म पर बैठता है ।।६।।

दीक्षा ग्रहण करता हुआ यजमान "ते वामारभे" यह मन्त्र बोलता है । इसका तात्पर्य यह है कि मैं आपमें गर्भरूप से प्रवेश कर रहा हूं । पश्चात् "ते मा पातमास्म यज्ञस्योद् ऋचः" यह मन्त्रशेष बोलता है । अर्थात् हे ! द्यावा पृथिवी यज्ञ समाप्ति तक आप मेरी रक्षा करें यही अर्थ "ते मा पातमास्य यज्ञस्योद् ऋचः" का है ।।७।।

इसके बाद दाहिने जानु से कृष्णमृगचर्म पर आरुढ़ होता है और निम्न मन्त्र का उच्चारण करता है । "शर्मासिशर्म मे यच्छ" इति । हे कृष्णमृगचर्म, तुम शर्म हो, मुझे सुख प्रदान करो । तात्पर्य्य यह है कि जो लोकभाषा में चर्म कहा जाता है वह देवताओं में शर्म कहलाता है । क्योंकि इससे हमें सुख मिलता है । यह चर्म देहाभ्यन्तरवर्ती आन्तरिक मांस मज्जा, रक्त आदि की रक्षा करने वाला है और इस प्रकार सुख प्रदानकर्त्ता होने से शर्म कहा जाता है । देवता परोक्षप्रिय होते हैं । अतः चर्म को परोक्ष भाषा में में शर्म कहा है । पश्चात् "नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसी" इस मन्त्र शेष का उच्चारण करता है । अर्थात् यजमान कृष्णमृगचर्म पर बैठकर जो उसका अपराध करता है उसके लिए क्षमा याचना करता हुआ यजमान कहता है कि आपको नमस्कार है । मैं जो आपके ऊपर बैठ गया हूं उसके लिए आप मेरी हिंसा न करें । यद्यपि मृगचर्म अचेतन है तथापि उसे अधिष्ठातृदेवता सर्वत्र व्यापक चैतन्य के उसमें भी रहने से उसके लिए चेतन की तरह मुझे मत मारो । यह कहना सर्वथा संगत है । लोक में जड़ चेतनव्यवस्था या चेतना चेतन व्यवस्था, चैतन्य की सत्ता या उसके अभाव के कारण नहीं है अपितु इन्द्रियों की सत्ता तथा इन्द्रियों के अभाव के कारण ही मानी गई है इसलिए महर्षि चरक ने—

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरीन्द्रियमचेतनम्" के द्वारा सेन्द्रिय द्रव्य को चेतन तथा इन्द्रिय रहित द्रव्य को अचेतन बतलाया गया है मृगचर्म चैतन्य की सत्ता के कारण चेतन है अतः उससे मुझे मत मारना—यह प्रार्थना करना सुसंगत है ।

इसी मन्त्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते है कि यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करने वाला यजमान यज्ञस्वरूप मृगचर्म पर सवार होकर अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ यज्ञ पर आरूढ़ हो रहा है । अतः उस अपराध के लिए वह यज्ञरूप कृष्णाजिन से क्षमा प्रार्थना करता है कि आप मुझे न मारे ।।८।।

कृष्णमृगचर्म पर आरुढ़ वह यजमान कृष्णाजिन के पीछे के भाग पर अर्थात् पश्चिम के आधे भाग पर पहले आसीन होवे । यदि कृष्णाजिन के अग्रभाग अर्थात् पूर्वभाग में या मध्यभाग में बैठेगा-आगे बढ़ने न पायेगा । क्योंकि स्थान ही नहीं रहेगा । यज्ञ द्वारा दिव्यात्मा

को उत्पन्न कर यजमान गार्हपत्य रूप पृथिवीलोक से आहवनीय रूप दिव्यलोक में जाता है। यदि यजमान कृष्णमृगचर्म के पूर्वार्धभाग में या मध्यभाग में बैठेगा तो वह यज्ञ द्वारा आगे बढ़ने पर कृष्णमृगचर्म से पतित हो जायगा या कुत्सित गति को प्रांप्त होगा। अतः प्रथम यजमान कृष्णमृगचर्म के पश्चिमार्धभाग पर ही बैठे। इसी अभिप्राय से कहा है "तस्माज्जधनार्ध इवैवाग्र आसीत ॥९॥

कृष्णमृगचर्म के पश्चिमार्धभाग में आसीन होने के बाद यजमान अपने कटिस्थान में मेखला धारण करता है क्योंकि अग्निसोमात्मक यज्ञ में भोक्ता होने से भोग्य सोम की अपेक्षा अग्नि का ही प्राधान्य है। उस अङ्गिरारूप अग्नितत्त्व का साक्षात्कार करने वाले अङ्गिराओं ने यज्ञ में दीक्षित होने के बाद बलप्रद अन्न को प्राप्त नहीं किया क्योंकि दीक्षा ग्रहण करने के बाद दीक्षित पुरुष आलस्यप्रद अन्य अन्नों का परित्याग कर सात्विक दुग्धरूप अन्न का ही सेवन करता है। दूध सात्विक तो है किन्तु उसमें इतना बल नहीं होता अतः दीक्षित निर्बल पुरुष आयास साध्य यज्ञ की समाप्ति पर पहुंचने में असमर्थ हो जाता है। अतः उन अङ्गिराओं ने सोचा कि आलस्यप्रद अन्न को छोड़कर अन्य कोई बलप्रद वस्तु प्राप्त की जाय जिससे यज्ञ की समाप्ति पर पहुंचा जा सके। सोचते-सोचते उन्होंने इसी बलप्रद मेखला को देखा। मेखला कमर में धारण की जाती है। कमर कसने पर मनुष्य में ऊर्क् अर्थात् स्फूर्तिप्रद बल प्राप्त हो जाता है अतः उन्होंने शरीर के मध्यभाग कटि में बलप्रद समाप्ति (मेखला) को धारण किया। यज्ञ की समाप्ति बल पर निर्भर है और मेखला बलप्रद होने से यज्ञ की समाप्ति का साधन है अतः यहां मेखला को समाप्ति कहा गया है। सायणभाष्य के अनुसार "सम्यगाप्यायते आप्यते वा बलमनया"—इस व्युत्पत्ति से बल प्राप्ति का साधन होने से मेखला को समाप्ति कहा गया है। इसी मेखला द्वारा बल प्राप्त कर यज्ञ की समाप्ति को अङ्गिराओं ने प्राप्त किया। उसी प्रकार आज यह दीक्षित यजमान इस बल प्राप्ति साधन व यज्ञ समाप्ति साधन मेखला को मध्यभाग में धारण करता है और उससे यज्ञ को समाप्त करता है ॥१०॥

जो मेखला दीक्षित यजमान धारण करता है वह शण की बनी होनी चाहिए। क्योंकि शण की बनी हुई मेखला कोमल होती है वह शरीर में चुभती नहीं। क्योंकि यह दीक्षित यजमान द्यावापृथिवी में मध्य में गर्भ बना हुआ है। गर्भ प्रकृत्या कोमल होता है। अतः उसे कोमल शण की मेखला ही पहननी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि जीव प्रजापति स्त्रीशोणितरूप अग्नि में पुरुष के सोममय शुक्र की आहुति से पैदा होता है। अग्नि में सोम की आहुति का नाम यज्ञ है अतः यह यज्ञ से ही उत्पन्न होता है। यह जीवाप्रजापति मातृशरीर में गर्भी होता है। गर्भ गर्भी का अभेद होने से गर्भी जीव को यहां गर्भ शब्द से कह दिया गया है। इस गर्भ को चारों तरफ वेष्टित करने वाला उल्ब अर्थात् पतली झिल्ली रहती है। वह गर्भ के अत्यन्त संनिहित होती है।

उसी पतली झिल्लीरूप उल्ब से शण बनता है। इसमें यही प्रमाण है कि गर्भ का परिवेष्टन करने वाला उल्ब गर्भ की मलिनता से दुर्गन्धयुक्त होता है। उसी प्रकार यह शण भी अति दुर्गन्धित होता है। गर्भ उल्ब से आच्छादित रहती है इसीलिए "स उल्बावृतो गर्भो भवति" (ऐ० ब्रा० १।१।२) यह एतरेय श्रुति गर्भ को उल्ब से आवृत बतला रही है। इस गर्भ को आवृत करने वाला उल्ब जरायु (जेर) से आवृत होता है। अर्थात् जरायु के अन्दर रखा रहता है। यह जरायु उस उल्ब का वेष्टन करने वाला वस्त्र है। अतः यजमान वस्त्र के अन्दर इस उल्बरूप में विद्यमान मेखला को धारण करता है। क्योंकि यजमान प्राकृतिक यज्ञ की प्रकृतिरूप यज्ञ द्वारा दैवात्मा को उत्पन्न करने वाला है। अतः वह गर्भीभूत यजमान गर्भ को वेष्टित करने वाले उल्ब के समान इस मेखला को धारण करते हैं तथा उसके ऊपर जरायु के समान दीक्षित यजमान के वस्त्र हैं ॥११॥

मेखला त्रिगुणात्मक होती है अर्थात् तीन डोरियों की बनी होती है। अन्न त्रिवृत् होता है। जिससे आत्मा का स्वरूप बनता है या आत्मा की स्वरूपरक्षा होती है। उसे अन्न कहते हैं। जो भोग्य होता है उसे पशु कहते हैं। प्रजापति भगवान् अन्न को आत्मसात् कर लेते हैं वह आत्मा का भोग्य है। अतः अन्न पशु कहलाता है। आत्मप्रजापति के अन्न माता-पिता तथा रससमष्टि (देवसमष्टि) आत्मा चिद्वस्तु या चेतना है जो कि स्वयंभू मण्डल की वस्तु है। उस चित् का आभास पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व में हो पड़ता है वही चिदाभास जीव कहलाता है। पारमेष्ठ्य तत्त्व को ही अध्यात्म में महान् कहा है। इसी महान् में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे प्राणियों की उत्पत्ति होती है इसीलिए गीता में कहा है :—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

जिस पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व में स्वायम्भुव चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह आप्य-तत्त्व आपः वायु सोम भेद से तीन प्रकार का है। अतः आप्य, वायव्य, सौम्य भेद से प्राणी तीन भागों में विभक्त हैं। अतः मनुष्य में शुक्रशोणित ही आप्यतत्त्व हैं। दोनों ही जल हैं। पुरुष में शुक्र जलीय तत्त्व है। स्त्री में शोणित जलीय तत्त्व है। वहां स्त्री का शोणित आग्नेय है तथा पुरुष का शुक्र सौम्य है। अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है। इस तरह शुक्र-शोणित का संयोग होने पर जीवात्मा की उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि उसमें स्वायम्भुव चिदात्मारूप बीज प्रतिष्ठित हो जाता है यही जीवात्मा है। शुक्र और शोणित का सम्बन्ध माता-पिता से है अतः जीवात्मा के स्वरूप सम्पादक तथा उसके स्वरूप के रक्षक शुक्ररूप पिता, शोणितरूप माता है। ये दोनों ही जीवात्मा के भोग्य होने से अन्नज

पशुरूप हैं। जीवात्मा के गर्भ में आते ही सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, नक्षत्र आदि के रस भी इसमें आने लगते हैं। यह रस समष्टि ही जीवात्मा का भोग्य होने से उसका तीसरा अन्न है। इस प्रकार माता, पिता, रससमष्टि तीनों ही जीवात्मा के अन्न हैं। माता-पिता शोणितशुक्र रूप सम्बन्ध होते हैं। सूर्य्यादि के रस स्वतः आते लगते हैं। अतः उस समष्टि को "यज्जायते यत्तृतीयम्" रूप से कहा है। प्रकृत में भी यज्ञ द्वारा दिव्यात्मा को उत्पन्न करना है। अतः जीवात्म प्रजनन के अनुसार यहाँ भी तीनों अन्नों की आवश्यकता है। इसलिए अन्नत्रय प्राप्त्यर्थ मेखला को त्रिगुणित डोरी से बनाया जाता है ॥१२॥

यह शण की बनी हुई मेखला मूंज की शाखा से अनुयुक्त होनी चाहिए। क्योंकि मूंज-शर (सरकण्डे) को कहते हैं और सरकण्डा वज्ररूप है। इस शररूप वज्र से राक्षस प्राणों का नाश हो जाता है जैसा कि तैत्तिरीय संहिता में कहा है।

"इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत्। येऽन्तः शराअशीर्यन्त ताः शर्करा अभवन्। तच्छर्कराणां शर्करात्वं, वज्रो वै शर्कराः—इति (तै०सं० ५-२-६-१०२)।

शतपथ ब्राह्मण के हविर्यज्ञकाण्ड में भी "इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार, स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्।" तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा। यूपस्तृतीयं वा यावद्वा। रथस्तृतीयं वा यावद्वा। अथ यत्र प्राहरन्तच्छकलोऽशीर्यत। स पतित्वा शणोऽभवत्। तस्माच्छरो नाम यदशीर्यत। एव मु स चतुर्धा वज्रोऽभवत्। (श०ब्रा० १-२-४-१)। इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि शर (पानी-मूंज) वज्ररूप है अतः वह उल्बरूप मेखला के पूतिभाव (दुर्गन्ध) रूप राक्षसों के नष्ट करने में समर्थ हैं।

इस मेखला को केशवेणी की तरह निर्माण करना चाहिए। अर्थात् इस मेखला को केशवेणी की तरह ग्रथित करना चाहिए न कि दक्षिणावर्त या वामावर्त रूप से। क्योंकि यदि इसको दक्षिणावर्त गूंथा जायगा तो इसमें मानुषभाव आजायगा क्योंकि मानुष कार्यों में रज्जु आदि को दक्षिणावर्त गूंथा जाता है और मानुषभाव का समावेश देवकार्य में उचित नहीं है क्योंकि मनुष्य अनृतसंहित होते हैं और देवकार्य सत्यसंहित होता है और यदि मेखला को वामावर्तरूप से गूंथा जायेगा तो उसमें पितृभाव का समावेश होने से वह मेखला पितृदेवत्या बन जायगी। देवदेवत्या नहीं रहेगी। अतः दोनों से बचने के लिए केशवेणी की तरह मेखला का ग्रथन करना चाहिए ॥१३॥

उस मेखला को "ऊर्जस्यांगिरस्यूर्णप्रदा ऊर्जं मयि धेहि" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए धारण करना चाहिए। अर्थात् ऊर्क् (बलप्रदान करने वाली) मेखला को अंगिराओं ने सर्वप्रथम देखा था अर्थात् इसका आविष्कार किया था। अतः इस मेखला को आङ्गिरसी मन्त्र से कहा गया है। हे मेखले, आप मेरे में बल का आधान कीजिए ॥१४॥

तत्पश्चात् यजमान मेखला की नीवी का "सोमस्य नीविरसि" कहकर उपगूहन करता है, बांधता है। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व यजमान की नीवी अदीक्षित पुरुष की सामान्य नीवी थी किन्तु अब सोम याग के लिए दीक्षित पुरुष की नीवी सोममयी बन गई है। अतः "सोमस्य नीविरसि" ऐसा कहा गया है।

इसके बाद जरायु स्थानीय वस्त्र से मस्तक को ढक लेता है क्योंकि जो दीक्षा लेता है वह गर्भी बनता है। गर्भ उल्व (गर्भ वेष्टन करते वाली पतली झिल्ली) तथा जरायु से वेष्टित रहता है अतः यह यजमान भी उसी प्रकार उल्बस्थानीय मेखला धारण करता है तथा तदनन्तर उस वस्त्र से शिर को ढकता है ।।१६।।

यजमान वस्त्र से शिर ढकता हुआ "विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्य" इस मन्त्र का उच्चारण करता है। अर्थात् यह दीक्षित पुरुष विष्णु और यजमान बन जाता। क्योंकि यह यज्ञ के लिए दीक्षा ग्रहण करता है। यज्ञ ही "यज्ञो वै विष्णुः" इस श्रुति के अनुसार विष्णु है। अपि च यह दीक्षित पुरुष यजन करता है अतः यह यजमान बन जाता है ।।१७।।

यजमान ने मस्तक को जिस वस्त्र से ढका है उस वस्त्र के अन्तिम भाग में वह काले हिरण का शृङ्ग बांधता है। देवता व असुर जो दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे। उन्होंने पिता प्रजापति के दाय भाग को प्राप्त किया। प्रकाशी प्राण ही देवता हैं तथा तामस (तमोमय) प्राण असुर हैं। पार्थिव आग्नेय देवताओं का द्युलोक के देवताओं से सम्बन्ध ही यज्ञ है। इन पार्थिव देवताओं के साथ यजमान के मन, प्राण वाग्रूप, आत्मविभूतियों का भी द्युलोक से सम्बन्ध हो जाता है। मन, वाक् आदि विभूतियां भी प्रजापति की सम्पत्ति है। यह देव व असुर दोनों में बंट जाती है। इनमें से मन को देवताओं ने प्राप्त किया और वाक् को असुरों ने प्राप्त किया। मन चन्द्रमा है। इसीलिए "चन्द्रमा वै मनो हृदयं प्राविशत्" इस ऐतरेयोपनिषद् श्रुति द्वारा चन्द्रमा को ही अध्यात्म में मन बतलाया गया है। सोम की अग्नि में आहुति होती है अतः वह अग्नि का भोग्य है, अन्न है। एतद्वै सोमो राजा देवाना देवता आग्नेय है अतः सोम (चन्प्रमा) अन्न है। "एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" यह श्रुति सोम को देवता प्राण अन्न (भोग्य) बतला रही है। "वाग् वै अत्रि" इस श्रुति के अनुसार वाक् अत्रिप्राण रूप है। अभिप्राण सौर रश्मियों का अवरोधक है। अतः वह सौर-प्राणरूप देवताओं का विरोधी होने से आसुर है। अर्थात् अत्रिप्राणरूप वाक् देवविरोधी होने से असुरों के हिस्से में आया। इसी प्रकार यज्ञ को देवताओं ने प्राप्त किया। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ कहलाती है। इनमें अग्नि अत्ता या अन्नाद है तथा सोम आद्य या अन्न है। अन्नाद तथा अन्न का सम्बन्ध होने पर अत्ता या अन्नाद ही शेष रहता है और अत्ता अग्नि है। अतः प्रधान होने से अग्नि ही यज्ञ है। देवता आग्नेय हैं अतः यज्ञ देवताओं के हिस्से में आया। अग्निप्राणरूप वाक् सौररश्मियों का विरोधी होने से सौर प्रकाशी प्राणरूप देवताओं का वाक् विरोधी है अतः वह असुरों के हिस्से में आया।

इसी तरह द्युलोक को देवताओं ने प्राप्त किया तथा पृथिवी को असुरों ने। क्योंकि द्युलोक के अधिष्ठाता सूर्य (इन्द्र) हैं और सूर्य देवघन है। जैसा कि "चित्रं देवानामुदगादनीकं" यह श्रुति बतला रही है। द्युलोक का प्राण इन्द्र है जो प्रकाश का अधिष्ठाता व प्रकाशक है और पृथिवी का प्राण अग्नि है जो कि तापधर्मा है, प्रकाशधर्मा नहीं है। इसीलिए— "यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" यह श्रुति द्युलोक का प्राण इन्द्र को तथा पृथिवी का प्राण अग्नि को बतला रही है। देवताओं के द्युलोकवासी होने से द्युलोक देवताओं को प्राप्त हुआ और पृथिवी तमोमय प्राणप्रधान होने से तमोमय प्राण रूप पृथिवी को तमोमय प्राण रूप असुरों ने प्राप्त किया। सूर्य से निकलने वाली कान्ति श्वेत व प्रकाशमय जब कि पृथिवी से निकलने वाली कृष्ण तथा तामस है। इस प्रकार से प्रजापति की सम्पत्ति है। उनके दोनों पुत्रों में विभक्त हो गई ॥१८॥

यज्ञ जब देवताओं को प्राप्त हो गया तब देवताओं ने यज्ञ से कहा कि कृष्णप्राणरूप वाक् जो कि असुरों को प्राप्त हुई है वह योषा रूप है इसलिए आप उसको अपने पास बुला लीजिए। जहां तुमने उसे बुलाया कि वह आपको अपने पास बुला लेगी। यज्ञ ने स्वयं विचार किया कि यह वाक् योषा (स्त्री) है, मैं उसे आमन्त्रित करूं। आमन्त्रित करने पर वह मुझे बुलायेगी। अतः यज्ञ ने उसे बुलाया। उस स्त्री रूप वाक् ने उसे फटकार दिया और उससे असूया करने लगी। आरी से व्यथित बैल आदि जिस प्रकार आरी चुभाने वाले से असूया करते हैं उस प्रकार वाक् ने यज्ञ से असूया की। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह स्त्री का स्वभाव है कि जब पुरुष स्त्री को अपने पास बुलाता है तब वह पहले इसी प्रकार पुरुष को दूर से ही फटकार देती है अतः प्रकृति यज्ञ में यज्ञरूप पुरुष के द्वारा वाग्रूप स्त्री के बुलाने पर उसने उसे फटकार दिया था ॥१९॥

देवताओं ने पुनः यज्ञ से कहा कि भगवान् आप वाक् को बुलाइए। बुलाने पर आपको बुलायेगी। वह आपको अपनायेगी। इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष स्त्री का आह्वान करता है। प्रथम बार वह उसे फटकार देती है परन्तु फिर अन्तरात्मा की प्रेरणा होती है कि पुनः इस स्त्री को बुलावें, वह अवश्य ही मुझ से प्रेम करेगी। बस इस स्वाभाविक आत्मविज्ञान को बतलाने के लिए यज्ञरूप पुरुष ने वाक् रूप स्त्री का पुनः आह्वान किया। उसने अब के उसे फटकारा नहीं किन्तु सर्वथा निराशा के वाक्य कहे। क्यों मेरे को बुलाते हो? मैं तुम्हारे पास आना नहीं चाहती। "यह सुनकर यज्ञ ने देवताओं से कहा कि सर्वथा निराशापूर्वक वचन मुझ से कहे कि मैं तुम्हारे पास आना नहीं चाहती। इसी अभिप्राय से मूल में लिखा है। 'निपलाशमिवैव वदति' इत्यादि। यहां 'निपलासम् का तात्पर्य सर्वथा निराशा के वाक्य' यह अर्थ हिन्दी विज्ञान भाष्य में किया है। निपलाश शब्द की व्युत्पत्ति नितरां परागता आशा यत्रेति निपलाशम्, निपलाशमेव निपलाशम् इस प्रकार की है। किन्तु सायणाचार्य ने "निपतितवर्णवृक्षादिक" अर्थात् जिसके पत्ते गिर गये हैं ऐसे स्थाणुमात्रावशेष वृक्षादिक

अर्थ किया है। पतितपर्णवृक्ष जैसे कम्पनमात्र करता है उसी तरह शिरश्चालन मात्र से बोली किन्तु इन दोनों अर्थों में विज्ञानभाष्य का व्याख्यान ही उचित प्रतीत होता है ॥२०॥

देवताओं ने पुनः कहा कि हे यज्ञ आप वाक् को पुनः बुलाइए। वह आपको अवश्य बुलायेगी। आपको अवश्य अपनायेगी। देवताओं (अन्तरात्मा) की प्रेरणा से तीसरी बार जब यज्ञ ने इस वाक् को आमन्त्रित किया तब उस वाक्रूप स्त्री ने यज्ञरूप पुरुष को अपने पास बुलाया। याज्ञवल्क्य भगवान् कहते हैं कि इन तीनों कण्डिकाओं में यज्ञरूप के द्वारा तीन बार वाग्रूप स्त्री का आह्वान करने पर अन्त में यज्ञ को बुला लिया। इससे स्त्री के स्वभाव का चित्रण किया है कि आरम्भ में स्त्री पुरुष के द्वारा बुलाने पर फटकार देती है। पुनः प्रयास करने पर वह कुछ द्रवीभूत होती है और निराशापूर्ण शब्दों में निषेध करती है। किन्तु अन्त में पुनः प्रयास करने पर वह पुरुष को अपने पास बुला लेती है, अपना लेती है। इसी अभिप्राय से कहा है। "तस्मात् स्त्री पुमांसं ह्वयत एवोत्तमम्" इति।

जब वाक् ने यज्ञ को बुला लिया तब यज्ञ ने देवताओं से कहा कि वाक् ने मुझे बुला लिया है ॥२१॥

तब देवताओं न विचार किया और यज्ञ से कहा कि स्त्रियों की बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। वह इसी स्थान में बैठे हुए, खड़े हुए मुझ से आकर मिले—ऐसा उससे कहो और वह जो कुछ कहे उसकी सूचना हमें भी देना। यज्ञ ने वैसा वाक् से कहा और वह यज्ञ के पास संकेत स्थान पर आ गई। अर्थात् वाक् (पार्थिवाग्नि) यज्ञ (द्युलोकीय) देवताओं में शामिल हो गई। इसकी सूचना यज्ञ ने देवताओं को दे दी। इसमें भी स्त्री स्वभाव का वर्णन किया है कि स्त्री जिस पुरुष के प्रेम में बंध जाती है तो वह अन्त में उसके पास संकेत स्थान में आ ही जाती है ॥२२॥

देवताओं ने उस वाक् को स्वीकृत कर असुरों से अन्तर्हित कर (छिपाकर) उसकी अग्नि में आहुति दे दी। उस वाक् को परिगृहित कर सर्वाहुत् यज्ञ द्वारा उसकी अग्नि में आहुति दे दी। आहुति का नाम ही यज्ञ है। यह प्राण व्यापार रूप यज्ञ बिना वाक् के अर्थात् बिना मन्त्रोच्चारण के नहीं होता। मन्त्रोच्चारण रूप वाग् व्यापार करना ही वाक् की अग्नि में आहुति है। इस वाक् को असुरों से तिरोहित किया। इसका अभिप्राय यह है कि अशुद्ध लौकिक वाक् के द्वारा मन्त्रोच्चारण नहीं करना चाहिए। अपितु उदात्तादि स्वरयुक्त शुद्ध वाक् से ही मन्त्रोच्चारण करना चाहिए। पार्थिव वाक् नाम से प्रसिद्ध है उनकी अग्नि में आहुति होते ही पृथिवी के बन्धन से मुक्त होकर देवताओं में सम्मिलित हो जाते हैं। इसीलिए लिखा है "आहुति र्हि देवानाम्" स यामेवामूमनुष्टुभाऽजुहवुस्तदेवेना तद्देवाः स्व्यकुर्वत—इति।

आहुति द्वारा वाणी के सारभाग का देवताओं द्वारा ग्रहण कर लेने पर हे अरयः के स्थान पर हेऽलयः हेऽलयः ऐसा अशुद्ध उच्चारण करने से असुर पराभूत हो गये ।।२३।।

जो उपजिज्ञास्य वाक् का अर्थात् संदिग्ध वाक् का उच्चारण करता है जिसमें यह जिज्ञासा बनी रहे कि यह क्या बोलता है । इसका अर्थ क्या है ? वह भी म्लेच्छ होता है । इसलिए ब्राह्मण कभी म्लेच्छ न बने अर्थात् संदिग्ध वाक् का उच्चारण न करे क्योंकि संदिग्धवाक् असुर्य होती है । शुद्ध मन्त्र द्वारा जो आहुति देता है । शुद्ध वाक् (मन्त्र) बोलता है वह शत्रुओं के वाग्भाग को उसके सारभाग को खींच लेता है अतः वे उसके शत्रु अपहतवाक होकर पराभूत हो जाते हैं । यदि वह उपर्युक्त वाग् विज्ञान को जानता है ।।२४।।

उस यज्ञ ने इस आहुति युक्त वाक् का चिन्तन किया, संकल्प किया कि मैं इस वाक् के साथ मिथुनभाव से सम्बद्ध हो जाऊँ । संकल्प करते ही वह उससे संगत हो गया, युक्त हो गया ।।२५।।

इन्द्र, धाता, भग, पूषा आदि १२ प्राणों की समष्टि ही सूर्य है । उनमें बल का अधिष्ठाता प्राण इन्द्र कहलाता है । वही सबका आत्मा है । उसने विचार किया कि इस यज्ञ व वाक् के मिथुन से अर्थात् प्रत्येक पृथिवी के मिथुन से कोई अति बलशाली अपत्य पैदा होगा । वह अति बलशाली होने से मुझे पराजित न कर दे । इसलिए वह आत्मा उस मिथुन में गर्भरूप से प्रविष्ट (अर्थात् जैसे यज्ञ व वाक्रूप शुक्रशोणित) योषा वृषा का संयोग हुआ, वही इन्द्ररूप आत्मा प्रविष्ट हो जाता है ।।२६।।

वह इन्द्र उस मिथुन में गर्भरूप से सम्वत्सर तक रह कर उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होते ही उसने विचार किया कि यह योनि अत्यन्त वीर्यशाली है जिसने मुझे एक वर्ष तक धारण किये रक्खा । इससे कोई दूसरा बलशाली प्राणी न उत्पन्न हो जाय जो मेरा अभिभव (पराजय) कर बैठे ।।२७।।

इसलिए उस योनि को हाथ से मरोडकर छिन्न-भिन्न कर यज्ञ के शिर पर स्थापित कर दिया । क्योंकि यज्ञ ही कृष्ण है । जैसा कि "यज्ञो हि देवेभ्यो निलायत कृष्णो रूपं कृत्वा" यह श्रुति बतला रही है । यह यज्ञ ही कृष्णाजिन है तथा जो कृष्णविषाण है वह स्त्री रूप योनि है । जिसे इन्द्र ने तोड़कर छिन्न-भिन्न कर कृष्णाजिनरूप यज्ञ के मस्तक पर रख दिया है । क्योंकि इन्द्र ने इसको तोड़-मरोड़कर वेष्टित कर दिया है । अतः कृष्णमृग का सींग आवेष्टित सा है । जिस प्रकार इन्द्र यज्ञ तथा वाक् के मिथुन में गर्भ बनकर महायोनि से उत्पन्न हुआ उसी प्रकार यह यजमान भी कृष्णविषाण को धारण करता हुआ यज्ञ व वाक् के मिथुन में गर्भ बनकर इसी कृष्णविषाणरूपी योनि से उत्पन्न होता है अर्थात् यजमान का दिव्यात्मा उत्पन्न होता है ।।२८।।

यजमान कृष्णविषाणरूप योनि को ऊर्ध्वमुख बनाकर ही बांधता है क्योंकि ऊर्ध्वमुख योनि ही गर्भ को धारण करती है। योनि के अधोमुख होने पर गर्भपात हो जाता है और यजमान गर्भ बनकर योनि में प्रविष्ठ है अतः निदानविधया कृष्णविषाण को ऊर्ध्वमुख ही रहना चाहिए। तदनन्तर "इन्द्रस्य योनिरसि" इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ यजमान कर ललाट के कुछ ऊपर तक के प्रदेश का इस कृष्णविषाण से स्पर्श करता है। दक्षिणभ्रू से प्रारम्भ "इन्द्रस्य योनिरसि" इस मन्त्रांश का अर्थ बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह कृष्णविषाण इन्द्र की योनि है। इसी योनि में इन्द्र गर्भरूप से प्रविष्ट होता है तथा इसी योनि से वह उत्पन्न होता है अर्थात् बाहर निकलता है। ललाट प्रदेश भाग से स्पर्श करने का अभिप्राय यह है कि शरीर में सौरप्राणरूप इन्द्र का प्रवेश शिरोगुहास्थ ब्रह्मरन्ध्र से ही होता है ।।२९।।

तत्पश्चात् "सुप्तस्याः कृषीस्कृधि" अर्थात् इस पृथिवी को एवं कृषिक्षेत्र को अच्छे धान्य वाली बना दो। इस मन्त्र का उच्चारण कर भूमि को कुरेद दो। भूमि के इस उल्लेखन से यज्ञ को ही उत्पन्न करता है। क्योंकि जब भूमि में प्रचुर मात्रा मैं अन्न पैदा होता है तभी यज्ञ किया जा सकता है। यदि अन्नरूप फल प्रचुर मात्रा में पैदा नहीं होता तो वह थोड़ा अन्न आत्मरक्षा के लिए, उदरपूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं होता तो यज्ञ कैसे किया जा सकता है इस प्रकार अन्न भी प्रचुर उत्पत्ति यज्ञ का साधन है। इसीलिए "यज्ञमेवैतज्जनयति" यह कहा है ।।३०।।

यह दीक्षित यजमान काष्ठ या नख से शरीर को कभी न खुजलावे क्योंकि जो यजमान यज्ञ में दीक्षित हो चुका है वह गर्भ बन गया है। वह यदि काष्ठ या नख से गर्भ का कण्डूयन करेगा तो गर्भ नष्ट हो जायगा। क्योंकि गर्भ को काष्ठ व नख से नहीं खुजलाया जाता। अथवा वह पाम का रोगी हो जायगा। न केवल दीक्षित ही अपितु उसके पुत्र भी पाम रोग से ग्रस्त हो जायेंगे। पाम रोग से ग्रस्त यजमान का वीर्य उसके पुत्रादि को भी पाम रोग से युक्त कर देगी।

किन्तु कृष्णविषाण से गर्भ का कण्डूयन करने पर इस रोग की सम्भावना नहीं है। क्योंकि कृष्णविषाण गर्भ की योनि है अतः वह गर्भ को हानि नहीं पहुंचाती। चूंकि कृष्ण-विषाण गर्भीभूत यजमान की अपनी योनि है अतः वह उसे हानि नहीं पहुंचाती। अतः कृष्ण-विषाण से दीक्षित कण्डूयन करे, अन्य काष्ठादि से नहीं ।।३१।।

इसके बाद यजमान के हाथ में दण्ड दिया जाता है जिससे यज्ञविघातक राक्षसों का दण्डप्रहार द्वारा नाश किया जा सके। क्योंकि दण्ड वज्ररूप है और वज्र राक्षसों को नष्ट करने वाला है।

वह दण्ड गूलर के वृक्ष का होता है, क्योंकि और वृक्षों की अपेक्षा गूलर में ऊर्क (बलप्रदरस) अधिक है जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है "देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तव उदुम्बर उदतिष्ठत्" अतः बलप्रद अन्नरस के संग्रह के लिए दण्ड गूलर के वृक्ष का बनाना चाहिए ।।३३।।

वह दण्ड मुखपर्यन्त ऊंचा होना चाहिए। क्योंकि पैर से मुख तक (मस्तक तक) हो वीर्य होता है। अतः जहां तक यजमान का वीर्य है उतना ही ऊंचा दण्ड होना चाहिए ।।३४।।

तदन्तर "उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊर्ध्वो मा पाह्यँहसः। आस्य यज्ञस्योदृचः" हे वनस्पते, आप ऊंचे उठिये और पाप से (राक्षस शत्रुओं से) मुझे बचाइये। अर्थात् यज्ञ समाप्ति तक आप शत्रुओं से मेरी रक्षा कीजिए। इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ यजमान दण्ड को ऊपर उठासा है ।।३५।।

दण्ड को ऊपर उठाने के बाद कितने ही आचार्य अंगुलियों को संकुचित कर लेते हैं, एवं वाक्संयम कर लेते हैं। क्योंकि दण्ड को ऊपर उठाने के बाद कितने न कुछ जप करना है और न मन्त्र बोलना है। अतः अंगुलियों को संकुचित करना तथा वाक्संयम करना उचित है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा न करे अर्थात् अंगुलियों का संकोच वाक्संयम नहीं करना चाहिए। क्योंकि अंगुलिसंकोच ऐसा कार्य होगा जैसे आगे दौड़ते हुए मनुष्य को पकडने के लिए उसकी विरुद्ध दिशा में दौड़ लगाना। जैसे भागने वाले के विरुद्ध दिशा में दौड़ लगाने से वह आगे भागने वाला पकड़ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आगे बढ़ने वाले यज्ञ को पकड़ने के लिए हाथों की अंगुलियों को संकुचित करना उन अंगुलियों का यज्ञ प्रतीप दिशा में ले जाना है। ऐसा करने से यज्ञ की प्राप्ति नहीं होगी। अतः दर्भ पावनानन्तर ही मुष्टि व धनरूप अंगुलि संकोच करना चाहिए और वाक्संयम भी वहीं करना चाहिए, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के (३का१अ०३का०२२–२७क०) में बतला दिया गया है ।।३६।।

अपि च दीक्षित ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र व साममन्त्र का उच्चारण यज्ञसम्पादनार्थ करता है। वाक् संयम करने से यह नहीं हो सकेगा अतः यहां वाक् संयम आयश्यक नहीं है। दीक्षित मन्त्रादि का ही उच्चारण करता है। अनृतसंहित मनुष्य के साथ संभाषण नहीं करता ऐसा नियम होने से व्यर्थवाक् का संयमन तो हो ही चुका है अतः और मन्त्रों का उच्चारण यज्ञ सम्पादनार्थ अपेक्षित है। अतः यहां वाक् संयम अपेक्षित नहीं है ।।३७।।

दर्भ पावनानन्तर जो वाक् संयमन पहले बतलाया है उसी की उत्पत्ति प्रसंगतः इस कण्डिका के द्वारा बतलायी जा रही है। अर्थात् वाक् ही यज्ञ है जिसका निरूपण आगामी ब्राह्मण में किया जाने वाला है। इसलिए जो वाक्संयमन करता है वह यज्ञ को ही आत्मसात् करता है। यदि वह वाक् संयमन करने वाज्ञा गलती से यदि बोल देता है तो यज्ञ आत्मा से विसृष्ट होकर पराङ्मुख हो जाता है। आत्मा से दूर चला जाता है। तब यजमान विष्णु

देवताक ऋचा या यजुर्मन्त्र का जप करे क्योंकि यज्ञ ही विष्णु है इसलिए विष्णुकदेवताक ऋचा या यजुर्मन्त्र का जप करने से यजमान यज्ञ को पुनः आत्मसात् कर लेता है। यही वाक् संयमन करने वाले यजमान का गलती से बोलने पर प्रायश्चित है ।।३८।।

तदन्तर ऋत्विजों में से एक ऋत्विक् "दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः, दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः" अर्थात् यह ब्राह्मण दीक्षणीयेष्टि कृष्णाजिनादि दीक्षा संस्कार से संस्कृत हो चुका है। इस प्रकार उच्चैः स्वर से कहता हुआ जो कि दीक्षा लेने से देवताओं को निवेदित हो चुका है, इस ब्राह्मण को पुनः देवताओं को निवेदित करता है। यह दीक्षित ब्राह्मण अतिशय वीर्यशाली है जो सोमभाग को प्राप्त कर लिया है। देवताओं को निवेदित ब्राह्मण को पुनः देवताओं को निवेदित करना "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति" इस न्याय का अनुसरण है। अर्थात् यह दीक्षित यजमान मनुष्यमण्डल से पृथक् होकर आप् देवताओं में एक देवता हो चुका है। अतः आप सजातीय होने से रक्षा करें। इस बात को वह ऋत्विक् तीन बार कहता है क्योंकि यज्ञ त्रिवृत है। सूत्रकार कात्यायन के अनुसार इस निवेदन का करने वाला अध्वर्यु से भिन्न ऋत्विग् होना चाहिए जैसा कि "अन्योऽयं दीक्षितो ब्राह्मण इत्याह त्रिरुच्चैः" में अन्य शब्द के द्वारा व्यक्त कर दिया गया है। सूत्र में उच्चैः पद से उपांशु कथन का निषेध है न कि बहुत उच्च स्वर से कहने का अभिप्राय है ।।३९।।

दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः" इस आवेदन वाक्य में जो ब्राह्मण पद दिया है उसका अभिप्राय यह है कि दीक्षा ब्राह्मण से पूर्व यह किस वर्ण का है यह मालूम नहीं होता है। क्योंकि वैज्ञानिक महर्षियों का कथन है कि राक्षस लोग स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं तथा गर्भाधान काल में राक्षस ही वीर्य को ग्रहण करते हैं तात्पर्य यह है कि आप्य प्राण असुर तथा आग्नेय प्राण देवता कहलाता है। आग्नेय प्राण का अर्धविशकलन तथा आसुर आप्यप्राण का धर्म संकोच है। वीर्य की स्थिति, स्त्री योनि में स्थिति संकोचधर्मा आसुर आप्य प्राण से ही होती है। आग्नेय से तो वीर्य विशकलित होकर स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। रजस्वला स्त्री ही वीर्य धारण योग्य होती है। रजस्वला स्त्री में सौर देवप्राणविरोधी आप्य अभिप्राण रहता है। इसीलिए रजस्वला को आत्रेयी कहा जाता है। अतः निश्चित है कि वीर्य की स्थिति आसुर आप्यप्राण से ही होती है। चूंकि राक्षसप्राण अर्थात् आसुरप्राण वीर्य स्थिति स्त्री योनि में होकर मनुष्य उत्पन्न होता है। अतः उसके ब्राह्मत्व में सन्देह है। इसी अभिप्राय से कहा है "अनद्धेव वाऽस्यातः पुरा जानं भवति—इति। किन्तु यज्ञ में जो दीक्षित हो जाता है वह यज्ञरूप ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण स्पष्ट रूप से ब्राह्मण हो जाता है। यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण ही वह ब्राह्मण कहलाता है। इसीलिए क्षत्रिय व वैश्य भी यदि यज्ञ में दीक्षित हो जाता है, उसके लिए भी "दीक्षिततोऽयं ब्राह्मणः" यह कहना संगत हो जाता है। अन्यथा सोमयाग करने वाले क्षत्रिय व वैश्य वर्ण वाले यज्ञकर्ता पुरुष नहीं मारना चाहिए। अर्थात् उसे बुरी दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने वाला यज्ञकर्ता के वध के कारण अधिक पापी हो जाता है ।।४०।।

[**विज्ञानभाष्य**] मानवधर्म प्राकृतिक एवं सांस्कारिक इन दो विभागों में विभक्त है। पैदा होना, पैदा होकर खाना पीना, सीखना, चलना, फिरना, हंसना, रोना, बातचीत करना, मूत्रपुरीषोत्सर्ग करना, इत्यादि-इत्यादि जो धर्म हैं। जिन्हें कि मनुष्य अपने आप सीख लेता है वे धर्म **प्राकृतिक धर्म** नाम से प्रसिद्ध हैं। जो इन मनुष्यमात्र के लिए पूर्वोक्त धर्म साधारण हैं। जो इन प्राकृतिक धर्मों का ही अनुयायी रहता है, जिसने सांसारिक धर्म को नहीं अपनाया है वह "**यथाजात**" नाम से व्यवहृत होता है। चूंकि वीर्य इसका शुद्ध है अतएव जन्मना ब्राह्मण होता हुआ भी संस्कारधर्म दीक्षा के अभाव के कारण यह एक तरह से शूद्र ही है। संस्कार से इसमें द्विजत्व आता है। परन्तु ध्यान रहे संसार में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह एक चाण्डाल को भी द्विज कर दे। भंगी के गले में डला हुआ यज्ञसूत्र इतना सामर्थ्य नहीं रखता कि वह भंगी के आत्मा का परिवर्तन कर ही दे। हीरे की खान से निकला मैला कुचेला मिट्टी में सना हुआ हीरा ही संस्कार द्वारा चमक सकता हैं। कोयले की खान में पैदा होने वाला कोयला हजार प्रयत्न करने पर भी काला ही रहेगा, वह हीरा कभी नहीं बन सकेगा। बस ठीक इसी प्रकार जिसका वंश निर्मल है जो ब्राह्मण के वीर्य से उत्पन्न हुआ है वही संस्कार का भी अधिकारी है। इसीलिए इन सांसारिक धर्मों को "**आधिकारिक धर्म**" भी कहा जाता है। वेद पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना, इत्यादि-इत्यादि जो धर्म हैं वे आधिकारिक किंवा '**सांस्कारिक धर्म**' नाम से भी प्रसिद्ध है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में उत्पन्न होने वाले के लिए ही आधिकारिक धर्म है। यह आधिकारिक धर्म भी **साधारण** एवं **असाधारण** इन दो भागों में विभक्त है। द्विजाति मात्र के लिए सामान्यतया लागू जो धर्म है वह साधारण आधिकारिक धर्म है। यज्ञोपवीत, विवाह संस्कार, पुंसवनादि संस्कार, वेदपठनादि जो धर्म है वे ही साधारण आधिकारिक धर्म हैं। हमने बताया है कि जिसने आधिकारिक धर्म को नहीं अपनाया है वह यथाजात कहलाता है। वह यथेच्छाचारी होता है। उसके लिए खान-पान, आचार-व्यवहार इत्यादि नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है। इदं भक्ष्यम् इदं अभक्ष्यम्, वह इस विधि-निषेध से परे है। वह चाहे जहाँ, चाहे जो कुछ खा सकता है। स्वतन्त्र रह सकता है। परन्तु जो आधिकारिक धर्मों का उपासक है, उसे मर्यादा के सूत्र में बद्ध रहना पड़ता है। आधिकारिक धर्मानुयायी त्रैवर्णिक सम्प्रदाय को एकान्ततः बन्धन में रहना पड़ता है। यह नहीं खा सकते, वहाँ नहीं खा सकते, इस स्त्री से सम्बन्ध नहीं कर सकते, इत्यादि विधि-निषेधात्मक आज्ञाएं नत-मस्तक होकर स्वीकार करनी पड़ती है, बस इस मर्यादा बन्धन का सूचक ही हमारा यज्ञोपवीत है। यज्ञसूत्र नहीं डाला जाता है तब तक यह स्वतन्त्र रहता है परन्तु यज्ञसूत्र के बन्धन में आते ही इसकी सारी स्वतंत्रता छिन जाती है। यज्ञोपवीत मर्यादासूचक है। यज्ञोपवीत धारण करने का यही प्रयोजन नहीं समझ लेना चाहिए। यज्ञोपवीत के धारण करने का अतिगहन रहस्य है जिसका विस्तृत विवेचन हमने "**यज्ञोपवीतोत्पत्ति रहस्य**" में कर दिया है। यहाँ उसका विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना होगा अतः इस विषय को यहीं समाप्त कर हम प्रकृत का अनुसरण करते हैं। हम बतला रहे थे कि आधिकारिक धर्म साधारण एवं असाधारणभेदेन दो प्रकार के होते हैं। यज्ञोपवीतादि साधारण आधिकारिक धर्म हैं एवं जो प्रातिस्विक् यज्ञाधिकार हैं वे असाधारण आधिकारिक धर्म नाम से प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ—जो सोमयाग करना चाहता है उसे पहले अधिकार समर्पण के लिए सोमयाग में अधिकार प्राप्त करने के लिए दीक्षा लेनी पडेगी। यह प्रातिस्विक् यज्ञाधिकार है। जिसने सोमयागोपयुक्त दीक्षा ले ली है वही सोमयाग का अधिकारी है। अग्निहोत्र करने वाला किंवा दर्शपूर्णमास करने वाला,

बिना दीक्षा के सोमयाग नहीं कर सकता। अतएव हम ऐसे ऐसे प्रातिस्विक् यज्ञाधिकारों को, असाधारण-आधिकारिक धर्म कहने के लिए तैयार हैं।

सोमयाग का प्रकरण चल रहा है। देवयजन-गमन, यज्ञशाला-गमन दीक्षणीयेष्टि इत्यादि कर्म हो चुके हैं। अब यह यजमान सोमयागाधिकार प्राप्ति के लिए कृष्ण:मृग-चर्म पर बैठकर दीक्षा लेगा। अधिकार समर्पण करना–यही दीक्षा है। विलायत जाने के लिए जैसे पासपोर्ट लेना पड़ता है। बिना पासपोर्ट के विलायत जाना असम्भव है, ठीक इसी प्रकार सोमयाग संस्था में प्रविष्ट होने के लिए दीक्षात्वरूप पासपोर्ट की नितान्त आवश्यकता है। बिना दीक्षा के सोमयाग का अधिकार कथमपि नहीं मिल सकता। अतएव दीक्षा का "**अधिकार समर्पण दीक्षा**" यह लक्षण सर्वथा मान्य है। अधिकार समर्पणत्वरूप असाधारण आधिकारिक धर्मत्वरूप "दीक्षाकर्म" का विवेचन ही प्रकृत दीक्षाग्रहण का विषय है। दीक्षा क्यों लेनी चाहिए? इत्यादि विषयों की उपपत्ति विस्तृतरूपेण पूर्व के प्रकरण में बतला दी गई है। उपपत्ति बतलाकर अब आवृत्त बतलाते हैं। कैसे-किन मन्त्रों से–कहाँ पर बैठकर दीक्षा लेनी चाहिए? यही इस प्रकरण का विषय है।

जो यज्ञशाला बनाई गई है, उसमें आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि–यह तीन अग्निकुण्ड बनाये जाते हैं। आहवनीय पूर्व की ओर रहता है एवं यह कुण्ड वर्तुल वृत्त होता है एवं गार्हपत्य पश्चिम की ओर चौकोर होता है। दक्षिणाग्नि दक्षिण भाग में अर्द्धचन्द्राकारयुक्त होता है। आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में होती है—यह यज्ञकुण्डसंस्था है। यजमान को इन कुण्डों के किस ओर बैठाकर एवं किस पर बैठाकर दीक्षा देनी चाहिए–यह बतलाते हैं।

पूर्वस्थ आहवनीय कुण्ड के दक्षिण भाग में–मृगचर्म के मस्तक भाग को पूर्व की ओर रखता हुआ अध्वर्यु, दो काले हिरण के काले ही चर्मों को बिछाता है एवं उन दोनों मृगचर्मों पर यजमान को बैठाकर वहीं उसे दीक्षित करता है। तात्पर्य यही है कि आहवनीय के दक्षिण भाग में दो हिरण के चर्म बिछा कर, उस पर बैठ के यजमान को सोमयागाधिकारप्राप्त्यर्थ दीक्षा लेनी चाहिए। चूंकि कृष्णमृगचर्मों पर बैठकर दीक्षा ली जाती है अतएव इस दीक्षा को "**कृष्णाजिनदीक्षा**" नाम से व्यवहृत करने लग गए हैं।
दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीन ग्रीवे कृष्णा जिने उपस्तृणाति। तयोरेनमधिदीक्षयति।

एक ही कृष्णमृगचर्म पर बैठकर दीक्षा लेना अथवा दो कृष्णमृगचर्मों पर बैठकर दीक्षा लेना, दीक्षा के विषय में यह दो मत हैं। दोनों ही मत ठीक है। वैज्ञानिक उपपत्ति दोनों में घट जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

यदि दीक्षा के लिए कृष्णमृगचर्म दो होते हैं तब दो कृष्णमृगचर्मों पर बैठ कर दीक्षा ली जाती है तो इन दोनों मृगचर्मों का द्यावा पृथिवी का स्वरूप समझो। दो मृगचर्म विधान–निदान से पृथिवी और द्युलोक का स्वरूप कायम करना है। निदान एक तरह की प्रतिकृति है, नकल है। पार्थिव देवताओं द्वारा अध्यात्मदेवताओं को अधिदैवत में मिलाने का नाम ही "**यज्ञ**" है। इस यज्ञ से यजमान का आत्मा द्युलोक से बद्ध हो जाता है। बस यही बन्धन इसके स्वर्गोपभोग का निमित्त है। आज यज्ञ करता हुआ यह यजमान, वैध उपायों से पार्थिव देवताओं को द्युलोकस्थ देवताओं से मिलाता है। बस इसी भाव को

सृजित करने के लिए दोनों लोकों की स्वरूप सम्पत्ति के लिए ही दो मृगचर्मों पर दीक्षा ली जाती है। कहना यही है कि दो कृष्णमृगचर्मविधान, दोनों लोकों का स्वरूप कायम करना है। यही दो मृगचर्म-बिधानों की उपपत्ति है।

"यदि द्वे भवतस्तदनयोर्लोकयो रूपम्"

खुला सा इसका यही हुआ कि इन दोनों मृगचर्मों पर यजमान को दीक्षा देता हुआ अध्वर्यु, दोनों लोकों के ऊपर दीक्षा देता है। अर्थात् द्यावापृथिवी दोनों से यजमानात्मा का सम्बन्ध करवाता है। पार्थिव देवताओं को दिव्य देवताओं के साथ मिलाता है। दोनों मृगचर्मों पर बैठकर दीक्षा देना दोनों लोकों पर बैठकर दीक्षा देना है। ये दोनों कृष्णमृगचर्म सम्बन्धान्त होते हैं। अर्थात् मृगचर्म बिल्कुल भिडाकर रखने चाहिए। उन दोनों के बीच में जरा सा भी अन्तर (छेटी) नहीं रहना चाहिए।

"सम्बन्धान्ते भवतः" पर्यन्त प्रदेश के अभिप्राय से **"अन्ते"** कहा गया है। मृगचर्म के पर्यन्तभाग परस्पर सम्बन्ध होने चाहिए-यही तात्पर्य है। दोनों के प्रान्तभाग बिल्कुल संबद्ध रखने का क्या अभिप्राय है ? यह बतलाते हैं।

पूर्व के प्रकरण में हमने बतलाया दिया है कि मृगचर्म-द्यावा-पृथिवी इन दोनों लोगों के अनुकल्प में हैं। दोनों मृगचर्म मानों दोनों लोक है। यदि इन प्राकृतिक दोनों लोकों पर (पृथिवी और सूर्य लोक पर) दृष्टिपात करते हैं तो यह हमें परस्पर सम्बन्ध ही दिखलाई पड़ते हैं। पृथिवी और सूर्य दोनों परस्पर सम्बन्ध हैं, इससे चौंक नहीं जाना चाहिए। पृथिवी और सूर्य्य वास्तव में परस्पर सम्बद्ध हैं। पृथिवी और सूर्य से रथन्तरसाम एवं बृहत्साम अभिप्रेत है। साम ही का दूसरा नाम महिमामण्डल है। यह महिमामण्डल किंवा साममण्डल प्रत्येक पदार्थ में रहता है चाहे वह छोटे से छोटा तो अथवा बड़े से बड़ा हो। संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्निसोमात्मक हैं। अग्नि तेजस्वरूप है, ज्योतिष्मान् पदार्थ है। ज्योतिष्मान् जितने भी पदार्थ हैं वे सारे अपना-अपना प्रातिस्विक् साममण्डल रखते हैं। यह साममण्डल ही उन-उन स्दार्थों की स्वमहिमा कहलाती है। इसीलिए—

"सर्वं तेजः सामरूप्यं हि शश्वत् ।।ते०ब्रा० १।।

कहा जाता है। इस साममण्डल को-महिमामण्डल को ही वषट्कारमण्डल कहते हैं। इस वषट्-कारमण्डल में ३३ अहर्गण होते हैं। जिनका विस्तृत विवेचन प्रथम और द्वितीय काण्ड में किया गया है। यह साममण्डल वस्तु की बडाई छोटाई की अपेक्षा से बड़ा छोटा होता है। छोटी वस्तु का साम छोटा होता है, बडी का बड़ा होता है। इसमें भी इतना और विशेष समझ लेना चाहिए कि सौर पदार्थों का साम पार्थिव पदार्थों की अपेक्षा अधिक बड़ा होता है। अतएव पार्थिव पदार्थों के साम को रथन्तर साम कहा जाता है, एवं सौर पदार्थों के साम को **"बृहत्साम"** कहा जाता है। प्रकृत में पृथिवी और सूर्य के साम से ही सम्बन्ध है। पृथिवी बहुत बड़ी है-इसका साम सूर्य पिण्ड से भी आगे तक जाता है। सूर्य के रथ को भी पृथिवी का साम तैर कर पार तक चला जाता है-अतएव पार्थिव साम को रथन्तर साम कहा जाता है यह साम पृथ्वीपिण्ड के चारों ओर आती हुई ऋचा के समान परिमाण में रहता है, इसीलिए

"ऋचा समं मेने" यह कहा जाता है। जहाँ तक जिस वस्तु का साम जाता है, वहां तक उस वस्तु की सत्ता मानी जाती है।

पृथिवी का पिण्ड यद्यपि सूर्य से २१ करोड़ मील नीचे है। ऐसी हालत में सूर्य का पृथिवीपिण्ड से क्यों कर सम्बन्ध हो सकता है? परन्तु पृथिवी का साम चूंकि सूर्य से भी ऊपर तक जाता है एवं सामपर्यन्त उस पदार्थ की सत्ता मानी जाती है। अतएव हम कह सकते हैं कि पृथिवी लोक अवश्य ही सूर्यलोक से सम्बद्ध है। एवमेव सूर्य की ओर चलिए। पृथिवीपिण्ड की अपेक्षा सूर्यपिण्ड तेरह हजार गुणा बड़ा है, भला इसके साम का तो कहना ही क्या है। इसीलिए तो इसका साम बृहत्साम नाम से पुकारा जाता है। कहना हमें यही है कि जैसे पृथिवी का रथन्तर साम द्युलोक से सम्बद्ध रहता है तथा सूर्य के बृहत्साम से पृथिवी लोक बद्ध रहता है। दोनों लोक परस्पर बद्ध हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सम्बद्धान्ताविव हीमौ लोकौ" साम का अन्तिम भाग हो परस्पर सम्बद्ध रहता है अतएव सम्बद्धान्ताविव कहा गया है। अपि च, इस सम्बद्धता के दर्शन हम दूसरे प्रकार से भी कर सकते हैं। एक ऐसे जंगल में चले जाये जहाँ पर कि वृक्ष का नाम निशान भी न हो। बस उस निरावरण प्रान्त में खड़े होकर चारों ओर दृष्टि डालते हैं, तो पृथिवी और आकाश अर्थात् द्युलोक परस्पर मिले हुए मालूम होते हैं। दोनों के मिलने से इस सर्किल को ही "हरिज्जन" कहा जाता है। हरिज्जन, यह वैदिक शब्द है। हरित् दिशा को कहते हैं। इसलिए इस वृत्त को हरिज्जन कहा जाता है। यही हरिज्जन क्षितिजवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही पाश्चात्य जगत् "होराइजन" कहता है। होराइजन हरिज्जन का ही अपभ्रंश है। अस्तु, कहना हमें यही है कि क्षितिज की ओर दृष्टि डालने से दोनों लोक परस्पर सम्बद्ध ही प्रतीत होते हैं। हमारे यह दोनों लोकों की प्रतिकृति हैं एवं दोनों लोक हैं परस्पर सम्बद्ध, अतएव प्रकृति यज्ञ के अनुसार "यद्वैदेवा अकुर्वंस्तत्करवाणि" इस मर्यादा के पालनार्थ दोनों मृगचर्मों को ऊपर नीचे करके बिछाना चाहिए। इन दोनों का जो मांस भाग है वह भीतर की ओर रहना चाहिए, एवं लोम दोनों के ऊपर की ओर रहने चाहिए। इसी अभिप्राय से कहा जाता है,"अन्तर्मांसाभ्यां बहिर्लोमभ्यां (आपस्तम्ब श्रौत सू०-१०।८।१३१) इसी प्राकृतिक—विज्ञान ज्ञान परस्पर सम्बद्धता की उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं, **"सम्बद्धान्ते भवतः"** "सम्बद्धान्ताविव हीमौ लोकौ"। इन दोनों मृगचर्मों के पश्चिम भाग को तर्दम (सूआ) से सीं देना चाहिए। पृष्ठ भाग को मिलाकर सीं देना चाहिए। यदि सींया न जायगा तो दोनों मृगचर्मों के अलग होने का भय रहेगा। यदि किसी कारण से दोनों अलग हो जायेंगे तो दोनों लोकों की परस्पर सम्बद्धत्व की सम्पत्ति का विनाश हो जायगा एवं जिस मतलब से इन दोनों को मिलाया था वह प्रयोजन नष्ट हो जायगा, ऐसा न हो। ये दोनों कभी पृथक् हो हीं नहीं, अतएव सूए से मृगचर्म के पश्चिम भागों को सी देना चाहिए।

"तर्दमसुते (सूए से सीए हुए) पश्चाद् भवतः"। दोनों को सम्बद्ध करके एवं पश्चिम भाग को सीना, इसका फल बतलाते हुए कहते हैं दोनों को मिलाना दोनों लोकों को मिलाना है। इस प्रकार दोनों को मिलाकर इन पर दीक्षा देना है। सम्बद्ध मृगचर्मों पर बैठाकर दीक्षा देना दोनों लोकों को एक कर, उन पर बैठाकर दीक्षा देना है, यही तात्पर्य है। यजमान का आत्मा दोनों लोकों से सम्बद्ध रहे यही सारे कथन का तात्पर्य है।

"तदिमावेव लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरेनमधिदीक्षयति" ।।२।।

दो मृगचर्म बिछा यह जिनका मत था उसका वैज्ञानिक विचार हो चुका । लोक सम्पत्ति प्राप्त्यर्थ दो मृगचर्म बिछाना चाहिए । ऐसा करने में कोई दोष नहीं है । अब दूसरे मत का समाधान करते हैं । दूसरा मत है कि, एक मृगचर्म बिछाना चाहिए । इस पर भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि एक ही मृगचर्म है तब भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि यह एक मृगचर्म पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों का स्वरूप है । एक ही मृगचर्म से त्रैलोक्य का सम्बन्ध हो जाता हैं । इस प्रकार इस मृगचर्म पर बैठाकर दीक्षा देता हुआ अध्वर्यु इसे तीनों लोकों पर ही बैठाकर ही दीक्षा देता है । त्रैलोक्य देवताओं का सम्बन्ध जायमानात्मा से करवाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यद्यशब्दं भवति तदेषां लोकानां रूपम् तदेनमेव लोकेष्वधि दीक्षयति" ।

कृष्णमृगचर्म से त्रैलोक्य सम्पत्ति का सम्बन्ध कैसे हो जाता है ? मृगचर्म में तीनों लोक कैसे हैं- यह कहलाते हैं—

कृष्णमृगचर्म कहने को कृष्णमृगचर्म है । वास्तव में इसमें सफेद, काला और खाकी यह तीन रंग होते हैं । सफेद और काले रंग के बीच का सन्धिस्थानीय जो रंग है वही खाकी कहलाता है । इसी के लिए प्रकृत में "बभ्रु" कहा गया है । कहना हमें यही है कि यह तीनों रंग ही तीनों लोक हैं ।

पृथिवी स्वरूप से सर्वथा काली है । प्रकाश पृथिवी की अपनी वस्तु नहीं है, वह सूर्य की वस्तु है । रात्रि को सूर्य नहीं रहता अतएव पृथिवी अपनी असली हालत में आ जाती है, तो बस पृथिवी चूंकि काली है अतएव निदानेन मृगचर्म के काले हिस्से को हम पृथिवी की चीज बतला सकते हैं । बतला नही सकते, वास्तव में है ही । काला भाग पृथिवी ही है, एवं प्रकाश के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य है । प्रकाश सूर्य की अपनी वस्तु है तो जैसे पृथिवी स्वस्वरूप से शुक्ल है । अतएव हम कह सकते हैं कि मृगचर्म के शुक्ललोम द्युलोक की वस्तु है । सफेद और काला जब मिलाया जाता है वह खाकी सा रंग हो जाता है। खाकी सन्धिस्थानीय है । इधर अन्तरिक्ष भी पृथिवी और सूर्य इन दोनों की सन्धि में पड़ा हुआ है अतएव मृगचर्मस्थ सन्धिस्थानीय बभ्रु रंग को हम अन्तरिक्ष की वस्तु कह सकते हैं ।

पूर्व प्रकरण से सिद्ध हो जाता है कि जो शुक्लपक्ष है वह **द्युलोक** का स्वरूप है । कृष्णरूप इस **पृथिवी** का स्वरूप है । बभ्रु वर्ण **अन्तरिक्ष** का स्वरूप है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपम् यानि कृष्णानि तान्यस्यै" (अस्याः पृथिव्याः) अथवा उलटा भी समझ सकते हैं । जो कृष्णलोम है वह द्युलोक का स्वरूप है । जो शुक्ल स्वरूप है वह पृथिवी लोक का स्वरूप है एवं जो हरित से बभ्रुवर्ण के लोम है वे अन्तरिक्षस्थानीय हैं-जिसको प्रकाश कहा जाता है-वह न सूर्य की वस्तु है न पृथिवी की । सूर्य भी एक दम काला है । पृथिवी भी काली है । सूर्य सर्वथा "**कृष्णवर्ण** है अतएव इसमें से जो चारों ओर किरणें निकलती है वे भी एकान्ततः काली ही होती हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है :—

"आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्यमयेन सवितारथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।।

श्रुति में "कृष्णेन रजसा वर्त्तमानः" यह स्पष्ट ही कहा गया है एवं पृथिवी तो कृष्ण है ही। यह जो प्रकाश है वह सोम और सौर आग्नेयप्राण के सम्बन्ध मात्र से तत्काल उत्पन्न होता है। पृथिवी के ४८ कोस चारों ओर एक भूवायुस्तर है जो कि अमूषवराह नाम से प्रसिद्ध है। यह भूवायु सोमात्मक है। सोम दाह्य पदार्थ है। राल वगैरह पदार्थ अग्नि में गिरते ही जैसे भमक उठते हैं एवमेव सोमअग्नि के साथ मिलते ही जल पड़ता है तो उसी समय उजाला हो जाता है। कहना प्रकृत में यही है कि पृथिवी के वायु स्वरूप सोम पर जब सौर आग्नेयप्राण आता है तो यह सोम जल उठता है, बस उसी का यह प्रकाश है। सूर्य तो सर्वथा काला है चूंकि वह प्रकाश पार्थिव पदार्थों पर ही अधिक मात्रा से पड़ता है। सूर्यलोक बहुत दूर रहता है अतएव वहाँ यह प्रकाश नहीं पहुंच सकता, अतएव शुक्ल यदि हम कह सकते हैं तो पृथिवी को ही कह सकते हैं क्योंकि प्रकाश का सम्बन्ध पृथिवी से ही रहता है।

अपि च--जिस वस्तु का ज्ञान हो जाता हैं उसे "शुक्ल" नाम से व्यवहृत किया जाता है। गुरु जो शिष्य से पूछते हैं--सौम्य ! तुम्हारी समझ में अभी तक वह बात आई या नहीं, शिष्य उत्तर देता है, गुरु जी उजाला हो गया, सारा अन्धकार हट गया। कहना यही है कि ज्ञान के लिए प्रकाश शब्द का उपयोग होता है। हो क्यों नहीं, जबकि ज्ञान भूतज्योति को भी प्रकाशित करने वाला है। पार्थिव पदार्थों का ज्ञान हमें सम्यक्तया हो जाता है। पार्थिव पदार्थ विज्ञेय हैं, एवं सौर पदार्थ अविज्ञेय हैं। अतएव द्युलोक को हम कृष्णस्वरूप कहने के लिए तैय्यार हैं। बस इन्हीं वैज्ञानिक तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं :—

"यदि वेतरथा, यान्येव कृष्णानि तानि दिवोरूपम्, यानि शुक्लानि तान्यस्यै, यान्येव बभ्रुणीव हरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपम्" ।

इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रथमकाण्ड के वेदिसंपादन ब्राह्मण के अनुवाद में देखना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यही है कि एक मृग-चर्म पर बैठता हुआ वह अध्वर्यु यजमान को तीनों लोकों पर बैठाकर दीक्षा देता है।

मृगचर्म पर बैठने से निदान द्वारा यजमानात्मा का त्रैलोक्य से सम्बन्ध हो जाता है—यही तात्पर्य है :—

"तदेनमेषु लोकेष्वधिदीक्षयति" ।।३।।

एक कृष्णमृगचर्म पक्ष में त्रैलोक्य सम्पत्ति की प्राप्ति अवश्य हो जाती है परन्तु लोक सम्बद्धता तो नहीं होती। दो मृगचर्मों में जैसे लोकों के परस्पर सम्बद्धता का भाव हो जाता है है यह बात एक कृष्ण-मृग पक्ष में न होगी। इस प्रश्न को हल करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि एक ही मृगचर्म

बिछाते हो तो उसके पश्चिम भाग का अन्तिम हिस्सा, संकुचित कर देना चाहिए। अर्थात् पश्चिम का पर्य्यन्त प्रदेश मोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से लोकमिथुन सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। **"अन्तकमु तर्हि (एककृष्णाजिन पक्षे) पश्चात् प्रत्यवस्येत् (संकोचयत्)** ऐसा कहता हुआ वह ऋत्विक् इन्हीं तीनों लोकों को इकट्ठा करके, परस्पर सम्बद्ध करके, उनमें बैठाकर यजमान को दीक्षा देता हैं।

"तदेनमेषु लोकेष्वधिदीक्षयति" ।।४।।

कृष्णमृगचर्म बिंध गया, अब उस पर बैठना किस तरह चाहिए—यह बतलाते हैं। दोनों **मृगचर्मों** के पश्चिम भाग से एवं स्वयं भी बाद में प्राङ्मुख करके, दाहिने पैर को ऊँचा करके उस पर बैठता है। तात्पर्य यही है कि मृगचर्म के पश्चिम भाग की ओर से पश्चिम भाग की तरफ ही पूर्वाभिमुख होकर, अपने दाहिने पैर को ऊँचा करके मृगचर्म पर बैठना चाहिए—इसी अभिप्राय से कहते हैं :—

"अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात् प्राङ् (प्राङ्मुख) जानवाकूः (संकुचित-जान्वाकूः) उपविशति" ।।

अर्थात् जानु को, अंगुलियों को बिल्कुल संकुचित करके बैठना चाहिए। हाथ-पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिए। तदनन्तर कृष्णमृगचर्म के काले और शुक्लस्तोमों की जो सन्धि होती है उसका स्पर्श करके यह यजमान निम्नलिखित मंत्र बोलता है :—

"स यत्र शुक्लानां कृष्णानां च संधिर्भवति तदेवमभिमृश्य जपति"

वह मन्त्र यह है :—**"ऋक्सामयोः शिल्पेस्थः"**।

शिल्प, अपूर्व एवं **प्रतिरूप** भेद से दो प्रकार का होता है। परमेश्वर ने कुछ बनाया है उससे एकदम नया निर्माण करना अपूर्व शिल्प है। पुस्तक, मकान, रेल, तार इत्यादि-इत्यादि यच्चयावत् नये आविष्कार मनुष्य के बनाये हुए हैं। ईश्वरीय जगत् में पहले यह कहीं न थे। अतएव हम इन्हें **अपूर्व** शिल्प कहने के लिए तैय्यार हैं। प्रकृति रचना से जितना अधिक दूर जाता है। वही इस अपूर्व शिल्प की उत्कृष्टता है। दूसरा शिल्प है "प्रतिरूप"। परमेश्वर ने जो कुछ बनाया है ठीक उसी की नकल पर पदार्थ बनाने का नाम ही है "प्रतिरूप शिल्प"। परमेश्वर ने घोड़े, हाथी, चिड़ियाँ इत्यादि अनन्त चीजें बनायी है। इनकी नकल करना प्रतिरूप शिल्प है। प्रकृति रचना के जितना अधिक समीप आना है यही इस प्रतिरूप शिल्प की उत्कृष्टता है। बस शिल्प दो ही प्रकार का होता है। दोनों शिल्पों में से **"शिल्पेःस्थः"** से प्रतिरूप शिल्प ही अभिप्रेत है न कि अपूर्व शिल्प—इसी अभिप्राय से कहते हैं कि :—

"यद् वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्" ।

ऋक्, साम, यजु—इन तीनों की यह कृष्णमृगचर्म प्रतिकृति है। तस्वीर है। हे कृष्णमृगचर्म, आप दोनों ऋक् साम के प्रतिरूप में स्थित हैं अर्थात् ऋक् साम का जो प्रतिरूप शिल्प है उसमें आपकी स्थिति है। आप तत्स्वरूप ही हो। ऋक्, साम, यजु, का नाम ही यज्ञ है, इसीलिए **"सैषा त्रयी विद्यायज्ञः"** कहा

गया है, इन तीनों की ही प्रकृतिस्वरूप वह कृष्णमृगचर्म है। कृष्णमृगचर्मस्वरूप वेदत्रयी की प्रतिकृति होने के कारण यज्ञस्वरूप ही तो है। '**ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः**'' । इसमें अन्तर्भाव यही छिपा हुआ है कि मैं कृष्णमृगचर्म पर क्या बैठा हूं-यज्ञ में बैठा हूं। इस यज्ञस्वरूप कृष्णमृगचर्म पर बैठने से यज्ञ की सारी सम्पत्ति आत्मसात् हो जाती है। अतः इसी पर बैठकर दीक्षा लेनी चाहिए । इसीलिए ''**पुरोडाश सम्पादन ब्राह्मण**'' में लिखा है :—

''तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय'' ।

कृष्णमृगचर्म यज्ञस्वरूप कैसे है, ऋक्साम की प्रतिकृति कैसे है-इसका विस्तृत विवेचन इसी प्रकरण में (६ पृ०) देखना चाहिए। हे कृष्णमृगचर्म ! आप ऋक्साम के प्रतिरूप में रहने वाले हो, अर्थात् आप ऋक् सामस्वरूप हो-यही तात्पर्य है। इसी अभिप्राय से कहते हैं :—

''ऋचां च साम्नां च प्रतिरूपे स्थः'' इत्येवैतदाह ।।५।।

फिर उसी मन्त्र का शेष बोलते हैं तेवामारभे-इति मैं आप में प्रवेश करता हूं। जो यजमान दीक्षा लेता है वह गर्भस्वरूप बनता है। मृगचर्म **द्यावापृथिवी** स्वरूप है। **द्यौ पिता है, पृथिवी माता है**। यज्ञ द्वारा जो **तपादिव्यात्मा** बनता है वह इन्हीं दोनों के पेट में रहता है जब वह मरता है तो तदनन्तर माता के गर्भ से निकल जाता है। अर्थात् पृथिवी की पकड़ से छूट जाता है। कृष्णमृगचर्मस्वरूप द्यावापृथिवी के बीच में बैठता हुआ यह यजमान छन्दों में प्रविष्ट होता है। छन्द कहते हैं **वयोनाध** को, **असीम भाव को**। बस इसीलिए यह न्यक्नाङ्गुलि बनकर ही मृगचर्म पर बैठता है।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि गर्भ वास्तव में न्यक्नाङ्गुलि ही होते हैं। गर्भस्थ शिशु हाथ पैर फैला कर अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकता इसे एक छोटे से घिरे हुए स्थान में, हाथ-पैर की अंगुलियों को मोडकर, मस्तक को भी पेट की ओर झुकाकर रहना पड़ता है। वह हाथ पैर नहीं फैला सकता। प्रकृति स्वरूप में गर्भ की स्थिति ऐसी ही रहती है। यजमान प्रकृति के अनुसार आज एक नया **दैवात्मा** उत्पन्न करना चाहता है। स्वयं भी द्यावापृथिवी स्वरूप मृगचर्म पर बैठकर गर्भ बनता है एवं स्वयं ही दिव्यस्वरूप में उत्पन्न होता है। मृगचर्म पर बैठा हुआ दीक्षित यजमान गर्भ स्वरूप है। गर्भ न्यक्नाङ्गुलि रहते हैं। अतएव इसे भी अंगुलियों को संकुचित करके ही मृगचर्म पर बैठना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

''गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते। स छंदांसि प्रविशति, तस्मान्न्यक्नांगुलिरिव भवति। न्यक्नांगुलय इव हि गर्भाः'' ।।६।।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह यजमान जो कि ''तेवामारभेः'' कहता है, उसका तात्पर्य यही है कि मैं आप में प्रवेश करता हूं अर्थात् आप में प्रविष्ट हो गर्भ बनता हूँ।

स यदाह "तेवामारभे" इति ते वां प्रविशामीत्येवैतदाह फिर मन्त्र का शेष बोलता है—**"ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः" इति**

हे द्यावापृथिवी, यज्ञसमाप्तिपर्यन्त आप दोनों मेरी रक्षा करें। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस यज्ञ की संस्था तक अर्थात् समाप्ति तक आप हमारी रक्षा करें **"ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः"** इस का यही तात्पर्य है। ऋक् अग्नि का नाम है। इस ऋक् में वर्गमूल के कारण उत्तरोत्तर तीन-तीन बिन्दु कम होती जाती हैं। अन्ततोगत्वा एक बिन्दु मात्र रह जाती है। बस यही इस ऋक् का **उत्** है **अर्थात् ऊर्ध्वगमन** है। एक बिन्दु वाली जो ऋक् है वही उदृच नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में वह उदृच ही है। वहां पर ऋक् की समाप्ति है। **ऋक् कहते हैं अग्नि को। अग्नि ही को कहते हैं यज्ञ।** जहां इस यज्ञ की समाप्ति हो अर्थात् वषट्कारमण्डल की अन्तिम अवधि हो, वहां तक आप मेरी रक्षा करें, यही तात्पर्य है। पृथिवी का उदयस्थान है **रथन्तरसाम**। क्योंकि पृथिवी के ऋक् की अन्तिम बिन्दु यहीं पर है। सोमयाग द्वारा इस उदृच के ऊपर के सोम को आत्मसात् कर अमृतत्व प्राप्त किया जाता है। अतएव प्रार्थना की जाती है कि हे द्यावापृथिवी ! आप रथन्तर साम तक, जब तक हमारा आत्मा न पहुंच जाय तब तक हमारी रक्षा करो। बात वास्तव में सच है यदि रथन्तर तक यजमानात्मा न पहुंच पायेगा एवं बीच ही में स्खलित हो जायगा तो इस पर रहने वाला रथन्तर साम के अनन्तर रहने वाला सोम इसे हर्गिज नहीं मिल सकता जिसकी कि प्राप्ति के लिए ही इसने सारा प्रपञ्च रचा है अतः रथन्तर साम-गमन पर्यन्त रक्षा की याचना करना अत्यावश्यक है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृच इति–ते मा गोपायतमास्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाह ॥७॥

-इसके अनन्तर दाहिने जानु से उस कृष्णमृगचर्म पर सवार होता है एवं साथ ही में मन्त्र बोलता है **'शर्म्मासि शर्म्म मे यच्छेति"**। जिस पर यह यजमान सवार हो रहा है वह कृष्णमृग का चर्म है। इस कृष्णमृग की खाल का नाम, मनुष्य सम्प्रदाय में चर्म है। मनुष्य इसे चर्म नाम से व्यवहार करते हैं एवं देवसम्प्रदाय में इसे शर्म कहा जाता है। इससे हमें सुख मिलता है। अन्तरङ्ग मांसादि की हमारी खाल ही रक्षा करती है अतएव इसे शर्म कहने के लिए तैय्यार है।

मनुष्य शरीर में व्याधि दो प्रकार की होती है अन्तरंग एवं बहिरंग। अन्तरंग व्याधि से अभिप्रेत है अध्यात्म और अधिदैवत। बहिरंग से अभिप्रेत है अधिकता। हमारे शरीर पर जो चर्म है वह अन्तरंग रक्षक है। मांसादि पर होने वाले आक्रमण को खाल बचाती है एवं वर्म अर्थात् कवच बाहर के आक्रमणों को बचाता है। बस इसी मूल पर हमारी वर्णव्यवस्था अवलम्बित है। ब्राह्मण अन्तरंग रक्षक है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों को विनाश करने वाला ब्राह्मण है अतएव इसे शर्मा कहा जाता है एवं आधिभौतिक आक्रमणों से बचाने वाला क्षत्रिय है अतएव इसे वर्मा कहा जाता है। इन दोनों से वैश्य सुरक्षित रहते हैं। व्यापार में कोई बाधा नहीं आती अतएव वैश्यों को गुप्त कहा जाता हैं।

अस्तु प्रकृत में हमें यही कहना है कि यह चर्म है अर्थात् शर्म है। सुख का देने वाला है अतएव यजमान इससे प्रार्थना करता है कि आप शर्म हैं अतः शर्म अर्थात् सुख प्रदान कीजिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"चर्म्म वा एतत् कृष्णस्य तदस्यतन्मानुषम्, शर्मदेवत्रा-तस्मादाह शर्म्मासीति शर्म्म मे यच्छेति"।

फिर मन्त्र बोलता है "**नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः**—इति। हमने बतला दिया है कृष्णमृगचर्म यज्ञ-स्वरूप है यह यजमान इस यज्ञ पर सवार होता हुआ एक महापुरुष की बेइज्जती करता है। इस पर सवार होना। इसकी बेइज्जती करना है। इस अवज्ञा को क्षमा करवाने के लिए ही मा मा हिंसी कहा है। यदि अपराध हो जाता है और उसकी हाथ जोड़कर क्षमा मांग ली जाती है तो महापुरुष का क्रोध शान्त हो जाता है। चर्म को नमस्कार करने का यही अभिप्राय है। इससे यह भी समझ लेना चाहिए कि वैदिक परिभाषा में जड़ और चेतन इन दो विभागों की जरा भी सत्ता नहीं है। वैदिक विज्ञान में सब चेतन है इसीलिए तो चर्म से प्रार्थना की जाती है।

श्रेयांस वाऽएष उपाधिरोहति यो यज्ञम्। यज्ञो हि कृष्णाजिनम्। तस्माऽएवैतद्यज्ञाय निह्नुते। तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति। तस्मादाह नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीरिति।

ऋक्सामयोः शिल्पेस्थस्ते वामारभे ते मा पातमस्य यज्ञस्योदृचः। शर्म्मासि शर्म्म मे यच्छ नमस्तेऽतु मा मा हिंसीः।

हे कृष्णमृगचर्म, तुम ऋक्साम के प्रतिरूप शिल्प में स्थित हो, ऐसे आप, में मैं प्रविष्ट होता हूं। यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त मेरी रक्षा करें। हे चर्मन्! आप शर्म हैं, सुख के देने वाले हैं, अतएव मुझे सुख प्रदान कीजिए। हे चर्मन् आपको नमस्कार है। आप मुझे मत मारिए (वा० सं० ४।८।३१)

इस प्रकार यह मन्त्र बोलकर यजमान मृगचर्म पर बैठ जाता है। ॥८॥

पाँचवीं कण्डिका में "**प्राङ्जान्वान्क उपविशति**" यह कहा जाता है। इस उपविशति को विधि-परक समझना चाहिए अर्थात् यों बैठता है, यही उपविशति का तात्पर्य है। बैठने का तरीका मात्र बतला दिया गया है न कि उपविशति से-उसी समय बैठ जाओ यह तात्पर्य है। पहले—"**ऋक्सामयोः शिल्पेस्थ**" इत्यादि मन्त्र बोल लेता है तदन्तर कृष्णमृगचर्म पर बैठता है। मन्त्र बोलकर मृगचर्म पर बैठने में एक विशेष बात और बतलाते हैं।

उस यजमान को चाहिए कि कृष्णमृगचर्म पर बैठता हुआ वह पहले उस कृष्णमृगचर्म के पश्चिम के आधे भाग में ही बैठे। अर्थात् कृष्णमृगचर्म के दो भागों की कल्पना कर लेनी चाहिए। एक पूर्व का

भाग एक पश्चिम भाग । इन दोनों में से पहले सवार होते समय पश्चिम का जो मृगचर्म का आधा हिस्सा है उसी पर बैठना चाहिए जिससे कि पूर्व का हिस्सा अधिक बचा रहे। "अग्रे जघनार्द्ध इवैव" पद दिया है, इसका तात्पर्य यही है कि ठीक नाप करने की आवश्यकता नहीं है केवल अनुमान से काम कर लो । पूर्व की ओर अधिक हिस्सा बचा रहना चाहिए जिससे कि पश्चिम से पूर्व की ओर आगे बढ़ने का मौका मिले । पूर्व-दिक् में देवता रहते हैं । इसीलिए तो—"**प्राची हि देवानां दिक्**" । यज्ञ द्वारा यजमान को इसी देवलोक में जाना है । पश्चिम दिक् पृथिवी से सम्बद्ध रखती है । इसीलिए तो पश्चिम भाग में होने वाली गार्ह-पत्याग्नि को पृथिवी लोक कहा जाता है । आज यह यजमान यज्ञ-द्वारा पूर्व की ओर बढ़ रहा है, स्वर्ग की ओर बढ़ रहा है। ऐसी अवस्था में इस गमन भाव के लिए पीछे से आगे बढ़ने की भावसम्पत्ति के लिए हमें पहले कृष्णमृगचर्म के पश्चिमार्द्धभाग में ही बैठना चाहिए । पूर्व में जगह खाली रहने से आगे बढ़ने का मौका रहता है । इससे यही सिद्ध होता है कि आज यह यजमान पश्चिम से पूर्व की ओर अर्थात् पृथिवी लोक से देवलोक की ओर जा रहा है । अतः इस उर्ध्वगमनसम्पत्ति के लिए अवश्य ही पश्चिमार्ध-भाग में बैठना चाहिए । यदि वह पहले ही से उसके मध्यभाग में किंवा और भी आगे बढ़कर बैठ जायगा तो फिर आगे बढ़ने का मौका ही न रहेगा । इतनी ही बात नहीं है अपितु इस विज्ञान को जानने वाला अनुष्ठ्या (समझपूर्वक) यदि उस समय कह देगा कि "अरे यह यजमान तो कुत्सित गति हो जायगा अतएव इसका पतन हो जायेगा" बस उसके कहने के साथ ही वास्तव में यजमान का पतन हो ही जायगा । जो मनुष्य छलांग मारकर एकदम ऊपर चढ़ना चाहता है उसका पतन हो जाता है एवं जो धीरे धीरे सीढ़ी-सीढ़ी मार्ग तय करता है वह लक्ष्य स्थान में पहुंच जाता है । यह प्राकृतिक परिस्थिति है, इसीलिए जो यजमान एकदम आगे को ओर ही बढ़ जायगा वह उसी नियम के अनुसार पतित हो जायगा । उन्नतिपथ से च्युत हो जायगा । बात वास्तव में ठीक है यदि धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा अन्न खाया जाता है, तो वह हमारी पुष्टि करता है एवं यदि एकदम ठूंस लिया जाता है तो उन्नति तो दूर रही उल्टा वह अन्न हमारे रोग का कारण बन जाता है । इसी प्रकार यहां भी शनैः शनैः पूर्व की ओर बढ़ते हुए यदि देवप्राण आत्मसात् किया जाता है तो यजमान का आत्मा दिव्यभाव से युक्त हो जाता है । यदि एकदम से उन्हें (देवता) आत्मसात् करना चाहता है तो इसका विपरीत फल होता है ऐसा न हो कि उन्नति पथ से यजमान गिर जाय । अतः इसे पहले मृगचर्म के पश्चिमार्ध में ही बैठना चाहिए । इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते है—

स वै जघनार्द्ध इवैवाग्रऽआसीत् । अथ यदग्र एव मध्ये उपविशेद्यऽएनं (यजमानं) तत्रानुव्या हरेत्–द्रप्स्यति वा प्र वा पतिष्यतीति तथा हैवस्यात् । तस्माज्जघनार्द्ध इवैवाग्रऽ आसीत् ।।९।।

मृगचर्म पर यजमान बैठ गया, मृगचर्म पर क्या बैठ गया द्यावापृथिवीस्वरूप माता पिता के उदर में बैठकर गर्भ बन गया । वहाँ बैठकर यह यजमान अपने कटिस्थान में चारों ओर मेखला धारण करता है ।

"स वै मेखलां परिहरते"

मेखला क्यों पहनी जाती है। यज्ञविद्या में मेखलाधारण की प्रथा कब से चली, इत्यादि बातों की उपपत्ति बतलाते हैं—

भृगु, अंगिरा एवं अत्रि परमेष्ठिमण्डल के यह तीन मनोता हैं। तीनों ही के आधार पर परमेष्ठि का स्वरूप स्थित है। अंगिरा को दूसरे शब्दों में हम अग्नि कह सकते हैं एवं भृगु को सोम कह सकते हैं। भृगु अंगिरा अर्थात् अग्नि सोम में प्रधान दर्जा अग्नि ही का है। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। सोम अग्नि का अन्न है, वह प्रतिक्षण अग्नि में आहुत हुआ करता है। भोक्ता भोग्य से बड़ा हुआ करता है इसीलिए अग्नि को अर्थात् अङ्गिरा को श्रेष्ठ बतलाया जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति, अग्निर्जागार तमु सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका" इति।

सोम अग्नि से कहता है, हे अग्ने मैं आपका छोटे दर्जे का (न्योका) मित्र हूं। आप मेरे से श्रेष्ठ हैं, बड़े हैं, यही तात्पर्य है। यद्यपि सृष्टि होती है अग्नि सोम दोनों के सम्बन्ध से। अग्नि पुरुष है, वृषा है, सोम स्त्री है, योषा प्राण है तथापि कहलाती है सृष्टि अग्नि ही की, पुरुष ही की। इसीलिए लोक में सन्तान को पुरुष के नाम से, पिता के नाम से ही प्रधानता दी जाती है। देवदत्त का लड़का है यही कहा जाता है, न कि देवदत्त की स्त्री का लड़का है, यह कहा जाता है। स्त्री तो भोग्य है। प्रकृति विज्ञानानुसार स्त्री का दर्जा पुरुष से नीचा ही रहता है। कहना हमें इस प्रसंग से यही है कि अंगिरा की यह सारी सृष्टि है। अतएव अङ्गिरा को ब्रह्मा किंवा प्रजापति शब्द से व्यवहृत किया जाता है। बस सर्व-प्रथम जिसने सृष्टिकर्त्ता इस अङ्गिरा प्राण को पहचाना, तत्कालीन मर्यादानुसार उस का नाम भी अङ्गिरा ही रख दिया गया। भुवन त्रिलोकी में अङ्गिराप्राण आविष्कर्त्ता विद्वान ही "अङ्गिरा" नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं का नाम प्रकृतिरचनानुसार ब्रह्मा रखा गया। प्राचीन सम्प्रदायथा जो जिस प्राण की परीक्षा करता था उसका वही नाम कहलाता था। चूंकि इस विद्वान ने जिसका कि प्रातिस्विक नाम कुछ और था, अङ्गिरा को पहचाना था, अतएव इसका नाम अङ्गिरा रख दिया गया एवं इसके खानदान में भी इसी प्राण का रिसर्च जारी रहा। अतएव वह अङ्गिरा वंश भी अङ्गिरा किंवा, आंगिरस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन भगवान् अङ्गिरा के बड़े पुत्र का नाम "**अथर्वा**" था। जैसा कि कहा है—

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता"
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। (मु० उ०)

यज्ञ का सम्बन्ध इसी अग्नि से है। अग्नि में सोम की आहुति डालने का नाम यज्ञ है। इस अग्नितत्त्व को पहचान कर यज्ञविद्या का आविष्कार करने वाले यही अङ्गिरा प्रजापति थे। जिस विद्या का अङ्गिरा ने आविष्कार किया था, वह पहले उनके वंश में प्रचलित हुई। अन्त में यज्ञविद्या सारी भुवन त्रिलोकी में प्रचलित हो गई।

तृतीय काण्ड के दूसरे **"दीक्षा ब्राह्मण"** के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि दीक्षित मनुष्य का भोजन केवल दूध ही है। वह केवल दूध ही पी सकता है।

"व्रतं ह्येवास्यातोऽशनं भवति" (३।२। ब्रा० पृ० १२७)

अन्न वगैरह और और पदार्थ खाने से आलस्य की मात्रा का प्रवेश होता है। आलस्य से यज्ञक्रिया में अनिष्ट ही जाता है। इसलिए यज्ञकर्त्ता के लिए अति सात्विक गौ के दुग्ध का ही विधान है। दीक्षा से लेकर यज्ञ समाप्ति पर्यन्त उसे दूध ही पीना चाहिए। इसी मर्यादा के अनुसार जो कि मर्यादा स्वयं इन आंगिरसों की चलाई हुई है, इन्हें यज्ञ में केवल दूध ही पीना पडता था। अङ्गिरा लोग यज्ञ किया करते थे। यज्ञ के लिए उन्हें दीक्षा लेनी पड़ती थी। बस तभी से उन्हें सारे पदार्थों को त्याग कर केवल दूध पर ही अवलम्बित रहना पड़ता था। मेखलोत्पत्ति का यही उपक्रम है। अङ्गिरा लोगों को जो कि यज्ञ करने के लिए दीक्षित हो चुके थे, कमजोरी ने बहुत सताया। वह बहुत निर्बल हो गया। हर एक काम में आँखों के आगे अंधेरा आने लगा। उन्हें बलकर वस्तु का पता नहीं लगा। तात्पर्य यही है कि दीक्षित अङ्गिराओं ने बल्य वस्तु को नहीं पहचाना, उनकी समझ में न आया कि हम कौन से पदार्थ का सेवन करें जिससे कि अपनी यह दुर्बलता हट जाय। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अङ्गिरसो ह वै दीक्षिता-नबल्यमविन्दन्" (बल्यं बलकरं वस्तुना-विन्दन्) इति भावः।

बलकर वस्तु की आवश्यकता उन्हें क्यों पड़ गई थी। क्यों वे निर्बल हो गये थे—इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—उन्होंने दूध के अलावा और अन्न का सर्वथा परित्याग कर दिया था। जब से वे दीक्षित हुए थे तब से उन्होंने सर्वान्न परित्याग कर दिया था। केवल थोड़ा सा दूध मात्र ही पीते थे। दूध ही उन दीक्षितों का अन्न था। बस यही उनकी निर्बलता का कारण था। **"तेनान्यद् व्रतादशन-मवाकल्पयन्"** परन्तु साथ ही में—ये सिवाय दूध के कुछ खा भी नहीं सकते थे एवं दूध से वे निर्बल होते जाते थे। अतएव यज्ञसमाप्ति में सन्देह था। यज्ञ में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। भला निर्बल आदमी परिश्रम साध्य यज्ञ समाप्ति पर क्यों कर पहुंच सकता है इसीलिए उन्होंने कोई ऐसी तरकीब निकालनी चाही जिससे व्रत भंग भी न हो एवं निर्बलता भी हट जाय। आखिर सोचते-सोचते उनकी समझ में इसका समाधान आ गया। यज्ञ समाप्ति स्वरूप इस मेखला स्वरूप ऊर्ज बल को उन्होंने देखा। उन्होंने देखा कि यदि ऊर्ज बल प्रदातृ इस मेखला को हम धारण कर लेंगे तो हमारी निर्बलता हट जायेगी एवं इस मेखला के बल पर हम इस यज्ञ को समाप्त कर लेंगे। ऊर्ज एक प्रकार के विशेष बल का नाम है। शरीर में एक प्रकार की जो स्फूर्ति आ जाती है इस स्फूति का नाम ही ऊर्ज बल है। मुस्तैदी का नाम ही **"ऊर्क"** है। ऊर्क बल के आते ही अकर्मण्यता, निर्बलता आदि दोष एकान्ततः तिरोहित हो जाते हैं जैसे अन्न खाने से **"ऊर्क"** बल आ जाता है उसी प्रकार मेखला धारण करने से भी **"ऊर्क"** बल आ जाता है। मेखला एक प्रकार का कमरबन्ध है। वास्तव में कमरबन्ध से एक प्रकार की मुस्तैदी आ जाती

है। इसीलिए किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर वृद्ध पुरुष आदेश करते हैं, वत्स ! कमर कस लो और इस कार्य में जुट पड़ो। कमर को बांधने से एक प्रकार का स्फूर्ति बल आ जाता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। कमर पेटी की प्रथा आदिकाल से प्रचलित थी। पाश्चात्य जगत् ने हमारी नकल मात्र की है। यह कहने में हम जरा भी संकोच नहीं कर सकते। अस्तु–कहना हमें यही है कि अङ्गिरा महर्षियों ने निर्बलता को हटाने के लिए, यज्ञ की समाप्ति स्वरूप जो यह मेखला स्वरूप ऊर्क बल है–उसे अपनाया। उन्होंने निश्चित कर दिया कि यदि हम मेखला धारण कर लेंगे तो अवश्य ही यज्ञ समाप्ति पर पहुंच जायेंगे।

"तऽएतामूर्जमपश्ययन्त् समाप्तिम्"

अन्त में उन्होंने यज्ञ समाप्ति स्वरूप उस मेखला स्वरूप ऊर्ज को कटिस्थान में चारों ओर बांध दिया एवं उसी मेखला के कारण, उसी स्फूति बल के कारण उन्होंने यज्ञ को समाप्त कर दिया अर्थात् मेखला बल से उनका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया—**"तां मध्यत आत्मन उर्जमदधत् समाप्तिम्। तया समाप्नुवन्"**। बस जिस प्रकार से अङ्गिरा महर्षियों ने यज्ञ समाप्ति स्वरूप मेखला को धारण किया था एवं तद्द्वारा यज्ञ को समाप्त किया था तथैव पयोव्रती यह यजमान भी–आज मेखला स्वरूप ऊर्ज को धारण करता है एवं तद् द्वारा यज्ञ की समाप्ति को पहुंचता है। कहने का तात्पर्य यही है कि मेखला से ऊर्क बल मिलता है। इसके प्रथमाविष्कर्ता आङ्गिरमहर्षि हैं। अतः आज यह यजमान उसी ऊर्क बल की प्राप्ति के लिए मेखला धारण करता है।

"तयोऽएवैष एतां मध्यत आत्मन ऊर्जं धत्ते समाप्तिम्"। तया-प्नाप्नोति ॥१०॥

मेखला कई पदार्थों की होती है–मूंज की भी मेखला होती है। शण की भी होती है। इस यजमान को किसकी मेखला धारण करनी चाहिए – यह बतलाते हैं। यह मेखला शाणी (शाणमयी) होती है। अर्थात् मूंज की मेखला नहीं होनी चाहिए अपितु शाण की मेखला होनी चाहिए।

"सा वै शाणी भवति"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्पर्श में मुलायम रहे—इसीलिए शाण की मेखला होती है। मूंज की मेखला चुभती रहती है एवं शाण कोमल होता है। अतः शाण की ही मेखला होनी चाहिए। अपि च मुलायम ही होनी चाहिए। इसका एक कारण और भी है। आज यह दीक्षित यजमान गर्भ बना हुआ है। गर्भ अति कोमल हुआ करता है। वह कठिन स्पर्श को सह सकता है। प्रकृति की प्रजनन क्रिया में गर्भ का यही स्वभाव है। बस इसी प्रकृति के अनुसार ही गर्भ स्वरूप यजमान को कोमल शण की मेखला ही पहननी चाहिए।

"मृद्वी असत्–इतिन्वेव शाणी"

अपि च शण की ही मेखला होनी चाहिए–इसका कारण एक और भी है। अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का ही नाम यज्ञ है–यह हम पूर्व में कह आये हैं। सोम की आहुति पड़ती है इसीलिए इस अग्नि सोमात्मक यज्ञ को "**सोमयाग**" कहा जाता है। इसी सोमयाग से अर्थात् इसी अग्नि सोमात्मक यज्ञ से संसार के यच्चयावत् प्राणियों की उत्पत्ति होती है, चाहे वे जड़ हैं चाहे चेतन हैं। यज्ञ से उत्पन्न होने वाले जो प्राणी हैं, जीवात्मा हैं–उन्हें ही "**प्रजापति**" शब्द से व्यवहृत किया जाता है। अनन्त जीव हैं, इसीलिए अनन्त प्रजापति हैं। प्रत्येक प्राणी भिन्न-भिन्न प्रजापति का स्वरूप है। जीवात्मा-प्राणी, प्रजापति कहलाता है। इसीलिए "**यद्वै प्राणी स प्रजापतिः**" यह कहा जाता है। इन प्राणी प्रजापतियों को "क्षुद्र प्रजापति" कहा जाता है एवं जो इनका मूलभूत 'बृहत् प्रजापति' है–परम प्रजापति कहलाता है उसी परम प्रजापति को ईश्वर कहते हैं। हम उसी के अंश हैं। सूर्य्य परम प्रजापति है। सूर्य्य के अनन्त प्रतिबिम्ब "**क्षुद्र प्रजापति**" हैं। प्रजापति अर्थात् आत्मा त्रिवृतकृत होता है। सबसे पहले आत्मा रहता है जो कि गर्भ के पेट में रहने से गर्भी कहलाता है। गर्भ-गर्भी के अभेद व्यवहार के कारण आत्मा गर्भ ही कह दिया जाताहै। इसके ऊपर अर्थात् गर्भ के ऊपर उल्ब होता है। गर्भ के चारों ओर से वेष्टित करने वाली एक पतली सी झिल्ली को ही "**उल्ब**" कहते हैं। उल्ब के बाद जरायु रहती है जो कि "**जेर**" नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार गर्भ, उल्ब, जरायु भेद से प्रजापति त्रिवृतकृत रहता है। प्रजापति के अत्यन्त समीप उल्ब है अर्थात् गर्भ के बाद पहला नम्बर उल्ब का है अतएव वह नेदिष्ठ (समीप) कहलाता है। तदनन्तर जरायु है। संसार में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं यह इसी यज्ञ प्रजापति से उत्पन्न होते हैं। शण–मूंज–लकड़ी–रूई–मिट्टी–औषधि–वनस्पति–कन्द इत्यादि, संसार के यच्चयावत् पदार्थ इसी यज्ञ प्रजापति के प्राण से उत्पन्न होते हैं। प्राण चूंकि अनन्त प्रकार के हैं अतएव पदार्थ भी अनन्त प्रकार के उत्पन्न होते हैं। जिसे हमने यज्ञ प्रजापति कहा है वह नभोमण्डल में चमकता हुआ यही सूर्य्य है। सूर्य्य अग्नि का गोला है, इसमें परमेष्ठि–मण्डल का सोम अनवरत आहुत होता रहता है। बस इसी अग्निसोमात्मक सूर्य्य यज्ञप्रजापति से संसार के यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं–इसीलिए "**नूनं जनाःसूर्य्येण प्रसूताः**" "**प्राणः प्रजानामुदयात्येष सूर्य्यः**। "**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" यह कहा जाता है। सूर्य्य स्वयं प्रजापति है अतएव गर्भ, जरायु और उल्ब ये तीनों भाव उसमें भी मौजूद हैं। सूर्य्य हमारी अपेक्षा अवश्य परमप्रजापति है किन्तु परमेष्ठि एवं स्वयंभू प्रजापति की अपेक्षा तो क्षुद्रप्रजापति ही है। स्वयंभू प्रजापति यहाँ कर्ता है इससे यह सूर्य्य प्रजापति उत्पन्न होता है इस सूर्य्य यज्ञप्रजापति से अस्मदादि अनन्तान्त यज्ञप्रजापति उत्पन्न होते हैं।

अस्तु, हम कह रहे हैं कि सूर्य में भिन्न–भिन्न जाति के अनन्तानन्त प्राण हैं–रस, उपरस, विष उपविष, धातु–सोना-चांदी–लोहा वगैरह, शहद, दधि, दुग्ध इत्यादि–इत्यादि सारे पदार्थ सूर्य से ही उत्पन्न होते हैं। सूर्य में विजातीय प्राण है अतएव पदार्थ भी परस्पर विजातीय भाव को पैदा किए होते हैं। सूर्य प्रजापति में एक प्राण ऐसा है जो आंख बनाता है, एक प्राण ऐसा है जो मुँह बनाता है। आंख गोल वस्तु का नाम नहीं है अपितु उस प्राण का नाम है–इसीलिए उस चक्षुनिर्माता प्राण में उत्पन्न होने वाले त्रिककुद पर्वत को भी चक्षु कहा जाता है जैसा कि पूर्व प्रकरण में (९९ पृ०) बतलाया गया है। जो प्राण जिस स्थान में पड़ जाता है उसका नाम उसी प्राण के नाम से पड़ जाता है। हमारा उल्ब

जिस प्राण से बनता है वास्तव में उस प्राण का नाम उल्ब है। वह उल्ब प्रजापति का उल्ब है। इसीसे हमारा उल्ब बनता है। जहां वह प्राण प्रविष्ट हो जाता है उसीका नाम उल्ब पड़ जाता है।

कहना इस प्रपंच से हमें यही है कि सौर प्रजापति जो कि यज्ञ से, अग्नि से, उत्पन्न हुआ है उसका जो उल्ब है अर्थात् उल्ब निर्माता प्राण है जो कि प्रजापति की नेदिष्ठ (नजदीकी) वस्तु है उसी उल्ब से यह शण बनता है। प्रजापति के चक्षु प्राण से जैसे त्रिककुद पर्वत बनता है तथैव प्रजापति के उल्ब प्राण से यह शण बनता है जो प्रजापति का उल्ब प्राण हमारे उल्ब में है वही प्राण इस शण में है। इसी प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं।

"यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्माद्यज्ञात्
तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते शणाः ॥"

प्रजापति के उल्ब को तो हम नहीं देखते, वह तो परोक्ष है परन्तु क्षुद्र प्रजापति (जीव) का जो उल्ब है, उसके तो हम प्रत्यक्ष ही दर्शन कर सकते हैं। यह उल्ब ऐसा सड़ा करता है। गर्भ के ऊपर रहने वाले उल्ब में से ऐसी बुरी गन्ध आती है जिसको एकमात्र धरित्री ही सहन कर सकती है। बस इस उल्ब के गन्ध से हम इस शण की परीक्षा कर सकते हैं कि यह शण वास्तव में उल्ब प्राण से ही बना है या और किसी से। तो परीक्षा करने पर मालूम हो जाता है कि शण में जबकि पानी मिला कर कूटा जाता है उसमें ठीक उल्ब सदृश ही दुर्गन्ध निकलती है। यही उसके उल्बत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रजापति के उल्ब से यह शण बने हैं अतएव उल्बवत् दुर्गन्धयुक्त होते हैं। सडा करते हैं। अतएव हम अवश्य ही इसे प्रजापति के उल्ब से उत्पन्न हुआ कह सकते हैं।

"तस्मात्ते पूतयो वान्ति" एवं इस प्रजापति का जो जरायु होता है, वही दीक्षित का वसन है अर्थात् दीक्षित स्वयं गर्भ है। शण की मेखला उल्ब है एवं ऊपर से जो वस्त्र दीक्षित ओढ़ता है वह जरायु स्थानापन्न है।

"यद् वस्य जराय्वासीत् तद्दीक्षितवसनम्"

तात्पर्य सम्पूर्ण कथन का यही है कि प्राकृतिक प्रजनन क्रिया में गर्भ, उल्ब एवं जरायु यह तीन पदार्थ रहते हैं। उल्ब जरायु के अन्दर रहता है। अर्थात् गर्भ और जरायु के बीच में रहता है चूंकि मेखला शण की है। शण में उल्ब प्राण है। उल्ब जरायु से पहले रहता है अतएव इस मेखला को कपड़े के अन्दर बांधी जाती है अर्थात् पहले मेखला पहनी जाती है अनन्तर जरायु स्थानापन्न वस्त्र ओढ़ा जाता है इस प्रकार मेखला एवं वस्त्र धारण करता हुआ यह यजमान प्राकृतिक प्रजापति की तरह अर्थात् जीवात्मा की तरह इस वैध सोम यज्ञ द्वारा **विज्ञानात्मस्वरूप** से नया जन्म लेता है। जो कि आत्मा इस यजमान के मानुष आत्मा को, प्रज्ञानात्मा का स्वर्ग में ले जायेगा। शण–मेखला उल्बस्थानीय है। उल्ब प्राणयुक्त है अतः शण की ही मेखला धारण करना उचित है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं।

अन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवति । तस्मादेषा अन्तरावाससो भवति । स यथैवातः प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्माद्यज्ञात् एवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वा एतस्मात् यज्ञात् । ११।।

मेखला 'शरण' की क्यों होनी चाहिए इसकी उपपत्ति बतला दी गई एवं वस्त्र से अन्तर भाग मे इसे पहनना चाहिए–इसका कारण भी बतला दिया गया। अब इस मेखला में एक बात और विशेष बतलाते हैं ।

वह मेखला त्रिवृत् होती है। अर्थात् तीन डोर की होती है। तीन अलग–अलग शण की डोरी लेकर फिर तीनों को मिला कर त्रिवृत् बना मेखला धारण की जाती है जैसे पानी खींचने की रस्सी पचवण होती है वैसे मेखला त्रिवृत् होती है ।

"सा वै त्रिवृद् भवति"

क्यों त्रिवृत् होनी चाहिए ? इसका कारण बतलाते हैं। अन्न उपकरण सामग्री को कहते हैं जिस वस्तु से आत्मा का स्वरूप बनता है एवं जिससे स्वरूप रक्षा होती है उसे अन्न कहा जाता है । इसी अन्न को वैदिक परिभाषा में 'पशु' कहा जाता है। पशु का अर्थ है–मातहत । जो मातहत नहीं होता भोग्य नहीं होता, उसे पशु नहीं कहा जा सकता । परन्तु जो चाहे जिसके वश में आ जाता है, वह पशु कहलाता है । अन्न आत्मा के वशीभूत रहता है जबर्दस्ती से आत्मा अर्थात् प्रजापति भगवान् अन्न को आत्मसात् किया करते हैं अतएव अन्न को पशु कहा जाता है। खाने के अन्न को पशु नहीं कहते हैं। अपितु भोग्यजात पदार्थ का उपकरण सामग्री को पशु कहते हैं। इस आत्म–प्रजापति के अन्न कुल तीन हैं, माता पिता और देव समष्टि । आत्मा चित् का नाम है। स्वयम्भू की जो चेतना है उसीका नाम आत्मा है उस चित् के प्रतिबिम्ब का आभास का नाम ही जीवात्मा है । इसीलिए तो वेदान्त में जीवात्मा को चिदाभास कहा जाता है । यह चित् का आभास शुक्र शोणित के संयोग होते ही हो जाता है। पानी के आते ही जैसे–जैसे सूर्य उस पर चमकने लगता है ठीक उसी प्रकार शुक्र शोणित के समुचित होते ही चित् का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है । शुक्र सोम है, सोम का नाम ही महान् है। यही चित् को ग्रहण करने वाला है । जैसे पानी सूर्य का ग्राहक है तद्वत् चित् का ग्राहक यही महान है । चिदात्मा का स्वरूप इसी महान् पर अवलम्बित है इसीलिए महान् को चिदात्मा की योनि कहा जाता है । इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।
सर्व योनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता । – "गीता"

तात्पर्य कहने का यही है कि चिद् ग्रहण करने वाले शुक्र शोणित हैं। जीवात्मा का स्वरूप शुक्र-शोणित के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होता है। शुक्र पिता की वस्तु है। शोणित माता की वस्तु है। शुक्र

सोम है। स्त्री की योनि में स्थित गरमागरम रुधिर अग्नि है। बस उस अग्नि में जब इस सोम की आहुति होती है तो उसी से आत्मसत्ता होती है। जीवात्मा का जन्म इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ पर निर्भर है। आत्मा की स्थिति, शुक्रशोणित स्वरूप माता पिता के सम्बन्ध से होती है। अतएव हम अवश्य ही माता पिता को जीवात्मा (पुत्र) का अन्न बतला सकते हैं। जब माता पिता के गर्भ में आत्मा आ जाता है तो उसमें अपने आप सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-पृथिवी इत्यादि पदार्थों के रस आया करते हैं। माता पिता के अर्थात् शुक्रशोणित के अलावा उसमें सौर-चान्द्र-पार्थिव रस भी प्रविष्ट होते रहते हैं। यही रस-समष्टि तीसरा अन्न है। तीन अन्नों से आत्मसत्ता रहती है। शुक्र शोणित स्वरूप जो अन्न है वह माता-पिता के संयोग पर निर्भर है एवं तीसरा अन्न अपने आप आया करता है इसीलिए उसके लिए **"यज्जायते"** कहा गया है। जीवात्मा के यही तीन अन्न है इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"त्रिवृद्ध्यन्नम्–पशवोऽन्नम्, माता पिता यज्जायते तत्तृतीयम्। अपिच–भोग्य पदार्थों पर दृष्टि डालते हैं तब भी अन्न तीन ही प्रकार का मिलता है। अन्न, पान, खाद, अन्न की यह तीन ही जातियां हैं। जो दांत से न काटा जाय–जिसमें दन्त व्यापार न करना पड़े–ऐसे खीर हलवा इत्यादि जो पदार्थ है वे अन्न नाम से व्यवहृत होते हैं, एवं जो पेय हैं वे पान कहे जाते हैं एवं जिनमें दन्त व्यापार करना पड़ता है–ऐसे रोटी वगैरह खाद कहलाते हैं। इसलिए भी **"त्रिवृद्ध्यन्नम्"** कह सकते हैं। कहना हमें यही है कि आत्मा के स्वरूप संस्थापक तीन ही अन्न है। तीन ही से आत्मा का स्वरूप बनता है चूंकि आज यजमान गर्भ स्वरूप बन दिव्यात्मस्वरूप से जन्म लेने वाला है। अतः दिव्यात्मस्वरूप संस्थापनार्थ निदानेन इसे त्रिवृत् मेखला ही धारण करनी चाहिए।

"तस्मात् त्रिवृत् भवति" ॥१२॥

इस मेखला में मूंज की शाखा भी लगा देनी चाहिए। यह शाणमयी मेखला मुञ्जशाखा से अन्वस्या होती है—अनुयुक्ता होती है।

"मूञ्जवल्शेनान्वस्ता भवति" "शाणमयी मेखला"

इसी मूंज को शरपत्र भी कहा जाता है यह मूंज अर्थात् शरपत्र वज्र स्वरूप है। मूंज साक्षात् अग्नि है अतएव वज्र है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जरा सम्बन्ध होते ही–उसी समय इस मूंज जिसे कि भाषा में **"पानी"** कहते हैं–से खून निकल आते हैं। इसकी धार तलवार के माफिक है। वज्र-कार्य सादृश्यात् इस शरपत्र को भी वज्र कह दिया जाता है। असुर तमोमय प्राण को आप्य प्राण कहते हैं। शरपत्र आग्नेय है, वज्रस्वरूप है। इससे आप्य प्राण का सर्वथा नाश हो जाता है। तमोमय आप्यप्राण युक्त असुर अग्नि से भाग जाते हैं। अग्नि में हवा छानने (फिल्टर) करने की सामर्थ्य है। शणमयी मेखला पूतियुक्ता है। दुर्गन्ध आसुर भाग है। उल्ब सम्पत्ति के लिए धारण तो बाध्य होकर शणमयी का ही करना पड़ता है परन्तु साथ ही में उस आसुर भाव को–दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिए उसमें शर-पत्र (मूंज) का भी सम्बन्ध कर दिया जाता है–इसी अभिप्राय से कहते हैं शरवज्र है, वज्र चूंकि राक्षसों का असुरों का विनाश करने वाला है अतएव विरक्षता के लिए मेखला मुञ्जवल्शेनान्वस्ता होती है।

"वज्रो वै शरः । विरक्षस्तायै (मुंजवल्शेनान्वस्ताभवतीति शेषः) ।

तीन चार डोरियों को जब परस्पर गूंथा जाता है तो दक्षिणावर्ततया गूंथा जाता है। लोक में मनुष्य जब नेज वगैरह बनाते हैं तो उन जेवडियों को प्रसलवि अर्थात् दाहिने हाथ की ओर से बटते हैं–इसीको वैदिक परिभाषा में 'प्रसलि' कहते हैं एवं पितृ कार्य में वामावर्ततया कार्य किया जाता है–इसीको अपसलवि कहते हैं। प्रसलवि और अपसलवि का विस्तृत विवेचन–शकमेध इष्टि में–द्वितीय काण्ड में कर दिया गया है। यहां केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पितृकार्य में जेवड़ी को वामावर्ततया बटा जाता है एवं मनुष्य कार्य में दक्षिणावर्ततया बटा जाता है। पितृकार्य अपसलवि होकर करना पड़ता है। मनुष्य कार्य प्रसलवि होकर के करना पड़ता है अब यहां पर एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि ऐसी अवस्था में यदि इस मेखला को दक्षिण भाग की ओर से बटी जायगी तो यह मनुष्य कार्य हो जायगा। अभीष्ट है देवकार्य एवं वामभाग की ओर से बटी जाने पर पितृकार्य हो जायगा इस ग्रन्थि को सुलझाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

"स्तुकासर्गं सृष्टा भवति" अर्थात् जैसे केशवेणी गूंथी जाती है तद्वत् यह गूंथी हुई होनी चाहिए। स्तुका केशवेणी का नाम है। जैसे केशवेणी गूंथी जाती है। उसमें जैसे बायां–दाहिना दोनों भाग रहते हैं बस उसी प्रकार शारणमयी मेखला होती है। दोनों भावों के शामिल रहने से न मनुष्य कार्य रहता है न पितृकार्य रहता है अपितु देवकार्य हो जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं यह मेखला प्रसलवसृष्टा होगी अर्थात् दाहिने हाथ के सहारे से गूंथी हुई होगी तो जिस प्रकार से गाय वगैरह बांधने की सामान्य रज्जु हुआ करती है वैसी ही यह भी हो जायेगी। अर्थात् यह मानुषी हो जायगी, जबकि अभीष्ट है दैवी। यदि अपसलविसृष्टा होगी तो पितृदेवत्या हो जायगी–दोनों ही अभीष्ट नहीं हैं अतः स्तुकासर्गसृष्टा ही होनी चाहिए। वेणीग्रथन में दक्षिण व वाम हाथ दोनों का व्यापार होता है। अतः न यह मनुष्य कार्य रहता है न पितृकार्य। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सा यत् प्रसलवि सृष्टा स्यात् यथेदमन्या रज्जवो मानुषी स्यात्। यद्वपसलविसृष्टा स्यात् पितृदेवत्यास्यात्।
तस्मात्स्तुकासर्गं सृष्टा भवति। ॥१३॥

क्यों मेखला धारण करनी चाहिए, किसकी बनी करनी चाहिए, कब करनी चाहिए, कहां करनी चाहिए, उसकी गूंथन कैसी होनी चाहिए, इत्यादि बातों की उपपत्ति हो चुकी। अब पद्धति बतलाते हैं। यजमान उस मेखला को निम्नलिखित मंत्र बोलता हुआ धारण करता है।

"उर्गस्याङ्गिरसो ह्येतामूर्जपश्यन्नूर्णम्रदा उर्ज्जं मयि धेहि"

सबसे पहले इस ऊर्ग को—ऊर्क् बल देने वाली मेखला को आंगिरसों ने ही देखा था। अर्थात् उन्होंने ही इसका आविष्कार किया था इसी अभिप्राय से कहते हैं–आप आंगिरस सम्बन्धी ऊर्क् हो एवं

आप उनकी भांति कोमल हो–हे मेखले, आप मुझे ऊर्क् बल प्रदान कीजिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं। **"नाऽत्र तिरोहितमिवास्ति ।।१४।।**

तदनन्तर मेखला की जो नीवी है–अन्तिम भाग है उसे **"सोमस्य नीविरसि"** यह मंत्र बोलते हुए बांधते हैं।

"अथ नीवीमुद्गूहति" सोमस्य नीविरसि" इति ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं, जब तक यह मनुष्य दीक्षा नहीं लेता है तब तक यह नीवी सामान्य मनुष्य की नीवी कहलाती है परन्तु आज दीक्षित मनुष्य ने इसे धारण कर रक्खा है, जो कि दीक्षित सोम यज्ञ के कारण सोममय मूर्ति बन रहा है–इसीलिए सोमस्य नीविरसि कहा है। यज्ञोपवीत् मेखला और शिखा ये तीनों ब्राह्मणों के नित्य चिह्न हैं। तीनों भाव शरीर पर सदा रहने चाहिए। इसीलिए—

अदीक्षितस्य वा अस्यैषाऽग्रे–यह कहा जाता है। वेदश्रुति ही मेखला के नित्य धारण में प्रमाण है। कहना यही है कि पूर्वोक्त मन्त्रभाग बोलता हुआ यजमान मेखला की गांठ बांध देता है गर्भस्वरूप यजमान उल्ब से आवृत हो जाता है। ।।१५।।

तदनन्तर जरायुस्थानीय वस्त्र से मस्तक को ढ़क लेता है जो दीक्षा लेता है वह गर्भ बनता है गर्भ उल्ब से और जरायु से ढ़के रहता है। अतः प्रकृति नियमानुसार इस यजमान को उल्ब और जरायु से प्रावृत होना चाहिए। इसीलिए यजमान शरीर में उल्बस्थानीय मेखला पहनता है एवं मस्तक पर जरायु-स्थानीय वस्त्र ओढ़ता है।

"गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते। प्रावृता वै गर्भा
उल्बेनेव जरायुणेव। तस्माद्वै प्रोर्णुते" ।।१६।।

वह यजमान **"विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्य"** यह मन्त्र बोलता हुआ वस्त्र से मस्तक को ढ़क देता है इस सोमयाग में जो मनुष्य दीक्षा लेता है वह विष्णु और यजमान दोनों बन जाता है। चूंकि दीक्षा लेकर मनुष्यभाव से हटकर यज्ञ में शामिल हो जाता है इसलिए तो इसे विष्णु कहते हैं क्योंकि यज्ञ ही का नाम तो विष्णु है एवं चूंकि यह यजन करता है इसलिए यजमान भी है। एक राजा खाना, पीना, सोना, उठना इत्यादि सामान्य धर्मों का पालन करता है, इसीलिए तो वह मनुष्य है एवं चूंकि शासनकर्ता है–अतएव राजा भी है। जिस प्रकार एक राजा, मनुष्य और राजा दोनों कहलाता है तद्वत् यह दीक्षित, विष्णु और यजमान दोनों कहलाता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि हे वस्त्र, तुम विष्णु के शर्म हो अर्थात् चर्म हो एवं यजमान के भी चर्म हो।

"उभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्चयजमानश्च। यदह दीक्षते तद् विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानः, तस्मादाह विष्णो: शर्मासि शर्म यजमानस्येति। ।।१७।।

मस्तक पर जो वस्त्र लपेटा जाता है उसका जो अन्तिम भाग है अर्थात् जहां वस्त्र की गांठ है उसमें काले हिरण का सींग बांधता है। सिक् वस्त्रान्त भाग का नाम है वहां पर काले हिरण का सींग बांधना चाहिए।

"अथ कृष्णविषाणां सिचि बध्नीते"

कृष्णविषाण क्यों बांधना चाहिए–इसकी उपपत्ति बतलाते हैं। देवता और असुर दोनों ही भगवान् प्रजापति के पुत्र हैं। प्रजापति से ब्रह्म ही अभिप्रेत है। तमोमय प्राण का नाम असुर है एवं शुक्लभाव का प्रदायी प्राण का नाम देवता है। अन्धकार और प्रकाश दोनों उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं उस ब्रह्म की जो विकृति है वह इन दो भागों में विभक्त हो रही है। कुछ सम्पत्ति तमोमय प्राण में बटी हुई है कुछ सम्पत्ति शुक्ल प्राण में बटी हुई है। ब्रह्म की विभूतिएं कौन–कौन हैं कितनी हैं इसका विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। हमें सिर्फ प्रकृत सम्बन्धी ही विकृतियों के विषय का विभाग बतलाना है।

यज्ञ में 'मन, प्राण, वाक्, आहुति' पृथिवी एवं द्युलोक की आवश्यकता है। मन, प्राण, वाक् मिश्रित जो आहुति है उससे पार्थिव अग्नि को, पार्थिव देवताओं को द्युलोक से मिलाने का नाम ही यज्ञ है। दोनों के बीच में यजमान का मन, प्राण, वाक्, स्वरूप आत्मा शामिल रहता है अतएव वह भी द्युलोक में जा मिलता है–कहने का तात्पर्य यही है कि यज्ञ से सम्बन्ध इन्हीं विकृतियों का है यह विकृतिएं प्रजापति का दाय कहलाता है, सम्पत्ति कहलाती है। यह सम्पत्ति देवता और असुरों में बंटी हुई है। दोनों ही प्रजापति के पुत्र हैं। अतः दोनों को अपने पिता की सम्पत्ति मिली। इसी अभिप्राय से कहते हैं— देवता और असुर दोनों ही प्राजापत्य थे। अर्थात् प्रजापति के पुत्र थे। अतएव अधिकार प्राप्त प्रजापति के दाय को दोनों ही प्राप्त हुए। दोनों को प्रजापति की सम्पत्ति मिली। आधी सम्पत्ति देवताओं को मिली, आधी असुरों को मिली।

"देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्द्दायमुपेयुः"।

मन, वाक्,यज्ञ, पृथिवी और द्युलोक यही उस प्रजापति पिता का दाय था। वही उस की सम्पत्ति थी। उनमें से मन को देवताओं ने प्राप्त किया अर्थात् मन देवताओं के हिस्से में आया एवं वाक् असुरों के हिस्से में आई।

"मन एव देवा उपायन् वाचमसुराः"

मन चन्द्रमा से सम्बन्ध रखता है। **"मनश्चन्द्रेण लीयते"**। देवता सारे आग्नेय हैं। प्रकाश इसी अग्नि का धर्म है एवं हमने प्रकाशी प्राण को ही तो देवता कहा है। सोम इस अग्नि की खुराक है अर्थात् देवताओं का अन्न है इसीलिए—

"एतद्वै सोमो राजादेवानामन्नं यच्चन्द्रमा"।

यह कहा जाता है कि मन अर्थात् सोम देवताओं की अर्थात् अग्नि की वस्तु है। इसीलिए–**"मन एव देवा उचायन्"** यह कहा है। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि परमेष्ठी के यह तीन मनोता बतलाए गये

हैं। इनमें से जो अत्रिप्राण है वह वाक् नाम से प्रसिद्ध है। अत्रिप्राण सूर्य विरोधी प्राण है। सूर्य्य की रश्मियों को आगे जाने से रोकने वाला यही अत्रिप्राण है—इसी को वाक् कहा जाता है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं सब वाक् ही वाक् है। यदि वाक् न होती तो पदार्थ स्वरूप ही न बनता। सूर्य्य किरणें जब प्रतिफलित होकर हमारे नेत्रों पर आती हैं तभी हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। घट-घटादि का ज्ञान होता है। सूर्य्य किरणों को रोकने वाला यही अत्रिप्राण है, जिसे कि वाक् कहा जाता है। इस पर जब सूर्य्य की किरणें पड़ती है तो उधर न जाकर प्रतिफलित होती है बस प्रतिफलित सूर्य्य किरणें ही पदार्थ प्रत्यक्ष का कारण है। जिसमें अत्रिप्राण की मात्रा कम होगी, सूर्य्य किरणें उसमें उतनी ही अधिक पार होगी। कॉच में अत्रिप्राण कम है अतएव सूर्य्य रश्मिएं उस पार चली जाती है। वायु में अत्रिप्राण नहीं के समान है अतः सूर्य्य रश्मि प्रतिफलनाभावात् वायु का आंखों से प्रत्यक्ष ही नहीं होता। प्रजापति केन्द्र में रहता है। सारे देवता प्रजापति के अनुगत रहते हैं। वाक् असुरों का भाग है। इसीलिए तो प्रथम काण्ड में वाक् और मन का युद्ध बतलाकर वाक् की प्रजापति पर नाराजगी बतलाई गई है (देखिये प्रथम काण्ड–३४ पृ०)

वाक् क्या है ? अत्रिप्राण क्या है ? कैसे वह सूर्य्य विरोधी है, इत्यादि बातों का पूरा रहस्य जानने के लिए " **अत्रिख्याति** " देखनी चाहिए। प्रकृत में सिर्फ यही बतलाना है कि वाक् अत्रिप्राण का नाम है। अत्रिप्राण सूर्य्य का विरोधी प्राण है।

" **चित्रं देवानामुद्गात्**" के अनुसार देवता सूर्य्य सम्बन्धी है अतएव वाक् को असुरों की वस्तु बतलाई है। इसी अभिप्राय से "**वाचमसुरा**" कहा गया है एवं यज्ञ को देवताओं ने प्राप्त किया अर्थात् यज्ञ देवताओं के हिस्से में आया एवं वाक् असुरों के हिस्से में आई। यज्ञ प्राण व्यापार का नाम है। अग्नि में सोमाहुति डालने का नाम ही यज्ञ है। इसी का नाम व्यापार है। यज्ञ अग्नि से सम्बन्ध रखता है। देवता आग्नेय है। अतएव " **यज्ञमेव तद्देवा उपायन्** " कहा है। वाक् का वही पूर्वोक्त अर्थ है। दूसरी तरफ मे यों समझना चाहिए कि काम करना देवताओं के हिस्से में आया एवं खाली बक–बक करना असुरों के हिस्से में आया। जिन्हें कर्मण्य देखो, आलस्य से रहित देखो–समझ लो वह देवभाग-युक्त है। जो आलस्य में पड़ा है, अन्धकार ग्रस्त हो, खाली बक-बक करता हो, जान लो और समझ लो, वह असुर प्राणयुक्त है। तीसरी सम्पत्ति थी–पृथिवी लोक और द्युलोक। इनमें से उस द्युलोक को देवताओं ने प्राप्त किया एवं पृथिवी लोक को असुरों ने प्राप्त किया। द्युलोक के अधिष्ठातासूर्य्य है। सूर्य्य देवताओं की समष्टि है इसीलिए—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः"

कहा जाता है। प्रकाशी प्राण का नाम इन्द्र है। अग्नि में ताप है प्रकाश नहीं। प्रकाश इन्द्र का धर्म है। यह प्रकाशस्वरूप इन्द्र सूर्य्य में रहता है। सूर्य द्युलोक में रहता है। इसी अभिप्राय में "**अमूमेव देवा उपायन्**" यह कहा गया है। पृथिवी वास्तव में काली है। तमोमय प्राण का नाम ही तो असुर है। इसीलिए "**इमामसुराः**" यह कहा गया है–बस इस प्रकार से पिता प्रजापति की सम्पत्ति देवता और असुरों में विभक्त हो गई ।।१८।।

हमने बतलाया है कि देवताओं के हिस्से में यज्ञ आया और असुरों के हिस्से में वाक् आई। देवता सारे सूर्य में रहते हैं। सूर्य ही यज्ञाधिष्ठाता है। उसीके यज्ञ से अखिल चराचर की स्थिति रहती है। अतएव "**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" यह कहा जाता है। सूर्य का जो पृथिवी की ओर आता हुआ प्रकाश है उसी का नाम यज्ञ है। प्राण व्यापार को ही हमने यज्ञ बतलाया है। प्राणाधिष्ठाता क्रिया के यही सूर्य है इसीलिए "**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**" कहा जाता है। यही सूर्य-संसार के पदार्थों को प्रेरित कर क्रिया में प्रवृत्त कराने वाला है। कर्मण्य बनाने वाला यही इन्द्र है। इसीलिए "**धियो यो नः प्रचोदयात्**" कहा जाता है। जैसे परमेष्ठि के मनोता, भृगु, अंगिरा-अत्रि हैं तद्वत् सूर्य के मनोता ज्योति, गौ, आयु है। देवता ज्योतिस्वरूप है। ज्योति करना यही यज्ञ है। इसीलिए—

"**विदाम देवान् स्वर्ज्योतिः**" कहा जाता है। तात्पर्य यही है कि आता हुआ जो सौर प्राण है उसीका नाम यज्ञ है। यह प्रकाशस्थ स्वरूप है। अतएव हम इसे देवताओं की वस्तु कहने के लिए तय्यार हैं एवं पृथिवी काली है। पृथिवी के वाक् गौ, द्यौ-यह तीन मनोता हैं। वाक् पृथिवी की वस्तु है। पृथिवी काली है। काले प्राण का नाम ही असुर है अतएव वाक् को असुरों की वस्तु बतलाया गया है। इसी प्रकार से यज्ञ देवताओं की वस्तु है एवं वाक् असुरों की वस्तु है। वाक् यद्यपि है असुरों की वस्तु परन्तु देवता यज्ञ द्वारा उसे अपनी चीज बना लेते हैं। यह वाक् अर्थात् पार्थिव पदार्थ सूर्य्य द्वारा हर समय ऊपर खिंचा करते हैं। सूर्य्य की ज्योतिर्मय किरणें ही जिन्हें कि यज्ञ बतलाया है पार्थिवी वाक् को ऊपर अर्थात् द्युलोक की ओर खैंच लेती है। देवताओं का यज्ञ-अर्थात् सूर्य्य रश्मिएं असुरों के हिस्से में आई हुई वाक् को, पार्थिव पदार्थों को खींचकर द्युलोक में देवताओं के पास पहुंचा देता है। इस प्रकार देवता असुरों की भी वस्तु को खैंच लेते हैं। पृथिवी की वस्तुओं को द्युलोक की ओर ले जाना ही देवताओं का यज्ञ द्वारा वाक् को अपने में शामिल करना है। पार्थिव पदार्थ सदा सूर्य्य में जाया करते हैं। सौर पदार्थ सदा पृथिवी में आया करते हैं। सूर्य्य की सत्ता से पृथ्वी की सत्ता है। इसीलिए विजय देवप्राण की ही बतलाई जाती है। इतना और समझना चाहिए कि यज्ञ प्राण स्वरूप है अतएव वह वृषा है अर्थात् पुरुष है एवं वाक् रयि स्वरूप है अतएव वह योषा है अर्थात् स्त्री है। यज्ञपुरुष द्वारा स्त्री वाक् का मिथुन हो जाता है। पार्थिव वाक् सौर यज्ञ के साथ मिल जाती है। यही सौर प्राण देवताओं की विजय है। बस इसी ज्ञान को भुवन त्रिलोकी के ऐतिहासिक भाव से तुलना करने के लिए आगे का सारा प्रपञ्च है एवं साथ ही में स्त्री और पुरुष की आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप को समझा दिया जाता है। असल में तो स्त्री पुरुष के स्वात्म स्वभाव विज्ञान के लिए ही नीचे की सारी आख्यायिका है। जब देवताओं के अधिकार में यज्ञ आ गया तो उन्होंने यज्ञ से कहा-हे यज्ञ, असुरों के कब्जे में आई हुई यह वाक् योषा है। अर्थात् स्त्री है अतः किसी तरह तुम उसे यहां बुला लो।

"ते देवा अब्रुवन् योषा वा इयं वाक् उपमन्त्रयस्व"

देवता कहने लगे कि जहां तुमने उसे बुलाया कि वह स्वयं तुम्हें बुलायेगी। अर्थात् वह तुम्हारे आह्वान् से वास्तव में तुझे अपने पास बुलायेगी, तुमसे प्यार करेगी।

"ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा"

यज्ञ ने इच्छा की, विचार किया, यह वाक् योषा है अर्थात् स्त्री है। अपन इसे बुलावे। सम्भव है मेरे बुलाने से यह मुझे बुलायेगी एवं मेरे से प्यार करने लगेगी। **"ऐक्षत योषावा इयं वाक् उपमन्त्रये ह्विष्यते बैमेति"**। बस यह विचारकर यज्ञ ने उसे बुलाया-उसको आमन्त्रित किया। याज्ञवल्क्य कहते है कि यज्ञ को अपने पास बुलाने की बात तो दूर रही उलटा उस वाक् ने दूर से प्रारम्भ में ही फटकार दिया। उधर यज्ञजी ने वाक् को बुलाया-इधर दूर खड़ी-खड़ी वाक् ने फटकार बतादी।

"तामुपामन्त्रयत् सा हास्मा (अस्मै) आरकादिवैव (आरादेव) अग्रऽआसूयत्"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यही कारण है कि कोई पुरुष पहले पहल यदि स्त्री को अपने पास बुलाना चाहता है तो उपमन्त्रियता सी पहले पहल फौरन उसे फटकार बतला देती है। प्रकृति यज्ञ में स्त्रियों का आत्मा वास्तव में ऐसा ही बनाया है पहले मना करना यह स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है यही इस आख्यानान्तर का तात्पर्य है।

"तस्माद् स्त्रीपुंसोपमंत्रितारकादिवैवाग्नेऽसूयति"

यज्ञ फटकार खा कर वापस देवताओं के पास लौट आए और कहा कि हे देवताओं, उसने तो मुझे दूर ही से फटकार बतला दी।

"स होवाचारकादिव वै मऽ आसूयादिति" ॥१९॥

जब यज्ञ फटकार खा के वापस लौट आया तो देवताओं ने फिर कहा कि हे यज्ञ, आप फिर उसे बुलाओ। हमें आशा है वह अपने यहीं तुम्हें बुलायेगी अर्थात् तुम्हें अपनायेगी। हमारे शरीर में सारे देवता मौजूद हैं। इसीलिए तो-**"अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्"**। यह कहा जाता है। प्राण व्यापार का नाम यज्ञ है। मनुष्य स्त्री के लिए कोशिश करता है अर्थात् शरीरस्थ देवताओं की इच्छा की प्रेरणा से स्त्री के पास जाता है-वहां जाते ही प्रथम-प्रथम में वह फटकार बतला देती है। वह बिचारा अपना सा मुंह ले वापस लौट आता है। फिर अन्तरात्मा उसे प्रेरित करते हैं कि फिर चल उसके पास, अब के अपने से यही प्यार करेगी। इस स्वाभाविक आत्मविकास को बतलाने के अभिप्राय से ही याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"ते होचुः उपैव भवतयो मत्रयस्व ह्वायिष्यते वै त्वेति"

आखिर देवताओं के कहने से यज्ञ ने फिर दुबारा उसे बुलाया। दुबारा तो उसने सर्वथा निराशा का वाक्य ही बोल दिया। अर्थात् "क्यों मेरे पास आते हो, मैं तुम्हारे पास नहीं आना चाहती" यह कह दिया। नितरां परागताशम् निपलाशम् निपलाशमेव निपलाशम्-एवंभूतं वाक्यमुवाद-उवाच। जिस वाक्य से, जिस उत्तर से सर्वथा निराशा उपजती थी-ना उम्मेदी मालूम होती थी, ऐसा उत्तर दिया।

"तामुपामन्त्रयत् सा हास्मै निपलाश मिवोवाद"

याज्ञवल्क्य कहते है इसीलिए पुरुष से दुबारा बुलाई गई स्त्री पहले की अपेक्षा बहुत ही सूखा एवं निराशाजनक उत्तर देती है :—

"तस्मादु स्त्री पुंसोपमंत्रिता निपलाशमिवैव वदति"

यज्ञ वापस लौट आया और कहा कि वह तो साफ नट गई कि मैं तुम्हारे पास नहीं आती ।

"स होवाच निपलाशमिव वै मेऽवादीदिति ।।२०।।

देवताओं ने फिर कहा कि हे यज्ञ, एक बार फिर बुलाओं–अब के अवश्य ही वह तुझे बुलायेगी–अर्थात् अब के वह अवश्य ही तुम्हारी हो जायगी । इससे सूचित करते हैं कि बारम्बार फटकार खाने पर भी उसकी चाह बनी ही रहती है । मनुष्य बार-बार तिरस्कृत होकर भी उसके पास जाता ही रहता है–इसी स्वाभाविक भाव को बताते हुए कहते हैं :—

"ते होचुः उपैव भगवो मन्त्रयस्व, ह्वयिष्यते वै त्वेति"

आखिर देवताओं के कहने से यज्ञ ने फिर बुलाया, फिर उसकी मिन्नत की । अब की बार इस वाक् ने यज्ञ को बुला लिया–अर्थात् तीसरी बार वाक् ने इसकी पत्नी बनना स्वीकार कर लिया ।

"तामुपामन्त्रयत्–साहैनं जहुवे"

याज्ञवल्क्य कहते हैं—यही कारण है कि यदि बार-बार पुरुष स्त्री को बुलाता रहता है । यदि पुरुष की स्त्री के साथ सच्ची लगन है तो वह स्त्री चाहे राजरानी क्यों न हो अन्त में वह उसकी अवश्य ही हो जाती है । सच्चा प्यार बड़े से बड़े खान्दान की स्त्री के चित्त को डिगा देता है । सच्चा प्यार करने वाला यदि भंगी भी होता है तो उसके साथ भी अन्त में वह कुलीन स्त्री चली जाती है–इसीलिए,

"विश्वासं नाचरेत् स्त्रीणां ताः स्वतन्त्राश्च नाचरेत्"
रक्षणीयाः सदा यत्नात् यौवनेषु विशेषत :—

यह कहा जाता है—इसी अभिप्राय से कहते हैं—"तस्मादु स्त्री पुमांसं ह्वयतएवोत्तमम् (अन्त में बुला ही लेती है । यज्ञ ने वापस आकर कहा कि हे देवताओं ! वाक् ने मुझे बुला लिया है अर्थात् अब के वह मेरी बन गई है)"

पार्थिव वाक्, सूर्य ज्योति द्वारा सूर्य्य देवता में शामिल हो गई–यही असली बात है । प्रसंगागत स्त्री के आत्मा का प्राकृतिक स्वभाव बतलाने के लिए इतना प्रपंच रचा गया है :—

"स होवाचाह्वत वै मेति" ॥२१॥

यज्ञ ने देवताओं से जब "उसने उसे बुला लिया है अर्थात् उसने कह दिया है कि मैं अवश्य तुम्हारी बनूंगी।" यह कहा तो इस पर देवताओं ने विचार किया कि–भाई यह वाक् योषा है अर्थात् स्त्री है। इसने यज्ञ को बातों ही बातों में राजी कर दिया है। यज्ञ से यह मिली नहीं है। (नयुविता) यज्ञ के साथ इसका मिथुन हुआ नहीं है। स्त्रियों की बात का सहसा विश्वास नहीं करना चाहिए। यही पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य है।

"ते देवा ईशां चक्रिरे, योषा वाऽयंवाग्–यदेनं नयुविता"

अर्थात् आखिर तो वाक् स्त्री थी न–इस नए बेचारे यज्ञ को बातों में ही टाल दिया, यही तात्पर्य है स्त्रियां वादा कर लेती हैं परन्तु समय पर मुकर जाती हैं इस स्वाभाविक भाव को ही पूर्व वाक्य से बतलाया गया है। देवताओं ने यज्ञ को कहा कि हे यज्ञ, तुम उसकी बातों पर विश्वास मत करो, तुम तो उससे यह कहो कि–मैं यहां मौजूद हूँ। तुम यहीं मेरे पास ही आ जाओ। मुझसे इसी स्थान पर आकर मिलो तब समझूंगा कि तुम वास्तव में मेरे से प्यार करती हो।

"इहैव मा तिष्ठन्तमभ्येहि–इति ब्रूहि"

एवं साथ ही में देवताओं ने यज्ञ से यह भी कह दिया जब कि वह आ जाय तो उसी समय तुम हमें कहना, उसके आने की सूचना भी दे देना। "तां तु न आगतां प्रतिब्रूतात" अर्थात् 'नः–अस्मान् प्रब्रूहि' यज्ञ को देवताओं ने यही कहा। यज्ञ ने देवताओं के कथनानुसार वही वाक्य वाक् को कहे। वाक् यज्ञ के प्रेम में बंध चुकी थी अतः वह यज्ञ के बतलाए उस निर्दिष्ट स्थान में यज्ञ के पास आ पहुंची।

"सा हैनं तदेव (तत्रैव संकेतस्थाने) तिष्ठन्तमभ्येयाय"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिस पुरुष के प्रेम में स्त्री फंस जाती है वह पुरुष के बतलाए उस संकेत स्थान में, हजार आपत्ति आने पर भी पहुंच ही जाती है, चाहिए सच्चा प्रेम।

"तस्माद् स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति"।

देवताओं के कथनानुसार अपने पास उसे आई देखकर उसी समय यज्ञ ने देवताओं को खबर कर दी कि–यह वाक् आ गई है—

तां हैभ्य आगतां प्रति प्रोवाच "इयं वाऽआगात्" इति ॥२३॥

देवता तो इसी की बाट जोह रहे थे। आते ही उन्होंने उसे असुरों की दृष्टि से छिपा लिया। छिपाकर उसे स्वीकार कर अर्थात् अपने वश में कर, देवताओं ने उसे अग्नि में आहुति दे डाली।

विज्ञानभाव के साथ साथ ही मनुष्यदेवता भाव का भी पूर्वोक्ति भूमिका में समावेश कर दिया गया है। यज्ञ आहुति को कहते हैं। आहुति प्राण व्यापार का नाम है। प्राण व्यापार वाक् से ही

होता है। अर्थात् यज्ञ बिना मन्त्र के, बिना वाक् के नहीं होता। वाक् अर्थात् मन्त्र के साथ ही आहुति देनी पड़ती है। परन्तु यह वाक् असुरों से अन्तरित होनी चाहिए। तात्पर्य यही है कि जो अशुद्ध वाक् होती है वह आसुरी वाक् कहलाती है। बोलना चाहिए राम, बोल गए लाम, बस यह लाम आसुरी भाषा है। इससे आहुति नहीं दी जा सकती। "**अग्नये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा,** इस प्रकार आसुरी वाक् से अन्तरित जो दिव्य वाक् है उसी से आहुति दी जाती है। असुरान्तरित दिव्या वाक् से ही यज्ञ का सम्बन्ध होता है। अग्नि के लिए स्वाहा है, यदि लौकिक वाक् बोलकर आहुति देना चाहोगे तो यज्ञ भ्रष्ट हो जायगा! इस दिव्या वाक् के स्वरूप को देवता अर्थात् विद्वान ही समझ सकते हैं। जो असुर हैं अर्थात् मूर्ख हैं वे वाणी की शुद्धता से कोसों दूर रहते हैं। यज्ञ द्वारा देवताओं ने वाक् को अपने वश में कर तद्द्वारा आहुति डाल दी। इसका अपन स्वर्गवासी देवताओं के पक्ष में यही अर्थ समझना चाहिए।

पृथिवी काली है अतएव हम उसे असुर कहने के लिए तैय्यार हैं। उसके जो पदार्थ हैं वे वाक् नाम से प्रसिद्ध हैं। यह वाक् जो कि असुरों की वाक् थी सूर्य-रश्मियों द्वारा अर्थात् यज्ञ द्वारा असुरों से अर्थात् पृथिवी से अलग होकर देवताओं में अर्थात् सूर्यलोक में शामिल हो जाती है यह तो इस आख्यान का वैज्ञानिक अर्थ है एवं विद्वान लोग मूर्खों (असुरों) से वाक् को छीनकर अर्थात् आसुरी भाषा का परित्याग कर वाक् को अपने वश में कर, इसके द्वारा अर्थात् मन्त्र द्वारा अग्नि में आहुति डाल देते हैं—यही इस आख्यान का ऐतिहासिक अर्थ है।

इन्हीं दोनों अर्थों को लक्ष्य में रखते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तां देवाः असुरेभ्योऽन्तरायन्। तां स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्वं हुतमजुहवुः"।

यह जो आहुति डाली जाती है वह प्राण देवताओं में शामिल होती है इसलिए भी वाक् का देवताओं के साथ सम्बन्ध मान लिया जाता है।

"आहुति र्हि देवानाम्"

वाक् वर्णात्मक, अक्षरात्मक, स्वरात्मक एवं श्रुत्यात्मक भेद से चार प्रकार की होती है। जो वर्णात्मक वाक् है वह पृथिवी की वाक् है। इसी का नाम अनुष्टुप वाक् है। क–च–ट–त–प इस अनुष्टुप् वाक् का स्वरूप है। आहुति के साथ जो वाक् बोली जाती है। वह चूंकि क–च–ट–त–प इत्यादि रूपयुक्ता हैं, वर्णात्मिका है, पार्थिवा है अतएव यह वाक् अनुष्टुप् कहलाती है। इसके साथ देवताओं को (प्राण देवताओं को) आहुति दी जाती है केवल वाक् देवताओं को नहीं मिलती, अपितु आहुतियुक्तवाक् ही देवताओं को मिलती है इसीलिए तो "**आहुतिर्देवानाम्**" यह पूर्व में कहा गया है। प्रकृत में यही बतलाना है कि उन देवताओं ने अर्थात् मनुष्य देवताओं ने आहुति द्वारा जिस क–च–ट–त–प इत्यादिक प्रयुक्ता अनुष्टुप् वाक् का अग्नि में हवन किया, प्राण देवताओं ने आहुतियुक्ता उस वाक् को स्वीकार कर लिया। अर्थात् देवता (विद्वान्) यज्ञ द्वारा प्राणदेवता स्वर्ग से बद्ध हो गए।

"स (ते मनुष्य देवाः) यामेवानुष्टुभाजुहवुस्तदेवैनां तद्देवास्वकुर्वन्" ।

अर्थात् आहुति युक्त वाक् को ही उन्होंने स्वीकार किया । न केवल वाक् को किया, न केवल आहुति को ही, यज्ञ में मन्त्र और आहुति दोनों की अपेक्षा है–यही तात्पर्य है ।

एवं जो असुर थे अर्थात् मूर्ख थे उन्होंने देवताओं से वाक् के सारांश को छिन जाने से आत्तबचस हे अरवः, के स्थान में हे अलवः, हे अलवः, बोलते हुए परास्त हो गए । अर्थात् वाणी का सारभाग देवता खींच लेते हैं । कूड़ा-कर्कट आसुरों के मूर्खों के हिस्से में आता है । यही हालत इन असुरों की हुई । यह घोर अशुद्ध बोलकर यज्ञ करते थे, अतएव बजाय विजय के उलटे परास्त हो गए । यज्ञ में एक अक्षर की भी अशुद्धि नहीं होनी चाहिए–यही तात्पर्य है ।

"तेऽसुरा आत्तबचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः" ॥२३॥

प्रसङ्गागत वाक् के विषय में कुछ विशेषता और बतला देते हैं । जो मनुष्य इस उपजिज्ञास्य वाक् को बोलता है उसे म्लेच्छ अर्थात् असुर समझना चाहिए । जिसकी बोली में यह संदेह रहे कि यह क्या बोलता है, इसके कहने का क्या अर्थ है, जिसमें यह जिज्ञासा बनी रहे, वह म्लेच्छ भाषा समझनी चाहिए । ऐसी संदिग्ध भाषा बोलने वाला भी सर्वथा म्लेच्छ ही है । असुर ऐसी उपजिज्ञास्य वाणी ही बोले–यही तो उसके पराभव का कारण था—

"तत्रैतामपि वाच मूदुरुपजिज्ञास्याम्"

इसीलिए भगवान् याज्ञवल्क्य आदेश करते हैं । ब्राह्मण को चाहिए कि वह म्लेच्छ कभी न बने । अर्थात् असंदिग्ध भाषा न बोले । क्योंकि यह वाक् असुर्या है । यह असुरों की भाषा है न कि देवताओं की । ब्राह्मण को तो सदा देवी भाषा बोलनी चाहिए :—

"तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्, असूर्या हैषा वा वाक्"

कहना इस प्रपञ्च से हमें यही है कि यह यज्ञकर्त्ता यजमान शुद्धमन्त्र द्वारा आहुति देता है एवं शुद्ध बोलता है । वह शत्रुओं के वाक् भाग को खींच लेता है एवं अपहृत-वाक् होते हुए वे शत्रु सर्वथा पराभूत हो जाते हैं परन्तु शर्त उसमें यह है कि वह वास्तव में इस वाक् विज्ञान को जानता हो जानने पर यह फल मिलता है ।

"एवमेवैष द्विषतां सपत्नानामादत्ते वाचम् । तेऽस्यात्तवचसः पराभवन्ति य एव मेतद्वेद ॥२४॥

कृष्णविषाण–वस्त्र की गांठ में क्यों लगाना चाहिए ? इसकी उपपत्ति के लिए पूर्व का सारा प्रपञ्च बतलाना पड़ा, क्योंकि बिना इस यज्ञ वाक् के प्राकृतिक विज्ञान को समझे कृष्णविषाण की उपपत्ति समझ में नहीं आ सकती थी । इस वाक् का विज्ञान बतला दिया गया । अब जिसके लिए (कृष्णविषाण

के लिए) यह विज्ञान बतलाया गया है वह विज्ञान बतलाते हैं। यह यज्ञ वाक् की ओर दौड़ा। सूर्य्य का जो ज्योतिर्भाग है वह यज्ञ है एवं पृथिवी का वाक् भाग ही वाक् है। सूर्य्य का रश्मिमण्डल (यज्ञ) पृथिवी की ओर हरबार आक्रमण करता रहता है। "**सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ**" इसका यही तात्पर्य है। मैं इसके साथ मिथुनी बनूं अर्थात् मेरा इस वाक् के साथ सम्बन्ध हो जाए इसी गरज से वह वाक् की ओर अभिमुख हुआ। इच्छा की देर थी, इच्छा करते ही वह उस वाक् के साथ युक्त हो गया। मिथुनभाव को प्राप्त हो गया। वास्तव में बात सच है। सूर्य्य का ज्योतिर्भाग अर्थात् यज्ञ पृथ्वी पर चारों ओर आक्रांत रहता है। सौर प्रकाश पृथ्वो से संसृष्ट रहता है। इसी प्राकृतिक विज्ञान को बतलाने के अभिप्राय से कहते हैं :--

"मिथुन्येनया स्यामिति तां संबभूव" ॥२४॥

द्वादश प्राणसमष्टि का सूर्य्य है। उसमें से एक अन्यतम बलाधिष्ठाता प्राण का नाम "**इन्द्र**" है। यही इन्द्र, हम सब प्राणियों का आत्मा है। यही इन्द्र चाक्षुषपुरुष नाम से प्रसिद्ध है। "**योऽदक्षिणेऽक्षिणि पुरुषः स चाक्षुषः**" यह इसी इन्द्रालोक लिए कहा जाता है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं वे द्यावापृथिवी के संयोग से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक पदार्थ में कुछ पृथिवी की चोज रहती है–कुछ सूर्य्य की चीज रहती है। दोनों के मेल से प्राणीजाति की उत्पत्ति होती है। जिस समय यज्ञ और वाक् अर्थात् पृथिवी और द्यु का मिथुन होने लगा, उस समय इन्द्र ने (आत्म प्रजापति) सोचा कि इस यज्ञ और वाक् के मिथुन से अवश्य ही कोई न कोई बड़ा जबर्दस्त अम्व उत्पन्न होगा अर्थात् इस द्यावापृथिवी के संयोग से जो उत्पन्न होगा वह बड़ा ही बलवान् होगा।

आत्मा का स्वभाव है जहां शुक्रशोणित का अर्थात् योषा–वृषा का सम्बन्ध हुआ कि वह उसमें कूद पड़ता है। यज्ञ वृषा है अर्थात् पुरुष है। वाक् योषा है अर्थात् स्त्री है जहां इन दोनों का सम्बन्ध हुआ कि आत्मोत्पत्ति हुई। यज्ञ भी एक जबर्दस्त शक्ति है। वाक् भी महाशक्ति है। इनसे जो उत्पन्न होगा उसके बल का कहना ही क्या है ? बस इसी बात का विचार प्राणेन्द्र में हुआ।

"इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे महद्वाइतोऽभ्वं जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद्वाश्चनाय"

इन्द्र अति बलवान था, उसे चिन्ता हुई कि इस मिथुन से उत्पन्न होने वाला कहीं मुझे परास्त न कर बैठे, इस ख्याल से वह स्वयं ही गर्भ बनकर प्रविष्ट हो गया। इन्द्र ही का नाम तो आत्मा है। उसके अलावा अन्य कौन गर्भ बन सकता था। इसी प्रकृतिसिद्ध धर्म को बतलाने के अभिप्राय से कहते हैं।

"यन्मा तन्नाभिभवेत् इति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश" ॥२६॥

एक सम्वत्सर में वह इन्द्र उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होकर उसने विचारा कि यह योनि वास्तव में महावीर्या है। अति बलवती है। जिसने १२ महिने तक जैसे बलिष्ठ को अपने में रख लिया।

इन्द्र विद्युत् का नाम है। विद्युत अति प्रबल वस्तु है। इसे कोई नहीं रोक सकता। यज्ञस्वरूप पार्थिव वाक् का संवत्सर चक्र है। वही इस मिथुन को रख सकता है। विद्युत् इसी संवतसर चक्र में रहती है। प्रतिसंवत्सर में विद्युत का स्वरूप भिन्न भिन्न हो जाता है वर्षान्त में उत्पत्ति है। इसी अभिप्राय से कहते हैं।

स ह सम्वत्सरे जायमान ईक्षाञ्चक्रे, महावीर्या वा इयं योनि या मा मदीधरत ।।

इन्द्र को फिर चिन्ता हुई कि कही यह मेरे से अधिक बलवान् को उत्पन्न न करदे एवं वह उत्पन्न होकर मेरा अभिभव करदे। इस बात का विचार आते ही उस अपनी योनि को मोड़कर–छिन्न–भिन्नकर उसे यज्ञ के मस्तक पर रख दिया।

तात्पर्य यही है कि कृष्णमृग के जो सींग हैं वह इन्द्र की योनि है अर्थात् उसमें इन्द्रप्राण अधिक मात्रा में व्याप्त है। कृष्णमृग वास्तव में यज्ञस्वरूप है एवं इसके जो सींग हैं वे वास्तव में इन्द्र की योनि है–इसे अभिप्राय से कहते हैं।

"तां प्रति परामृश्यावेष्ट्याच्छिनत् ।।

काला हरिण यज्ञस्वरूप है। इसके जो सींग हैं वह इन्द्र की योनि है अर्थात् सींगों में इन्द्रप्राण विशेषता से रहता है। काले हिरण के सींग इन्द्र विद्युत् की योनि है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सींग की मजबूती ही है। बल ही इन्द्र का साक्षात् स्वरूप है जिसमें अधिक बल हो समझ लो उसमें इन्द्रप्राण अधिक घुसा हुआ है इसीलिए—**याचका च बलकृतिरिन्द्रकर्म एवतत्**—यह कहा जाता है। यह इन्द्रप्राण भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न स्वरूप कायम करके बैठता है। सींगों में यह प्रविष्ट होकर बैठा है—अतएव इन्द्र ने अपनी योनि को भेद कर यज्ञ के मस्तक पर रख दिया यह कहा गया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तां यज्ञस्य शीर्षन् प्रत्यधात् (शीर्ष्णि) इति भावः" ।।

याज्ञवल्क्य यज्ञस्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि यह जो त्रयी विद्या सा प्रतिकृति स्वरूप काला हरिण है वही यज्ञ है।

"यज्ञो हि कृष्णः" सो जो यह यज्ञ है वह यही काले मृग का चर्म है अर्थात् जिस मृगचर्म पर यजमान बैठा हुआ है वह यज्ञ ही तो है।

"स यः स यज्ञस्तत् कृष्णाजिनम्" ।

एवं जो इन्द्र की योनि है वही काले हरिण का यह सींग है अर्थात् यज्ञ कृष्णमृगचर्म है एवं सींग इस इन्द्र की योनि है, इन्द्र का प्राण के रहने का स्थान है।

यो सा (या उ सा) योनिः सा कृष्णविषाणा ।।

यह कृष्ण विषाण वास्तव में इन्द्र की ही योनि है यह पहचान बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं–इस योनि को इन्द्र ने मोड़ मोड़ कर मसोस-मसोस कर छिन्न भिन्न कर डाला था इसीलिए यह हरिण के सींग स्वरूप योनि आविष्टित ही है अर्थात् सींग मुड़े हुए हैं चक्करदार हैं एवं इन्द्र ने अपनी योनि की ऐसी ही दशा की थी। अतएव मानना पड़ता है कि वास्तव में कृष्णविषाण इन्द्र की योनि है।

द्वादश प्राणसमष्टि का नाम ही सूर्य है इसमें एक अन्यतम प्राण का नाम इन्द्र है जिसे कि हम सूर्याभिन्नत्वात् सूर्य ही कह सकते हैं। यही इन्द्र अर्थात् चिदनुगृहीत सौरप्राण संसार के यच्चयावत् जड़

चेतन प्राणियों का आत्मा है अतएव "**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" पद कहा जाता है। इन्द्रप्राण जो आत्मस्वरूप संपादनात् आत्मा ही है वह वस्तुभेद से भिन्न भिन्न जिस्म में परिणत हो जाता है। यह इन्द्र हिरण के सीग में वक्रियता से प्रविष्ट होता है इसी वैज्ञानिक भाव के आधार पर पूर्व का इन्द्र सम्बन्धी आख्यान है। यजमान यज्ञ कर रहा है अतयव यज्ञ का जो साक्षात् स्वरूप है उसे ही अङ्गीकार करना उचित है। अतः हिरण का सींग ही वस्त्रग्रन्थि में बांधा जाता है एवं कृष्णमृगचर्म ही बिछाया जाता है अपि च यह यजमान इस समय दीक्षा ग्रहण कर उभयतोग्र स्वरूप द्यावापृथिवीरूप माता-पिता की योनि में घुसकर गर्भस्वरूप बन रहा है अतएव इस विषाण को धारण करता हुआ यह यजमान, जैसे इस यज्ञ की योनि से इन्द्र गर्भ बनकर पैदा हुआ था, तद्वत् इसी यज्ञ मिथुन से गर्भ बनकर पैदा होता है। अतएव आज यह कृष्णविषाण बांधता है। इन्द्र इसी योनि में से अर्थात् यज्ञ योनि में से पैदा हुआ था। बात सच है अग्निसोमस्वरूप यज्ञ में ही तो चिदात्मा इन्द्र प्रविष्ट होता है। बिना यज्ञ के आत्मप्रजन हर्गिज नहीं हो सकता। कृष्ण विषाण यज्ञ की योनि है, यज्ञस्वरूप है। यजमान दिव्याग्नि आधान कर, दिव्याग्निप्रजननार्थ दीक्षित बना हुआ है अतएव निदानेन यज्ञमिथुनस्वरूप अतएव आत्मप्रजनन के साधनभूत कृष्णविषाण को धारण करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स यथैवात् इन्द्रोऽजायत गर्भो भूत्वैतस्मात्मिथुनात् एवमेवैषोऽतोजायते गर्भो भूत्वैतस्मात् मिथुनात् तस्मात् कृष्णविषाणं सिथि वधीते इतिशेषः ॥२८॥

उस कृष्णविषाण को ऊँचा मुख करके बांधता है।

"तां वा उत्तानामिवबन्ध्नाति"

कारण इसका यही है कि कृष्णविषाण यजमान की योनि है। यजमान गर्भस्वरूप है। यदि योनि का मुख अधोभाग की ओर रहता है तो गर्भस्थिति नहीं रह सकती। ऊर्ध्वाभिमुखी भूत्वा योनि ही गर्भ को धारण करने में समर्थ होती है। यदि योनि अधोभागन्विता रहती है तो गर्भपात हो जाता है चूंकि यजमान आज गर्भ बन रहा है एवं गर्भ बनकर विषाणस्वरूप योनि में प्रविष्ट हो रहा है अतः प्राकृतिक पैदाइश के नियमानुसार योनि स्वरूप विषाण को ऊँचा मुख करके ही बांधना चाहिए।
अन्यथा गर्भपात हो जायगा।

"उत्तानेव वै योनिर्गर्भं बिभर्ति" (तस्मात्तामुत्तामाभिव बध्नातीति शेषः)

इसके अनन्तर "**इन्द्रस्य योनिरसि**"यह मन्त्र बोलता हुआ यजमान दक्षिण भाग से प्रारम्भ कर ललाट के ऊपर तक के ऊपर तक के प्रदेश का इस कृष्ण विषाण से स्पर्श करता है।

अथ दक्षिणां भुवभुर्य्युपरि ललाटमुपस्पृशति" "इन्द्रस्य योनिरसि" इति।

याज्ञवल्क्य कहते हैं यह जो कृष्णविषाण है वह वास्तव में योनि है। इस योनि के साथ ही इन्द्र गर्भ के रूप से प्रविष्ट होता है। इसी इन्द्र योनि से पैदा होने वाला पैदा होता है। इन्द्र योनि से

यज्ञ ही अभिप्रेत है । अग्निसोमात्मक यज्ञ ही तो इन्द्र की योनि है । जो कि निदानेन काले हिरण का सींग है । मस्तक के स्पर्श कराने का कारण यही है कि वह मस्तक भी वास्तव में इन्द्र की योनि है । इन्द्र का प्रवेश ब्रह्मरन्ध्र द्वारा शिरोगुहा में ही होता है एवं संसार में जो भी कोई पैदा होने वाला है वह इसी मुख भाग से पैदा होता है । मुखभाग से अभिप्रेत है कि मुख में ही अन्न की आहुति पड़ती है इसी से वीर्य बनता है एवं वीर्य से जायमान उत्पन्न होता है अपि च पैदा होने के अनन्तर भी मुखभाग से ही शरीर प्राप्ति होती है । अन्न के उदर में जाने का यही मार्ग है । इन्द्र प्राणस्वरूप मस्तक प्रदेश में इन्द्रप्राणयुत कृष्णविषाण के स्पर्श का यही कारण है कि आप दोनों मिलकर इन्द्रस्वरूप अर्थात् आत्मस्वरूप उस यजमान को अपनी योनि में प्रतिष्ठित रक्खें ।

"इन्द्रस्य ह्येषा योनिरतो वाह्येना प्रविशन् प्रविशति । अतो या जायमानो जायते । तस्मादाह—"इन्द्रस्य योनिरसि" ॥२९॥

तदनन्तर वह यजमान उस कृष्णविषाण से **"सुसस्याः कृषिष्कृधि"** इस मन्त्र से पास ही की जमीन को जरा कुचर देता है । अथोल्लिखित–**"सुसस्याः कृषिष्कृधीति** । हे कृष्णविषाणे । आप इस पृथिवी को एवं इस खेती को धानवाली बनाओ । अर्थात् इस खेत में खूब अन्न पैदा हो—ऐसा आर्शीवाद दो इस उल्लिखन् से यज्ञ ही को उत्पन्न करता है ।

"यज्ञमेवैतज्जनयति" इस अभिप्राय से कहते हैं जब खेती वृष्टयादि सम्पत्ति से सुखद होती है अर्थात् जब खेत में अन्न बहुतायत से पैदा होता है तो यज्ञ अनुष्ठान के लिए वह मन्त्र काफी होता है । यज्ञ तभी हो सकता है । यज्ञानुष्ठान अन्न सम्पत्ति पर निर्भर है । यदि खेती बुरी होती है अन्न पैदा नहीं होता है यदि होता भी है तो थोड़ा सा ही पैदा होता है तो ऐसी अवस्था में तो इतना अन्न उदरभरण के लिए भी अर्थात् पेट भरने के लिए भी काफी नहीं होता है ऐसी अवस्था में यज्ञ करके करना ही क्या है ? इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यदा वै सुषमं भवति अथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न तर्ह्यात्मने च नालं भवति"

चूंकि यज्ञ अन्न पर निर्भर है । अन्न हल जोतने पर ही उत्पन्न होता है चूंकि यजमान सोमयज्ञ करने वाला है अतएव उल्लिखन् करता हुआ निदानेन अन्न पैदा होने की भावना कर अपने यज्ञ को ही उत्पन्न करता है । तात्पर्य यही है कि मन्त्र द्वारा कृष्णविषाण से भूमि को जरा खोदकर अन्नोत्पत्ति की भावना कर लेनी चाहिए क्योंकि यज्ञ अन्न पर अर्थात् पुरोडाश पर ही अवलम्बित है ।

"तद्यज्ञमेवैतज्जनयति" ॥३०॥

याज्ञवल्क्य कृष्णविषाण के रखने का उपयोग बताते हुए कहते हैं कि यह यजमान यह दीक्षित काष्ठ से अथवा नाखून से कभी भी खाज न खोरे ।

"न दीक्षितः। काष्ठेन नखेन वा कण्डूयते"

कारण इसका यही है कि जो मनुष्य दीक्षा लेता है वह गर्भ बनता है। जो अपने गर्भ को काष्ठ से अथवा नाखून से कुचर डाले उसका यह गर्भ सर्वथा नष्ट हो जाता है। यह यजमान गर्भ बना हुआ है यह उस वास्तविक गर्भ के अनुरूप मरेगा तो नहीं, परन्तु यदि यह काष्ठ अथवा नाखून से अपने को (गर्भ को) कुचर डालेगा तो यह पामन होने में समर्थ हो जाता है अर्थात् इसके पांव नाम का रोग हो जाता है।

"गर्भो वा भवति यो दीक्षते, यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयते अपास्य नु म्रियेत् (अस्यापम्रियेत्)ततो दीक्षितो पामनो भवितो (भवितुं समर्थो भवतीत्यर्थः)

इतना ही नहीं अपितु दीक्षित से उत्पन्न जो इसके रेत हैं अर्थात् पुत्र हैं वे भी पान रोग को उत्पन्न करने में भी सर्मथ हो जाते हैं। अर्थात् अपने ही यह रोग नहीं होता अपितु बेटे पोतों तक के यह रोग हो जाता है।

"दीक्षितं वाऽनुरेतांसि (रेतांसि पामनानि जनितोः) जनितुं समर्थो भवति"। परन्तु जो गर्भ की योनि है—गर्भ को अपने में प्रतिष्ठित रखने वाली है, वह गर्भ को नष्ट नहीं करती है अपितु वह गर्भ की रक्षा करती है। यह जो कृष्णविषाण है वह इस इन्द्रस्वरूप आत्मा की अपनी योनि है अतएव कृष्णविषाण इस गर्भ को कोई नुकसान नहीं पहुंचाती है। बात समझ में नहीं आती, परन्तु माननी पड़ती है। वैज्ञानिकों ने प्राणपरीक्षा करके ही इस आज्ञा को जारी किया है। अतएव इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती जैसे कि आज भी राजाज्ञा को आंख मींचकर मान लेनी पड़ती है।

अस्तु अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि चूंकि यह कृष्णविषाण यजमान की अपनी योनि है अतएव इसे चाहिए कि यह इसी से खांज-खोरे। कृष्णविषाण से, अन्य से खाज कदापि न खोरे।

"स्वावै योनि रेतो न हिनस्ति, एषा वा एतस्य योनिर्भवति यत् कृष्णविषाणा तथो हैनमेषा न हिनस्ति। तस्माद् दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयते नान्येन कृष्णविषाणायाः" ॥३१॥

इसके अनन्तर यजमान के हाथ में दण्ड लिया जाता है। वज्र से भी प्रहार किया जाता है एवं दण्ड से भी प्रहार किया जाता है अतएव प्रहारसाधनात्वात् दण्ड भी वज्र ही है। यज्ञ में प्रायः दुष्ट राक्षस लोग सदा आक्रमण करते रहते थे। उन आक्रमणों से रक्षा करने के लिए भुवन-स्वर्गवासी देवताओं ने दीक्षा में दण्ड का भी विधान किया। बस उसी मर्यादा के अनुसार में एवं यदि कोई यहां आक्रमण कर बैठे उसके विनाश के लिए यजमान को दण्ड सौंपा जाता है—

अथास्मै दण्डं प्रयच्छति। वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै। ॥३२॥

यह एक गूलर के पेड़ का होता है। जो उदुम्बर है वह अन्न अर्क प्रधान है। बलकरण का नाम है, अर्क है। और और अन्नों की अपेक्षा गूलर के वृक्ष में यह अर्करस अधिक मात्रा में रहता है। उन्नं-

वा ऊर्क उदम्बरः । ऊर्क स्वरूप अन्नादि के संग्रह के लिए ही औदम्बर दण्ड होता है । शत्रु को मारने के लिए, बल बढ़ाने के लिए दण्ड रक्खा जाता है । ऐसी अवस्था में जो वास्तव में अधिक ऊर्क बढ़ाने वाला अन्न है यदि उसी का दण्ड लिया जायगा तो उसके प्राण सम्बन्ध से अधिक बल बढ़ेगा अतः गूलर का ही दण्ड होना चाहिए ।

ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुध्यै (संग्रहाय) तस्मादौदुम्बरो भवति" ।।३३।।

वह दण्ड मस्तकपर्यन्त होना चाहिए । पैर से मस्तक तक ही बल है बाद में तो सफाचट मैदान है अतः जहां तक यजमान का वीर्य होता है वहां तक की नाप का दण्ड होता है । यदि मुंह से अधिक लम्बा होगा तो प्रहार करने में बड़ी कठिनता होगी इसीलिए अंदाज का ही दण्ड होना चाहिए यही तात्पर्य्य है । **"मुखसंमितो भवति, एतावद्वै वीर्यम् स यावदेव वीर्यं तावांस्तद् भवति यन्मुखसंमितः ।।३४।।**

इसके अनन्तर–**"उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाहि, अहं स आस्य यज्ञस्योदृचः"**

यह मन्त्र बोलतां हुआ वह यजमान न उस दण्ड को ऊपर की ओर उठाता है ।

हे वनस्पते ! आप ऊंचे उठिए और जो मेरे ऊपर आक्रमण होते हैं उनसे मुझे बचाइये । यज्ञ-समाप्तिपर्यन्त आप मेरी रक्षा करें–यही तात्पर्य्य है ।

"ऊर्ध्वो मा गोपायास्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाह ।।३५।।

दण्डोच्छ्रय के अनन्तर कितने ही आचार्य लोग अंगुलियों को संकुचित कर लेते हैं एवं वाक् संयमन कर लेते हैं । कारण इसमें वे यही बतलाते हैं कि दण्डोच्छ्रय के अनन्तर न जप करना है न मन्त्र बोलते हैं इस भाव को दिखलाने के लिए अंगुली संयमन और वाक् संयमन कर लेना चाहिए ।

"अत्र हैके अङ्गुलीश्च न्यचन्ति, वाचं च यच्छन्ति अतो ह किञ्च न जपिष्यन् भवतीति वदन्तः" ।

परन्तु याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं ऐसा कभी नहीं करना चाहिए । **"तदु तथा न कुर्यात्"** ।

कारण इसका यही है कि यज्ञकर्म इस समय उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जा रहा है तो ऐसी हालत में हाथों की अंगुलियों का संकुचित करना ऐसा होगा जैसे कि आगे आगे दौड़ने वाले मनुष्य को पकड़ने के वास्ते ठीक उसके प्रतिदिक् की ओर दौड़ना । एक मनुष्य पूर्व की ओर भाग रहा है परन्तु हम उसे पकड़ने के लिए पश्चिम की ओर दोड़ लगा रहे है । यज्ञ आगे बढ़ रहा है अंगुली संकोचकर हम उसके प्रतिदिक् में जाकर पकड़ने का अभिनय कर रहे हैं अतः अंगुली संकोच नहीं करना चाहिए ।

"यथापराञ्चद्यावन्तमनुलिप्सते ते नानुलभेतैवं ह स यज्ञं नानुलभते" ।

इसीलिए दर्भपावनान्तर ही वही अंगुलीबन्धन करना चाहिये एवं वही वाक् संयमन करना चाहिए ।

"तस्मादमुत्रैवाङ्गुली न्यंचेत् अमुत्र वाचं यच्छेत्"

अपि च पाठ नियम का भङ्ग तब होता है जबनि व्यर्थ की सामान्य मनुष्यवाक् बोली जाय। यदि वाक् संयमनान्तर यह दीक्षित मनुष्य ऋचा, यजु अथवा साम तीनों में से जो भी मन्त्र बोलता है वह मन्त्र बल के प्रभाव से ठहर-ठहरकर यज्ञ को आत्मसात् करता है। मन्त्र ही तो यज्ञस्वरूप है अतः वहीं वाक् संयमन करना चाहिए। यहां वाक् संयमन की कोई आवश्यकता नहीं है।

"अथ यद्दीक्षितः ऋचं वा यजु वा साम वाभिव्याहरति अभिस्थिरयन्ति स्थिरमेवैतद्यज्ञमारभते, तस्मादमुत्रैवांगुलिर्न्यंचेत् अमुत्रवाचं यच्छेत्।

अर्थात् यहां वाक् संयमन न करने से एवं मन्त्र बोलने से उलटा यज्ञ आत्मसात होता है अतः यज्ञस्वरूप संपादनार्थ यहां वाक् संयमन की कोई आवश्यकता नहीं हैं ॥३७॥

प्रसंगागत दर्भनानन्तर वाक्संयमन की उपपत्ति बतला देते हैं

"अथ यद्वाचं यच्छति तदुच्यते—इति शेषः"।

वाक् ही यज्ञ है जैसा कि इसके आगे के ब्राह्मण में बतलाने वाले हैं तो जो वाक्संयम करता है वह यज्ञ को ही आत्मसात करता है। ऐसी अवस्था में यह मनुष्य यदि धोखे से कुछ बोल देता है तो यज्ञ आत्मा से विशिष्ट होकर पराङ्मुख हो जाता। यज्ञ आत्मा से दूर निकल जाता है अतः ऐसी अवस्था में विष्णुदेवताक ऋचा अथवा विष्णुदेवता सम्बन्धी यजुर्मन्त्र जप कर लेना चाहिए। क्योंकि यज्ञ ही विष्णु है तो वैष्णवी ऋचा बोलता हुआ यह यजमान उस यज्ञ को वापस आत्मसात कर लेता है। वाक् संयमन करते समय सद् असद् बोलने का यही प्रायश्चित है।

"वाग्वै यज्ञः यज्ञमेवैतदात्मनि धत्ते। अथ यद् वाचं यमो व्याहरति तस्मादुहैष विसृष्टो यज्ञः परा आवर्तते तथा वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्। यज्ञो वै विष्णुः तं यज्ञं पुनरारभते। तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ॥३८॥

इसके बाद ऋत्विजों में से एक ऋत्विज बोलता है :—

"दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः, दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः। इति

यह ब्राह्मण दीक्षणीयेष्टि कृष्णाजिनादि दीक्षा संस्कार से संस्कृत हो गया है। यही इस मन्त्र का अर्थ है।

यद्यपि दीक्षा लेने से यह यजमान देवताओं के निवेदन हो चुका अर्थात् मनुष्य मण्डली से हटकर देवताओं का बन गया, परन्तु इसी को **"द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति"** न्याय से फिर देवताओं को सुनवा देते हैं।

"निवेदितमेवेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयति"।

यह बड़ा ही प्रतापी है जो सोमयाग को प्राप्त हुआ है। हे देवताओं, आज यह आप में से एक हो गया है। अतः इसकी रक्षा करो, यही तात्पर्य है।

"अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापत् अयं युष्माकैकोऽभूत् तं गोपायते त्येवैतदाह"

वह अध्वर्यु इस मन्त्र को तीन दफे बोलता है क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् ही है।

"त्रिष्कृत्व आह, त्रिवृद्धि यज्ञः" ॥३९॥

आवेदन वाक्य में जो ब्राह्मण पद दिया है उसका कारण बतलाते हैं। इस दीक्षा से पूर्व इस यजमान का जान अर्थात् जन्म अविलक्षित ही होता है। जब तक यह यजमान दीक्षा नहीं ले लेता हैं तब तक यह किस वर्ण का है, यह पता लगाना जरा कठिन है।

"अनद्धेव वा अस्यातः पुरा जानं भवति"।

कौन अनद्धा होता है—इसका कारण बतलाते हैं कि वैज्ञानिक महर्षि लोगों ने यह कहा है। राक्षस लोग स्त्रियों की ओर अभिमुख होते है। राक्षस स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं एवं गर्भाधान समय में राक्षस ही उस वीर्य को ग्रहण करते हैं।

राक्षस नाम है असुरों का। असुर कहते हैं आप्यप्राण को। देवता कहते हैं आग्नेय प्राण को। आप्यप्राण संकोचधर्मा है। आग्नेयप्राण विकास धर्मा है। वीर्य की स्थिति संकोच धर्मा–इस आप्यप्राण से ही होती है। यदि अग्नि का अर्थात् देवता का सम्बन्ध हो जाए। उसी समय गर्भ बिना वीर्य विशकलित हो जाए। जब स्त्री रजस्वला होती है तो उसमें अत्रिप्राण रहता है। अत्रिप्राण सूर्य्य विरोधी प्राण है। अतएव यह असुर है। वही इस गर्भाधान में मदद पहुंचाता हैं। जब तक स्त्री ऋतुमती न होगी तब तक गर्भाधान होगा ही नहीं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं।

"इदं ह्याहुः रक्षांसि योषितमनुसंचन्ते तदुतरणेस्यव परित आदधतीति"

चूंकि राक्षस योनि से मनुष्य उत्पन्न होता है अतएव इसके ब्राह्मणत्व में संदेह है।

परन्तु ब्रह्म की चिदात्मस्वरूप यज्ञ से जो दीक्षित हो जाता है आज वह वास्तव में ब्राह्मण बन जाता है।

"अथात्राद्धा जायते यो ब्राह्मणो यो यज्ञाज्जायते"।

इसीलिए चाहे, वैश्य हो, चाहे राजा हो–यदि वह दीक्षित है तो उसके लिए **"अयं ब्राह्मणः"** यही बोलना चाहिए।

क्योंकि जो यज्ञ से पैदा होता है वह ब्रह्मवीर्य से ही उत्पन्न होता है।

"तस्मादपि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् । ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते"

इसीलिए कहा जाता है कि यज्ञकर्त्ता को कभी बुरी दृष्टि से नहीं देखना चाहिए । जो यज्ञकर्त्ता को बुरी नजर से देखता है वह पापी बनता है ।

"तस्मादाहुः न सवनकृतं स्यात् हन्यादे हैव सवनकृता" ।

अर्थात् सवनकृत निमित्त से, अर्थात् सवन करने वाले पुरुष के वध के कारण यह वधिक पापी हो जाता है ॥४०॥

इति कृष्णाजिनदीक्षा ब्राह्मणं समाप्तम् ।

इति तृतीय काण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

अथ

द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

'दीक्षितव्रत ब्राह्मण'

(मूल) वाचं यच्छति। स वाचंयम आस्त ऽआस्तमयात् तद्यद्वाचं यच्छति ॥१॥

यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युर्य्यैषा मियं जितिस्ते होचुः कथन्न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यँ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्द्धयेयुर्व्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥२॥

तद्वा ऽऋषीणां मनुश्रुत मास। ते यज्ञं समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वा ऽएष यज्ञं सम्भरति यो दीक्षते व्वाग् वै यज्ञः ॥३॥

ता मस्तमिते व्वाचं विसृजते। संवत्सरो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्य्यज्ञो ऽहोरात्रे वै संवत्सर एते ह्येनं परिप्लवमाने कुरुतः सोऽहं न दीक्षिष्ट स रात्रिं प्रातप्स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैतदाप्त्वा वाचं विसृजते ॥४॥

तद्धैके। नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयन्त्यत्रानुष्ठ्यास्तमितो भवतीति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् क्व ते स्युर्य्यन्मेघः स्यात्तस्माद्यत्रैवानुष्ठ्यास्तमितं मन्येत तदेव वाचं विसर्ज्जयेत् ॥५॥

अनेनो हैके वाचं विसर्ज्जयन्ति। भूर्भुवः स्वरिति यज्ञः माप्याययामो यज्ञं सन्दध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्न ह स यज्ञ माप्याययति न सन्दधाति य एतेन वाचं विसर्ज्जयति ॥६॥

अनेनैव वाचं विसर्जयेत्। व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इत्येष ह्यस्यात्र यज्ञो भवत्येतद्धविर्यथा पुराग्निहोत्रं तद्यज्ञेनैवंतद्यज्ञं

सम्भृत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञं सन्तनोति सन्ततं ह्येवास्यैतद् व्रतं भवत्या सुत्यायै त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ।।७।।

अथाग्नि मभ्यावृत्य वाचं विसृजते । न ह स यज्ञ मात्याययति न सन्दधाति योऽतोन्येन वाचं विसृजते स प्रथम व्याहरन्त्सत्यं वाचो ऽभिव्याहरति ।।८।।

अग्निर्ब्रह्मेति । अग्निर्ह्येव ब्रह्माग्निर्य्यज्ञ इत्यग्निर्ह्येव यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इति वनस्पतयो हि यज्ञिया न हि मनुष्या यजेरन् यद् वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह वनस्पतिर्यज्ञिय इति ।।९।।

अथास्मै व्रतं श्रपयन्ति । देवान्वा ऽएष उपावर्त्तते यो दीक्षते स देवताना मेको भवति शृतं वै देवानां हविर्न्नाश्रितं तस्माच्छ्रपयन्ति तदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति तथदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति ।।१०।।

यज्ञेन वै देवा । इमां जितिं जिग्युर्य्यैषा मियं जितिस्ते होचुः कथन्न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यं स्यादिति ते यज्ञस्यरसं धोत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्द्धयेयुर्व्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयं-स्तस्माद्यूपो नाम ।।११।।

तद्वा ऽऋषीणाननुश्रुत मास । ते यज्ञं समभरन् यथायं यज्ञः सम्भृत एष वाऽअत्र यज्ञो भवति यो दीक्षित ऽएष ह्येन तनुतऽएष एनं जनयति तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्द्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्यायति यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति न हाप्यायमेद्यदग्नौ जुहुयाज्जुह्वदु हैव मन्येत नाजुह्वत् ।।१२।।

इमे वै प्राणाः । मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवो व्वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वेदेवा एतासु हैवास्यैतद्देवतासु हुतं भवति ।।१३।।

तद्धैके । प्रथम व्रत ऽउभौ व्रीहियवावावपन्त्यु भाभ्यां रसाभ्यां यदेवात्र यज्ञस्य निर्द्धीतं यद्विदुग्धं तत्पुनराप्ययाम इति व्वदन्तो यद्यु व्रतदुधा न दुहीत

यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कुर्यादितदु ह्ये वास्यैता ऽउभौ व्रीहियवावन्वारब्धौ भवत इति तदु तथा न कुर्यान्न ह स यज्ञमाप्याययति न सन्दधाति य उभौ व्रीहियवावावपति तस्मादन्यतरमेवावपेद्धविर्वाऽअस्यैताऽउभौ व्रीहियवौ भवतः स यदेवास्यैतौ हविर्भवतस्तदेवास्यैतावन्वारब्धौ भवतो यद्यु व्रतदुधा न दुहीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कुर्यात् ॥१४॥

तद्धैके । प्रथमे व्रते सर्वौषधं सर्वसुरभ्यावपन्ति यदि दीक्षितमार्त्तिर्विन्देद्ये-नैवातः कामयेत तेन भिषज्येद् यथा व्रतेन भिषज्येदिति तदु तथा न कुर्यान्मा-नुषं ह ते यज्ञे कुर्व्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति यदि दीक्षितमार्त्तिर्विन्देद्येनैवातः कामयेत तेन भिषज्येत् समाप्तिर्ह्येव पुण्या ॥१५॥

अथास्मै व्रतं प्रयच्छति । अतिनीय मानुषं कालं सायन्दुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्ध मपराह्णे व्याकृत्या ऽएव दैवञ्चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति ॥१६॥

अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्नप उपस्पर्शयति । दैवीन्धियं मनामहे सुमृडीका-मभिष्टये वर्च्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो ऽअसद्वश ऽइति मानुषाय वा ऽएष पुराशनायावनेनिक्ते ऽथात्र दैव्यैधिये तस्मादाह दैवीं धियं मनामहे सुमृडीका-मभिष्टये वर्च्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो ऽअसद्वश ऽइति स यावत् कियच्च व्रतं व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेदेते नैवोपस्पृशेत् ॥१७॥

अथ व्रतं व्रतयति । यो देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नो ऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतं हुतमेव मस्यैतद्भवति ॥१८॥

अथ व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशते । श्वात्राः पीता भवत यूयमापो ऽअस्माक मन्तरुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति देवान् वा ऽएष उपावर्त्तते यो दीक्षते स देवताना मेको भवत्यनुत्सिक्तं वै देवानां हविरथैतद् व्रतप्रदो मिथ्या करोति व्रत मुपो-त्सिन् व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह श्वात्राः पीता भवत यूयमापो ऽअस्माक मन्तरु-

दरे सुशेवा । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋता-वृध इति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत् कस्तद्वेद यद् व्रतप्रदो व्रतमुपोत्सिञ्चेत् ।।१९।।

अथ यत्र भेक्ष्यन् भवति । तत् कृष्णविषाणया लोष्टं वा किञ्चिद्वोपह-न्तीयं ते यज्ञिया तनूरितीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिह्या तस्या एतद्दद्गृह्यैव यज्ञियां तनू मथायज्ञियं शरीरमभिमेहत्यपोमुञ्चामि न प्रजा मित्युभयं वा ऽअत एत्यापश्चरेतश्च स एतदप एव मुञ्चति न प्रजा महोमुचः स्वाहाकृता इत्यं हस इव ह्येता मुञ्चन्ति यदुदरे गुष्टितं भवति तस्मादाहा होमुच इति स्वाहाकृताः पृथिवी माविशतेत्याहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवी माविशतेत्येवैतदाह । २० ।

अथ पुनर्ल्लोष्टं न्यस्यति । पृथिव्या सम्भवेतीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिह्या तस्या एतद्दद्गृह्यैव यज्ञियां तनू मथायज्ञियं शरीरम-भ्यक्षित्तामेवास्या मेतत् पुनर्य्यज्ञियां तनूं दधाति तस्मादाह पृथिव्या सम्भ-वेति ।।२१।।

अथाग्नये परिदाय स्वपिति । देवान् वा ऽएष उपावर्त्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः स्वपन्त्यनवरुद्धो वा ऽएतस्यास्वप्नो भवत्य-ग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा ऽएवैतत् परिदाय स्वपित्यग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमही त्यग्ने त्वं जागृहि वयं स्वपस्याम इत्येवैतदाह रक्षाणोऽअप्रयुच्छ-न्निति गोपाय नो ऽप्रमत्त इत्येवैतदाह प्रबुधे नः पुनस्कृधीति यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुध्यामहा ऽएवं नः कुर्वित्येवैतदाह ।।२२।।

अथ यत्र सुप्त्वा पुनर्नाविद्रास्यन् भवति । तद्वाचयति पुनर्म्मनः पुनरायुर्म्म ऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म ऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्निति सर्वे ह वाऽएते स्वपतो ऽपक्रामन्ति प्राण एव न तैरेवैतत् सुप्त्वा पुनः सङ्गच्छते तस्मादाह पुनर्मनः पुनरायुर्म ऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म ऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् । वैश्वानरो ऽअदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्या-दिति तद्यदेवात्र स्वप्नेन वा येन वा मिथ्याकर्म्म तस्मान्नः सर्व्वस्मादग्निर्गोपा

यत्वित्येवैतदाह तस्मादाह वैश्वानरों अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरिताव-द्यादिति ॥२३॥

अथ यद्दीक्षितः । अव्रत्यं वा व्याहरति क्रुध्यति वा तन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमीणात्यक्रोधो ह्ये व दीक्षितस्याग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तमेवैतदुपधावति त्व-मग्ने व्रतपा असि देव ऽआ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीढ्यऽइति तस्यो हैषा प्राय-श्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह त्व मग्ने व्रतपा असि देव ऽआमर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्य इति ॥२४॥

अथ यद्दीक्षितायाभिहरन्ति । तस्मिन् वाचयति रास्वेयत्सोमा भूयो भरेति सोमो ह ऽवा अस्माऽएतद्युते यद्दीक्षितयाभिहरन्ति स यदाह रास्वे यत्सोमेति रास्व न इयत्सोमेत्येवैतदाहा भूयो भरेत्या नो भूयो हरेत्येवैतदाह देवो नः सविता वसोर्द्दातावस्वदादिति तथो हास्मा ऽएतत्सवितृप्रसूतमेव दानाय भवति ॥२५॥

पुरास्तमयादाह । दीक्षित वाचं यच्छेति ता मस्तमिते वाचं विसृजते पुरोदयादाह दीक्षित वाचं यच्छेति ता मुदिते वाचं विसृजते सन्तत्या ऽएवाहरे-वैतद्राव्या सन्तनोत्यन्हा रात्रिम् ॥२६॥

नैन मन्यत्र चरन्त मभ्यस्तमियात् । न स्वपन्त मभ्युदियात्स यदेन मन्यत्र चरन्त मभ्यस्तमियाद्रात्रेरेनं तदन्तरियाद्यत् स्वपन्त मभ्युदियादन्ह एनं तदन्त-रियान्नात्र प्रायश्चित्तिरस्ति प्रतिगुप्य मेवैतस्मान्न पुरावभृथादपो ऽभ्यवेयान्नैन मभिवर्षेदनवक्लृप्तं ह तद्यत् पुरावभृथादपोऽभ्यवेयाद्यद्वैन भभिवर्षेदथ परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृतां तद्यत्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताम् ॥२७॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषा मियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनाभ्यारोह्यं स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्द्धयेयु-र्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥२८॥

तद्वा ऽऋषीणामनुश्रूतमास । ते यज्ञं समभरन यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वा ऽएषयज्ञं सम्भरति यो दीक्षते वाग् वै यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्द्धीतं यद्वि-

दुग्धं तदेवैतत् पुनराप्याययति यत् परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृतां न हाप्याययेद्यत् प्रसृतां मानुषीं वाचं वदेत्तस्मात् परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताम् ॥२९॥

स वै धीक्षते । वाचे हि धीक्षते यज्ञाय हि धीक्षते यज्ञो हि वाग् धीक्षितो ह वै नामैतद्यद्दीक्षित इति ॥३०॥

[अनुवाद] पूर्व ब्राह्मण में कृष्णमृगचर्म पर बैठकर यजमान मेखला धारण करता है तथा जरायुस्थानापन्न वस्त्र को शरीर पर धारण कर वस्त्र के ग्रन्थि भाग में कृष्णमृग का सींग बांध लेता है, इस विषय का निरूपण किया गया है । अब इस ब्राह्मण में यजमान को दीक्षा ग्रहण करने पर जिन व्रतों का पालन करना पड़ता है उन व्रतों का निरूपण किया जा रहा है क्योंकि दीक्षाग्रहणानन्तर दीक्षित यजमान साधारण मनुष्य नहीं रहता अपितु वह देव-भावयुक्त हो जाता है अतः साधारण मनुष्य की तरह हर स्थान में गमन या भ्रमण तथा चाहे जिस पुरुष के साथ संभाषण उसके लिए निषिद्ध हैं ।

यजमान दीक्षाग्रहणानन्तर वाक् संयमन करता है । अर्थात् मौन धारण करता है । वह सूर्य्यास्त काल तक मौन ही रहता है ॥१॥

वाक् संयमन का रहस्य बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा इस विजय को प्राप्त किया । जो उनकी विजय आज देखी सुनी जा रही है यज्ञ द्वारा असुरों का विनाश तथा अखिल ब्रह्माण्ड में प्रभुत्वरूप विजय प्राप्त करने के बाद देवताओं ने विचार किया कि यज्ञ रहस्य को मनुष्य न जान सकें इसलिए जैसे भ्रमर पुष्प के रस को चूस लेता है उसी प्रकार देवता यज्ञ के सार भाग को निचोड़ कर यूप के द्वारा उसे छुपाकर अन्तर्हित हो गए । देवताओं ने यूप के द्वारा यज्ञ को छुपाया इसलिए "अनेन यज्ञमयोपयत्" इस व्युत्पत्ति से उसका नाम यूप हो गया ।

इस आख्यान का सम्बन्ध अधिदैवत तथा इतिहास दोनों से है । अधिदैवत अर्थात् प्रकृति में सौरप्रकाशी प्राण देवता कहलाते हैं तथा पारमेष्ठ्य व आप्यप्राण असुर हैं । इनमें परस्पर स्पर्धा चलती रहती है । देवप्राण समष्टि सूर्य पर प्रतिक्षण उसके चारों तरफ विद्यमान आप्यप्राण असुरों का आक्रमण होता रहता है । सौर आग्नेय प्राणों की सत्ता सूर्य में है तथा आप्य असुर प्राणों की सत्ता परमेष्ठी में है । सौर देवप्राण ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनी प्राण, संख्या में कुल ३३ हैं तथा आप्य पारमेष्ठ्य प्राण संख्या में ९९ हैं । जैसा कि "जघान नवतिर्नव" इस श्रुति से सिद्ध है । परमेष्ठी लोक सूर्य से ऊपर और सूर्यलोक उससे नीचे है । अतः पारमेष्ठ्य आप्य प्राणात्मक असुर ज्येष्ठ है और सौर प्राणात्मक देव कनिष्ठ है । अतः ज्येष्ठ तथा संख्या में अधिक होने से स्पर्धा में विजय असुरों की

होनी चाहिए। किन्तु यज्ञ द्वारा देवप्राण असुरों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। अग्नि में सोम की आहुति का नाम ही यज्ञ है। सोम भी यद्यपि पारमेष्ठ्य तत्त्व ही है क्योंकि पारमेष्ठ्य भृगु आप-वायु-सोम भेद से ३ प्रकार का है। उसमें अमृतत्त्व का आग्नेय देवप्राण के साथ विरोध है। क्योंकि जल अग्नि को शान्त कर देता है। किन्तु अप् की विरलावस्थारूप सोम, अग्नि का घृतादि की तरह सहयोगी है। घृत भी सोम ही है। घृत की आहुति से जैसे अग्नि प्रदीप्त होता है वैसे ही सोम की आहुति से अग्नि प्रदीप्त होता है। अधिदैवत में अग्निरूप सूर्य में पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम की आहुति से सूर्य प्रदीप्त हो जाता है और वह अपनी रश्मिरूप वज्र से आप्य वारुणरूप आसुरप्राणों के होने वाले आक्रमण को नष्ट कर उन पर विजय प्राप्त कर लेता है किन्तु यह विजय सौर देवताओं को आग्नेय सौर प्राणों की आहुति रूप यज्ञ से ही प्राप्त होती है। आधिदैविक यज्ञ की तरह इस आख्यान का ऐतिहासिक भुवनस्वर्गवासी देवताओं तथा उनसे स्पर्धा करने वाले असुरों में भी समन्वय है। भुवन-स्वर्गवासी मनुष्य देवताओं ने असुरों पर यज्ञ के द्वारा ही विजय प्राप्त की थी, इसी अभिप्राय से कहा है "यज्ञेन वै देवा जितिं जिग्युर्येषामियं जितिः। किन्तु इस विजय हेतु मूल यज्ञ विद्या को मनुष्यों से छिपाया और उसका साधन था यूप। प्राकृतिक यज्ञ में सूर्य ही यूप है। सूर्य की प्रखर किरणों के चाकचिक्य से उसमें होने वाली पारमेष्ठ्य सोमाहुति को कोई देख नहीं सकता। उसी प्रकार ऐतिहासिक मनुष्य देवताओं ने विजय साधनभूत यज्ञ को सूर्यप्रतिनिधि रूप यूप से छिपाया। इसीलिए लिखा है "अथ यज्ञं यूपेन योपयित्वा (देवाः) तिरोऽभवन्" इति।

प्रकृति के इस यज्ञ विज्ञान को जिन्होंने अनुसन्धानरूप तप के द्वारा मालूम किया वे वैज्ञानिक महर्षि भुवनस्वर्गवासी देवता हैं। उन्होंने यहां प्राकृतिक यज्ञविज्ञान को मालूम कर यज्ञ का अनुष्ठान किया तथा उसके द्वारा दिव्य प्राणों का आधान कर बलशाली बन गये और उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त कर ली। किन्तु भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने भी इस यज्ञ को मनुष्यों से छिपाया। किन्तु ऋषिलोग भुवनस्वर्ग में जाया करते थे। वे भुवन-स्वर्गवासी देवताओं के यज्ञ को देखते थे। उन्होंने यज्ञविज्ञान को सुन रक्खा था। उन्हीं ऋषियों से भारतवासी मनुष्यों को यह यज्ञविज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने जिस प्रकार भुवन-स्वर्गवासी देवता यज्ञ का संभरण करते थे उसी प्रकार यज्ञ का संभरण किया। उसे आत्म-सात् किया। आज जो यजमान यज्ञ में दीक्षा ग्रहण कर रहा है वह भारतवर्षीय महर्षियों द्वारा संभृत (आत्मसात्कृत) यज्ञ की तरह यज्ञ का संभरण कर रहा है। वाक् ही यज्ञ का स्वरूप है। क्योंकि पृथिवी के केन्द्र से निकल देवरथ रूप सूर्य के ऊपर रथन्तर साम तक जाने वाला अग्नि ही यज्ञ है। २२वें अहर्गण के ऊपर सोम भरा हुआ है। उस सोम की इस अग्नि में आहुति होती रहती है, और अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न करती है। इस रीति से अग्नि व सोम दोनों के यज्ञ स्वरूप होने से केवल वाग्रूप अग्नि को यज्ञ बतलाना उचित प्रतीत नहीं होता तथापि सोम आद्य है अग्नि अत्ता है अतः

आदद्य की अत्ता में आहुति होने पर अत्ता अग्नि ही शेष रहता है। अर्थात् आद्य सोम की अत्ता अग्नि में आहुति होने पर अग्नि ही अवशिष्ट रहती है। अतः अग्नि ही यज्ञ है। इस प्रकार अग्नि के यज्ञ होने पर भी वाक् को यज्ञ क्यों कहा गया? इसका समाधान यही है कि "तस्य वा एतस्याग्ने वागेवोपनिषद्" इस श्रुति के अनुसार वाक् अग्निरूप ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य कर "वाग् वै यज्ञः" के द्वारा वाक् को यज्ञ कहा गया है ॥३॥

दीक्षित यजमान ने प्रातःकाल जिस वाक् का संयमन किया था उसका सूर्यास्त होने पर विसर्जन कर दिया जाता है। सूर्यास्त होने पर वाक् संयमन का अर्थात् मौनव्रत का विसर्जन क्यों कर देना चाहिए? इसकी उपपत्ति बतलायी जा रही है। पहले बतला दिया गया है कि पृथिवी के केन्द्र से अमृताग्नि (प्राणाग्नि) निकल कर २१वें अहर्गण, जहां सूर्य स्थित है, से भी ऊपर जाती है। वहां तक पृथिवी का प्राणाग्निमण्डल रहता है। इसी अग्नि मण्डल को संवत्सर कहते हैं। प्रत्येक मण्डल अर्थात् वृत्त ३६० अंश का होता है। अग्नि-मण्डल के इन ३६० अंशों को रेखा द्वारा चिह्नित कर दिया जाता है। ये ही अग्निमण्डल की ३६० रात्रियां हैं, तथा उन रेखाओं के मध्य के भाग भी ३६० ही होते हैं। ये ही उस अग्निमण्डल के ३६० दिन हैं। इस प्रकार अग्निमण्डलात्मक संवत्सर अहोरात्रों की समष्टि हो जाती है। इसी अग्निमण्डलात्मक संवत्सर से सकल पदार्थ, जड़ व चेतन उत्पन्न होते हैं। अतः इस अग्निमण्डल संवत्सर को प्रजापति कहा जाता है। २१वें अहर्गण अर्थात् सूर्य से भी ऊपर जाने वाले इसी अग्नि में उसके ऊपर रहने वाले पारमेष्ठ्य सोम की आहुति रहती है। अग्नि में सोमाहुति का नाम ही यज्ञ है। अतः इस संवत्सर प्रजापति को यज्ञ कहा जाता है और यह अग्निमंडलात्मक संवत्सर उपर्युक्त रीति से ३६० दिन व ३६० रात्रियों की समष्टि है। इसीलिए अहोरात्र भी कहा जाता है। इसीलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है "संवत्सरो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः, अहोरात्रे वै संवत्सरः" ॥इति॥

एक अहोरात्र से संवत्सर प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होता अतः ३६० बार आवर्तन अहोरात्रों से अग्निमण्डलात्मक संवत्सर का स्वरूप बनता है, इसलिए "एते ह्येनं परिपक्वमाने कुरुतः" यह कहा है। अर्थात् पुनः पुनः आवर्तमान अहोरात्र ही संवत्सर के स्वरूप बनाते हैं। अतः अन्ततोगत्वा अहोरात्र ही संवत्सर है यह मानना पड़ता है।

यजमान ने चूंकि इस अहोरात्र के अहर्भाग अर्थात् दिन के प्रारम्भ में ही दीक्षा ग्रहण की है। क्योंकि अहोरात्र रूप संवत्सर अहः भाग सूर्यप्राणरूप है तथा रात्रि पार्थिव प्राणरूप है। यजमान को यज्ञ द्वारा पृथिवीलोक से सूर्यलोक रूप स्वर्ग को प्राप्त करना है अतः वह सूर्य प्राण को ही दीक्षा द्वारा आत्मसात् करता है। सूर्यास्त होने पर रात्रि आ गई है। अतः सूर्यमण्डल को प्राप्त करने के लिए वाक् संयम रूप जो व्रत लिया था उसको सूर्यास्त तक प्राप्त कर लिया। अतः वह अब वाक् संयमन व्रत का परित्याग कर देता है ॥४॥

कितने ही आचार्य नक्षत्र को देखकर वाक् का विसर्जन करते हैं। उनकी मान्यता है कि आकाश में नक्षत्रों के दिखाई देने पर वास्तविक रूप में सूर्यास्त हो जाता है। अतः नक्षत्र देखने पर ही सूर्यास्त वेला में होने वाला वाग्विसर्जन करना चाहिए। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि कभी आकाश मेघाच्छन्न हो जाय तो सूर्यास्त होने पर भी नक्षत्र नहीं दिखाई देंगे। अतः जब यह निश्चय हो जाय कि वस्तुतः सूर्यास्त हो गया तो वाग्विसर्जन कर देना चाहिए। अर्थात् नक्षत्र दर्शन को लक्षणया सूर्यास्तकाल का बोधक मानना चाहिए, न कि शब्दार्थ ग्रहण मात्र नक्षत्र दर्शन का बोधक मानना चाहिए ॥५॥

कितने ही आचार्यों का कथन है कि "भूर्भुवः स्वः" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए वाग् विसर्जन करना चाहिए। क्योंकि दीक्षित यजमान ने प्रातःकाल वाक् संयमन कर यज्ञ को आत्मसात् किया है। अब जब वह वाक् का विसर्जन करता है उस आत्मसात् कृत यज्ञ को परितुष्ट करने वाली व उसका संधान करने वाली वाणी का उसे उच्चारण करना चाहिए, और यज्ञ को परिपुष्ट व उसका संधान करने वाली वाक् "भूर्भुवः स्वः" ही है। ये भूः, भुवः, स्वः क्रमशः पार्थिव, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्याग्निरूप हैं, और अग्नि में सोमाहुति को ही यज्ञ कहते हैं। अतः ये तीनों यज्ञस्वरूप हैं। इसलिए इनके उच्चारण करने से यज्ञ की परिपुष्टि व संधान होता है। अतः इनका उच्चारण करते हुए ही वाग् विसर्जन करना चाहिए। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि "भू र्भुवः स्वः" रूप वाणी के उच्चारण करने से न यज्ञ की परिपुष्टि होती है और न यज्ञ का संधान होता है। अतः वाग् विसर्जन करते समय "भू र्भुवः स्व" के उच्चारण की आवश्यकता नहीं हैं। ॥६॥

इसलिए "व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्नि र्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः" इति।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वाग् विसर्जन करना चाहिए।

"अन्नं वै व्रतम्" इस श्रुति के अनुसार व्रत अन्न का नाम है और दीक्षित यजमान का अन्न साधारण अन्न न होकर दुग्धरूप विशेष अन्न है। क्योंकि दीक्षित दूध ही ग्रहण करता है। अतः दुग्ध ही दीक्षित यजमान का व्रत है। यह दुग्धरूप अन्न ही दीक्षित यजमान का यज्ञ है। इसलिए कहा है "एष हि अस्यान्न यज्ञो भवति" इति।

यही इस यजमान के आत्माग्नि का हवि है। दीक्षा से पूर्व जैसे अग्निहोत्र यज्ञ होता है। आज इस समय दुग्धरूप अन्न ही अग्निहोत्र यज्ञ है, क्योंकि जैसे अग्निहोत्र यज्ञ में दुग्ध की आहुति अग्नि में दी जाती है, उसी प्रकार आज यजमान की आत्माग्नि में इस दुग्धरूप अन्न की आहुति दी जाती है। अतः यह आहुति साक्षात् अग्निहोत्र यज्ञ है। यजमान ने आज दीक्षा ग्रहण की है। वाक् संयमन द्वारा यजमान का नया यज्ञात्मा उत्पन्न हुआ है। नवजात शिशु को भूख लगती है। अतः इस समय भूख शान्त करने वाला दुग्ध देना

ही उसका वास्तविक यज्ञ है। इस प्रकार अन्न के द्वारा यजमान के आत्मयज्ञ में दुग्धरूप अन्न को प्रतिष्ठित करता है। मन्त्र में "व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत" का तात्पर्य्य दुग्धरूप अन्न को तैयार करो। मन्त्र बोलकर वाग् यज्ञ से दुग्ध को तैयार करता है, और उस दूध को पीने से यजमान का आत्मा प्रतिष्ठित हो जाता है। यही यज्ञ में यज्ञ को प्रतिष्ठित करना है।

यज्ञ में यज्ञ को प्रतिष्ठित करता हुआ यजमान दुग्धरूप यज्ञ से यजमानात्मा रूप यज्ञ का वितान करता है। भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि दीक्षा के अनन्तर सुत्या कर्म-पर्य्यन्त दुग्धपान ही करना चाहिए। "व्रतं कृणुत" इत्यादि मन्त्र का तीन बार उच्चारण करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् ही होता है। अर्थात् यज्ञ के उक्थ, अर्क, अशिति भेद से तीन अवयव होते हैं ॥७॥

यजमान आहवनीय अग्नि के अभिमुख होकर वाग् विसर्जन करता है। "व्रतं कृणुत" इत्यादि मन्त्र से उच्चारण के अतिरिक्त मन्त्र से वाग् विसर्जन करता हुआ यजमान न यज्ञ को आप्यायित करता है और न यज्ञ का संधान ही करता है। वाग् विसर्जन के समय "व्रतं कृणुत" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता हुआ दीक्षित यजमान सत्यावाक् का ही उच्चारण करता है।

"व्रतं कृणुत" इत्यादि मन्त्र के "व्रतं कृणुत, व्रतं कृणुत" इस अंश का अर्थ षष्ठ-कण्डिका में बतलाया जा चुका है। अब इस कण्डिका के मन्त्रशेष की व्याख्या की जा रही है। वह अग्नि ही ब्रह्म है। क्योंकि अव्यय, अक्षर, क्षरभेद से त्रिविध ब्रह्म में क्षरब्रह्म अग्नि ही है। जो कुछ भूतभाग दिखाई दे रहा है उस भूतभाग का कारण यज्ञक्षर रूप यह क्षरब्रह्म ही है, और यह अग्नि ही है इसलिए निरुक्तकार यास्क ने कहा है—"यत्किञ्चिद्दार्ष्टि-विसंग कर्म अग्निरेव तत्कर्म इति। यह अग्निरूप अक्षरब्रह्म ही भूतरूप में परिणत होता हैं। इसलिए–अग्निहोत्र ब्रह्म–अग्निहोत्रयज्ञ – यह कहा है। अर्थात् अग्निरूप अक्षरब्रह्म सृष्टि का मूल कारण है। और वही यज्ञरूप मूल ब्रह्म में परिणत होता है। सभी वनस्प-तियां यज्ञिय अर्थात् यज्ञार्थ हैं, यज्ञ साधन हैं। वनस्पतियों के बिना यज्ञ संभव नहीं है। इसलिए कहा है कि यदि वनस्पतियाँ (काष्ठसमिधादि) नहीं होते तो मनुष्य यज्ञ किससे करते ॥८॥

वाक् संयमनविसर्जनान्तर ऋत्विक् दुग्धरूप व्रत को पकाते हैं। गर्म करते हैं। जो यजमान दीक्षा ग्रहण कर लेता है वह देवताओं में से एक हो जाता है। अर्थात् उसकी गणना देवताओं में हो जाती है। देवताओं का अन्न शृत (परिपक्व) होता है। अर्थात् पकाकर उसकी हवि दी जाती है। अपरिपक्व हवि देवताओं के लिए नहीं होती। इसलिए दूध को गर्म करते हैं। क्योंकि आग्नेय सौरप्राण ही देवता हैं। उन्हें परिपक्व हवि ही प्रिय है। वस्तु में ठण्डापन जल से होता है, और जल अर्थात् आप्यप्राण असुर होता है। और

असुर प्राण का देवताओं से विरोध है। दूध में भी जलीय भाग होता है। अतः वह दूध आसुर प्राण से आक्रान्त है। उस को दूर करने के लिए दूध को गर्म करना आवश्यक है। इस परिपक्व दूध की ही देवताओं को आहवनीय अग्नि में आहुति दी जाती है। इस नियम के अनुसार आहवनीय अग्नि में आहुति नहीं देनी चाहिए। अपितु दीक्षित यजमान की आत्माग्नि में आहुति देनी चाहिए। अर्थात् उस गर्म दूध को यजमान पीवे – इसी अभिप्राय से मूल में कहा है – "एष एव (दीक्षितो यजमान एव) व्रतयति नाग्नौ जुहोतीति ।।१०।।

कितने ही वैदिक आख्यानों की आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक – तीन धारायें होती हैं "यज्ञेन देवा इमां जितिं जिग्युः" इसके द्वारा प्रतिपादित आख्यान की भी तीन धाराएं हैं इनमें आख्यान के आधिदैविक व आधिभौतिक (ऐतिहासिक) पक्ष का निरूपण हो चुका है। अब ११ वीं कण्डिका से आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिपादन किया जा रहा है। संसार के जड़ व चेतन सभी पदार्थ "जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो ऐताभ्यो एव देवताभ्यः" इस श्रुति के अनुसार आधिदैविक अग्नि वायु आदि देवताओं से उत्पन्न होते हैं। हमारा शरीर भी अग्नि वायु आदि देवताओं से ही निर्मित है। जिस प्रकार अधिदैवत में, सूर्यरूपी अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती है उसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक अग्नि में भी अन्नरूप सोम की आहुति होती है। अग्नि अत्ता है तथा अन्न आद्य है। आद्य की अत्ता में आहुति होने पर अत्ता ही शेष रहता है। अतः आध्यात्मिक अर्थात् शारीरिक अग्नि में, जो कि अग्नि प्रतिक्षण गर्मी के रूप में हमारे शरीर से निकला करती है वह आद्य अन्न की आहुति होती है। अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है। यह यज्ञ प्रतिक्षरण चलता रहता है। प्राणरूप अमृताग्नि प्रतिक्षरण शरीर से निकलता रहता है, और उसमें अन्नरूप सोम की आहुति होती रहती है। शरीर में गर्मी इसी प्राणाग्नि की ही है। इसी यज्ञ से शरीर व जीवन की स्थिति है। यदि प्राणरूप अमृताग्नि में अन्न की आहुति न दी जाय तो शरीर में गर्मी कम हो जायगी, और शरीर में शिथिलता आ जायगी। प्राणाग्नि में अन्न की आहुति हो जाने पर अन्न अत्तारूप ही बन जाता है। अतः "अग्नि वैं यज्ञः" इस श्रुति के द्वारा अग्नि को ही यज्ञ कहा गया है। आध्यात्मिक वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि देवताओं की स्थिति इसी पर निर्भर है। इसी विज्ञान को लक्ष्य करके कहा है कि " यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्यु र्येषामियं जितिः" इति।

यज्ञ का सारभाग अन्नाहुति है। क्योंकि अन्नाहुति के बिना यह यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता। अन्न की आहुति होने पर वह रसासृगादि पार्थिव धातुओं में परिणत होता हुआ अन्त में ऋक् रस में परिणत हो जाता है। जिसे स्फूर्ति व शक्ति कहा जाता है, और बाद में प्राण ही बन जाता है। किन्तु यह प्राण चलने फिरने आदि क्रियाओं के द्वारा खर्च हो जाता है। क्योंकि प्राण के द्वारा ही बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यापार होते हैं। प्राण के खर्च होने पर शरीर से उसके विस्रस्त हो जाने पर उसकी पूर्ति के लिए पुनः अन्न की आहुति

देनी पड़ती है। इस प्रकार अन्नाहुति, अर्क व प्राण इनका क्रम चलता रहता है। यही आध्यात्मिक यज्ञ है। इसीलिए अलोक प्राणानामन्योन्य परिग्रहो यज्ञः–यह ऐतरेय श्रुति अन्न, ऊर्क्, मन, प्राण के परस्पर परिग्रह को यज्ञ बतला रही है।

आधिदैवत में सारे देवता सूर्य्य में रहते हैं इसलिए सूर्य्य के उदित होने पर "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" इत्यादि ऋक् श्रुति यह देव समूहरूप सूर्य्य उदित हुआ यह बतला रही है। आधिदैवत की तरह अध्यात्म में भी वाक्, प्राण आदि इन्द्रियों की स्थिति शिरोभाग में ही है। शिरोगुहा में ही इनकी स्थिति है। जिस प्रकार अधिदैवत में सूर्य्यरूपी अग्नि में पारमेष्ठ्य सोमरूप अन्न की आहुति होती है। इस आहुति से ही आध्यात्मिक यज्ञ निष्पन्न होता है तथा आध्यात्मिक देवताओं की स्थितिरूप विजय होती है। किन्तु इस यज्ञ के जानकार वैज्ञानिक मनुष्यों को छोड़कर साधारण मनुष्य इस आध्यात्मिक यज्ञ प्रक्रिया को नहीं जानते कि, किस प्रकार यह अन्न, उर्क् रस में तथा ऊर्क् रस प्राणरूप में परिणत हो जाता है। इसीलिए इस आध्यात्मिक यज्ञ को साधारण मनुष्यों के द्वारा अनभ्यारोह्य (अज्ञेय) बतलाया है।

आध्यात्मिक यज्ञ का सारभाग अन्नाहुति है। उसी से आध्यात्मिक यज्ञ द्वारा प्राण की निष्पत्ति होती है। आध्यात्म में मुख ही यूप है क्योंकि जैसे आधिदैवत में सूर्य्य में सोम की आहुति होती है और सूर्य्य ही यूप है। इसी प्रकार अध्यात्म में भी मुख में ही अन्न की आहुति होती है अतः मुख ही यूप है। जिस प्रकार मधुमक्खियां मधु के सार भाग को पी लेती है उसी प्रकार आध्यात्मिक देवताओं ने आध्यात्मिक यज्ञ के सारभूत अन्न को ग्रहण कर मुखरूप यूप के द्वारा यज्ञ को छुपा दिया तथा तिरोहित हो गये जिससे साधारण अवैज्ञानिक मनुष्यों को उसका ज्ञान न हो। क्योंकि यूप के द्वारा उनने यज्ञ को विलुप्त किया था। अतः "यदनेन यज्ञमयोपयन् अत्योपयन् देवाः" इस व्युत्पत्ति से इसे यूप कहा गया है ॥११॥

किन्तु अन्न किस प्रकार प्राण बन जाता है यह रहस्य तपःपूत अन्तःकरण वाले आविर्भूत प्रकाश वैज्ञानिक महर्षियों को प्रकृति यज्ञ के आधार पर मालूम था। उन्होंने इस आध्यात्मिक यज्ञ का संभरण किया, जिस प्रकार वह अध्यात्म में संभृत हो रहा है। उन्होंने दुग्ध रूप अन्न की आहुति देकर अर्थात् यजमान को दूध पिलाकर उसकी यज्ञात्मा को आध्यायित किया। इससे यज्ञात्मा के विस्रस्त भाग की पूर्ति हो गई। यहां यह दीक्षाग्रहण करने वाला यजमान ही यज्ञ है क्योंकि इस की आत्मा में ही दुग्धरूप अन्न की आहुति होती है, और अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है। यह यजमान ही इस आत्म यज्ञ का वितान करता है, एवं स्वात्माग्नि दुग्धरूप अन्न आहुति दिव्यात्मा को उत्पन्न करता है। दुग्धरूप अन्न की आहुति देकर वह आत्मा के विस्रस्त बाहर निकल कर गए हुए भाग को आप्ययित कर लेता है।

इस दुग्ध रूप अन्न की आहुति बाहर की आहवनीयाग्नि में देकर स्वात्मा में आहुति देना है। यदि बाहर की आहवनीयाग्नि में आहुति देगा तो अपने विस्रस्त भाग की आप्यायन (पूर्ति वृद्धि) नहीं कर सकेगा। इसी अभिप्राय से मूल में कहा है। "एष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति, न ह्याप्याययेद् यदग्नौ जुहुयात् – इति।

यजमान स्वयं दुग्धपान करता हुआ, यह मान ले कि यह आहुति आहवनीयाग्नि में दी जा रही है। अन्यथा अपने लिए दूध पीने पर उसमें मानुषभाव आ जायगा अतः वह दुग्धरूप आहुति यज्ञात्मा के लिए दी जा रही है, ऐसी भावना करे ।।१२।।

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बाहर आहवनीयाग्नि में दी हुई आहुति तो देवताओं में पहुंच जाती है, क्योंकि यज्ञ देवता स्वरूप है और वे देवता बाहर प्रकृति में है किन्तु यजमानात्मा रूप यज्ञ में दी हुई आहुति देवताओं में कैसे पहुंचेगी। इसी का समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे है कि शरीर में भी अग्नि, वायु आदि सभी देवता है। अध्यात्म में जो वाक्, प्राण, चक्षु आदि इन्द्रियां है वे ही देवता हैं क्योंकि अग्नि आदि बाह्य प्राकृतिक देवता ही अध्यात्म में प्रविष्ट होकर वागादि इन्द्रियों का रूप धारण करती है जैसा कि "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रे भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, चन्द्रमा मनो-भूत्वा हृदयं प्राविशत्। यह ऐतरेय श्रुति बतला रही है। इसलिए कहा – इमे वै प्राणाः" अर्थात् सभी इन्द्रियों के लय के समय प्राण में प्रवेश करने से प्राणपदवाच्य वागादि इन्द्रियों देवता ही हैं। हमारे शरीर में जो वाक्, प्राण, चक्षु आदि इन्द्रिय देवता हैं वे श्वोवसीयस मन, सर्वेन्द्रियमन व इन्द्रियमन भेद से त्रिविध मन में से सर्वेन्द्रिय मन से ही उत्पन्न होती हैं। वे सब इन्द्रियां सर्वेन्द्रिय मन से बद्ध हैं। वे सर्वेन्द्रिय मन की प्रेरणा के बिना कुछ भी काम नहीं कर सकती। इसीलिए "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति। यह केनोपनिषत् श्रुति 'क' शब्दवाच्य अनिरुक्त सर्वेन्द्रिय मन ही इन्द्रियों को स्वस्वविषय में प्रवृत्त करने वाला है – यह बतला रही है। इसी अभिप्राय से मूल में कहा है–इमे वै प्राणा मनोजाता मनो-युजः इति। वाक् प्राण चक्षुः श्रोत्रमनांषि (इन्द्रियाणि) में जो सुख दुःख–का ज्ञानरूप विषय नियत है और वागादि तथा इन्द्रिय मन का भी प्रेरक जो मन है, वह सर्वेन्द्रिय या अनिन्द्रिय मन है। उसका कोई नियत विषय नहीं है।

जिस इन्द्रिय से वह सम्बद्ध होता है उसी विषय का वह ज्ञान करा देता है। अतः अनियत–विषयक होने से ही उसे सर्वेन्द्रिय या अनिन्द्रिय मन कहा जाता है। इसी को प्रज्ञानात्मा भी कहा जाता है जैसा कि निम्नलिखित ऐतरेयोपनिषच्छ्रुति में बतलाया गया

है ।"कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतमः स आत्मा येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति । यदेतत् हृदयं मनश्चैतत् ।

सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति यत्किं प्राणि जंगमं पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्, प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐ० उ० इ० अ०-५ खण्ड)

क्योंकि ये चक्षुरादि प्राण मनोजव (मनः प्रेरित) हैं अतएव दक्षक्रतुस्वरूप हैं । मैं इस काम को करूं-इत्याकारक अध्यवसाय-मानस विकल्प क्रतु कहलाता है तथा तदन्तर होने वाला प्राणव्यापार, इन्द्रियव्यापार व शरीर चेष्टा हो जाती है । इसे दीक्षा कहा जाता है ।

प्राण शब्द वाच्य वागादि इन्द्रियां देवतारूप हैं इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं । वागेन्द्रिय अग्नि देवता है । नासिका में जो श्वास प्रश्वास आते हैं वे वायु देवता हैं इन्हें ही यहां प्राणोदान शब्द से तथा मित्रावरुण शब्द से कहा है । भीतर जाने वाला श्वास प्राण व मित्र कहलाता है तथा शरीर से बाहर जाने वाला प्रश्वास वायु ही उदान व वरुण कहलाता है । मित्रा जो हमारे शरीर में आनेवाला, हमसे स्नेह करने वाला है वह प्रत्येक पदार्थ प्राण व मित्र कहलाता है किन्तु हमारे शरीर का परित्याग कर हमसे अलग होने हैं उसे उदान व वरुण कहते हैं । अतः आने वाला श्वास प्राण तथा बाहर जाने वाला प्रश्वास उदान कहलाता है ।

प्राण व उदान ही क्रमशः मित्र व वरुण कहलाते हैं । इसी अभिप्राय से मूल में कहा है-"प्राणोदानौ मित्रावरुणौ" इति ।

आधिदैविक आदित्य देवता ही हमारे शरीर में आकर चक्षु बनता है । आधिदैविक विश्वेदेव देवता ही हमारे शरीर में आकर श्रोत्र बनता है । अतः यजमानात्मा में प्रदत्त दुग्ध की आहुति शरीर में विद्यमान अग्नि, वायु आदि देवताओं में ही आहुति होती है । उन्हीं को प्राप्त होती है ।।१३।।

कतिपय आचार्यों का कथन हैकि प्रथम दिन दुग्धरूप अन्न में चावल व यव का रस भी डालना चाहिए । इससे उनका रस भी व्रत के अन्तर्गत आ जाता है तथा उन दोनों के रस से यज्ञ का जो सारभाग देवताओं ने पी लिया है और वह यज्ञ गलसार हो गया है, उसका पुनः आप्यायन (परिपोष) हो जाता है । क्योंकि दीक्षित यजमान दुग्धान्न का व्रत ले लेने पर जो व्रतदुधा गाय है उसी के दूध को पी सकता है । अन्य गायों के दूध को नहीं । किसी कारणवश वह व्रतदुधा गाय दूध न दे तो फिर यजमान को भूखा रहना पड़ेगा ।

और प्रथम दिन दूध में चावल तथा यव के रस का मिश्रण कर लिया जाता है तो उसका रस भी व्रत के अन्तर्गत आ जाता है। और व्रतदुधा गाय का दूध न मिलने पर उन चावल और यव का यजमान भक्षण कर सकता है किन्तु याज्ञवल्क्य इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि ऐसा नही करना चाहिए, क्योंकि व्रीहि व यव को खाने से न यज्ञ का आप्यायन होता है। और न उसका सन्धान ही होता है। दूध सात्विक अन्न हैं। अतः सात्विकता के लिए यज्ञिय दीक्षित यजमान को दूध का ही सेवन करना चाहिए। व्रीहि और यव अन्न हैं। अन्न में मादकता होती है। उनके सेवन से आलस्य उत्पन्न होगा। यदि व्रीहि और यव के रस का दूध में मिश्रण ही करना चाहते हो तो दोनों में से एक के रस को ही डालें। उचित तो यह है कि एक के रस को भी दूध में न डाले। बिना डाले वे व्रीहि और यव व्रत के अन्दर कैसे आयेंगे, और व्रत के अन्तर्गत न आने से बाद में व्रतदुधा गाय के दूध देने पर यजमान को भूखा रहना पड़ेगा। यह शंका निर्मूल है क्योंकि दर्शपूर्णमासेष्टि करने वाला ही सोमभाग कर सकता है, और दर्शपूर्णमासेष्टि में व्रीहि और यव की आहुति दी गई है। इसी से व्रीहि और यव दोनों अन्वारब्ध अर्थात् व्रत के अन्तर्गत आ चुके हैं। अतः यहाँ दूध में यव और व्रीहि के रस को डालने की कोई आवश्यकता नहीं है। व्रतदुधा गाय का दूध न मिलने पर दर्शपूर्णमासेष्टि में प्रदत्त हवि के द्वारा अन्वारब्ध व्रीहि और यव में से किसी भी अन्न का सेवन किया जा सकता है, और यजमान की यज्ञात्मा में आहुति देकर उसका आप्यायन किया जा सकता है ।।१४।।

कतिपय आचार्य प्रथम व्रत में अर्थात् पहले दिन के दूध में सर्वौषधि तथा सर्वसुरभि (पिप्पल्यादि अष्टगन्ध) डालते हैं। उनका अभिप्राय यह हैं कि दीक्षित प्रथम दिन के दूध में सर्वौषधि तथा पिप्पल्यादि अष्टगन्ध द्रव्य डाल लेता है तो वे भी व्रत के अन्दर समाविष्ट हो जाती है, और यजमान के रुग्ण हो जाने पर उनके द्वारा उसकी चिकित्सा करली जाती है। क्योंकि प्रथम दिन में व्रतरूप से जो वस्तु ली जाती है उसी को यजमान आगे यज्ञ समाप्ति तक अन्नरूप से ले सकता है। अन्य वस्तुओं का। अतः सर्वौषध तथा सर्वसुरभि को प्रथम दिन के दूध में डालनी चाहिए। किन्तु याज्ञवल्क्य इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि, सवर्षौधि तथा सर्वसुरभि को डालना दिव्यकर्म रूप यज्ञ में प्रवेश करना है। क्योंकि यज्ञ कर्म पद्धति में इनका डालना विहित नहीं है। विहित से अतिरिक्त वस्तु का समावेश करना मनुष्यता है, दिव्यकर्म व मनुष्यकर्म को सम्मिलित करना यज्ञ को ऋद्धिरहित बनाना है। अतः ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि यजमान बीमार हो जाय तो किसी भी औषधि से उसकी चिकित्सा की जा सकती है। उस औषधि को प्रथम व्रत में सम्मिलित करना आवश्यक नहीं। क्योंकि यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त करना अभीष्ट है। अतः उस औषधि के प्रथम दिन के अन्न में सम्मिलित किये बिना भी उस औषधि को दिया जा सकता है ।।१५।।

इसके बाद होता एक पात्र में दूध लेकर मानुषकाल का अतिक्रमण कर, अर्थात् जिस समय मनुष्य दूध पीते हैं उस समय को टालकर यजमान को आत्मयज्ञाहुति के लिए, पीने के लिए देता है। मानुषकाल के अतिक्रमण का तात्पर्य्य यही है कि सायंकाल गर्म किया हुआ दूध अपररात्र अर्थात् आधीरात में यजमान पीये और प्रातःकाल गर्म किया हुआ दूध अपराह्न में अर्थात् दो बजे के आस पास पीये। मानुषकाल का अतिक्रमण करके यजमान को दूध देता हुआ होता देवभाग और मनुष्य भाग का विभाग करता हैं। अर्थात् देवभाग से मानुषभाव को पृथक् करता है ॥१६॥

इसके अनन्तर होता यजमान को दूध देता हुआ, यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता हुआ, यजमान के हाथ धुलवाता है। मन्त्र—

दैवीं धियं मनामहे समृद्धीकामाभिष्टये
वर्चोपन्नं यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्दशे —इति।

यजमान कहता है कि हम दैवी बुद्धि की कामना करते हैं जो दैवी बुद्धि जगत् का कल्याण करने वाली है तथा जो वर्चस् (ब्रह्मतेज) को धारण करने वाली है। इस श्रेष्ठ बुद्धि के कारण अच्छे-अच्छे तीर्थ अर्थात् यज्ञ मेरे वशीभूत हो जावें।

मन्त्रोच्चारणपूर्वक हाथ धुलाने का कारण बतलाते हैं कि यजमान यज्ञ से दीक्षाग्रहण के पूर्व मानुष कार्य के लिए हाथ धोता था। अतः दीक्षा ग्रहणानन्तर दिव्य बुद्धि की प्राप्ति के लिए हाथ धोता है। इसी अभिप्राय से आज "दैवीं धियं मनामहे" इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक हाथ धोता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब भी दूध के लिए हाथ धोए तब पहले इस मन्त्र का उच्चारण करके ही हाथ धोए ॥१७॥

तत्पश्चात् "ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षा ऋतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा। इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ यजमान दूध पीता है। जैसे इन्दु के लिए वौषट् शब्दोच्चारण के साथ आहुति दी जाती है अर्थात् स्वाहा शब्द वषट्कार के साथ आहुति देने के समान है ॥१८॥

पश्चात् दूध पीकर यजमान निम्न मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी नाभि का स्पर्श करता है:—

"श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ना अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋता वृधत्रा इति।"

अर्थात् हे अप देवताओं, आप पीने पर हमारे पोषक बनें। आप हमारे दर के अन्दर अर्थात् केन्द्र में जाकर सुखप्रद बनें। वे जल यक्ष्मारहित अमीवारहित एवं अनागस होकर

अतएव अमृतस्वरूप होकर हमारी तृप्ति करें तथा हमारे ऋतभाग को बढ़ावें। जो दीक्षा ग्रहण करता है वह देवताओं में सम्मिलित हो जाता है। देवताओं में से एक हो जाता है। अर्थात् देवताओं में एक देवता बन जाता है। देवताओं के हव्य पदार्थ को ऊपर से खींचने के समान ऊपर से नहीं ग्रहण किया जाता अपितु हाथ से थोड़े थोड़े पुरोडाश की आहुति दी जाती है। किन्तु दीक्षित यजमान दुग्धान्न ही ग्रहण करता है तो उसे तो ऊपर से सेचन के समान पीया जाता है अतः यजमान देवता बन जाने पर भी उत्सिक्त दुग्धान्न को ग्रहण करता हुआ अनुत्सिक्त हवि का ग्रहण देवता को करना चाहिए। इस नियम का उल्लंघन है, उसे नष्ट करता है। उस नियम के उल्लंघन रूप व्रत के प्रायश्चित के लिए "श्वात्राः पीताः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।

उपर्युक्त मन्त्र में आपोदेवियों को यक्ष्मा तथा अमीवा रोग का नाशक बतलाया है। शरीर में दो प्रकार के रोग होते हैं। एक मन्दाग्नि के कारण तथा दूसरे रक्त आदि में कीटाणुओं के कारण। उनमें मन्दाग्नि जन्य यक्ष्मा कहलाते हैं तथा रक्तादि में कीटाणु प्रवेश से कीटाणुजन्य रोग अमीवा कहलाते हैं। व्रतरूप से पीया हुआ दूध शरीर की अग्नि को बढ़ाकर मन्दाग्निजन्य रोगों को भी नष्ट कर देता है तथा शरीर में अग्निवृद्धि से शारीरिक बल की वृद्धि होने पर कीटाणुओं के अभिभूत हो जाने से कीटाणुजन्य रोगों को भी नष्ट कर देता है। वस्तुतः यक्ष्मा व अमीबा दोनों प्रकार के रोग अग्निमान्द्य के कारण होते हैं। यजमान जब दुग्धान्न की आहुति अपनी आत्माग्नि में दे देता है तो एक प्रकार से उसकी आत्माग्नि में सोमरूप दुग्ध की आहुति हो जाती है। क्योंकि दूध सोम्य है। सोमाहुति से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और इस प्रकार से उभय प्रकार के रोगों का नाश हो जाता है।

यजमान को परिमित मात्रा में ही दूध पीना चाहिए। जिससे शरीर में अशक्ति पैदा न हो। और यज्ञकर्म को सुचारु रूप से कर सके और अधिक पीने से आलस्य आदि भी शरीर में उत्पन्न न हो। वह जब भी दूध पीवे–इस मन्त्र का उच्चारण करके ही पीवे। जिससे उत्सेक जन्य दोष का प्रायश्चित्त हो सके ॥१९॥

दीक्षित यजमान मानुष भाव से हटकर देवभाव में चला जाता है। अतः उस पर मनुष्य की अपेक्षा कुछ विशेष नियम या प्रतिबन्ध लग जाते हैं उनमें से कुछ व्रतों (नियमों) का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कुछ और बतलाये जा रहे हैं। उन्ही नियमों में एक मूत्रोत्सर्ग नियम भी है।

वह साधारण मनुष्यों की तरह मूत्रोत्सर्ग नहीं कर सकता। दीक्षित यदि मूत्रोत्सर्ग करना चाहे तो पृथ्वी के जिस प्रदेश पर वह मूत्रोत्सर्ग करे, मृग के काले सींग के द्वारा उस प्रदेश से मिट्टी के ढ़ेले को, यदि ढ़ेला न हो तो उस प्रदेश के खास कंकड व मिट्टी आदि को दूर कर दे। तब मूत्रोत्सर्ग करे, क्योंकि पृथ्वी "इयं ते यज्ञियातनूः—इति इस मन्त्र के द्वारा

पृथ्वी देवयजनी अर्थात् यज्ञिया भूमि है। दीक्षित उस पर लघुशंका न करे। अतः पृथ्वी के यज्ञिय भाग को हटाकर उसके नीचे पृथ्वी का जो अयज्ञिय शरीर (प्रदेश) है उस पर लघु-शंका करे। मूत्रोत्सर्ग करने से पूर्व यजमान निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करे। "अपो मुञ्चामि न प्रजाम्" इति

अर्थात् मूत्रद्वार से जल मात्र का ही उत्सर्ग करता है प्रजोत्पादक वीर्य का नहीं। मूत्रद्वार जल और वीर्य दोनों का निर्गम स्थान है। उनमें से जल भाग का ही उत्सर्ग करता हूं वीर्य का नहीं। फिर मन्त्र बोलता है–"अहोमुचः स्वाहाकृताः" इति। अर्थात् देहान्तर्गत पाप के साथ ही जल का उत्सर्ग करता हैं अर्थात् यह मूल पापरूप है। मूत्र का उत्सर्ग करना पाप का परित्याग करना है। पुनः मन्त्र का उच्चारण करता है "स्वाहाकृतः पृथिवीमाविशत्" इति अर्थात् हे जल, आप स्वाहाकृत होकर पृथिवी में प्रविष्ट हो जाओ अर्थात् तुम आहुति बनकर शान्त होकर पृथिवी में बैठ जाओ ॥२०॥

मूत्रोत्सर्ग करने के बाद लोष्ट को "पृथिव्या संभवः" इस मन्त्र का उच्चारण करे। अर्थात् हे लोष्ट, आप पृथ्वी से पुनः संगत हो जाओ। मूत्रोत्सर्ग करने के पूर्व पृथिवी के लिए यज्ञिय भाव को मूत्रसम्पर्क से बचाने के लिए हटा लिया था पुनः उस प्रदेश पर डाल देता है। क्योंकि पृथिवी यज्ञिय भूमि है। उस पर यज्ञिय को पेशाब नहीं करनी चाहिए। उस यज्ञिय भूमि से जिस लोष्ट को हटा लिया था उस पर लोष्ट को स्थापित कर उस भूमि को यज्ञिय बना देता है ॥२१॥

तदन्तर यजमान अपने आपको अग्नि को समर्पित कर अर्थात् अग्नि की रक्षा में छोड़कर सो जाता है। जो दीक्षित हो जाता है वह देवताओं की ओर चला जाता है। देव-ताओं में एक देवता बन जाता है देवता कभी सोते नहीं किन्तु यजमान को तो सोना ही पड़ता है। अर्थात् वह यजमान चाहे देवताओं की श्रेणी में आ जाय किन्तु जब तक पार्थिव प्राणरूप प्रज्ञानात्मा की पकड़ में है तब तक उसे सोना ही पड़ता है। अग्नि देवताओं का व्रत पति है। अर्थात् देवता अग्नि के द्वारा ही व्रत (अन्न) को प्राप्त करते हैं। देवताओं के नियम के अग्नि ही अधिपति हैं। अतः यजमान अपने आप को अग्नि की रक्षा में सौंप-कर सो जाता है। शयन से पूर्व यजमान "अग्ने त्वं सुजागृहि वयं शुभन्दिषीमहि" अर्थात् हे अग्ने, आप अच्छी प्रकार अर्थात् सावधानी से जागते रहें, मैं आनन्दपूर्वक सोऊं—इस मन्त्र शेष को बोलता है। पश्चात् "रक्षाणो अप्रयुञ्जत्" अर्थात् सावधान होकर हमारी रक्षा करें—इस मंत्र शेष का उच्चारण करता है। पश्चात् "प्रबुधे नः पुनस्कृधि" यह मन्त्र शेष बोलता है। अर्थात् प्रातः हम शिरः पीड़ा रहित होकर जगे ॥२२॥

जब दीक्षित यजमान शयन के बाद जागकर पुनः नहीं सोवे, तब अध्वर्यु यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है :–

"पुनर्मनः पुनरायुर्मेऽआगत् पुनः प्राणः पुनरात्मा म ऽआगत् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म-ऽआगत्—इति

अर्थात् शयन के समय यजमान के मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र, सभी पुरीतत् नाड़ी में चले जाते हैं। स्वस्वस्थान में उनकी स्थिति नहीं रहती। केवल मुख्य प्राण जागृत रहता है। शयनावस्था में उपक्रांत मन आदि की पुनः प्राप्ति के लिए वह प्रार्थना करता है। इस प्रार्थना से वह उन मन आदि से पुनः संगत हो जाता है।

तदन्तर "वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्नि र्नः पातु दुरितादवाद्यत्" इस मंत्र का उच्चारण करता है। अर्थात् हमारे शरीर का वैश्वानर अग्नि किसी से अभिभूत न हो सर्वथा अहिंसित रहे। यह शरीररक्षक वैश्वानर अग्नि शयन के बाद जो कोई क्रिया कर्म अर्थात् यज्ञ विरुद्ध कर्म हो गया हो, उससे हमारी रक्षा करे ।।२३।।

जो यजमान दीक्षित हो चुका है वह यदि असम्बद्ध—अनर्गल भाषण करता है, या क्रोध करता है तो वह अपने नियम का भंग करता है। यज्ञ कर्म को मिथ्या निःसार बना देता है। यज्ञिय वाक् के अतिरिक्त भाषण न करना तथा क्रोध न करना दीक्षित का नियम है। क्योंकि आत्मा देवभाव से युक्त होता है, और क्रोध करना असुर भाव है। यजमान देवता है अतः उसे क्रोध जैसा आसुर भाव ग्रहण नहीं करना चाहिए। अग्नि देवताओं के व्रतपति अर्थात् उनके व्रत की रक्षा करने वाले हैं अतः व्रतविरुद्ध आचरण कर यजमान व्रतपति अग्नि से क्षमायाचनार्थ अग्नि की ओर दौड़ता है, जाता है। वह अग्नि से प्रार्थना करता हुआ निम्नलिखित प्रार्थना मन्त्र पढ़ता है। "त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः इति।

अर्थात् हे अग्निदेव, आपव्रत की रक्षा करते वाले हैं। आप मरणधर्मा, सकल पदार्थों में तथा यज्ञों में स्तुत्य हैं। यज्ञ शब्द से यहां दैवत पूजा का अभिप्राय है अर्थात् भौतिक तथा दैवत दोनों प्रजाओं की सत्ता अग्नि पर ही आधारित है। इस मंत्र से अग्नि की प्रार्थना करने पर व्रतभंगदोष का प्रायश्चित हो जाता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्यजी ने कहा है–

"तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति – इति ।।१४।।

अनन्तर दीक्षित पुरुष को यदि कोई धन भेंट रूप में देता है तो उस समय अध्वर्यु दीक्षित यजमान से निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता है।

रास्वे यत्सोमा भूयो भर–इति

हे सोम, इतना तो आने दो और इससे अधिक भी आने दो अर्थात् इससे अधिक सम्पत्ति भी प्रदान करें। दीक्षित यजमान के लिए भेंट करने की प्रेरणा मनुष्यों में सोम ही

करता हैं। क्योंकि यदि यजमान सोमयाग न करता तो कोई भेंट रूप में धन नहीं देता। पुनः यजमान "देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्"।

इस मंत्र शेष का उच्चारण करता है, अर्थात् सविता देवता सारे कार्यों की प्रेरणा देने वाला है, अतः वही यजमान के लिए धन देने की प्रेरणा करने वाला है। यह जो भेंट रूप में धन प्राप्त हुआ है वह सविता की आज्ञा से लिया हुआ है। सविता ने ही धन दिया है ॥२५॥

इसके बाद सूर्यास्त होने से पूर्व अध्वर्यु दीक्षित से कहता है कि हे दीक्षित, अब वाक् संयमन करलो, मौन धारण करलो। अतः वह मौन धारण कर लेता है, और सूर्य्यास्त होने के बाद यजमान वाग्विसर्जन कर देता है। अर्थात् मौन तोड़ देता है। इसी प्रकार सूर्य्योदय से कुछ समय पूर्व अध्वर्यु यजमान को वाक् संयमन करने के लिए प्रेरित करता है। तथा सूर्य्यास्त होने के बाद वह वाक् का विसर्जन कर देता है, मौन तोड़ देता है। इस प्रकार सायंकाल सूर्य्यास्त से पूर्व तथा प्रातःकाल सूर्य्योदय से पूर्व वाक् संयमन करना दिन को रात्रि के साथ तथा रात्रि को दिन के साथ जोड़ना है। क्योंकि अहोरात्र ही संवत्सर है। और संवत्सर ही यज्ञ कहलाता है। अतः संवत्सर रूप यज्ञ के दिन और रात्रिरूप पर्वों को सम्बद्ध करता है। सम्बन्धसूत्र वाक्संयमन है। अतः इस वाक् संयम द्वारा संवत्सर के दिन और रात्रिरूप दोनों पर्वों का संधान कर देता है। वाक् यज्ञ है। इस वाग्रूप के द्वारा संवत्सर यज्ञ के दोनों पर्वो का संधान होता है। यदि सूर्य्यास्त से पूर्व और सूर्य्योदय से पूर्व वाक् का संयमन न कर वाक् को खर्च किया जायगा तो सम्बन्ध सूत्र के खर्च होने से संवत्सर के अहोरात्र पर्वों का संधान नहीं हो सकेगा। इसीलिए कहा है :—

"संतत्या एव अहरेवैतद् रात्र्या सन्तनोति अह्ना रात्रिम्–इति ॥२६॥

दीक्षित के रहने के लिए देवयजन भूमि में "दीक्षित निमित" नामक स्थान नियत रहता है। यजमान को सांय सूर्यास्त के समय उस स्थान में रहना चाहिए। यदि उस स्थान से बाहर घूमते हुए यजमान को सूर्यास्त हो जाय तो वह अस्त होता हुआ सूर्य यजमान को रात्रिप्राण से वियुक्त कर देगा। इसी तरह ऐसा न हो जाय कि सूर्योदय हो जाय और यजमान सोता रहे क्योंकि ऐसा होने पर प्रातःकाल के मुख्य सौर प्राण का यजमान से वियोग हो जायगा। आगे याज्ञवल्क्य कहते हैं कि व्रतभंग, क्रोध आदि दोषों की प्रायश्चित्ति तो है जिसके करने पर उन दोषों की निवृत्ति हो जाती है, परन्तु सूर्यास्त में समय अपने निवासस्थान से बाहर रहना तथा सूर्योदय के समय सोते रहना–इन दोनों दोषों का कोई प्रायश्चित भी नहीं है। अतः इन दोषों से तो बचना ही चाहिए।

यज्ञ समाप्ति किये जाने वाले अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान से पूर्व यजमान जल में प्रवेश कर डुबकी लगाकर स्नान करे और वर्षा का पानी अपने ऊपर न गिरने दे अर्थात् वर्षा के पानी में न भीगे क्योंकि यज्ञान्त स्नान दीक्षितता के विमोचन के लिए होता है यदि इससे पूर्व यजमान जलावसेचन करेगा तो दीक्षा का विघात हो जायगा।

दीक्षित यजमान परिमित व संस्कृत दैवी वाक् का ही उच्चारण करे। जन साधारण में व्याप्त मानुषी वाणी का प्रयोग न करे ॥२७॥

यज्ञ के द्वारा देवताओं ने असुरों पर वह विजय प्राप्त की, जो कि विजय उनकी देखी व सुनी जा रही है। उन देवताओं ने विचार किया कि यह यज्ञ प्रक्रिया मनुष्यों को न प्राप्त हो जाय अतः जैसे भ्रमर या मधुमक्खी पुष्पों के रस को चूस कर निःसार बना देते हैं उसी प्रकार देवता यज्ञ के रस को पान कर उसको निःसार बना कर यूप के द्वारा उसे विलुप्त कर तिरोहित हो गये। यूप के द्वारा उस यज्ञ को विलुप्त किया इसीलिए "अनेन यूपेन यज्ञमयोपयन्" इस व्युत्पत्ति से यज्ञ स्तम्भ को यूप कहा जाता है ॥२८॥

देवताओं ने जिस प्रकार यज्ञ का संभरण किया है इस बात को ऋषियों ने सुन रक्खा था। उन्हें यज्ञ का संभरण प्रकार ज्ञात था। जो दीक्षित हो जाता है, वह यज्ञ का संभरण करता है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की द्वितीय कण्डिका में बतलाया जा चुका है। वाक् ही यज्ञ है। वह दीक्षित यजमान वाक् के द्वारा यज्ञ के निष्पीत व गतसार भाग का पुनः आप्यायन कर लेता है। उसे पुनः प्राप्त कर लेता है जो कि परिमित व संस्कृत अर्थात् दिव्यवाक् का उच्चारण करता है तथा जनसाधारण में व्याप्त मानुषी वाक् को नहीं बोलता है जो मानुषी वाक् को बोलता है—यज्ञ का आप्यायन नहीं कर सकता। अतः परिवृढ़ वाक् का ही उच्चारण करे न कि मानुषी वाक् का, वह यजमान प्रेक्षापूर्वक सोच, समझ कर कार्य करता है जो कि दीक्षित होता है आज यज्ञ के लिए दीक्षित यजमान प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करता है। प्रेक्षापूर्वक कार्य करना ही अधीक्षा है। अधि उपसर्ग पूर्वक ईक्ष् धातु से अधीक्षते या अधीक्षा शब्द निष्पन्न होता है। उसमें अधि उपसर्ग में अकार लोप से धीक्षते, धीक्षा व धीक्षित शब्द बनते हैं। क्योंकि दीक्षित यजमान प्रेक्षापूर्वक संस्कृत व परिमित वाक् का ही यज्ञानुष्ठान काल में प्रयोग करता है अतः यह कहा है कि "वाचे हि दीक्षते" वाक् का प्रेक्षापूर्वक प्रयोग करना यज्ञ के लिए प्रेक्षापूर्वक कर्म करना ही है। क्योंकि वाक् ही यज्ञ है। यह यजमान में प्रेक्षापूर्वक वाक् का प्रयोग करने वाला है। अतः इसे धीक्षित (अधीक्षित) कहा कहा जाता है। और इसी का नाम दीक्षित है चूंकि देवता परोक्ष प्रिय होते हैं अतः दीक्षित के स्थान में धीक्षित शब्द प्रयुक्त हुआ है ॥३०॥

[**विज्ञान भाष्य**] आहवनीय कुण्ड के दक्षिणभाग में पूर्व की ओर मुखभाग करके—दो अथवा एक मृगचर्म को जिसके कि पीछे का हिस्सा तर्द्मसुत (सूए से सीया हुआ) है, बिछाकर उस पर यजमान बैठ जाता है।

उस पर बैठकर "ऊर्गस्याङ्गिरसी" त्यादि मंत्र बोलता हुआ मेखला धारण करता है। तदनन्तर जरायु स्थापन्न वस्त्र को ओढ़ता है। बाद में वस्त्र के ग्रंथिभाग में कृष्णविषाण (काले हिरण का सींग) बांधता है। बस यही पूर्व के दीक्षा ब्राह्मण का विषय है। इतने कर्म करने के अनन्तर वह यजमान सामान्य मनुष्य नहीं रहता अपितु दीक्षित हो जाता है—देवभावयुक्त हो जाता है अतएव इसके लिए

खास खास बातों का प्रतिबन्ध लगाया जाता है। सामान्य मनुष्य चाहे जहां फिर सकता है, चाहे जो खा सकता है, जिससे चाहे जो बोल सकता है। परन्तु दीक्षित मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। उसके लिए क्षेत्र विन्यास किया जाता है। इतनी दूर से ऐसे ही स्थान में जा सकते हो, फिर रुकते हो–यह रुकावट डाली जाती है। यह दीक्षित सिवाय द्विजाति के अन्य से नहीं बोल सकता। सिवाय दूध के और कुछ खा नहीं सकता। पय ही इसका व्रत है। अर्थात् अन्न है। जैसा कि तृतीय काण्ड के प्रारम्भ में देव-यजन ब्राह्मण एवं संस्कार ब्राह्मण में विशदरूप से बतला दिया गया है। आज फिर उन्हीं नियमों को दोहराते हैं। दीक्षित मनुष्य के क्या क्या व्रतधर्म है? दीक्षित को किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए–इसी विषय का इस ब्राह्मण में विवेचन किया जायगा। अतएव इस ब्राह्मण को **"दीक्षितव्रतधर्म"** ब्राह्मण नाम से व्यवहृत किया गया है।

कृष्णमृगचर्म पर बैठने के अनन्तर मेखलादि धारण करता हुआ यह यजमान दीक्षित बनता है। यह दीक्षा कर्म्म प्रातःकाल होता है। इस प्रकार जब यह दीक्षित बन जाता है तो तदन्तर वाक् संयमन करता है। दीक्षान्तर मौनव्रत धारण करता है बस यही इसका पहला व्रतधर्म्म है। **"वाचं यच्छति।"** दीक्षान्तर वह यजमान सूर्य्यास्तपर्य्यन्त वाचंयम ही रहता है अर्थात् प्रातःकाल से सायंकाल तक दीक्षित मनुष्य को दीक्षोत्तर मौनव्रती रहना पड़ता है।

"स वाचंयम आस्ते आस्तमयात् (आ-अस्तमयात् इति भावः")

यहाँ पर दीक्षान्तर इसलिए वाक्संयमन किया जाता है–यह बतलाते हैं अर्थात् वाक्संयमन का प्राकृतिक रहस्य बतलाते हैं।

तत् (तत्र) यत् (यस्मात्) वाचं यच्छति (तदुच्यते-इति शेषः) ॥१॥

यज्ञ से ही देवताओं ने इस विजिति को जीता जो कि जिति आज देखी एवं सुनी जाती है। अर्थात् आज तुम देवताओं की प्रख्याति सुन रहे हो एवं देख रहे हो वह इसी यज्ञ की महिमा है जिस यज्ञ को कि आज यह यजमान करेगा।

सोमयाग ही से देवताओं ने असुरों का विनाश किया था, कर रहे हैं–एवं करते रहेंगे, एवं इसी सोमयाग के प्रभाव से देवताओं ने अखिल ब्रह्माण्ड में अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है।

वेद के जितने भी आख्यान हैं वे आध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत–तीनों में समानरूप से लागू होते हैं। अध्यात्म में भी देवासुर संग्राम हो रहा है। अधिदैवत में भी हो रहा हैं एवं अधिभूत में भी हो रहा है। इन तीनों में से पहले हम अधिदैवत संग्राम का ही विवेचन करेंगे। भगवान् प्रजापति की सन्ताने देवता और असुर इन पाटों में विभक्त हैं। जो ज्येष्ठ पुत्र हैं वे असुर कहलाते हैं। कनिष्ठ पुत्र देवता कहलाते हैं। प्रजापति शब्द से सच्चिदानन्दघन, सर्वशक्तिमान, वह व्यापक ब्रह्म ही अभिप्रेत है। इसी ब्रह्म से चराचर की सृष्टि उत्पन्न होती है। संसार में जो कुछ भी होता है इसी प्रजापति से होता है अतएव श्रुति में :—

"प्रजापतिस्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" (श० ६ का०)

यह कहा गया है। हम संसार में दो ही तत्त्व देखते हैं–काला और सफेद। काले और सफेद के अलावा तीसरा तत्त्व है ही नहीं। काला तत्त्व अज्ञान है। सफेद तत्त्व ज्ञान है। काला तत्त्व सोम है। शुक्लतत्त्व अग्नि है। अग्नि गर्म है, सोम ठंडा है। इसीलिए कहा जाता है—

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कं च' यच्छुष्कं तदाग्नेयम् यदार्द्रं तत् सौम्यम्।

अन्त में श्रुति इस अग्नि सोम की, कृष्ण शुक्लतत्त्व की पहचान बतलाती हुई कहती है।

"सूर्य एवाग्नेयः, चन्द्रमा सौम्यः। अहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या। य एवा पूर्य्यतेऽर्धमासः स आग्नेयः। योऽपक्षीयते स सौम्यः" (श० १/६/२/१५)

पूर्वोक्त श्रुति प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि अखिल विश्व में सिवाय काले और सफेद के तीसरी वस्तु है ही नहीं। अग्नि और सोम के अलावा और कुछ नहीं है। सर्दी और गर्मी को छोड़कर आप कोई तीसरी वस्तु बतला ही नहीं सकते। विद्या और अविद्या के अलावा वास्तव में तीसरी वस्तु है ही नहीं। दिन और रात, दिन के बाद रात, रात के बाद दिन। क्या दिन रात के अलावा आप किसी तीसरे पदार्थ को बतला सकते हैं—हर्गिज नहीं। दिन सफेद है, रात काली है। दिन अग्नि है, रात सोम है। दोनों के अलावा और है ही क्या। भगवान् प्रजापति की ये दो ही तो सन्तानें हैं। एक सन्तान काली है, एक सन्तान गोरी है। जो काली सन्तान है उन्हें असुर कहा जाता है जो गोरी सन्तान है उन्हें देवता कहा जाता है। काली सन्तान देवताओं से पहले पैदा होती है अतएव हम इसे ज्येष्ठ कहने के लिए तैय्यार हैं। पानी, वायु और सोम तीनों कहने को तीन हैं वास्तव में तीनों एक चीज है। तीनों ही सोम हैं। सोम की जो घनावस्था है उसका नाम पानी है। तरलावस्था का नाम वायु है एवं विरलावस्था का नाम अर्थात् प्राणावस्था का नाम सोम है। एक ही चीज अवस्था भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इस सोम ही का दूसरा नाम भृगु है जिसका कि विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। कहना यही है कि स्वयंभू भगवान् से सोम स्वरूप किंवा पानी स्वरूप पहले कृष्णतत्त्व ही उत्पन्न होता है। सृष्टिक्रम में स्वयम्भू से पहले पहले पानी ही उत्पन्न होता है—इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

"सोऽभिध्यायशरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" —मनु ।।

इसी आपोमय मण्डल का नाम परमेष्ठि मण्डल है। यह आपोमण्डल हमारे (रोदसी के) सूर्य-ब्रह्माण्ड से भी परस्थान में रहता है अतएव **"परमे स्थाने सीदति"** इस व्युत्पत्ति से हम इसे **"परमेष्ठी-मण्डल"** कहते हैं। ऋत और सत्य दो ही तत्त्व हैं। जिस पदार्थ में केन्द्र होता है जो पिण्डस्वरूप पदार्थ

होता है—वह सत्य कहलाता है एवं जो बिखरा हुआ रहता है जिसका कोई केन्द्र नहीं होता वह ऋत कहलाता है। पानी का कोई अपना केन्द्र नहीं है। पानी को जब आप जमीन पर डालेंगे पसर जायगा। इसका पिण्ड नहीं बन सकता। अतएव इस हम ऋत कहने के लिए तैय्यार हैं। बस सबसे पहले यही ऋत अर्थात् यही पानी उत्पन्न होता है जिसे कि हम परमेष्ठि नाम से व्यवहृत करते हैं। इसी आपोमय मण्डल के पेट में सूर्य्यादि सारे लोक समा रहे हैं। सूर्य सहित सारा ब्रह्माण्ड उस परमेष्ठि आपोमय-मण्डल में एक बबूले के समान है। आपोमय मण्डल के बाहर कुछ भी नहीं है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते है :—

"ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन।"
ऋते समुद्र आहितं ऋते भूमिरियं श्रृता ।। (तै० ब्रा०)

कहना इस सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि प्रजापति पहले पानी ही को अर्थात् सोम ही को उत्पन्न करते हैं। सोम स्वरूप से काला है। प्रकाश तो सूर्य का अर्थात् अग्नि का धर्म है। काले तत्त्व को ही असुर कहते हैं। अतएव इसी विज्ञान के आधार पर हम असुरों को ज्येष्ठ पुत्र कहने के लिए तैय्यार है। साथ ही में इतना और समझ लेना चाहिए कि देवता तैंतीस ही है परन्तु असुर ९९ हैं अर्थात् यह काला प्राण—आप्यप्राण ९९ तरह का है चूंकि परमेष्ठि मण्डल सूर्य की अपेक्षा महाविशाल है अतएव उसमें प्राण भी अधिक है इसीलिए असुर संख्या में ज्यादा हैं। देवता संख्या में कम हैं। यह बात श्रुति में अनेक जगह कही जाती है। असुर ९९ में हैं इसीलिए तो **"जघान नवतिर्नव"** (ऋग्वेद) यह कहा जाता है।

पानी के अनन्तर भगवान् सूर्य उत्पन्न होते हैं। "**तासु बीजमवासृजत्**" में बीज शब्द से यही हिरण्मयमण्डलोपेत भगवान् सूर्य्य अभिप्रेत है। ऋत के अनन्तर इसी सत्य का अर्थात् सूर्य्य का प्रादुर्भाव होता है। हमारे ब्रह्माण्ड के जिसे कि हम **"रोदसी ब्रह्माण्ड"** कहेंगे—अधिष्ठाता यही सूर्य्य है। पानी के अनन्तर सूर्य्य उत्पन्न होता है अतएव भगवान् मनु कहते हैं :—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः"

बस प्रजापति भगवान् के तप से यह अग्नि और सोम किंवा पानी और सूर्य किंवा ऋत और सत्य यह दो ही तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है :—

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।। इति

उस सत्य प्रजापति से ऋत और सत्य यही दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इसी अभिप्राय से आर्य-सर्वस्व (पुराण) कहता है।

"सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये
सत्यात्मकं त्वं शरणं प्रपन्नः ।। (श्रीमद्भागवतः)

कहना सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि प्रजापति भगवान् से कृष्ण और शुक्ल, अर्थात् अग्नि-सोम यह दो ही तत्त्व उत्पन्न होते हैं। दोनों ही प्रजापति की सन्तान है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः"

यह कहा जाता है। यहां पर इतना और समझ लेना आवश्यक होगा कि जिस सोम को हम ऋत बतला रहे है उसे हमने अब, वायु, सोम, अवस्थाभेदेन तीन तरह का बतलाया है। यह तीनों यद्यपि हैं एक ही पदार्थ परन्तु अवस्था भेद से इसमें सर्वथा वैजात्य हो जाता है। अप्का नाम रूप कर्म भिन्न है, वायु का नाम रूप कर्म भिन्न है एवं सोम का नाम रूप कर्म भिन्न है। एक ही मनुष्य जब हाई-कोर्ट की गद्दी पर जा बैठता है तो जज कहलाने लगता है। रूप उसका रोबीला हो जाता है। काम शासन करना हो जाता है। वही जज जब घर में स्त्री के पास आता है तो प्राणप्रिय पतिदेव नाम से व्यवहृत होने लग जाता है। रूप उसका बिल्कुल प्रेममय हो जाता है। जज बनकर हुकूमत का स्वरूप एकदम लापता हो जाता है एवं काम उसका बजाय शासन के प्रेमबन्धन के कारण स्त्री की मातहती हो जाता है। कहने का मतलब यही है कि अवस्था भेद से एक ही वस्तु के नाम, रूप, कर्म भिन्न भिन्न हो जाते हैं। बस यही बात सोम के विषय में समझनी चाहिए। जो सोम की आप्यावस्था है उसका नाम रूप कर्म भिन्न हैं। वायु का भिन्न है एवं सोम का भिन्न है। इन तीनों में से हम असुर केवल पानी को ही कहेंगे न कि सोम और वायु को। आप्य प्राण को ही असुर समझना चाहिए।

आप्यप्राण का ही अर्थात् पानी का ही आग के साथ वैर है। सोम कहते हैं घृत को, स्नेहन-द्रव्य को। उसका तो अग्नि के साथ सखा भाव है। सोम अर्थात् घृत अग्नि का नाश नहीं करता अपितु उसे अधिक प्रज्वलित करता है। ऐसी अवस्था में सोम को असुर कैसे कहा जा सकता है। सोम तो देवताओं का अर्थात् अग्नि का अन्न है। चन्द्रमा सोम का गोला है। इसे देवप्राणघन—अर्थात् अग्निप्राणघन सूर्य प्रतिक्षण खाया करता है अतएव—

"एतद्वै सोमो राजा देवानामन्नयश्चन्द्रमा" यह कहा जाता है। असुर शब्द से पानी ही अभिप्रेत है बस इन आप्यप्राणस्वरूप असुरों और आग्नेय प्राणस्वरूप देवताओं में सदा युद्ध हुआ करता है। असुर अनवरत देवताओं पर आक्रमण किया करते हैं। सूर्य के ऊपर परमेष्ठिमण्डल है अर्थात् आपोमण्डल है। यह पानी चारों ओर से सूर्यमण्डल पर आक्रमण किया करता है। पानी ने सूर्य को चारों ओर से घेर रक्खा है बस यही असुरों का देवताओं पर आक्रमण है। पानी सूर्य पर सदा आक्रमण करता रहता है। इसी प्रकृति रहस्य को लक्ष्य में रखकर—

"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे" यह कहा जाता है। यह है वैदिक देवासुर संग्राम का आधिदैविक रहस्य। आधिदैविकमण्डल में रात दिन देवता और असुरों में युद्ध होता रहता है।

परन्तु इस युद्ध में जीतते हैं देवता ही । विजय प्राप्त करते हैं देवता ही । सूर्यस्वरूप अग्नि पर परमेष्ठि का पानी अनवरत आक्रमण करता रहता है । फिर भी सूर्य का गोला ज्यों का त्यों ही रहता है। अग्नि उस पानी के आक्रमण से बुझने नहीं पाता । अपितु सारे ब्रह्माण्ड में फैला हुआ है । सूर्य का प्रकाश त्रिलोकी में व्याप्त हो रहा है । देवताओं की इस विजय का एकमात्र कारण है–सोमयज्ञ । सोम–यज्ञ ही से देवता असुरों को परास्त करते रहते हैं ।

हमने बतलाया है कि सूर्य के ऊपर परमेष्ठिमण्डल है । इस परमेष्ठिमण्डल में आप्यप्राण की तरह सोम भी रहता है । सोम स्निग्ध पदार्थ है । राल के माफिक है–जैसे राल अग्नि में आहुत होकर अग्नि को प्रज्वलित कर देता है । सूर्य में जैसे पानी का आक्रमण होता है तद्वत् सोम भी सूर्य में आता रहता है । सूर्य अग्निप्रिय में है । इसमें परमेष्ठि मण्डल का सोम अनवरत आहुत होता रहता है । बस इसी सोमाहुति के कारण अग्नि, रात दिन पानी के आक्रमण होने पर भी बुझने नहीं पाता । अपितु सोमाहुति प्रभाव से अपनी ज्वलन्तकिरणों से पानी को धक्के देकर बाहर फैलता रहता है । यदि सूर्य में सोम की आहुति न होती तो सारा ब्रह्माण्ड आपोमय हो जाता । अग्नि का अर्थात् देवताओं का कहीं पता भी न लगता ।

अग्नि में जब तक सोम की आहुति होती रहती है तब तक वह बुझने नहीं पाता । इसका प्रत्यक्ष दर्शन श्मशान में होता है । अग्नि पर चिता पर जब शव को रख दिया जाता है एवं उस चिता को प्रज्वलित कर दिया जाता है तो घोर वृष्टि होने पर भी वह अग्नि तब तक शान्त नहीं होती जब तक कि शव का अंश एकान्ततः जल नहीं जाता ।

शव पुरोडाश है–सोम है । भला इसके रहते अग्नि क्यों कर शान्त हो सकता है । अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है । देवता सारे आग्नेय हैं । सूर्य अग्नि का गोला है । इसमें रात दिन सोम आहुत होता रहता है । इस सोम से अग्नि बुझने नहीं पाता । इससे सूर्यस्थ आग्नेय प्राण भी-प्रकाशी प्राण भी नहीं मरते । अपितु सारे ब्रह्मण्ड में व्याप्त रहते हैं ।

आज हम जो सूर्य का अर्थात् देवताओं का राज्य इस ब्रह्माण्ड में देख रहे हैं यह जो प्रकाश दिखलाई पड़ता है इसका एकमात्र कारण यह सोमयज्ञ ही है । यदि सूर्य में सोमाहुति न होती–अग्निसोमात्मक यज्ञ न होता तो सूर्य मर जाता एवं सारे ब्रह्माण्ड में अन्धकार हो जाता । सूर्य अग्निहोत्र है । इसमें रात दिन सोम गिरा करता है ।

सूर्य कैसे अग्निहोत्र है ? इसका विस्तृत विवेचन द्वितीय काण्ड में "सूर्यो ह वा अग्निहोत्र" इस अग्निहोत्र ब्राह्मण में देखना चाहिए । यहां सिर्फ यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि इस सोमयज्ञ के द्वारा ही देवताओं ने उस जिती को प्राप्त की थी । जो कि उसकी विजय आज प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रही है । बस आधिदैविक–देवासुर संग्राम का एवं सोमयज्ञ का यही रहस्य है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं ।

"यज्ञेन वे देवा इमां जितिजिज्ञुर्या एषांमियं जितिः"

इस प्रकार प्रकृतिमण्डल में विजय का हेतुभूत जो यज्ञ है—वह अनवरत होता रहता है परन्तु सामान्य मनुष्य इस यज्ञ रहस्य से अपरिचित है। हर एक आदमी इस यज्ञ विद्या को प्राकृतिक विज्ञान को नहीं जानता। क्यों नहीं जानता इसमें भी वे देवता ही कारण है। प्रकृति नहीं चाहती कि मेरा स्वरूप सामान्य मनुष्य पहचान जाय। वह मनुष्यों से अपने आपको छुपाने की कोशिश करती है। यही तो उसकी प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा तत्त्व की रक्षा मर्यादा पालन से ही होती है। जो मनुष्य नीच मनुष्यों के साथ रहता है वे पर्दगी से बातें करता है अंट संट बकता रहता है। आचार व्यवहार से घृणा करता है। लोक में ऐसा मनुष्य अप्रतिष्ठित समझा जाता है। उससे सब घृणा करने लगते हैं अपितु जो ठीक इसके विरुद्ध आचरण करता है वह प्रतिष्ठित समझा जाता है। प्रतिष्ठा के लिए सामान्य भाव को तोडना पडता है एवं मर्यादा में रहना पडता है। मर्यादा ही प्रतिष्ठा है। राजा के अन्तःपुर में कोई नहीं जा सकता। यही अन्तःपुर की प्रतिष्ठा है। यदि सामान्य मनुष्य इसमें जाने लग गये तो वह अन्तःपुर ही नहीं रहा। अन्तःपुर का अन्तःपुरपना मर्यादा पर अवलम्बित है। हाईकोर्ट में सामान्य मनुष्य नहीं जा सकता, यही हाईकोर्ट की प्रतिष्ठा है यदि चाहे जो उसमें जाने लग जाय तो वह हाईकोर्ट ही न रहे। फिर तो बाजारू दूकान बन जाय। कहना यही है कि प्रतिष्ठा के लिए सामान्य भाव को रोका जाता है चूंकि प्राकृतिक यज्ञ ब्रह्म की प्रतिष्ठा है अतएव उसे उसने सामान्य मनुष्यों से छुपा रक्खा है। यज्ञ विद्या को सबके सामने प्रकट नहीं होने देता। प्रकृति का सारा काम पर्दे में होता है। इसीलिए श्रुति में बार बार—"**परोक्षप्रिया इव हि देवाः**—इस कथन में "**इव**" पद का सन्निवेश है—अतएव एकदम परोक्ष की नहीं है। कुछ अंशों में प्रकृति अपने रहस्य को बतला भी देती है। सूर्य में सोम की आहुति होती है, इसी से यज्ञ होता रहता है। इस बात को आधिदैविकमण्डल के देवताओं ने छुपा रक्खा है। सामान्य मनुष्य इस बात को नहीं जानता कि सूर्य में परमेष्ठिमण्डल का सोम आहुत होता रहता है एवं इस अग्नि सोमात्मक यज्ञ से देवताओं की विजय हो रही है। प्रकृति ने जिस साधन से इस यज्ञ विद्या को छुपाया वह यही सूर्य है। सूर्य ही उस यज्ञस्वरूप को सब पर प्रकट नहीं होने देता। सूर्य इतना तेजस्वी पिण्ड है जिस पर आंख ठहरती ही नहीं। यदि सूर्य इतना ज्योतिष्मान न होता तो शायद हमें परमेष्ठि के सोम का दर्शन हो जाता एवं जैसे हम सूर्य को प्रत्यक्ष में देख रहे हैं वैसे उस आहुतिस्वरूप यज्ञ के सार भाग को, तत्त्व भाग को प्रत्यक्ष में देख लेते। परन्तु सूर्य ही हमें इस यज्ञ को नहीं देखने देंगे। सोम की आहुति ही तो यज्ञ का सार भाग है इसी का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। देवताओं ने सूर्य द्वारा उस रस भाग को, आहुति स्वरूप को हमारे से प्रच्छन्न कर रक्खा है। अतएव इस सूर्य को वैदिक परिभाषा में "यूप" कहा जाता है। यूप शब्द का अर्थ है प्रच्छन्नता। छुपाना ही यूप शब्द का अर्थ है। यज्ञ को छिपाने के कारण जिसका नाम यूप हो गया है ऐसे यूप से अर्थात् सूर्य से देवताओं ने यज्ञ भाग को सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से छुपाया। इसीलिए सूर्य का नाम यूप हो गया। हमें केवल सूर्य ही अर्थात् यूप ही दीखा करता है। उस यज्ञ रहस्य को, यज्ञ के वैज्ञानिक तत्त्व को समझने में हम सर्वथा असमर्थ हैं। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य रख कर याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

"यज्ञ द्वारा जय प्राप्त कर अखिल ब्रह्माण्ड में अपनी सत्ता कायम कर देवताओं ने परस्पर विचार किया कि यह यज्ञ हमारा (प्रकृति का) प्रतिष्ठापद, मनुष्यों से कैसे अन्तर्हित हो इसके लिए कोई उपाय करना चाहिए। मनुष्यों के लिए यह यज्ञ रहस्य अनभ्यारोह्य हो जाय–अर्थात् मनुष्य यज्ञ को न पहचान जाय, कोई ऐसा उपाय करना चाहिए। आखिर देवताओं की समझ में इसका उपाय आ गया। उन्होंने यज्ञ के सार भाग को कसकर, जैसे भौंरा पुष्प में से सार भाग को खैंच लेता है तद्वत् यज्ञ के सार भाग को दुहकर–निचोड़कर यूप से (सूर्य से) उसे छुपाकर मनुष्यों की दृष्टि से अन्तर्हित हो गये। चूंकि इन्होंने इस यूप से अर्थात् सूर्य से यज्ञ को छुपाया अतएव इसका नाम यूप हो गया। देवता वास्तव में अप्रत्यक्ष हैं। अग्नि, वायु, आदित्यादि प्राण देवता सर्वत्र व्याप्त रहते हैं परन्तु हम उन्हें नहीं देख सकते। यज्ञ उन्हीं के अधीन है। प्राण को पहचानने पर ही यज्ञ रहस्य मालूम होता है। जब प्राण ही अप्रत्यक्ष है तो फिर तदाधारेण अपनी स्थिति कायम रखने वाले यज्ञ का प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकता है। सूर्य ही तो यज्ञ का कुण्ड है। इसी में तो यज्ञ होता है। सोम की आहुति इसीमें तो होती है, एवं हम इसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं। परन्तु मालूम नहीं होता कि यज्ञ कैसे होता है एवं कैसे एवं देवताओं ने कब कैसे इसे ले लिया। छुपा लिया। बस इसी भाव को बतलाने के लिए "यथा मधु मधुकृतः" कहा गया है। भौंरा पुष्प में से रस चूस लेता है परन्तु हमें मालूम नहीं होता कि कब उसने रस चूस लिया। पुष्प हमें वैसा ही दिखलाई पड़ता है जैसा पहले दिखलाई पड़ता था।" बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिः। ते होचुः कथं न इदं (प्रतिष्ठापदं) मनुष्यैरनभ्यारोह्यं स्यात् इति। ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयु र्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवत्। अथ यदेने नायोपस्तस्माद्यूपो नाम ॥२॥

इस श्रुति को भुवन स्वर्गवासी मनुष्य देवताओं के अभिप्राय पर भी समझना चाहिए। ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दोनों रहस्य इस श्रुति से बतलाए जाते हैं। भुवन स्वर्गवासी देवताओं ने भी इस यज्ञ विद्या को भारतवर्ष में रहने वाले मनुष्यों से छुपाया था। जिस ज्ञापन से यज्ञ का सार वेदि–आहुति यही है। पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर भगवान् सूर्य है। जिन्हें कि यूप कहा जाता है। भुवन स्वर्ग के देवताओं ने उसी प्रकृतिमण्डल के अनुसार यज्ञ किया था अतएव पृथिवीस्वरूप गार्हपत्याग्नि के २१ वें अहर्गण पर ही उन्होंने सूर्य स्थानापन्न–काष्ठ का एक बड़ा लम्बा चौडा यूप कायम किया था, एवं आज भी सोमयज्ञ में महावेद्यन्तर्गत उत्तरावेदि के आगे २१वें स्थान पर "यद्वै देवा अकुर्वस्तत् करवाणि" के अनुसार यूप खडा किया जाता है। अस्तु कहना हमें यही है कि देवताओं ने यज्ञ द्वारा अपने आत्माग्नि को प्रबल कर जब अफ्रीका देश में रहने वाले असुरों को परास्त कर अपना राज्य का कर लिया तो उन्हें चिन्ता हुई कि कहीं सामान्य मनुष्य, इस प्रतिष्ठा को प्राप्त न हो जाय। बस यह विचार कर उन्होंने वेदि वगैरह, आहुति वगैरह, सारे कर्मों को यज्ञानन्तर नष्ट भ्रष्ट कर दिया। केवल यज्ञ–सूचनार्थ यूप मात्र रहने दिया। इसीलिए तो आज भी सारा काम खतम होने पर यूप को वैसे का वैसा ही छोड दिया जाता है। चूंकि

देवताओं को यज्ञ को छुपाने में इसी काष्ठ के स्थूण ने मदद दी–इसीलिए इसका नाम यूप हो गया। हमने यज्ञविद्या, इन भुवन स्वर्गवासी मनुष्य–देवताओं से प्राप्त की है। अतः प्रकृत में ऐतिहासिक अर्थ का ही सम्बन्ध समझना चाहिए।

प्रकृति के इस विज्ञान को महर्षियों ने अपने तपोबल के द्वारा पहचाना। परिश्रम करके, रात दिन रिसर्च करके, ऋषियों ने, महावैज्ञानिक विद्वानों ने इस यज्ञ रहस्य को प्रकृतिमण्डल के प्रतिष्ठा पद को पहचाना–अतएव ये महर्षि वैज्ञानिक विद्वान् देवता नाम से प्रसिद्ध हुए–इसीलिए कहा जाता है।

"देवा ह वै देवाः–अथ ये शुश्रूवांसोनूचानास्ते मनुष्य देवाः"

प्रकृति के विज्ञान को जिन्होंने पहले पहचाना वे ही भुवन स्वर्गवासी देवता कहलाए। वे ही यज्ञविद्या के आविष्कर्ता थे। इसी अभिप्राय से कहते हैं

"तद्वा ऋषिणामनुश्रुतमास" महर्षि लोग, वैज्ञानिक लोग इस बात को, इस रहस्य को जानते थे। अतएव उन्होंने इस सोम यज्ञ का उस प्रकार से स्मरण किया जैसा कि यह प्रकृति यज्ञस्मृत है अर्थात् प्रकृति यज्ञानुसार उन्होंने सोम यज्ञ का वितान किया।

"ते यज्ञं समभरन् यथाऽयं यज्ञः सम्भृतः"

इन देवताओं से हम यज्ञ विद्या को पहले पहल भारतवर्ष के महर्षियों ने सीखा था। भारतवर्ष के मनुष्यों में से ऋषि ही ऐसे थे जो कि भुवन स्वर्ग में जा सकते थे यह उन भुवन स्वर्ग देवताओं की यज्ञ विद्या को देखते थे–अतएव इनके द्वारा भारतवासियों ने यज्ञविद्या सीखी। बस आज जो यजमान दीक्षा ले रहा है वह भारतवर्षीय महर्षियों द्वारा सम्भृत यज्ञ की तरह ही अपने इस सोमयाज्ञ का सम्भरण करता है। अर्थात् यज्ञ को आत्मसात् करता है। वाक् ही यज्ञ का स्वरूप है। ऋषियों ने वाक् यज्ञ को वाक् संयम द्वारा आत्मसात किया था–अतएव आज यह यजमान भी वाक् संयम द्वारा यज्ञ को आत्मसात् करता है।

"एवं वा एष यज्ञः संभरति यो दीक्षते, वाग्वै यज्ञः"

वाक् ही तो यज्ञ का स्वरूप है। वाक् नाम है–अग्नि का। पृथिवी के केन्द्र में से एक अग्नि निकलता है। यह अग्नि रथन्तर सामतक अर्थात् २१ तक जाता है। २१ के बाद अर्थात् सूर्य्य के बाद सोम भरा हुआ है। वह सोम इस वाक् अग्नि में आहुत होता रहता है। वाक् को अग्नि कहते हैं— इसीलिए तो—

',**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**—यह कहा जाता है। इसी अग्नि में जब सोम की आहुति पड़ती है तो यज्ञ होता है। यज्ञ से ही ब्रह्माण्ड की स्थिति रहती है। यज्ञ से ही आत्म स्थिति रहती है अतएव हम आत्मा को यज्ञ कह सकते हैं, इसीलिए—

"**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर**"–यह कहा जाता है। हम जो अपने मुंह से क-च-ट-त-प स्वरूपयुक्ता वर्णात्मिक जो वाक् बोलते हैं वह भी तो अग्नि ही है। शरीरस्थित गर्मी ही तो क-ट-त-प

बनकर बाहर निकलती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जिसके शरीर में अधिक अग्नि होगी अर्थात् बल होगा उसके शब्द उतने ही आगे जायेंगे, एवं मनुष्य जितना अधिक दुर्बल होगा उसकी वाणी उतनी ही अधिक मन्द होगी इसीलिए—

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" यह कहा जाता है। वाक् ही अग्नि है। अग्नि ही आत्मा का स्वरूप है। जब तक शरीर में अग्नि रहती है तभी तक आत्मस्थिति रहती है। जहां हाथ पैर ठण्डे हुए कि काम खत्म हुआ। आत्मा वाक्स्वरूप है अर्थात् अग्निस्वरूप है। इसमें एक प्रमाण और भी है। यह कबूतर है, यह कमेड़ी है–यह बतक है, यह सारस है, यह कोयल है, यह मनुष्य, है यह बैल है, यह कुत्ता है। इस प्रकार की जो जाति व्यवस्था है वह वाक् पर ही निर्भर है। जिसकी बोली एक सार होती है वे सब एक जाति के कहलाते हैं। वाक् ही आत्मस्वरूप की परिचायिक है। काकतोता, जो कि एक शतुर्मुर्ग के माफिक है वह भी तोता ही कहलाता है एवं एक छोटा सा हरितपर्ण का पक्षी भी तोता ही कहा जाता है। हम पूछते है कबूतर तोता क्यों नहीं कहलाता—इसका उत्तर सिवाय वाक् के और हो ही नहीं सकता। कबूतर की वाक् (बोली) काकतोता से भिन्न है अतएव वह तोता नहीं कहलाता। परन्तु छोटे तोते की आवाज काकट तोता से मिलती है अतएव वह तोता कहलाने लगता है। आकार में स्वरूप में चाहे जितना फरक हो यदि बोली समान हो तो वह एक भांति की चीज है। वाक् से जाति व्यवस्था होती है न कि रूप से क्रिया कर्म से। इसीलिए चिड़िया ही कहलाती हैं। मनुष्य–मनुष्य का स्वरूप सर्वथा पृथक् होता है परन्तु इसी वाक् की सदृश्यता से सब मनुष्य कहलाते हैं। मनुष्य एक जाति है यही वाक् के आत्मत्व का बड़ा जबर्दस्त प्रमाण है। वाक् ही आत्मा है। आत्मा यज्ञस्वरूप है इसीलिए **"वाग् वै यज्ञः"** यह कहा जाता है।

जो वस्तु कच्ची होती है यदि उसे बाहर निकाल दी जाती है तो उसका स्वरूप एकदम बिगड़ जाता है। बच्चा यदि १६ वर्ष से पहले स्त्री प्रसङ्ग कर लेता है तो वह जन्म भर रुग्ण रहता है क्योकि १६ वर्ष के पहले वीर्य सर्वथा अपरिपक्व रहता है। गर्भ जब तक १० महीने तक पक नहीं जाता है तब तक उसकी रक्षा करनी चाहिए। यदि १० महिने से पूर्व ही गर्भ गिर जायगा तो उसका नाश हो जायगा। कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक कच्ची अवस्था रहती है तब तक उसे बाहर नहीं निकलना चाहिए। सुरक्षित रखना चाहिए। कृष्णमृग चर्म पर दीक्षा लेकर यजमान आज गर्भ बना हुआ है। अग्नि ही वाक् ही इस गर्भ की आत्मा है। अभी यह एक दम कच्चा है। ऐसी अवस्था में यह मुंह से बोल देगा तो आत्माग्नि निकल जायगी। आत्माग्नि का निकलना यज्ञ का निकलना है। अतः यज्ञ रक्षार्थ इसे वाक् संयमन करना चाहिए। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं—

"एवं वाऽएष यज्ञं संभरति यो दीक्षते" वाग्वै यज्ञः ॥३॥

प्रातःकाल वाक् संयमन करता है एवं उसे सूर्यास्त होने पर छोड़ देता है अर्थात् सायंकाल होते ही मौनव्रत तोड़ देना चाहिए।

"तामस्तमिते वाचं विसृजते"

सायंकाल होते ही वाक् विसर्जन क्यों करे, पहले अथवा बाद में क्यों न करे—इसकी उपपत्ति बतलाते हैं—

पूर्व प्रकरण में हमने बतलाया है कि पृथिवी के केन्द्र से एक प्रकार का अग्नि निकलता है जो कि पृथिवी के २१ वें अहर्गण तक रहता है। इसी अग्निमण्डल को रथन्तर साम कहते हैं। अग्नि ही पदार्थ का आत्मा है अतएव जहां तक अग्नि जाता है वहां तक उस पदार्थ की सत्ता मानी जाती है। इसी आधार पर पृथिवी लोक की सत्ता सूर्य से भी ऊपर तक मानी जाती है इसीलिए तो इसका नाम रथन्तर साम है इसी को सोलर सिस्टम कहते हैं। यह अग्निमण्डल अर्थात् सोलर सिस्टम गोल होता है। पृथिवी पिण्ड के केन्द्र से लेकर पृथिवी के चारों ओर २१ तक यह अमृताग्नि व्याप्त रहता है। इस आग्नेय सोलर सिस्टम को ही सम्वत्सर कहते हैं। प्रत्येक वृत्त ३६० अंश का हुआ करता है। इसी नियम के अनुसार इस आग्नेय वृत्त में भी ३६० ही अंश हैं। संवत्सर मण्डल में आप ३६० अंशों का निशान बना दीजिए। बस जो निशान हैं–वह रात्रि है, एवं निशानों के बीच का भाग दिन है। इस प्रकार एक सम्वत्सर में ३६० दिन हो जाते हैं एवं ३६० रात्रि हो जाती है। सारा संवत्सर अग्निस्वरूप है। सम्वत्सर को ही अग्नि कहते हैं। अग्नि को ही वाक् कहते हैं। सम्वत्सर, अग्नि, वाक् तीनों एक ही वस्तु है इसीलिए कोई सम्वत्सर को अग्नि कहता है कोई वाक् को कहता है–जैसा कि श्रुति कहती है—

"वायुरग्निरिति ह शाक्षायनिन उपासते आदित्योऽग्नि रित्युहैक आहुः। औमत्यो वा हालिङ्गवो वा वायुरेवाग्निः। शाट्यायनिरु ह स्माह–सम्वत्सराएवाग्निः। तस्य वसन्तः शिरः ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षो वर्षा उत्तरः शरच्चतुर्मध्यम आत्मा–हेमन्तशिशिरावृतू पुच्छं प्रतिष्ठां, वागग्निः।"—इति॥

इस संवत्सराग्नि में, जब सोम की आहुति पड़ती है तो इस अग्नि सोमात्मक यज्ञ से ही संसार के यच्चयावत्पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सब का पिता यही संवत्सराग्नि है। बस इसी अभिप्राय से **"संवत्सरो वै प्रजापतिः"** यह कहा गया है। प्रजापति जो अनिरुक्त प्रजापति है वह अकथ प्रजापति कहलाता है। सर्प प्रजापति आवपन प्रजापति कहलाता है। संवत्सराग्नि जिस केन्द्र से निकलता है उस केन्द्रीयमूल शक्ति का नाम ही अनिरूक्त प्रजापति है। इसी से सारा संवत्सराग्नि निकलता है। सम्वत्सराग्नि के निकलने का यही केन्द्रस्थ अग्नि है अतएव इसे उक्थ प्रजापति कहा जाता है। इसी के लिए **"प्रजापतिश्चरति गर्भे"** यह कहा जाता है। इस प्रजापति से ही यह अग्नि बाहर की ओर १२ तक फैलता है। इसी का नाम सम्वत्सर मण्डल है। यही इस प्रजापति की महिमा है। इस महिमा मण्डल के केन्द्र में उक्थ प्रजापति रहता है। अतएव इसके लिए **"स्वे महिम्नि प्रतिष्ठति"** यह कहा जाता है। यही प्रजापति महिमापर्यन्त व्याप्त करता है। बस इस महिमा विशिष्ट प्रजापति को ही **"सर्व प्रजापति"**

कहा जाता है। सारे पदार्थो का अध्ययन अर्थात् स्थान यही प्रजापति है–अतएव सर्व प्रजापति को **आयसन** प्रजापति भी कहा जाता है। प्रकृत में सम्वत्सर को प्रजापति कहा है अतः इससे सर्व प्रजापति ही अभिप्रेत समझना चाहिए। प्रत्येक प्रजापति में उक्थ, अर्क, अशिति यह तीन भाव रहते हैं जो केन्द्रीय अग्नि है वह उक्थ है एवं उसकी जो चारों ओर ज्वालाएं निकलती हैं वह अर्क है एवं उसमें जो पदार्थ आहुत होते रहते हैं वह अशिति है अर्थात् अन्न है। सूर्य का गोला उक्थ है, उसकी किरणें अर्क है एवं जिन पानी वगैरह पदार्थों को वह सोस जाता है वही उसकी अशिति है। अहवनीयकुण्ड उक्थ है। अग्नि की ज्वाला अर्क है एवं आहुति अन्न है। प्रजापति अर्थात् अग्नि तीन ही स्वरूपों में परिणित हो अपनी संस्था कायम करता है इसीलिए " अपि" यह कहा जाता है। यह प्रजापति ही अग्निस्वरूप है। उसी में सोम की आहुति पड़ती रहती है अतएव इस प्रजापति को यज्ञ भी कहा जाता है।

"प्रजापतिर्यज्ञः"

इस सम्वत्सर का असली स्वरूप पूछना चाहो तो अहोरात्र ही है। संवत्सर यज्ञ प्रजापति का साक्षात् स्वरूप दिन और रात ही हैं। दिन आग्नेय है। रात्रि सौम्या है। अग्नि सोम का नाम ही तो यज्ञ है यज्ञ को ही तो संवत्सर प्रजापति कहते हैं

"**अहोरात्रे वै संवत्सरः**"। ३६० दिन का नाम संवत्सर है, ऐसी अवस्था में एक अहोरात्र को ही संवत्सर बतलाना असंगत है। इस भ्रम में कोई न पड जाय इसलिए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

पुनः पुनः आवर्तमान यह जो अहोरात्र है यही तो सम्वत्सर को उत्पन्न करते हैं। दिन-दिन के बाद रात, रात के बाद फिर दिन, फिर रात यह जो अहोरात्र की शृंखला है इसीसे तो संवत्सर का स्वरूप बनता है। सम्वत्सर में सारभाग यह अहोरात्र ही तो है। अग्नि सोम ही है। इन दो के अलावा और है ही क्या ?

"एते ह्येनं परिप्लवमाने कुरुतः (पुनः पुनरावर्तमाने एते ह्येव एनं (संवत्सरं) कुरुतः (जनयतः इतिभावः)

अहोरात्र स्वरूप इस संवत्सर में दो पर्व हैं प्रथम एवं द्वितीय। अतः प्रथम पर्व है। रात्रि द्वितीय पर्व है। अहः पूर्व यज्ञ है, रात्रि उत्तर यज्ञ है। अहः सूर्यप्राण है रात्रि अपान प्राण है–पार्थिव प्राण है। यजमान को पृथिवी लोक से सूर्य लोक में अर्थात् स्वर्ग में जाना है इसमें प्रधान साधक सौर प्राण ही है अर्थात् दिन ही है इसीलिए इसने दिन में ही प्रातःकाल की दीक्षा ली है। इसने अहोरात्रस्वरूप संवत्सर के अहः पर्व में दीक्षा दी है—

"सोऽहन् (अह्नि) अदीक्षिष्ट"

अहर्यज्ञ को, अहः प्राण को इसने आत्मसात् किया है। अब वह रात्रि को पा गया है। अब रात्रि हो गई है तो बस जितना यज्ञ था जितनी इसकी मात्रा की उतनी ही मात्रा को कर यह अब वाक् विस-

र्जन करता है । तात्पर्य यही है कि प्रधानतया इसे सौर प्राण को ग्रात्मसात् करना है न कि अपान प्राण को । ग्रतएव इसने दिन ही में दीक्षा ली थी । सायंकाल होते ही सूर्यप्राण ग्रस्त हो जाता है ग्रतएव ग्रब वाक् संयमन की कोई ग्रावश्यकता नहीं रहती क्योंकि प्राप्तव्य यज्ञांश दिन ही का था ग्रतः उसी की प्राप्ति के लिए, उसे ही ग्रात्मसात् करने के लिए वाक् संयमन की आवश्यकता थी । सायंकाल होते ही तो ग्रपान प्राण घुसने लगता है । ऐसी ग्रवस्था में यदि सायंकाल भी वाक् विसर्जन न किया जायगा तो पार्थिव प्राण का ग्रात्मा में प्रवेश हो जायगा जो कि ग्रभीष्ट नहीं है ग्रतः सायंकाल ही वाक् विसर्जन करना चाहिए इसी ग्रभिप्राय से कहते हैं—

"संवत्सरो वै प्रजापतिः । प्रजापतिर्यज्ञः । ग्रहोरात्रे वै संवत्सरः । एतेह्येनं परिप्लवमाने कुरुतः । सोऽहन्नदीक्षिष्ट स रात्रिं प्रापत् । यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैतदाप्त्वा वाचं विसृजते । तस्मात्तामस्तमिते विसृजते—इति शेषः ।।४।।

कितने ही ग्राचार्य नक्षत्र देखकर वाक् विसर्जन करते हैं । उनका मत है कि जब आकाश में तारे दीख ग्रावें तब वाक् विसर्जन करना चाहिए । इसमें वे उपपत्ति यह बतलाते है कि नक्षत्र दर्शन समय में सूर्य वास्तव में ग्रस्त हो जाता है । नक्षत्रोदय होने पर दिन का स्वरूप तिरोहित हो जाता हैं एवं वास्तव में रात्रि ग्रा जाती है । ग्रतः नक्षत्र देखकर ही वाक् विसर्जन करना चाहिए ।

"तद्ध के नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयन्ति" ग्रनुष्ठ्या स्तमितो भवति इति वदन्तः । नक्षत्र समय में सूर्य ग्रनुष्ठ्य (वास्तव में एकदम) ग्रस्तमित हो जाता है । यह कारण बतलाते हुए वे नक्षत्र देखकर वाक् विसर्जन करते हैं । परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं—ऐसा कभी नहीं करना चाहिए ।

"तदुतथा न कुर्यात्" याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि दैवयोग से ग्राकाश में बदल छा जायेंगे तो ग्रापके नक्षत्र कहां रहेंगे, कैसे नक्षत्र व्यवस्था बनेगी इसीलिए हमारे खयाल से जिस समय ठीक ठीक तरह से सूर्यास्त का ज्ञान हो जाय उसी समय वाक् विसर्जन कर देना चाहिए ग्रर्थात् नक्षत्र दर्शन करने में लक्षणा माननी चाहिए ।

"क्व ते स्युर्यत् मेघः स्यात् । तस्मात् यथैवानुष्ठ्या स्तमितं मन्येत तदेव (तस्मिन्नेव समये) वाचं विसर्जयेत् ।।५।।

कितने ही आचार्य **"भूर्भुवः स्वः"** इस मन्त्र को बोलते हुए वाक् विसर्जन करते हैं । कारण इसका यह बतलाते हैं कि हमने प्रातःकाल से मौन व्रत धारण कर यज्ञ को ग्रात्मसात् किया है, अब हम बोलने वाले हैं तो हमें ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जो यज्ञस्वरूप को पुष्ट करे । यज्ञ को बिखरने न दे ग्रपितु जोड़ दे । यज्ञ को पुष्ट करने वाला एवं यज्ञ का संधान करने वाला तो यज्ञ ही हो सकता है ।

लोहे के बर्तन में लोहे की पाती लगाई जाती है। "भूर्भुवः स्वः" यह वाक् यज्ञ स्वरूप है। भूः पृथिवी लोक है, भुवः अन्तरिक्ष लोक है, स्वः सूर्यलोक है। तीनों अग्नि हैं। इन्हीं में तो आहुति पड़ती है-अतएव तीनों यज्ञस्वरूप हैं। इसलिए हमें इन्हीं से वाक् विसर्जन करना चाहिये।

"अनेनो हैके वाचं विसर्जयन्ति। भूर्भुवःस्वरिति।
यज्ञमाप्याययामो यज्ञं संदध्मः—इति वदन्तः"॥

भूर्भुवः स्वः स्वरूप यज्ञ से हम इस यज्ञ का संधान करते हैं-यह कारण बतलाते हुए कितने ही आचार्य "भूर्भुवः स्वः" इस मन्त्र से वाक् विसर्जन करते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा कभी नहीं करना चाहिए।

क्योंकि जो भूर्भुवः स्वः स्वरूप वाक् विसर्जन करता है न तो वह यज्ञ को पुष्ट करता है एवं न यज्ञ का संधान ही करता है जैसा कि हम आगे बतलाने वाले हैं।

"तदु तथा न कुर्यात् न ह स यज्ञमाप्याययति न संदधाति
य एतेन वाचं विसर्जयति" ॥६॥

याज्ञवल्क्य अपना मत बतलाते हुए कहते हैं कि निम्नलिखित मन्त्र से ही वाक् विसर्जन करना चाहिए।

"अनेनैव वाचं विसर्जयति" व्रतं कृणुताग्नि र्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय —इति

इसी मन्त्र से वाक् विसर्जन करना चाहिए।

यह जो व्रत है अर्थात् दुग्ध है-इस समय इस यजमान का यही यज्ञ है। वाक् विसर्जन काल में साक्षात् यज्ञ यह व्रत ही है। अन्न ही को व्रत कहते हैं। "अन्नं वै व्रतम्" यह सिद्धांत है। व्रत अन्न का साधारण नाम है परन्तु यजमान चूंकि दूध के अलावा और कुछ नहीं खाता अतएव दीक्षित के अन्न को दूध कहा जाता है। दूध ही इसका व्रत है सायंकाल के समय यह दूध ही इस यजमान का असली यज्ञ है। "एष हि अस्यात्र यज्ञो भवति" अपि च यह दूध ही अर्थात् व्रत ही इस यजमान के आत्माग्नि की हवि है। दीक्षा से पूर्व जैसे अग्निहोत्र यज्ञ होता है-आज इस समय यजमान का अग्निहोत्र ही है। तात्पर्य यही है कि अग्निहोत्र यज्ञ में दूध की आहुति दी जाती है तथैव आज इस यजमान की आत्माग्नि में जो कि आहवनीयाग्नि है उसमें दूध की आहुति दी जाती है अतएव यह आहुति साक्षात् अग्निहोत्र है। यह मनुष्य भूखा होता है उसकी शांति खाली मन्त्र बोलने से नहीं होती। मन्त्र यज्ञ से उसका सन्तोष नहीं होता अपितु अन्नाहुति ही उसका सच्चा यज्ञ है। इसी अभिप्राय से कहते हैं।

"एतद्धविः यथापुरा अग्निहोत्रम्"

अग्निहोत्रयत्-यजमान का यह अग्निहोत्र है। यजमान आज दीक्षित बना है। वाक् संयमन द्वारा नया यज्ञात्मा बना है। जैसे पैदा होते ही बच्चा खाऊं खाऊं करने लगता है वैसे ही आज यजमान का आत्मा खाऊं खाऊं कर रहा है। इस समय इसका असली यज्ञ यही है कि इसमें दूध की आहुति डाली जाय। आत्म यज्ञ का असली संधान यही है। इस प्रकार से "**वृतं कृणुत**" इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ यजमान वाक् यज्ञ से दूध स्वरूप यज्ञ को संभरण करके दुग्ध यज्ञ को आत्मयज्ञ में प्रतिष्ठित करता है। "**व्रतं कृणुत, व्रतं कृणुत**—इसका तात्पर्य यही है कि दूध तैय्यार करो, दूध तैय्यार करो। वाक् यज्ञ से दूध को तैय्यार करवाना है-—यही तात्पर्य है, एवं वाक् यज्ञ से तैय्यार करा–जब उस दूध को पी लेता है तो वास्तव में उसका आत्मा प्रतिष्ठित हो जाता है यदि यह कुछ न खाता तो आत्मा की प्रतिष्ठा सर्वथा उखड़ जाती। चूंकि दूध यज्ञात्मा की आत्मा में आहुति दे देता है अतएव इसका आत्मा प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहते है :—

"तद्यज्ञेनैवेदद्यज्ञं संभृत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति"

ऐसा करता हुआ यह यजमान यज्ञ से (दूध से) यज्ञ को (आत्मा को) वितत करता है। मनुष्य जब अन्न खा लेता है तो उसमें आगे काम करने की शक्ति आ जाती है। आज यजमान ने दूध पी लिया है अतएव इसका आत्मा बलिष्ठ हो गया है—बस इसी अभिप्राय से "**यज्ञेन यज्ञं संतनोति**" यह कहा है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सुत्यापर्यन्त यजमान का यही व्रत रहता है अर्थात् दीक्षा के अनन्तर होने वाले सुत्याकर्म पर्यन्त इसे दूध ही पीना चाहिए।

"संततं ह्यवास्यैतद्व्रतं भवत्यासुत्यायै"

पूर्वोक्त मन्त्र को तीन दफे बोलना चाहिए क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् ही होता है। उक्थ, अर्क अशिति —यज्ञ के तीन अवयव होते हैं। देवता त्रिसत्य होते हैं। देवताओं के लिए ही तो यह यज्ञ किया जाता है अतएव तीन दफे बोलना चाहिए।

"त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः" ॥७॥

वाक्विसर्जन आहवनीय अग्नि के अभिमुख होकर करना चाहिए। यह बतलाते हैं—यह यजमान अग्नि की परिक्रमा करके वाक् विसर्जन करता है:—

"अथाग्निमभ्यावृत्य वाचं विसृजते"

"**भूर्भुवः स्वः**" इस मन्त्र का पुनः खण्डन करते हुए एवं स्वपक्ष की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—वह दीक्षित न यज्ञ को आप्यायित ही करता है एवं न यज्ञ का संधान ही करता है जो इस मन्त्र के अलावा अन्य मन्त्र से (भूर्भुवः स्वः से) वाक् विसर्जन करता है :—

"न ह स यज्ञमप्यायययति न संदधाति योऽतोऽन्येन वाचं विसृजते" ।

एवं जो दीक्षित **व्रतं कृणत व्रतं कृणुत**—यह मन्त्र बोलकर वाक् विसर्जन करता है वह पहले-पहल बोलता हुआ सत्यावाक् बोलता है । "दूध तैय्यार करो'- यह जो इसका कहना है वह वास्तव में सच्चा है । सत्यावाक् से वाक् विसर्जन करना बड़ी ही उत्कृष्टता है । इसी से वाक् विसर्जन करना चाहिए । यही तात्पर्य है:—

"स प्रथमं व्याहरन्त्सत्यं वाचोऽभिव्याहरति" ॥८॥

इसका अर्थ करते हैं:—

मन्त्र का पहला हिस्सा है । "व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत" इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है । **दूसरा भाग है "अग्निर्ब्रह्म** । अग्नि वास्तव में ब्रह्म है । ब्रह्म के पर, परापर एवं अपर–यह तीन भेद हैं । परब्रह्म को अव्यय कहते हैं यह आलम्बन स्वरूप है । विश्वातीत है अतएव इसे प्रविविक्त ब्रह्म भी कहा जाता है । परापर ब्रह्म को अक्षर ब्रह्म कहते हैं । यह कारण ब्रह्म है इसे ही प्रविष्ट ब्रह्म कहते हैं एवं अपर ब्रह्म को क्षर ब्रह्म कहते हैं । यही सृष्ट ब्रह्म कहलाता है । इसी को यज्ञ–अक्षर कहते हैं । संसार में जो कुछ तुम देखते हो वह अग्नि ब्रह्म की ही महिमा है । अग्नि ही सब कुछ बना हुआ है । जो कुछ देख रहे हो उसका मूल तत्त्व अग्नि ही है । मूल को ही ब्रह्म कहते हैं । इसीलिए—

"अग्निर्ह्येव ब्रह्म" यह कहा है । यही मूल तूल में परिणत हो जाता है । यही ब्रह्म यज्ञ बन जाता है । अग्नि ही तो यज्ञ बनता है ।

"अग्निर्ह्येव यज्ञः"

तीसरा भाग है–"**वनस्पतिर्यज्ञिय**"—यह । वास्तव में वनस्पतिएं यज्ञिय हैं । यदि वनस्पतिएं (काष्ठादि) न होते तो मनुष्य यज्ञ ही काहे से करे, अतएव हम कह सकते हैं वनस्पतिएं यज्ञिय हैं—

न हि मनुष्या यजेरन् यद् वनस्पतयो न स्युः तस्मादाह वनस्पतिर्यज्ञिय इति ॥९॥

सायंकाल **"व्रतं कृणुत"** इत्यादि मन्त्र से दीक्षित यजमान वाक् विसर्जन करता है । यजमान ऋत्विजों के प्रति कहता है कि आप मेरे लिए अर्थात् आत्मदेवताओं के लिए दूध तैय्यार कीजिए । **"व्रतं कृणुत"** इसका यही तात्पर्य है । यजमान के इस कथनानुसार ऋत्विग् लोग यजमान के लिए दूध गरम करते हैं ।

अथास्मै (यजमानाय) व्रतं (दुग्धं) श्रपयन्ति (ऋत्विजः इति शेषः । दूध को गरम क्यों करना चाहिए । क्यों न दीक्षित ठंडा दूध ही पीले, इसका कारण बतलाते हैं । जो मनुष्य दीक्षा लेता है वह मनुष्य मण्डली से हटकर देवताओं की ओर आ जाता है । आज यह यजमान दीक्षा के प्रभाव से देवताओं में एक हो जाता है अर्थात् देवताओं में इसकी गणना होने लगती है । यह भी एक देवता बन जाता है । देवताओं का जो अन्न है वह शृत होता है । जो हवि पकाया नहीं गया है ऐसा अशृत हवि

देवताओं की चीज नहीं है। कारण इसका यही है कि देवता आग्नेय हैं। आग्नेय प्राण का नाम देवता है। देवता समष्टि का नाम ही सूर्य है। सूर्य अग्नि का पिण्ड है, उसमें जो कुछ डाला जाता है गरम हो जाता है। गरम चीज ही देवताओं को प्रिय है। जो वस्तु ठंडी रहती है वह आसुर है। ठंडापना पानी का धर्म है। आप्य प्राण को ही असुर कहते हैं। जैसा कि ब्राह्मण के प्रारम्भ में विस्तृत रूप से बतला दिया गया है। औषधियों और पानी के मिश्रण से गौमाता के उदर में दूध बनता है। दूध में इसीलिए तो—

"औषधीर्जग्ध्वा अपः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति" यह कहा जाता है।

कहना यही है कि दूध में पानी का हिस्सा मौजूद है। पानी का अधिष्ठाता वरुण है। वरुण असुर है। देवता विरोधी है अतः देवता को जो भी कुछ दिया जाता है अग्नि पर पका कर आप्य प्राण स्वरूप असुर का नाश करके ही दिया जाता है। जो अन्न जला हुआ होता है वह निऋति देवता को दिया जाता है। जलना ही निऋति का स्वरूप है। इसीलिए "पाप्मा वै निऋतिः" **"घोरा: वै निऋतिः"** यह कहा जाता है एवं जो सर्वथा अपरिपक्व है वह रौद्र कहलाता है, एवं जो परिपक्व होता है वह दैव कहलाता है।

यो विदग्धः स नैऋतो योऽश्रृतः स रौद्रो यः श्रृतः स दैवत्वाय" देव कहने का तात्पर्य यही है कि यह यजमान देवता है। सामान्य मनुष्य नहीं है। देवता परिपक्व हवि को पसन्द करते हैं अतएव इसके लिए ऋत्विग् लोग दूध गरम करते हैं।

"देवान्वा उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति।
श्रृतं वै देवानां हविः। नाश्रृतम्। तस्माच्छ्रपयन्ति।

पक्व हवि देवताओं के लिए है। इससे कहीं यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह परिपक्व दूध इस आहवनीय कुण्डस्थ अग्नि में ही डालना चाहिए। नहीं, नहीं। इस समय आहवनीय कुण्ड यजमान बना हुआ है। यजमान ही इस दूध को पीता है। यजमान अपनी आत्माग्नि में इसकी आहुति देता है। बाहर के आहवनीय अग्नि में नहीं डालता है।

"तदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति"

यहां इस कर्म में जिस लिए कि यजमान स्वयं ही दूध पी जाता है बाहर की अग्नि में नहीं डालता, इसकी उपपत्ति बतलाते हैं—

तद्यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति–तदुच्यते–इति शेषः ॥१०॥

ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही हमने कहा था कि वैदिक आख्यान, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत तीनों से सम्बन्ध रखते हैं। इसी परिभाषा के अनुसार "**यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्यु र्येषामियं जितिः**" यह आख्यान तीनों पर घटता है। तीनों में से अधिदैवत और अधिभूत अर्थात् ऐतिहासिक अर्थ इस आख्यान का बतला दिया गया। अब इसका आध्यात्मिक अर्थ भगवान् याज्ञवल्क्य स्वयं बतलाते हैं—

जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एवं देवताभ्यः—यह सिद्धांत है। संसार के यच्चयावत् पदार्थ, क्या जड, क्या चेतन–इन अग्नि वायु आदि से ही उत्पन्न होते हैं। हमारा शरीर इन देवताओं से ही बना हुआ है। जितने देवता आधिदैवत मण्डल में हैं उतने ही अध्यात्म में हैं **"यदेवेहतदमुत्र यदमुत्र तदन्विह"** यह हमारा घण्टाघोष है। कौन कौन से देवता हमारे शरीर में है–यह बात आगे जाकर स्पष्ट हो जायेगी। देवता सारे आग्नेय हैं। यह हम कई बार कह चुके हैं एवं दृढ़ता के लिए फिर कह देते हैं कि देवता वास्तव में आग्नेय ही हैं। अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है। जिसका विस्तृत विवेचन ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। अग्नि अन्नाद अर्थात् अत्ता कहलाता है। एवं सोम अन्न कहलाता है। वह खाने वाले और खाद्य के अलावा और तीसरी वस्तु है ही नहीं। अग्नि और सोम के अलावा वास्तव में और कुछ नहीं है इसीलिए **"अग्निषोमात्मकं जगत्"** यह कहा जाता है। इसी अभिप्राय से ही—

द्वयं वाऽइदमत्ता चैवाद्यं च—यह कहा जाता है। सोम अन्न है, अन्न अग्नि में आहुत होकर अग्नि ही बन जाता है। अग्नि में जाए बाद सोम और अग्नि यह दो व्यवहार नहीं होते अपितु "अग्नि" यही व्यवहार होता है। अत्ता ही का नाम रहता है। अन्न जब तक अग्नि के बाहर है तब तक वह अन्न है जहां अग्नि में आहुत हुआ कि स्वयं अत्ता बना। खाया हुआ अन्न अग्निस्वरूप में परिणत हो आत्मा बन जाता है अतएव हम अग्नि सोम की मिलित अवस्था को "अत्ता" कहने के लिए तैय्यार हैं इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है:—

तद्यदोभयं समागच्छत्यत्तैवाख्यायते नाद्यम् ।

श्रुति ने **"द्वयं वाऽइदमत्ता चैवाद्यं च"**—यह कहा है। अत्ता अग्नि ही है। अन्न सोम ही है। यह विश्वास दिलाती हुई–श्रुति आगे जाकर कहती है।

स वै यः सोऽत्ताग्निरेव सः। आदित्यो वाऽअत्ता, तस्य चन्द्रमा एवाहितयः (आहुतयः) चन्द्रमसंह्यादित्येऽआदधति—इत्यधिदैवतम् (शत० १०/६/२/१)

अधिदैवत मण्डल में इसअत्ता–आद्य को सूर्य और चन्द्र नाम से व्यवहृत किया जाता है। सूर्य अत्ता है, चन्द्रमा अन्न है। हमें अध्यात्म का विवेचन करना है। अध्यात्म मण्डल में अत्ता प्राण को कहते हैं। आद्य अन्न को कहते हैं। हम अपने शरीर पर जहां भी कहीं हाथ लगाते हैं–उसे गरम पाते हैं। यह गरमाई इसी प्राण की है जो कि अग्निस्वरूप है। यह अग्नि धक्-धक् करता हुआ प्रज्वलित रहता है, एवं साथ ही में अनवरत खर्च भी होता रहता है। कान नाक बन्द करने पर जो एक शब्द सुनाई पड़ता है वही इसी शरीरस्थ प्राणाग्नि का शब्द है—

अथाप्यपिधायकर्ण उपशृणुयात्–स एषोऽग्नेखि प्रज्वलतोरथरस्येवो शन्दिस्तं यदा न शृणुयात् तदप्येवमेवविधात् (ऐ. आ.)

तात्पर्य कहने का यही है कि शरीरस्थ प्राण–अग्नि ही है। इस प्राण-अग्नि में अन्न की आहुति पड़ती रहती है। इसी से अग्नि की स्थिति रहती है। अग्नि सोमात्मक इस यज्ञ से ही मनुष्य की जिन्दगी

रहती है। संसार के यच्चयावत प्राणिमात्र इसी यज्ञ से जीवित रहते हैं। सर्वत्र यज्ञ ही जीवन का एकमात्र कारण है। त्रैलोक्य में यज्ञ भगवान् व्याप्त हो रहे हैं। यह अग्नि की ही महिमा है। अग्नि का नाम ही देवता है। प्राणिमात्र को जो हम चलते फिरते देखते हैं। वह वास्तव में अग्नि भगवान् का चलना फिरना है। सर्वत्र अग्नि की ही विजय हो रही हैं। बस इसी अध्यात्म विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

"यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिः" इति।

देवताओं ने इसी अग्नीसोमात्मक यज्ञ द्वारा उस रूप को प्राप्त किया है एवं कर रहे हैं जो कि इनकी जय आज सर्वत्र देखी एवं सुनी जाती है। यज्ञ का सार भाग आहुति ही है। यदि अन्न न खॉय तो एकदम शरीर में शिथिलता आ जाय जब तक अन्न खाते रहते हैं तभी तक शरीराग्नि स्थित रहता है। अन्न ही करामात है। इसीलिए भाषा में—"पडै तीन पाव चून पेट में जद फड़कै बोटी बोटी" यह कहा जाता है। जिस समय हम अन्न खाते हैं तो खाने के साथ ही यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है। अन्न की अर्थात् सोम की प्राणाग्नि में आहुति होने लगती है। इसीका तो नाम यज्ञ है। यह अन्न अर्थात् आहुति शरीर में जाकर ऊर्क् स्वरूप में परिणत हो जाती है। 'रसासृङ्मेदोमांसादि' के अनन्तर अन्न ऊर्क् रूप में परिणत हो जाता है। ऊर्क् एक प्रकार का स्फूर्तिप्रद प्राण है। शरीर पर-चेहरे पर जो एक दमदमाहट रहती है उसी का नाम ऊर्क् है। ऊर्क् अन्त में प्राण में परिणत होता है। वही प्राणाग्नि कहलाता है। ऊर्क् ही प्राणस्वरूप में परिणत है। इसीलिए यज्ञ का **"अन्नोर्क् प्राणा नामन्योन्यपरिग्रहो-यज्ञः"** यह भी लक्षण किया जाता है। यह प्राण असल में आहुति ही तो है। आहुति ही तो यज्ञ का सार भाग है। आहुति से जैसे यह प्राण बनता रहता है, वैसे ही खर्च भी होता रहता है। हमारे शरीर की जो रोमावलियां हैं, उनके द्वारा प्रतिक्षण प्राणमात्रा खर्च होती रहती है। परन्तु साथ ही में आती भी रहती है। इसीलिए कमजोरी नहीं मालूम होती। यदि आमद से खर्च ज्यादा हो जाता है तो उसी समय प्राण की कमी का अनुभव हो जाता है। यदि हम हिम्मत से ज्यादा यात्रा कर डालते हैं तो एकदम थक जाते हैं अन्त में हमें विश्राम के लिए बैठना पड़ता है। कारण इसका, प्राण का अधिक मात्रा में खर्च होना ही है। यह प्राण प्रतिक्षण खर्च होता रहता है। परन्तु हमें मालूम नहीं होता कि कैसे खर्च होता है? कब होता है? घटपटादिवत् हम प्राण को खर्च होते हुए नहीं देखते। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि हमारा यह प्राणभाग—यज्ञ का सारभाग, बाहर निकल कर उस व्यापक प्राणमण्डल में जा मिलता है जिसे कि हम अधिदैवतमण्डल कहेंगे। हमारे अध्यात्मयज्ञ का सारभाग हमारे से खिच कर-बाहर निकल कर, उन प्राण देवताओं में जा मिलता है। अन्न खाते हैं इसका तो हमें पता रहता है परन्तु भीतर जाके अन्न द्वारा यज्ञ क्यों कर होता है। इस यज्ञ का हर सामान्य मनुष्य जरा भी रहस्य नहीं जानते। इस यज्ञ के छिपने का एकमात्र साधन हमारा शिरोभाग ही है। इसी शिरोभाग को यूप कहते हैं। यूप सूर्यस्थानापन्न है, यह हम पूर्व के प्रकरणों में बतला आए हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों के रस से हमारे शरीर का निर्माण होता है। जो पार्थिव प्राण है वह अपान कहलाता है। आन्तरिक्ष प्राण व्यान कहलाता है एवं सौर प्राण प्राण ही कहलाता है। इन तीनों में व्यान सारे शरीर में रहता है। व्यान वायुस्वरूप है। यह वायु रक्तादि का सञ्चार करता हुआ सारे शरीर में

व्याप्त रहता है। वायु से ही शरीर की स्थिति है। प्राण और अपान की सत्ता व्यान पर अवलम्बित हैं यदि वायु का व्यापार बन्द हो जाय तो न प्राण व्यापार हो न अपान व्यापार हो। वातावरण ही अच्छी बुरी स्थिति का कारण है। इसीलिए श्रुति कहती है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

यह वायु अर्थात् व्यान–प्राण एवं अपान के बीच की वस्तु है। प्राण सूर्य की चीज है। सूर्य ही में सारे देवता रहते हैं एवं पार्थिव आग्नेय देवता अपान में रहते हैं। दोनों देवता इस मध्यस्थ व्यान की ही उपासना करते हैं अर्थात् इसी के आधार पर सारे देवताओं की सत्ता है। इसीलिए—

"मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते"

यह कहा जाता है। बतलाना इस प्रपञ्च से हमें यही है कि प्राण सूर्य की वस्तु है एवं इसका प्रधान स्थान शिरोगुहा है। मस्तक में ही सौर प्राण की प्रधानता रहती है। सूर्य बुद्धि प्रदाता है। सोचने के विज्ञान का काम इसी सौर प्राण से होता है। हम सोचने का काम मस्तिष्क से लेते हैं अतएव मानना पडता है कि मस्तक सौर प्राणयुक्त है। जैसे दीपरश्मियां दीप से अभिन्न हैं अतएव हम इन्हें भी दीप कह सकते हैं। तद्वत् सौर प्राण चूंकि सूर्य्य से अभिन्न हैं अतएव हम सौरप्राण–प्रधांन मस्तक को सूर्य कह सकते हैं।

प्रकृति मण्डल में–सूर्य में ही पारमेष्ठ्य–सोम की आहुति पड़ती है। एवमेव यहां भी सूर्य स्थानापन्न मुख में ही आहुति पड़ती है। आहुति पड़ती है इतना ही तो हमें ज्ञान है। बाकी हम कुछ नहीं जानते, सिवाय यूप के (सूर्य स्वरूप मुख्य के) हम यज्ञ के विषय में और कुछ नहीं जानते, एवं जो प्राणभाग, सारभाग हमारे में से निकल जाता है उसकी भी हमें जरा भी खबर नहीं रहती। शरीर हमारा वैसा रहता है जैसे कि मधु निकलने के बाद पुष्प। पुष्प में से मधु कैसे निकल गया, भौरां कैसे एवं कब उस रस को चूस गया। जैसे इस बात का पता लगना कठिन है वही हालत इस प्राण के विषय में है जो कि यज्ञ का सारभाग है। संपूर्ण कथन का तात्पर्य यही हुआ कि हम यज्ञ स्वरूप हैं। इसी यज्ञ से अध्यात्म आग्नेय–देवताओं की विजय हो रही है। यदि अन्न न खाया जाता तो यज्ञ नहीं होता। यज्ञ नहीं होता तो शरीर की गर्मी (देवता) निकल जाती। देवता लोग इस यज्ञ को मनुष्यों से छुपाते हैं। सामान्य मनुष्य नहीं जानता कि अन्न खाने से अध्यात्म यज्ञ कैसे होता है। प्राण प्रतिक्षण खर्च होता है परन्तु हम नहीं जानते। देवता सदा हमारे प्राण को चूसा करते हैं। हम यज्ञ–रहस्य को नहीं जानते इसका एकमात्र कारण मुख है। मुख ही ने यज्ञ को छुपा रक्खा है इसीलिए मुख को यूप कहते हैं। यूप का अर्थ छुपाना ही है। हम मुख ही मुख को देखते हैं। असली यज्ञ का हमें जरा भी पता नहीं है। बस इसी अध्यात्म यज्ञ को लक्ष्य में रख कर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यज्ञेन वै देवाः इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिः। ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यं स्यादिति, ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्। अथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥११॥"

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सामान्य मनुष्य जो कि यथाजात है, निर्बुद्धि हैं वे अवश्य ही इसे न जानते न सुनते, अर्थात् न पढ़ते, न मनन करते, परन्तु जो महर्षि हैं, वैज्ञानिक हैं, साहसिक हैं, तपोमूर्ति हैं। वे इस रहस्य को करकमलवत् देखते हैं एवं जानते हैं। उन्हें प्रकृति का सारा रहस्य मालूम है। अध्यात्म–यज्ञ के सारे रहस्यों से वे परिचित हैं। जैसा प्राकृति देवता पारमेष्ठय सोम आहुति से अपने प्राणभाग को संभृत कर स्वयज्ञ किया करते हैं तद्वत् महर्षियों ने स्वात्मयज्ञ को उसी अन्नाहुति क्रम से संभृत किया अर्थात् पूरा किया। अर्थात् जो वैज्ञानिक मनुष्य होते हैं वे जान जाते हैं कि आहुति ही इस अध्यात्म यज्ञ का सार भाग है। इसमें अन्न की आहुति दे दो। निकला हुआ यज्ञ का सारभग अभी पूरा हो जायगा। इसी अभिप्राय से कहते हैं:—

"तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। ते यज्ञं समभरन् यथायं यज्ञः (प्रकृति-देवानाम्) संभृतः

"दूध क्यों पीना चाहिए" इसकी ओर ध्यान दिलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आज यह यजमान सोमभाग में यज्ञ बना रहा है। जो सामान्य मनुष्य होता है उनका आत्मा अयज्ञिय है। अयज्ञिय तो नहीं है किन्तु उसमें पार्थिव प्राण उल्वण रहता हैं एवं दिव्य प्राण अनुल्वण रहता है परन्तु जो वैध उपायों से दिव्याग्नि को आत्मसात् कर लेता है वही वास्तव में यज्ञिय मनुष्य कहलाता है। यज्ञ सूर्य की वस्तु है। उस सौर प्राण को, दिव्याग्नि को आत्मसात् करना अपने को यज्ञस्वरूप बनाना है। जो आहिताग्नि होते हैं वे यज्ञस्वरूप कहलाते हैं क्योंकि उनमें दिव्याग्नि उल्वण रहता है। यजमान ने आज दीक्षा लेकर दिव्याग्नि को आत्मसात् कर रक्खा है यही तो आत्मा यज्ञान्त में "**दैवात्मा**" नाम धारण करता हुआ उत्पन्न होगा। यह दिव्यात्मा ही तो इस यजमान को, मनुष्य आत्मा को स्वर्ग ले जायगा। अस्तु, कहना सिर्फ यही है कि दिव्याग्नि के आत्मसात् करने के कारण यजमान यज्ञस्वरूप है:—

"एष वाऽअत्र यज्ञो भवति यो दीक्षते"

यह यजमान ही इस आत्मयज्ञ का वितान करता है एवं अन्त में बाहर की अग्नि में सोम डाल यह यजमान ही, अपने इस दिव्यात्मा को उत्पन्न करता है अर्थात् पूरा स्वरूप बना लेता है। स्वयं दिव्याग्निमय बन जाता है। जिस दिव्याग्नि का-छान्दस अग्नि का-आत्मा में आधान होता है, वही गर्भ कहलाता है। सोम यागानन्तर यही गर्भ बाहर निकलता है----

"एष ह्येनं तनुते, एष एनं जनयति"

आज यजमान यज्ञस्वरूप बना हुआ है। यज्ञात्मामय बना हुआ है। इस यज्ञात्मा का प्राणभाग प्रातःकाल से सायं काल तक अधिक परिश्रम के कारण बाहर निकलता है। प्राणभाग विस्रस्त हो गया है। यज्ञ का सारभाग देवताओं द्वारा निर्धीत एवं विदुग्ध हो गया है। बस दूध मिलाकर दूध की आहुति देकर उस यज्ञात्मा को आप्यायित करता है। अर्थात् यह भी अग्नि ही है। यज्ञ की तृप्ति के लिए यजमान ही व्रत का पालन करता है। अर्थात् स्वयं ही दूध पीता है। बाहर की अग्नि में नहीं डालता है।

"तद्य देवात्र यज्ञस्य निर्धीतं तद्विदुग्धं तदेवैतद् पुनराप्याययति यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति"।

याज्ञवल्क्य कहते है कि यदि यजमान अपने आत्माग्नि में दूध की आहुति न देकर बाहर के आहवनीयाग्नि में आहुति देगा तो अपने यज्ञ को आप्यायित नहीं कर सकेगा, एवं साथ ही में जिस सोमयाग को यह करना चाहता है वह भी आप्यायित नही होगा। भूखा मनुष्य निर्बल रहता है। न वह शरीरयज्ञ को संभाल सकता है। न बाहर के यज्ञ को संभाल सकता है अतः बाहर यज्ञ का एवं आत्मयज्ञ का-दोनों का आप्यायन करने के लिए अपने में तो दूध की आहुति डालनी चाहिए।

"न हाप्याययेद्यदग्नौ जुहुयात्"

परन्तु साथ ही में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उस दूध को आहुति के माफिक ही समझे। मै भूखा हूं इसलिए दूध पी रहा हूं-यह न समझे। तात्पर्य यही है कि यह दूध नए आहित-यज्ञात्मा के लिए पिया जाता है न कि मानुष आत्मा के लिए। मिल उसे भी जाता है, यह बात दूसरी है, किन्तु दिया उसी के उद्देश्य से जाता है। वह यज्ञाग्नि वास्तव में साक्षात् आहवनीय अग्नि है। उसमें आहुति देना वास्तव में अग्निहोत्र करना है इसलिए उस दूध को इस भाव से भी पीना चाहिए कि मैं यज्ञ में आहुति दे रहा हूं। भूखा हूं इस खयाल से स्वाद ले लेकर केवल पेट भरने के भाव से जो दूध पिया जायगा वह मनुष्य कर्म हो जायगा, इसलिए आहुति समझ कर पीना चाहिए।

जुह्वदु हैव मन्येत नाजुह्वत् ॥१२॥

प्राणाग्नि में, दिव्याग्नि में इसे आप्यायित करने के लिए दूध की आहुति डाली जाती है। दूध पीने से यज्ञात्मा आप्यायित होता है अतः यजमान को दूध अपने आप पीना चाहिये। क्योंकि अपने आप पीना भी देवताओं में ही आहुति डालना है। हमारे शरीर में हुत दुग्ध भी आहवनीयाग्नि की तरह देवताओं में ही जाता है। हमने बाहर की अग्नि में डाला ही नहीं फिर यज्ञ में कैसे पहुंचा क्योंकि यज्ञ देवता स्वरूप है एवं देवता शरीर के बाहर है इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिये। जो देवता प्रकृति मण्डल हैं वे वैसे से ही अध्यात्म मण्डल में भी सारे देवता मौजूद हैं। ऐसी अवस्था में अध्यात्म में आहुति देना, देवताओं में ही आहुति देना है। कौन कौन से देवता हमारे शरीर में रहते हैं—यह बतलाते हैं।

हमारे में जो चक्षु श्रोत्रादि प्राण है। यह सारे प्राण मन से उत्पन्न हुए है अतएव मनोयुज् है। सारे प्राण सदा मन से बद्ध रहते हैं। मन तीन प्रकार का समझना चाहिए। १ श्वोवसीयस २ सर्वेन्द्रिय ३ इन्द्रिय। अक्षर, क्षर, एवं अव्यय समष्टि को आत्मा कहा जाता है। अक्षर अव्यय पुरुष की परा प्रकृति है, क्षर अव्यय पुरुष की अपरा प्रकृति है। अक्षर और क्षर, अव्यय पुरुष के बिना कभी नही रहते तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। अतएव अक्षर और क्षर को भी पुरुष कह दिया जाता है। जैसा कि भगवान् कहते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्यय बिभर्त्यव्यय ईश्वर : ॥ [गीता. १५/१६-१७]

इन तीनों पुरुषों में जो अव्यय पुरुष है उसकी आनन्दविज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पांच कलाएं हैं। इनमें से आनन्दविज्ञान मन का नाम ब्रह्म है। मन, प्राण, वाक् का नाम कर्म है जो आनन्दविज्ञान मन, इस ब्रह्म के सीगा का मन है वही श्वोवसीयस मन कहलाता है। इसी मन को अव्यय मन भी कहते है। यह मन शुद्ध ज्ञानस्वरुप है। इसी मन की प्रेरणा से कर्म वाला मन, जो कि इच्छात्मक है काम किया करता है। मन, प्राण, वाक् में जो मन है उसी का नाम सर्वेन्द्रिय मन है। इच्छा इसी का धर्म है श्रुति में बार बार स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्—यह लिखा रहता है इसमें जो 'स ऐक्षत' है अर्थात इच्छा है वह मन का हिस्सा है 'तपोऽतप्यत' प्राण का व्यापार है एवं सोऽश्राम्यत् वाक् का व्यापार है। आनन्द विज्ञान मन तीनों ज्ञान स्वरूप हैं। इससे मन का अर्थात् इच्छा मन का उदय होता है इच्छा से तप होता है इसी तप को प्रयत्न एवं कृति शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है एवं तप से वाग् व्यापार होता है अर्थात भूत व्यापार होता है। इसी को चेष्टा भी कहते हैं। आत्मा–मन–प्राण–वाक् पर जाकर अपना स्वरूप समाप्त करता है अतएव "स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः –यह कहा जाता है मनोमय में जो मन है वह इच्छा स्वरूप है। यही प्रज्ञान मन कहलाता है यह उस ब्रह्मान्तर्गत शुद्ध ज्ञानस्वरूप मन के आलम्बन पर जो कि मन आत्मा कहलाता है– अपना व्यापार करता है इसीलिएः—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत्कर्म तदेतत् कृतमुच्यते ।।

यह कहा जाता है। यह जो प्रज्ञानमन है वह पांचों ज्ञानेन्द्रियों पर एवं पांचों कर्मेन्द्रियों पर हावी रहता है। बिना इस इच्छा स्वरूप मन के, बिना प्रज्ञान के दसों इन्द्रियां बेकार है। यह प्रज्ञानमन इन दसों इन्द्रियों का बर्तन है। सूर्य्य के ऊपर हमने परमेष्ठिमण्डल बतलाया है एवं उसे सोममय बतलाया है। यह जो सोम है वह ब्रह्मणस्पति सोम नाम से प्रसिद्ध है। संसार में अपवित्र भाव को दूर करने वाला यही सोम है। इसी ब्रह्मणस्पति सोम के लिए कहा जाता हैः—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ।। [ऋ. ७/३/८]

यह सोम जब तक स्वयंभूमण्डल की चेतना से युक्त नहीं होता जो कि स्वयम्भूमण्डल परमेष्ठिमण्डल से ऊपर है तब तक सोम ही कहा जाता है परन्तु इसी सोम पर जब चित् का प्रतिबिम्ब पड जाता है तो यही सोम मन कहलाने लगता है। चित् ज्ञानशक्ति का नाम है। इस चित् को सोम के साथ सम्बन्ध हो जाने पर मन को प्रज्ञानमन कहने लगते हैं। चेतना का प्रतिबिम्ब – सोम, वायु और पानी तीन ही पदार्थों पर पडता है। सूर्य का प्रतिबिम्ब जैसे तरल पदार्थों पर पडता है ठीक उसी प्रकार चेतना का जिसे कि चित् कहते हैं प्रतिबिम्ब इन्हीं पूर्वोक्त तीन पदार्थों पर पडता है। चित् के प्रतिबिम्ब का अर्थात् चित् के आभास का नाम ही जीव है। चिदाभास ही जीव कहलाता है एवं चित् ग्राहक है पानी, सोम, हवा ये तीन पदार्थ, अतएव अखिल ब्रह्माण्ड में जीव भी वायव्य, आप्य, एवं सौम्य तीन ही प्रकार के उत्पन्न होते है। वायु और पानी वस्तुतः सोम की घन और तरलावस्था के नाम ही है। अतएव

तीनों सोम ही हैं। इसी सोम का नाम महान् है यही चित् के प्रतिबिम्ब का ग्राहक है। चिदात्मा की योनि है इसलिए:—

"मम योनिमहद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ॥

यह कहा जाता है। कहना इस सारे प्रपंच से हमें यही है कि चिदनुगृहीत जो ब्रह्मणस्पति सोम है। उसी का नाम प्रज्ञामन है। जिस प्रकार ब्रह्मणस्पति सोम में चित् का सम्बन्ध हो जाता है। तद्वत सोम से नीचे रहने वाले अर्थात् परमेष्ठि मण्डल से अधोभागस्थित सौर प्राण में भी चित् का सम्बन्ध होता है। वह चिदनुगृहीत जो सौर प्राण है उसी का नाम "विज्ञान" पड़ जाता है। सूर्य प्राण क्रियास्वरूप है क्रिया प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा जड़ है परन्तु चित् के सम्बन्ध में हो जाने से क्रियास्वरूप सौरप्राण विज्ञान कहलाने लगता है। चिदनुगृहीत इस सौर प्राण का, विज्ञान का प्रज्ञानमन से जब सम्बन्ध हो जाता है तो यही प्रज्ञा-मन "प्राज्ञात्मा" कहलाने लगता है। इस प्रज्ञानात्मा में प्रज्ञामन और सौर प्राण अर्थात् विज्ञान दोनों अंश मौजूद हैं। इस प्रकार प्रज्ञानात्मा यद्यपि भावद्वययुक्त है तथापि दोनों (प्रज्ञा और प्राण) ऐसे मिल रहे हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता इसलिए श्रुति कहती है—

"या वै प्रज्ञा सः प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहो तिष्ठतः। अपि च – स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तो गच्छति।"

इस प्रज्ञानात्मा के आधार पर ही चक्षु, श्रोत्र, वाक्, इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ अवलम्बित रहती हैं। जब तक आत्मा है तब तक सारी इन्द्रियों की स्थिति है। इसी प्रज्ञानात्मा के आधार पर इनकी (इन्द्रियों की) उत्पत्ति होती है एवं उत्पन्न होकर सारी इन्द्रियाँ इसी प्रज्ञानात्मा से बद्ध रहती है। प्रज्ञान मन का नाम है। इसी के आधार पर सारे देवता इसी से बद्ध होकर रहते हैं। इन इन्द्रियों को प्राणशब्द से कहा जाता है। चक्षु भी प्राण है, श्रोत्र भी प्राण है, वाक् भी प्राण है। सब प्राण ही प्राण हैं, पर सारे प्राण–दसों प्राण, अर्थात् दसों इन्द्रियाँ इस प्रज्ञान मन से उत्पन्न होती हैं। इसी पर रहती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"इमे वै प्राणा। मनोजाता मनोयुजः"।

पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन दसों इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह मन ही है, जो कि प्रज्ञामन नाम से व्यवहृत होता है। यह मन सारी इन्द्रियों में रहता है। इन्द्रियों में संकल्प विकल्प धर्मा यह मन रहता है। चूंकि सारी इन्द्रियों का यह मन अधिष्ठाता है। अतएव इसे सर्वेन्द्रिय मन कहा जाता है। एक ही प्रज्ञामन पांचों ज्ञानेन्द्रियों में जाकर ज्ञानस्वरूप बन जाता है एवं कर्मेन्द्रियों में जाकर कर्म स्वरूप बन जाता है। एक ही मन ज्ञान कर्म भेद से उभयात्मक है। इसलिए—

"उभयात्मकमत्रमन संकल्प विकल्पम्"(सांख्य का)-यह कहा जाता है। इन्द्रियों का धर्म सर्वथा नियत है। चक्षु से रूप ही का प्रत्यक्ष होता है। कान से शब्द ही का प्रत्यक्ष होता है। सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने

विषयों में नियत हैं। एक इन्द्रिय अन्य इन्द्रिय के विषय का अनुभव नहीं कर सकतीं। यही विज्ञान नियतविषय च इन्द्रियों का लक्षण है। यह प्रज्ञामन दसों इन्द्रियों का अनुभव करता है। चक्षु पर बैठा हुआ प्रज्ञामन रूप का संकल्प विकल्प करता है। श्रोत्र पर बैठा हुआ प्रज्ञामन शब्द का संकल्प विकल्प करता है। चूंकि प्रज्ञान मन सारी इन्द्रियों में व्याप्त है अतएव इस प्रज्ञामन को नियतविषयाभावात् इन्द्रिय नहीं कह सकते। इसी लिए यह सर्वेन्द्रिय मन अनिन्द्रिय मन भी कहलाता है। विषय को लेना और छोड़ना, संकल्प करना, विकल्प करना यही इस अनिन्द्रिय मन का काम है। हमारे शरीर में अग्नि वायु, आदित्य, चन्द्रमा और विश्वेदेव ये पांच प्राण रहते हैं। यही पांचों अवान्तर भेदों से एक-एक इन्द्रिय कहलाने लगते हैं।

अग्नि वाक् कहलाता है। हम जो कुछ बोलते हैं वह सब अग्नि देवता की, अग्नि प्राण की महिमा समझो। क-च-ट-त-प इत्यादि वर्ण आग्नेय हैं एवं वायु नासिका स्थानापन्न है। आदित्य से चक्षु बनते हैं। चन्द्रमा से मन बनता है, एवं विश्वेदेवों से श्रोत्र बनते हैं। विश्वेदेव और चन्द्रमा दोनों ही सोम हैं। चन्द्रमा भास्वर सोम का नाम है। विश्वेदेव दिक् सोम का नाम है। चन्द्रमा से मन बनता है इसी लिए—"मनश्चन्द्रेण लीयते-यह कहा जाता है। दिक् सोम से श्रोत्र बनते हैं। हमने मन तीन प्रकार के बतलाये थे–इन तीनों में तीसरा यही मन है जो कि चन्द्रमा से बनता है, एवं मन कहलाता है। प्रज्ञान मन का काम संकल्प-विकल्प है। प्रज्ञानमन संकल्प विकल्पात्मक है एवं यह इन्द्रिय मन सुखदुःख का अनुभव करने वाला है। चक्षु से हम रूप देखते हैं। इस रूप से जो आनन्द आता है वह इस इन्द्रिय मन का काम है, एवं बुरे रूप को देखकर जो दुःख होता हैं वह भी इसी इन्द्रिय मन का काम है। सारी इन्द्रियों के सुखदुःख का अधिष्ठाता' अनुभवकर्ता यही इन्द्रियमन है। यद्यपि काम करता है यह सारी इन्द्रियों का तथापि सुखदुःखानुभव के अलावा और इसका कोई काम नहीं हैं। इसका विषय नियत है। अतएव हम नियत विषय साधर्म्यात् मन को अवश्य ही इन्द्रिय मन कह सकते हैं। "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" से यही मन अभिप्रेत है। मन स्वयं इन्द्रिय है। इन्द्रियां बिना मन के काम कर नहीं सकती। अतएव इन सब के लिए एक स्वतन्त्र मन मानना पड़ता है जो कि अतिन्द्रिय कहलाता है। वही प्रज्ञानमन इस इन्द्रिय मन पर भी सवार रहता है। यह न होता तो इन्द्रिय मन भी अपने सुख दुःख विषय का अनुभव नहीं कर सकता। यह पांच देवता हमारे में प्रविष्ट हो इन्द्रिय कहलाने लगते हैं इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत् दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत् चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्। (ऐ० उप० २।४)

पूर्वोक्त श्रुति से सिद्ध हो जाता हैं कि सारे देवता हमारे शरीर में रहते हैं। इन सब का अधिष्ठाता, मूल कारण यही प्रज्ञानमन है। सारे देवता इसी से उत्पन्न होते हैं, एवं इसी से युक्त रहते हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्श इन सब का ज्ञान इसी प्रज्ञान मन से होता है-इसीलिए—यह कहा जाता है।

"येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति"

(कठोपनिषत् २/१/३)

इन सारे देवताओं का आत्मालम्बन यही प्रज्ञान है। इसीलिए श्रुति कहती है :—

"कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा इति। येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादुच विजानाति, यदेतद् हृदयं मनः। संज्ञानं, अज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, ऋतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि इत्येतानीमानि क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि, च जारुजानि च स्वेदजानि च चोद्भिजानि चाश्वागावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं, प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म इति। (ऐ० उप० ५।१.)

ये सारे प्राण चूंकि मनोजव है अतएव दक्षक्रतु स्वरूप हैं। "मयेदं करिष्ये" इस अध्यवसाय का नाम क्रतु है। कर्ता की प्रवृत्ति करना यही ऋतु है, एवं तत्परता का नाम ही दक्ष है। अध्यवसाय और व्यवसाय प्रत्येक कार्य दो भागों में विभक्त रहता है। अध्यवसाय को ब्रह्म कहते हैं एवं व्यवसाय को, कार्य तत्परता को दक्ष कहते हैं। मन इच्छा करता है कि यह करू, उसी समय प्राण व्यापार हो पड़ता है। प्राण व्यापार होते ही हाथ पैर काम करने लगते हैं इसी का नाम दक्ष होता है। सारे प्राण देवता ऋतु दक्ष स्वरूप है। अध्यवसायपूर्वक ही–इच्छापूर्वक ही व्यवसाय होता है। इसी अध्यात्म विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"इमे वै प्राणा, मनो जाता, मनोयुजो दक्षक्रतवः"

प्रज्ञान मन से उत्पन्न होने वाले एवं प्रज्ञान पर ही प्रतिष्ठित रहने वाले प्राण देवता कौन कौन से हैं, यह बतलाते है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस यजमान की जो वाक् है अर्थात् क–च–ट–त–पात्मिका वर्णात्मिका बोली है, वही अग्नि है। अग्नि ही तो वाक् स्वरूप में परिणत होकर मुख में घुसा हुआ है। 'वागेवाग्निः' इति।

अग्नि के अनन्तर नम्बर आता है—वायु का। यह वायु मित्रावरुणस्वरूप है। नासिका में जो श्वास-प्रश्वास आता है जो कि वायु है वह मित्रावरुण कहलाता है। श्वास का नाम मित्र है। प्रश्वास का नाम वरुण है। श्वास ही को प्राण कहते हैं। सूर्य से आते हुए का नाम प्राण है एवं वापस जाते हुए का नाम उदान है। जो वस्तु स्नेहन करने वाली है उसे वैदिक परिभाषा में मित्र कहा जाता है। एवं जो अपने तरफ से जाने वाली वस्तु है उसे वरुण अर्थात असुर कहा जाता है। मित्र, वरूण, प्राण उदान का नाम ही नहीं है। अपितु संसार के यच्चयावत् पदार्थ मित्र एवं वरुण कहलाते हैं–इसलिए खगोल के पूर्व कपाल को मित्र कहा जाता है एवं पश्चिम कपाल को वरुण कहा जाता है अतएव च "अहर्वै मित्रम्, रात्रि वरुणः" यह कहा जाता है आते हुए का नाम मित्र है, जाते का नाम वरूण है।

प्राण आते हुए का नाम है अतएव इसे मित्र कहते हैं। उदान जाता हुआ है अतएव उसे वरुण कहते हैं। प्रकृत में यही कहते हैं कि वाक् के बाद प्राणोदानस्वरूप मित्र वरुण देवता है। दोनों वायु स्वरूप हैं।

"प्राणोदानौ मित्रावारुणौ" वायु के अनन्तर है आदित्य। अध्यात्म में जो नेत्र हैं वे आदित्य स्वरूप हैं। इसलिए "चक्षुः सूर्यो अजायत" यह कहा जाता है। चौथा नम्बर है चन्द्रमा का इससे इन्द्रिय मन बनता है, एवं विश्वेदेवों से अर्थात् दिक् सोम से श्रोत्र बनते हैं। "श्रोत्रं विश्वेदेवाः"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आहवनीय अग्नि में आहुति डाली जाती है। इसी से हवन मान लिया जाता है। परन्तु अध्यात्म में सारे देवता मौजूद रहते हैं। फिर इस अध्यात्म यज्ञ को हम कैसे यज्ञ न माने। इन पूर्वोक्त सारे देवताओं में वह दुग्ध हुत हो जाता है अतएव "जुह्वदु हैव मन्येत" यह सोलह आने ठीक है।

"एतासु हैवास्यै तद्देवतासु हुतं भवति ॥१३॥

दूध यजमान को ही पीना चाहिये। आत्माग्नि में ही दूध की आहुति देनी चाहिये न कि बाहर के आहवनीय अग्नि में। इसकी उपपत्ति बतला दी गई है।

कई आचार्य इस दूध में पहले पहल दिन जौ और व्रीहि दोनों को पीस कर पटकते हैं। उनका मत है कि दीक्षा के दिन पहले पहल जब यजमान दूध पीये तो उसमें जौ और चावल दोनों का रस मिला लेना चाहिये। क्यों मिला लेना चाहिए–इसका कारण वे बतलाते हैं कि यजमान के आज यज्ञ का जो सारभाग देवताओं द्वारा निर्धीत हो गया है (चूस लिया है) एवं विदुग्ध हो गया है। इस व्रीहि और यव के रस से हम उस कमी को पूरी कर यजमान के इस यज्ञ आप्यायित करते हैं।

तद्धैके प्रथमे व्रतऽउभौ व्रीहियवौ आवपन्ति, उभाभ्यां रसाभ्यां यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं पुनराप्याययाम इति वदन्तः। यज्ञ का जो सार भाग निकल गया है अतएव यज्ञ विदुग्ध अर्थात् सार भाग-रहित हो गया है उसे इन दोनों के रस से वापस आप्यायित करते हैं। यह कारण बतलाते हुए कई एक आचार्य दीक्षाव्रत के प्रारम्भ के ही दिन में उस दूध में जौ और चावल का सत्तू मिलाते हैं।

अपिच वे आचार्य कहते हैं कि यजमान के लिए नियत जो गाय है उसका नाम व्रतदुधा है। इसका दूध यजमान ही पी सकता है अन्य नहीं। व्रतदुधा गाय यदि कारणवश न दुही जाय अर्थात् दूसरे तीसरे दिन यदि गाय का दूध किसी कार्यवश न दुहा जाय अथवा वह गाय ही बछड़ों को चुखवाने के कारण दूध न दे तो ऐसी हालत में व्रीहि और यव दोनों में से जिसकी इच्छा हो उसी को अन्न बनाले अर्थात् दुग्धाभाव में दोनों में से चाहे जिसको खाले।

यद्यु व्रतदुधा न दुहीत, (दुह्यात्) यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कुर्यात्"। इति–

दूसरे तीसरे दिन यह यजमान दुग्धाभाव में व्रीहियव दोनों में से चाहे जिसको खा सकता है। इसके लिए मनाई नहीं है क्योंकि यजमान के लिए व्रीहि और यव दोनों ही प्रारम्भ के दिन अन्वारब्ध हो चुके हैं अर्थात् व्रत के अन्तर्गत हो चुके हैं। तात्पर्य कहने का यही है कि दीक्षा के दिन प्रथम–प्रथम जो अन्न दीक्षित खा लेता है अन्त तक सुत्यापर्यन्त उसका वही व्रत रहता है। उसे उसी व्रत का पालन

करना पड़ता है। मान लो पहले दिन उसने केवल दूध ही पीया है तो फिर अन्त तक उसे दूध ही पीना पड़ेगा। बीच में सिवाय दूध के और कुछ नहीं खा सकता। अतएव प्राचीनों का कहना है कि यजमान सिवाय व्रतदुधा के और किसी का दूध पी नहीं सकता है। यदि गाय का दूध न निकाला जाय अथवा गाय ही दूध न दे तो फिर यजमान को भूखे मरना पड़ेगा और कुछ खा नहीं सकता है। क्योंकि व्रत केवल दूध ही का ले रक्खा है। अतएव हमारी राय में अर्थात् व्रत के आरम्भ में, व्रत में शामिल करने के लिए व्रीहि और यव दोनों को दूध में अवश्य ही मिला देना चाहिए। इससे ताकत भी दूध की अपेक्षा कुछ अधिक होगी एवं दूसरे दिन यदि गाय दूध न देगी तो व्रीहि यव दोनों में से एक को खाकर यह यज्ञ को (आत्मा को) आप्यायित कर सकेगा। अतएव व्रत में शामिल करने के लिए पहले दिन दूध में अवश्य ही को व्रीहि-यव का सत्तू डाल देना चाहिए।

"एतद् ह्यैवास्यै ता उभौ व्रीहियवान्वारब्धौ भवत इति (च वदन्ते इति शेषः)

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इस पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं यजमान कभी ऐसा न करे। अर्थात् प्रथम दिन में व्रीहि और यव न डाले "तदुतथा न कुर्यात्" याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो यजमान् इस दूध में व्रीहि और यव दोनों डालता है वह यज्ञ को जरा भी आप्यायित नहीं करता है। उलटा आलसी और बनाता है। दूध सात्विक अन्न है। यज्ञिय मनुष्य को दूध का ही सेवन करना चाहिए। अन्न में तो एक प्रकार की मादकता है। अतः उससे तो बजाय पुष्टि के हानि ही होती है।

"न ह स यज्ञमाप्याययति, न संदधाति, य उभौ व्रीहियवावावपति 'इति'

याज्ञवल्क्य कहते हैं आवश्यकता तो दोनों ही की नहीं है। परन्तु डालो भी तो दोनों में से एक को डाल दो। दोनों (व्रीहि यव) ही को डालने की आवश्यकता नहीं है इसलिए यदि डालना मुनासिब समझते हो तो दोनों में से एक ही डालना चाहिए।

"तस्मादन्यतरमेवावपेत्"

परन्तु अन्त में इस अन्यतर पक्ष का भी खण्ड कर देते हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि दर्शपूर्णमासेष्टि करने वाला मनुष्य ही सोमयाग कर सकता है। इससे मान लेना पड़ता है कि यह दीक्षित् दर्शपूर्णमासेष्टि किया हुआ है। दर्शपूर्णमास में व्रीहि यव के पुरोडाश की ही आहुति दी जाती है। दर्शपूर्णमास में इस यजमान की व्रीहि और यव दोनों ही हवि हो जाते हैं। दोनों को यजमान ने दर्शपौर्णमास में ही आत्मसात् कर डाला है।

"हविर्वाऽअस्यैता ऽउभौ व्रीहियवौ भवतः" तो बस इस सोमयाग से पूर्व दर्शपूर्णमास में व्रीहि और यव दोनों इस यजमान की हवि हो जाते हैं। उन्हीं से व्रीहि और यव अन्वारब्ध हो जाते हैं अर्थात् पहले दिन दूध में व्रीहि और यव डालने का सबसे बड़ा भारी कारण तुम यही बतलाते है कि पहले दिन व्रीहि यव को दूध में डालने से दोनों अन्वारब्ध हो जायेंगे। यजमान के आत्मसात् हो जायेंगे। व्रत

के अन्तर्गत आ जायेंगे। ऐसा होने से यदि किसी दिन गाय दूध न देगी तो यजमान अन्वारब्ध होने के कारण दोनों में से चाहे जिसको खाकर अपने आत्मयज्ञ को आप्यायित कर लेगा। भूखा नहीं रहेगा।

परन्तु हम कहते हैं कि अन्वारब्ध मात्र के लिए आपको यह कष्ट उठाने की जरूरत नही है। क्योंकि यजमान ने दर्शपूर्णमास कर रक्खा है। यहाँ इसे व्रीहि और यव तो तभी से अन्वारब्ध है। अर्थात् आत्मसात् है। व्रत के अन्तर्गत है। अतः इसके लिए दीक्षा के दिन व्रीहि यव डालने की कोई आवश्यकता नहीं है—इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स यदेवास्यैतौ हविर्भवतस्तदेवास्यैतावन्वारब्धौ भवतः।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि व्रीहि और यव अन्वारब्ध तो हैं ही अतः किसी दिन यदि व्रतदुघा का दूध न निकाले अथवा वह दे ही नहीं तो व्रीहि और यव दोनों में से जिसकी भी इच्छा हो उसका व्रत कर ले अर्थात् उसे ही आहुति कर ले।

"यद्युव्रतदुधा न दुहीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कुर्यात् ॥१४॥

कई एक आचार्य–प्रथम व्रत में पहले दिन के दूध में सर्वौषधि और सर्वसुरभि अर्थात् पिप्पली आदि अष्टगन्ध डालते हैं। कितनों ही का मत है कि पहले दिन पीयेजाने वाले दूध में सर्वौषध और अष्ट-गन्ध डाल देनी चाहिए। कारण इसका यह बतलाते हैं कि यदि दीक्षित बीमार हो जाय तो इन पूर्वोक्त दोनों औषधियों में से जिसकी इच्छा हो, लेकर उस दूध में घोलकर उस औषधि से, उस व्रत से उसकी चिकित्सा करे। तात्पर्य यही है कि पहले दिन ओषधियों का अन्वारब्ध कर लिया जायगा तो दूसरे दिन अथवा जरूरत पड़े तब वह ओषधियां यजमान को दी जा सकती हैं। यदि यजमान का आत्मा ओषधियों से प्रथम दिन अन्वारब्ध नहीं है तो फिर बाद में चाहे यजमान कितना ही रोगी हो जाओ उस दूध के अलावा और कोई दवा नहीं दी जा सकती। यजमान आखिर मनुष्य है। जीना ही मनुष्य का धर्म है। अतः रोग को शान्त करने के लिए हम यजमान को दवा दे सकें इसलिए पहले दिन सर्वौषध और सर्वरस व्रत में डाल देने चाहिए। यही उनका अभिप्राय है। इसी अभिप्राय से कहते हैं:—

तद्वैके प्रथमे व्रते सर्वौषधं सर्वसुरभ्यावपन्ति, यदि दीक्षितमार्तिविन्देत येनैवातः कामयेत तेनभिषज्येत् यथा व्रतेनभिषज्येत् (इति वदन्तः)

परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं ऐसा कभी नहीं करना चाहिए।

"तदुतथा न कुर्यात्" इति

जो आचार्य दूध में सर्वौषध और अष्टगन्ध डालते हैं वे यज्ञ में मनुष्यभाव को प्रविष्ट करते हैं दोनों का उसमें प्रवेश करना दिव्य कर्म को मनुष्य कर्म बनाता है। जिसका कर्म में विधान नहीं है। पद्धति में जिसका ग्रहण नहीं है, उसे अपनी बुद्धि द्वारा मनमाने कायदे सोचकर यज्ञ में शामिल करना मनुष्यता है। दिव्य कर्म में सामान्य कर्म का प्रवेश करना है।

"मानुषं हते यज्ञे कुर्वन्ति" (ये सर्वौषधं सर्वसुरभ्यावन्ति–इति शेषः) वह यज्ञ की व्यृद्धि है जो कि मानुषभाव का प्रवेश है। देव कर्म में मनुष्य कर्म का शामिल होना, यज्ञ की ऋद्धि का सर्वथा विनष्ट होना है। हम यज्ञ में व्यृद्धि न कर बैठे, हमारे किसी काम से यज्ञ ऋद्धि रहित न हो जाय अतः कपोलकल्पित सर्वौषध और सर्वगन्ध को भी दूध में नहीं डालना चाहिए।

"व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्वयृद्धे यज्ञे करवाणीति"

याज्ञवल्क्य कहते है कि तुमने जो यह कहा था कि बिना अन्वारब्ध के फिर बीमार होने पर यजमान को ओषधि कैसे दी जायगी। परन्तु हम कहते हैं कि ओषधि के अन्वारम्भ की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि दीक्षित को बीमारी सताये तो इन दोनों में से जिसकी इच्छा हो उसी ओषधि से इसकी चिकित्सा कर दे। हमें यज्ञ समाप्ति अभीष्ट है। हम चाहते हैं कि यजमान क्षेम कुशलपूर्वक यज्ञ कर ले अतः ओषधि को अन्वारब्ध न होने पर भी दिया जा सकता है—

"यदि दीक्षितमार्तिर्विन्देद्येनैवातः कामयेत तेनभिषज्येत्। समाप्तिर्ह्येव पुण्या" (इष्टा) ॥१५॥

इसके बाद होता एक पात्र में दूध ले के मानुषकाल का अतिक्रमण करके अर्थात् जिस समय मनुष्य दूध पीते हैं उस समय को टालकर यजमान को आत्मयज्ञाहुति के लिए दूध सौंपता है।

"अथास्मै व्रतं प्रयच्छति। अतिनीय मानुषं कालम्"

मानुषकाल का अतिक्रमण करके दूध देवें, इसका मतलब समझाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं। सायंकाल गरम किया हुआ दूध अपररात्र में अर्थात् आधीरात में पीना एवं प्रातःकाल गर्म किया हुआ दूध अपराह्‌ण में पीना, यही मानुषकाल का अतिक्रमण है। यह यजमान मनुष्य नहीं है अपितु देवता है। बस इस व्याकृति के लिए (भेद करने के लिए) ही मानुषकाल का अतिक्रमण करके दूध देता हुआ होता देवता और मनुष्य भाव का भेद करता है। तात्पर्य यही है कि मनुषातिक्रमण में कोई वैज्ञानिक उपपत्ति नहीं है। केवल देव व मनुष्य का विभाग बतलाना है।

"सायं दुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमपराह्णे व्याकृत्याऽएव, दैवं चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति" ॥१६॥

क्यों दूध पीना चाहिए। इसकी उपपत्ति बतला दी गई। अब होता, दूध देता हुआ, पहले निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता हुआ यजमान के हाथ धुलवाता है। होता के कहने से, निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ यजमान हाथ धोता है।

दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये।
वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्वशे –इति

यजमान कहता है कि मैं–देवी बुद्धि को चाहता हूँ, जो जगत् का कल्याण करने वाली है मेरी ऐसी बुद्धि हो जो बुद्धि वर्च्च को अर्थात् ब्रह्मतेज को देने वाली है। यज्ञ का वहन करने वाली है। इस अच्छी बुद्धि के कारण अच्छे-अच्छे तीर्थ अर्थात् यज्ञ मेरे वशीभूत हो जाय। तीर्थ का अर्थ यज्ञ है जैसा कि विश्वकोषकार लिखते हैं :—

तीर्थं शत्वाध्वर क्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु।
अवतारर्षिजुस्टम्भः स्त्रीरजः सु च विश्रुतम्। (वि० कोष०)

इस मन्त्र में जो विशेष बात है उसे बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—यह यजमान दीक्षा के पहले सामान्य मनुष्य के लिए अपने दोनों हाथ धोता है। अर्थात् दीक्षा से पहले हाथ धोना मनुष्यों का काम है। आज यह हाथ धोना दिव्य बुद्धि के लिए है। आज देवता का हाथ धोना है न कि सामान्य मनुष्य का। अतः "देवीधियं मनामहे" इत्यादि मन्त्र बोलकर हाथ धोता है।

"मानुषाय वा एष पुराशनायावनेनिक्ते (पाणौ)–अथात्र दैव्यैधिये तस्मादाह "दैवीं धियं" इत्यादि।

अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब तक यह यजमान दूध पीने के लिए हाथ धोवे तब तक इसी मन्त्र को बोलकर धोवे। अर्थात् दूध पीने से पहले सदा इस मन्त्र को बोलकर हाथ धोना चाहिए।

"स यावत् कियच्च व्रतं व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेत् एतेनैवोपस्पृशेत् ॥१७॥

इसके अनन्तर निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ यजमान दूध पीता है।

" ये देवा मनोजाता मनोजवोदक्षक्रतव स्तेनोऽवन्तु तेनः पान्तु तेभ्यः स्वाहा"। जिस प्रकार इन्द्र के लिए "वौषट्" करके दिया जाता है तद्वत् यह स्वाहा शब्द वषट्कार के माफिक ही हुत समझना चाहिये

तद्यथा वषट्कृतं हुतमेवमस्यै तद् भवति ॥१८॥

इस प्रकार दूध पीकर यजमान अपनी नाभि का स्पर्श करता है–नाभि के स्पर्श करने का मन्त्र यह है–

"श्वात्राः पीता भवतयूयमापोऽस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः"
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदयन्तु देवीरमृता ऋतावृधः"।

हे आप देवता, आप वीत होकर हमारे लिये पोषक बनिए अर्थात् हमारी पुष्टि कीजिये। आप भीतर उदर के अन्त में अर्थात् केन्द्र में जाकर आप सुखप्रद बनिए। वे पानी अयक्ष्मा–अनमीवा एवं अनागत होकर, अमृतस्वरूप बनकर हमारी तृप्ति करें, एवं वे पीत पानी, हमारे ऋत भाग को बढ़ावें। यजमान ने दूध पी लिया है। इस दूध के लिए यह प्रार्थना की जाती है। ओषधि खाकर और पानी पीकर ही गायें गोमाताएं दूध उत्पन्न करती हैं जैसा कि "ओषधीर्जगध्वा अपः पीत्वा तत एष रस संभवति। यह दर्शपूर्णमासेष्टि ब्राह्मण में कहा गया है। चूंकि दूध में पानी का ही सार भी है। पानी का हिस्सा ही नहीं है, अपितु अधिक हिस्सा पानी का ही है। बस इसी अभिप्राय से पीत दुग्ध के लिए "श्वात्रा

पीता भव यूयमापः" यह कहा गया है। यह प्रार्थना दूध से की जाती है। आज यह यजमान इस दूध को पी गया है प्रत्येक वस्तु खाये बाद केन्द्र में जाकर जमा हो जाती है। अतएव यह पीयः हुआ दूध भी केन्द्र में ही अर्थात् नाभि में ही स्थिर हो रहा है। प्रार्थना दूध की, की जा रही है। वह है केन्द्र में-नाभि प्रदेश में, अतएव नाभि का स्पर्श करके इस मन्त्र के जप करने के लिए कहा गया है। नाभि का स्पर्श करके मन्त्र बोलना, दूध का ही स्पर्श करके मन्त्र बोलना है इसीलिए–

"अथ व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशेत्" यह कहा गया है। रोग दो ही जाति के होते हैं अमीवा और यक्ष्मा। अग्नि की कमी के कारण–मन्दाग्नि के कारण शरीर में जो रोग होता हैं उसे तो यक्ष्मा कहते हैं, एवं अस्थि, असृक्, मांसादि आदि में रहने वाले कीटाणुओं से जो रोग होता है उसे अमीवा कहते हैं। इन दोनों ही रोगों की जड़ वास्तव में पूछा जाय तो अग्नि की कमी ही है। शरीर में जब आग्नेय प्राण की कमी हो जाती है तभी यक्ष्मा होता है एवं तभी कीटाणुओं को मौका मिलता है। जिसके शरीर में अग्नि अतिवेग से ज्वलित रहता है वह अत्यन्त ही बलिष्ठ होला है उसे कोई भी रोग नहीं सताता। दूध सोम है। सोम वात्य पदार्थ है। जैसे अग्नि में घृताहुति डालने से अग्नि अति प्रज्वलित हो जाता है, एवं सारी सुस्ती जाती रहती है। जहां अग्नि प्रबल हुआ कि अमीवा यक्ष्मादि रोग भागे। इसका एकमात्र कारण यह सोमाहुति ही है। यदि सोम की अर्थात् अन्न की इस आत्माग्नि में आहुति नहीं पड़ती है तो आत्माग्नि कमजोर हो जाता है। ऐसी अवस्था में इसको रोग घेर लेते हैं। परन्तु आज यह यजमान रोग-नाशक, अग्निप्रवर्द्धक, सोमस्वरूप दूध की आहुति आत्माग्नि में देकर आत्माग्नि प्रज्वलित कर शरीरस्थ यक्ष्मा एवं अमीवा का सर्वनाश करता है। बस इसी अभिप्राय से—

"ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः यह कहा है"

दूध पीने से कभी कभी कफ प्रकृति वाले का अनिष्ट भी हो जाता है। ऐसा नहीं। बस इस भावना के लिए "अनागसः" कहा गया है। आप निर्दुष्ट बनें–यही अभिप्राय है।

आगम और निगम दो ही शास्त्र के विभाग हैं आगम में ६४ देवियें मानी जाती हैं। उनमें सबसे पहली आपो देवी है। अतएव यह सबसे प्रधान है। इसी बात को बतलाने के लिए "देवीरमृताः" यह कहा गया है।

अखिल विश्व में ऋत और सत्य-ये दो ही तत्व है। सकेन्द्र वस्तु का नाम सत्य है एवं केन्द्ररहित वस्तु का नाम ऋत है। सत्य से ही ऋत उत्पन्न होता है। बाद में सभी सृष्टियां ऋत से ही उत्पन्न होती हैं। ऋत ही सृष्टि का मूल कारण है। सत्य से कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। इस सत्य का ही एक अंश जब सत्य से अलग छूट जाता है।तब उस अलग छूटे हुए भाग से जो कि केन्द्र से अलग हट जाने के कारण ऋत कहलाने लगता है, सृष्टि होती है। सूर्य सत्याविष्ट है। इससे कोई भी नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। नई वस्तु उत्पन्न होती है सूर्य के प्रवर्ग्य भाग से -ऋत से। सूर्य से जो गर्मी, जो आग्नेय प्राण अलग छूट कर अन्नादि में प्रविष्ट हो जाते हैं। तभी अन्न की उत्पत्ति होती है पिता सत्य है एवं इसका वीर्य भी शरीर में बद्ध रहने के कारण सत्य है। जब यह वीर्य शरीर की पकड से अलग निकल जाता है तभी उससे पुत्रोत्पत्ति होती है। आत्मा सत्य स्वरुप है। इससे नई चीज हर्गिज पैदा नहीं हो सकती। अपि च

इस सत्य का कभी विनाश नहीं होता है। ऋत को चाहे जो खा सकता है सत्यात्मा को कोई नहीं खा सकता। छिपकली मक्खी को तब खा सकती है जब कि वह उसे मार दे। जब तक मक्खी जिन्दा है तब तक उसे कोइ नहीं खा सकता। खाय कैसे, जब कि वह सत्यात्मा से बद्ध है। कहना सिर्फ यही है कि ऋत से ही नई उत्पत्ति होती है इसलिए श्रुति कहती है

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य"

मैं ऋत से पैदा हुआ हूँ। मैं ऋत की प्रथमजा हूँ। अर्थात् पिता के आत्मा से बद्ध जो शुक्र था, वह जब उससे अलग होकर ऋत स्वरूप में परिणत हो गया तो उस ऋत से मैं पैदा हुआ हूं। स्वयम्भू-सत्य प्रजापति से पहले पानी ही उत्पन्न होता है। अतएव पानी को–परमेष्ठि मण्डल को ऋत कहा जाता है। ऋत को बढाने वाला यही पानी है। यजमान सोमयज्ञ द्वारा नया दिव्यात्मा पैदा करेगा। पैदाइश ऋत से सम्बन्ध रखती है। पानी ऋत को बढाने वाला है। अतएव "ऋतावृधः" यह कहा गया है।

दूध पीकर नाभि से स्पर्श कर मन्त्र क्यों बोलना चाहिए? इसका कारण बतलाते हैं। जो दीक्षा लेता है वह मनुष्यों की मण्डली से हटकर देवताओं की मण्डली में आ जाता है। अतएव आज यह यज-मान देवताओं में से एक हो जाता है। अर्थात् देवता बन जाता है। देवता प्राण एवं विग्रह भेद से दो प्रकार के हैं। जो प्राण देवता है वे सूर्य में रहते हैं। अतएव "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" यह कहा जाता है एवं विग्रहधारी देवता चन्द्रलोक में अर्थात् चांदनी में रहते हैं। सारा भूतसर्ग १४ प्रकार का है। आठ प्रकार का देवसर्ग है। एक प्रकार का तमः सर्ग है, एवं पांच प्रकार का रजः सर्ग है। इस प्रकार ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त अर्थात् वृक्ष पर्यन्त १४ प्रकार का भूतसर्ग है। इनमें उत्तरोत्तर इन्द्रियाधिक्य समझना चाहिए। जो वृक्ष है उस में एक ही इन्द्रिय है। त्वगिन्द्रिय के अलावा उनमें दूसरी इन्द्रिय नहीं है। चींटी-छोटी लटें, इनमें दो इन्द्रियें हैं। इस प्रकार बढ़ाते चले जाओ। बढ़ते-बढ़ते मनुष्य में ११ इन्द्रियें हो जाती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियें होती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियें होती हैं। ११ वां संकल्प-विकल्पात्मक मन होता है। एवं बाद में जो आठ विग्रहधारी देवता हैं उनमें २८ इन्द्रियें होती हैं। मनुष्यों की अपेक्षा इनमें अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, ये आठ सिद्धियां होती हैं एवं ९ तुष्टियां होती हैं। इस कारण इनमें १७ इन्द्रियें अधिक होती हैं। यह आठों ही पृथिवी से अलग रहते हैं। यह चन्द्रमा के पकड़ में रहते हैं न कि पृथिवी की पकड़ में। इनके पैर जमीन पर नहीं टिकते हैं। यह यजमान यज्ञ द्वारा–"ये वै केचन अस्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इस नियम के अनुसार इन्हीं विग्रहधारी देवताओं में ही शामिल होता है। बाद में यह सौर देवताओं में अर्थात् प्राण देवताओं में जाता है। चन्द्रमा सोम का पिण्ड है। यह विग्रह देवता चूंकि चन्द्रमा में ही रहते हैं, अतएव सोममय हैं। आज यजमान सोमयज्ञ की ओर अभिमुख हो रहा है तो सोम की ओर अभिमुख होना देव-ताओं की ओर अभिमुख होना है। अपने आत्मा में देवप्राण का आधान कर देवतास्वरूप में परिणत होना है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं

"देवान् वा एष उपावर्त्तते यो दीक्षते, स देवतानामेको भवति"।

देवताओं का जो हवि (अन्न) होता है वह अनुत्सिक्त होता है। अर्थात् जैसे दूध को ऊपर से सींचने के माफिक पीया जाता है वैसे देवताओं में सींचा नहीं जाता अपितु हाथ से थोड़े थोड़े पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

"अनुत्सिक्तं वै देवानां हविः"

परन्तु आज यह व्रतप्रद यजमान दूध को अपने आत्मदेवताओं में डालता हुआ आहुतिक्रम से बिलकुल विरुद्ध आचरण करता है। अर्थात् यजमान देवता हैं। यह जो दूधपीता है, वह यह नहीं पीता अपितु देवता पीते हैं। परन्तु देवताओं में इस प्रकार ऊपर से सींचा नहीं जाता। ऊपर से दूध सींचता हुआ यजमान देवताओं के देवहवि के क्रम से ठीक विरुद्धाचरण करता है। इतना ही नहीं, अपितु इस आहुति को इस व्रत को मारता है। हव्य का स्वरूप नष्ट करता है।

अथैतद् व्रतप्रदो मिथ्या करोति व्रतमुपोत्सिञ्चन्। व्रतं प्रमीणाति। परन्तु पीये बिना काम भी नहीं चलता है, एवं पीने से व्रतनियम का भंग होता है। आहुति स्वरूप नष्ट होता है। बस इस अपराध की क्षमा मांगने के लिए प्रायश्चित्त करने के लिए ही नाभिस्पर्श कर "श्वात्राः पीताः" इत्यादि मन्त्र बोला जाता है। यह मन्त्र इस मिथ्या कर्म की प्रायश्चित्ति समझना चाहिए। मन्त्र बोल देने से, मन्त्र प्रभाव से यजमान का यह व्रत अर्थादुग्धान मिथ्याकृत भी नहीं होता है। अर्थात् आहुतिक्रम से विरुद्ध भी नहीं होता, है एवं पीये बाद मन्त्र बोलने से हव्यस्वरूप का नाश भी नहीं करता है। इसीलिए "श्वात्राः पीता" इत्यादि मन्त्र बोला जाता है।

"तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः" तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति, न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह, "श्वात्राः पीता" ।। इत्यादि ।।

अन्त में कितना दूध पीना चाहिए। यह नियम बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—कि यजमान परिमित मात्रा युक्त दूध पीकर नाभि का स्पर्श करता है अर्थात् इतना सा दूध पीना चाहिए जिससे निर्बलता न आने पावे एवं कर्म अच्छी प्रकार से हो सके। इतना नहीं पी लेना चाहिए, जिससे पेट फूल जाय और उलटी अकर्म्मण्यता आजाय—

"स यावत् कियच्च व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशेत्" इति। यजमान सुत्यापर्यन्त प्रतिदिन दूध ही पीवेगा। तब इसे चाहिए कि प्रतिदिन दूध पीये बाद–इस मन्त्र से नाभि का स्पर्श करले। अन्यथा कौन जानेगा कि यजमान ने व्रतप्रद ने दूध पीया या नहीं। ऋत्विक लोग जान जांय इसीलिए और प्रायश्चित्त के लिए दोनों ही कार्यों के लिए मन्त्र बोलकर नाभिस्पर्श कर ही लेना चाहिए। यही तात्पर्य है ॥

एतेनैवोपस्पृशेत् कस्तद्वेद यत् व्रतप्रदो व्रतमुपोत्सिञ्चेत् ।।१९।।

वैदिक भाषा में जिसे व्रत कहते हैं, उसे ही संस्कृत भाषा में "वृत्त" कहते हैं। आचार नियम पालन को-कुल धर्म पालन को ही वृत्त कहते हैं। इसीलिए—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।।

यह कहा जाता है। कि आचार नियम का नाम ही व्रत है। इत्थं गन्तव्यम्, इत्थं भोक्तव्यम्, इत्थं वक्तव्यम्, इस प्रकार जो नियमों की शृंखला है उसी का नाम व्रत है। मर्यादापालन का नाम ही व्रत है।

आज यह यजमान दीक्षित बना हुआ है । अतएव इसके लिए खास खास प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं । शूद्रापेक्षया ब्राह्मण को जैसे यज्ञोपवीतादि व्रतों का पालन करना पड़ता है, तद्वत इस दीक्षित को भी कई नियमों का पालन करना पड़ता है । किन किन नियमों का पालन करना चाहिए यही इस दीक्षा व्रत धर्म ब्राह्मण में बतलाया गया है । इनमें से कितने ही व्रत बतला दिए गए एवं कितने ही और बतलाने बाकी है।

इन्हीं में से मूत्रोत्सर्ग विषयक नियम बतला सकते हैं। सामान्य मनुष्य की तरह दीक्षित मूत्रोत्सर्ग नहीं कर सकता । उसे इस क्रिया में भी विशेष नियम का पालन करना पड़ेगा, यही बतलाते हैं ।

यह यजमान जिस स्थान में मूत्रोत्सर्ग करने वाला होता है अर्थात् जहां मूत्रोत्सर्ग करना चाहता है वहां से, उस प्रदेश से उस कृष्णाविषाण से माटी का ढेला अथवा वह न मिले तो पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला घास-वास उखाड़ लेता है। पेशाब करने से पहले, जिस स्थान पर दीक्षित पेशाब करना चाहे उस स्थान से कृष्णविषाण से मिट्टी का ढेला अथवा घासवास अथवा पार्थिव पदार्थ उठा लेना चाहिए एवं बाद में मूत्रोत्सर्ग करना चाहिये, यही तात्पर्य है ।

"यत्र वा मेक्ष्यन् भवति तत् कृष्णविषाणया लोष्टं वा किंचिद्वा-उपहान्ति"

ऐसा क्यों करें, इसका कारण बतलाते हैं । यह पृथिवी देवी देवयजनी अर्थात् यज्ञिया है । प्रकृति-यज्ञ में पृथिवी ही वेदि है इस तक जाने वाले इस पार्थिव अग्नि में हैं। पारमेष्ठ्य सोम की आहुति पड़ती रहती है इसलिए तो "यावती वेदिस्तावती पृथ्वी" यह कहा जाता है। पृथिवी में पारमेष्ठ्य सोम आहुत हो रहा है । देवता सारे आग्नेय हैं अतएव यह पृथिवी देवयजनी है अर्थात् यज्ञिया है "इयं वै पृथिवी देवी–देवयजनी" दीक्षित यजमान देवताओं को आहुति देने वाला है । अतएव यह देवयजनी पृथिवी यजमान से, दीक्षित से मिह्या नहीं होनी चाहिए अर्थात् यजमान को चाहिए कि यज्ञिया इस देवयजनी पर मूत्रोत्सर्ग न करें ।

"सा दीक्षितेन नाभिमिह्या"

परन्तु मूत्रोत्सर्ग किये बिना काम चल नहीं सकता अतएव यह दीक्षित इस पृथिवी के यज्ञिय शरीर को उठाकर बाकी बचा हुआ जो पृथिवी का अयज्ञिय पार्थिव स्वरूप है उस पर मूत्रोत्सर्ग करता है । तात्पर्य यही है कि ढ़ेले को उठाकर उसमें यज्ञिय भाग की भावना कर लेता है अतएव कोई दोष नहीं रहता ।

"तस्या एतदुद्गृह्यैव यज्ञियां तनूमथा यज्ञियं शरीरमभिमेहति,"

मूत्रोत्सर्ग करने से पहले दीक्षित मन्त्र बोलता है "अपो मुञ्चामि न प्रजाम्" मैं पानी का त्याग करता हूं न कि रेत स्वरूप प्रजा का। इस उपस्थ इन्द्रिय से-मेढ़ू से वीर्य और मूत्र दोनों निकलते हैं। इन दोनों में से यह यजमान पानी ही का त्याग करता है न कि प्रजास्वरूप वीर्य का इस मन्त्र शक्ति से यदि किसी का वीर्य पेशाब इस के साथ निकलता भी है, तो बन्द हो जाता है ।

"उभयं वा अत एत्यापश्च रेतश्च स एदतप एव मुञ्चति न प्रजाम्" फिर मन्त्र बोलता है "अंहो मुचः स्वाहा कृत इति" यह मूत्रयिता दीक्षित देहान्तर्गत पाप के साथ ही इस मूत्र का परित्याग करता है अतएव इसे "अंहोमुचः" बोल देना चाहिए। पानी के शरीर में से निकल जाने के नाम ही पाप है। पानी प्राण का नाम है। शरीर में जो प्राणशक्ति है वह इसी पानी का नाम है इसलिए—

अन्नमवेहि सौम्य मन आपोमयः प्राणः ॥

यह कहा जाता है। यह पानी जिस कारण से जिस दोष से निकल जाता है उसे अपाप कहते हैं। पानी नाम है शरीर की रौनक का। जिस कार्य से शरीर की रौनक, शरीर का पानी उतर जाता है उस कारण का नाम अपाप है। अपाप ही को पाप कहते हैं। अधोगत जो पानी है, वही पाप है। जो पानी आत्मसात् हो जाता है वह पाप नहीं है अपितु जो आत्मा से संवृत हो इकट्ठा हो, अलग छट जाता है वह पानी पाप है जो कि "मूत्र" कहलाता है।

इसी दूषित पानी को-पाप को अंहः कहते हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उदर से-पेट में आत्मा द्वारा गुष्टित अर्थात् परित्यक्त जो पानी होता है वह पाप स्वरूप है अतः मूत्रयिता पाप स्वरूपयुक्त ही इस मूत्र को छोड़ते हैं अर्थात् मूत्र को निकालना पाप भाग को निकालना है। यदि थोड़ी देर तक मूत्र रुक जाता है तो तबियत घबड़ाने लगती है अतः अवश्य ही यह पाप स्वरूप है।

"अंहस इव ह्येता मुंञ्चन्ति यदुदरे गुष्टितं भवति, तस्मादाहांतोमुच इति।" फिर मूत्र कर ऐसा बोलता है। स्वाहा कृता पृथिवीमाविशत्। हे पानी, तुम स्वाहाकृत हो इस पृथिवी में प्रविष्ट हो जाओ, आहुति बन कर। हे पापस्वरूप पानी, तुम शान्त होकर पृथिवी में पैठ जाओ, यही तात्पर्य्य है :—

'आहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवीमाविशत् इत्येवैतदाह" ॥

इसके बाद उस लोष्ट को उसी पृथिवी पर डाल देता है। उस समय "पृथिव्याः संभव। यह मन्त्र बोल देना चाहिए। होत्रीकृत लोष्ट आप वापस पृथिवी से संगत हो जाय। देवयजनी पर मूत्रोत्सर्ग नहीं करना चाहिए। अतः यज्ञियस्वरूप लोष्ट उठा लिया था, उसे वापस रख देता है। पृथिवी के यज्ञिय भाग से वापस पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित कर देता है ॥२१॥

इसके बाद यह यजमान अपने आपको अग्नि के लिए सर्मापित कर अग्नि की रक्षा में छोड़ कर सो जाता है।

"अथाग्नये परिदाय स्वपिति"

जो मनुष्य दीक्षा लेता है वह देवताओं की ओर आ जाता है। देवता लोग कभी नहीं सोते हैं। "न वै देवाः स्वपन्ति" परन्तु यजमान का जो स्वप्न है अर्थात् सुषुप्ति है वह अनवरुद्ध है। अर्थात् यजमान को तो सोना ही पड़ता है। कितना ही देवता बन जाय फिर भी प्राचिप्राण की अर्थात् प्रज्ञानात्मा की पकड़ में जब तक यह है तब तक इसे सोना ही पड़ता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं :—

"अनवरुद्धो वा एतस्या स्वप्नो भवति"

अग्नि ही देवताओं के व्रतपति है। अग्नि ही से देवता सारे व्रत अन्न को प्राप्त करते हैं। देवताओं का जो आचार नियम है उसके एकमात्र अग्नि ही अधिपति है। बात वास्तव में सच है। सारे देवता आग्नेय ही तो है—

अग्नि र्वै देवानां व्रतपतिः ॥

बस इसी अग्नि की जिम्मेदारी में अपने आप को सुरक्षित करके यह यजमान सो जाता है। हमारे शरीर में अग्नि, वायु और इन्द्र तीनों मौजूद हैं। जहां पर हाथ लगाओ वहीं पर गर्मी मालूम होती है। बस यही अग्नि भाग है एवं श्वास प्रश्वास ही वायु देवता है, एवं तीसरा है प्रज्ञानात्मा जो कि मस्तिष्क में रहता है। इन तीनों में से सुषुप्ति इसी प्रज्ञानात्मा की होती है। प्रज्ञानात्मा के साथ ही जो इन्द्रियां और इन्द्रियों के प्राण सुखदुःखानुभवकर्ता इन्द्रियप्राण यह सब सो जाते हैं। प्रज्ञान के पुरीतति नाडी में घुसते ही सारे प्राण अस्त हो सो जाते हैं। उस समय जगते हैं तो एक मात्र अग्नि और वायु ही। देवता सारे आग्नेय हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि देवता कभी नहीं सोते। इसी अग्नि से प्रार्थना की जाती है। इसी अग्नि को लक्ष्य में रखकर कहते हैं:-

"तस्माऽएवैतत् परिदाय स्वपिति"

एवं मन्त्र बोलते हैं—

"अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि"

हे अग्ने ! आप सावधानपूर्वक जागते रहें एवं मुझे आज्ञा दीजिए मैं आनन्द पूर्वक सो लूं—यही तात्पर्य है।

अग्ने त्वं जागृहि, वयं स्वप्स्याम "इत्यैवेतदाह। फिर उसी मन्त्र का शेष भाग बोलते हैं—

रक्षाणोऽप्रयुच्छन् इति।

आप अप्रमत्त होकर, सावधान होकर हमारी रक्षा कीजिए।

गोपायनोऽप्रमत्त इत्येवैतदाह :-"

फिर मंत्र शेष बोलता है।

"प्रबुधे नः पुनःस्कृधि"

हम ज्वर व्याधि रहित होकर ही प्रातःकाल उठें—ऐसी कृपा कीजिए। इस समय सोकर प्रातःकाल भले चंगे हो कर ही उठें। हमारे ऊपर आप ऐसी कृपा कीजिए।

यथैतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुध्यामहाऽएवं न कुर्वित्येवैतदाह ॥२२॥

रात्रि में सोये बाद पानी पीने के लिए उठा जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

कि यह यजमान जब वापस फिर नहीं सोता है उस समय अध्वर्य उससे मन्त्र बुलवाता है। अर्थात् उठकर फिर सो जाता है। तब मन्त्र न बुलावे अपितु अब देख लें कि भाई नींद समाप्त हो चुकी अब यह नहीं सोयेगा। तब निम्नलिखित मन्त्र यजमान से बुलावे।

"अथ यत्र सुप्त्वा पुनर्नाविद्रास्यन् भवति, तद् वाचयति–
मन्त्र यह है।

प्राणः पुनरात्मा (प्रज्ञानात्मा) मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्
—इति

सोते हुए यजमान के मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि सब गायब हो जाता है। जहां आत्मा पुरीतति नाड़ी में गया कि सारे प्राण अस्त हुए। केवल प्राण ही अर्थात् अग्नि ही एवं वायु ही नहीं निकलता है अर्थात् सुप्तावस्था में और इन्द्रियों का काम बन्द हो जाता है परन्तु श्वासप्रश्वास और शरीर की गर्मी तब भी जागृत ही रहती है।

"सर्वे ह वाऽएते स्वपतोऽपक्रामन्ति" प्राणवत् (अप्रक्रामन्तीति शेषः)

सोकर उठते ही यजमान इन सारे प्राणों से फिर युक्त हो जाना है। अतएव "पुनर्मनः पुनरायुः" इत्यादि कहा गया है। फिर मन्त्र बोलता है:—

वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ।।

हमारे शरीर का जो वैश्वानर अग्नि है वह सर्वथा अदब्ध है किसी से नहीं दबता है। सदा प्रज्वलित होता हुआ धक् धक् करता रहता है। एवं जब तक शरीर में वैश्वानर अग्नि रहता है तभी तक शिर की स्थिति रहती है तद्रूपायही वैश्वानर अग्नि है–इसीलिए—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा" यह कहा जाता है इसी अग्निसे जो कि दिन की तरह रात्रि को भी जागता ही रहता है प्रार्थना करते हैं कि, रात्रि में स्वप्न से अथवा और किसी कारण से जो मिथ्या कर्म हो गया है अर्थात् यज्ञ विरुद्ध कर्म हो गया है उन सबसे हमें वह वैश्वानराग्नि बचावे, एवं यह अग्नि दुरित से एवं बुरे कर्मों से बचावे।

तद्यदेवात्र स्वप्नेन वा येन वा मिथ्याकर्म तस्मान्नः सर्वस्माग्निर्गोपायत् इत्येवैतदाह, तस्मादाह "वैश्वानरो" इत्यादि ।।२३।।

दीक्षित मनुष्य सामान्य मनुष्य नहीं रहता, अतएव उसका बोलचाल, आचार व्यवहार, खाना पीना, सोना, मूत्रोत्सर्ग करना सारा प्रपञ्च भी सामान्य मनुष्यों के समान नहीं होता। यही खाना चाहिए, यही बोलना चाहिए, इसी समय सोना चाहिए, इसी समय उठना चाहिए—इस प्रकार की मर्यादा में इसे बद्ध होना पड़ता है। बस, इस मर्यादा का नाम ही व्रत है। दीक्षित के लिए आज्ञा है कि तुम चाहे जो कुछ मत बोलो। यही बात नहीं है अपितु बीच बीच में जब कर्म से फुर्सत पाता है तब भी यह अंट-संट नहीं बोल सकता। उस समय ने लिए आज्ञा है कि तुम खाली समय में यह दीक्षित पुत्रादि से परिवृत हो याज्ञिक आख्यान सुने। जैसा कि श्रुति कहती है—

"पुत्रामात्य परिवृताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षीत। आख्यानानि शंसन्ति। प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजा-इत्यादि। द्वितीयेऽहनि-" यमौ वैवस्वत इत्यादि। तृतीयेऽहनि वरुण-आदित्य इत्यादि-इति।

गरज यह है कि वह फिजूल भाषण नहीं कर सकता। यज्ञ सम्बन्ध के बाहर की अंट-संट बातें करने का गप्पें मारने का, दीक्षित को अधिकार नहीं है। यदि प्रमादवश यह दीक्षित अव्रत्य वाक् को बोलता है तो वह अपने व्रत को भंग करता है। किये-कराये सारे कर्म को मिथ्या अर्थात् सारशून्य कर देता है। व्रत मर्यादा का विध्वंस कर देता है।

अथ यत् दीक्षित अव्रत्यं वा व्याहरति, क्रुध्यति वा तन्मिथ्या करोति-व्रतं प्रमीणाति ।।

याज्ञवल्क्य कहते हैं-कि जिस प्रकार यज्ञिय दीक्षित वाक् के अलावा और कुछ न बोलना यह दीक्षित के व्रत में शामिल है तद्वत् अक्रोध भी दीक्षित का व्रत ही समझना चाहिए। आत्मा देवभावयुक्त होता है। जिससे आत्मा प्रफुल्लित रहता है-समझता है यह दैवकर्म है, एवं जिन कामों से आत्मा विक्षुब्ध हो जाता है, कुण्ठित हो जाता है क्षीण हो जाता है, ये सारे के सारे आसुर धर्म हैं। क्रोध भी आसुर धर्म ही है। क्रोध से आत्मा अशान्त हो जाता है। क्रोधी मनुष्य का सारा शरीर सूख जाता है एवं वह अत्यन्त निर्बल हो जाता है। यह यजमान सामान्य मनुष्य नहीं है अपितु देवता है। देवताओं का आसुरों से घोर वैर है ऐसी अवस्था में क्रोध करना दैव कर्म में आसुर भाव का प्रवेश करना है। अतएव दीक्षित को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए, एवं कभी अव्रत्य अर्थात् नियम विरुद्ध अयज्ञिय भाषण नहीं करना चाहिए।

"अक्रोधो ह्येव दीक्षितस्य" (व्रतमिति शेषः)

अग्नि ही देवताओं के व्रतपति हैं अर्थात् व्रत के ठेकेदार हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ-तीनों लोकों के अग्नि, वायु और आदित्य क्रमशः व्रतपालक हैं। पृथिवी के पार्थिव देवताओं के व्रतपालक अग्नि है, आन्तरिक्ष्य देवताओं के व्रतपति वायु है एवं सौर देवताओं के व्रतपति आदित्य है। इसीलिए "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" "तच्छकेयं तन्मेराध्यताम्"-"वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि," आदित्य! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" यह कहा जाता है। बस प्रमादवशात् अव्रत्य बोल कर और क्रोध करके यह यजमान उस व्रतपति अग्नि की ओर क्षमा मांगने दौड़ता है। उनसे प्रार्थना करता है कि अग्ने, आप मेरा अपराध क्षमा कर दीजिए।

अग्नि र्वै देवानां व्रतपति, तमेवं तदुपधावति (दीक्षितः) एवं प्रार्थना का मन्त्र यह है—

"त्वमग्ने व्रतपा असि देवऽआ मर्त्येष्वा त्वं यज्ञष्वीड्यः" ।।२४।।

हे अग्निदेव, आप व्रतपा हैं। व्रत की रक्षा करने वाले हैं। एवं आप संसार के मरणधर्म यच्च-यावत् पदार्थों में एवं यच्च यावत् यज्ञों में स्तुत्य हैं, आराधनीय हैं। चाहे वे जड हो या चेतन हो, सबकी स्थिति अग्नि से ही है। जब तक अग्नि है तब तक शरीर की स्थिति है। जहां हाथ पैर ठण्डे हुए नहीं कि काम समाप्त हुआ नहीं। एवमेव जो घर पर घट-पट-मठादि जड़ पदार्थ हैं उनकी स्वरूप सत्ता भी इसी अग्नि पर अवलम्बित है। एवमेव कोई भी ऐसा यज्ञ नहीं है, जो अग्नि बिना हो जाय। यज्ञ से-दैवत प्रजा ही अभिप्रेत है। भौतिक एवं दैवत दोनों ही सत्ता अग्नि पर निर्भर है। यही तात्पर्य है। याज्ञ-वल्क्य कहते हैं कि यह वाक् (मन्त्र) यजमान की प्रायश्चित्ति है। इस मन्त्र से प्रार्थना कर लेने पर अव्रत्य-

प्रयुक्त व्रतं भंग एवं व्रतनाश नहीं होता है । इसीलिए प्रायश्चित्त स्वरूप **"त्वमग्ने"** इत्यादि बोल देता है **"तस्यो हैषा प्रायश्चितिः'' तथो हास्यै तन्न मिथ्याकृतं भवति, न व्रतं प्रमीणाति, तस्मादाह" त्वमग्ने व्रतपा इत्यादि ॥२४॥**

जैसे देवता के भेंट चढ़ाई जाती है, राजा महाराजा के नजर की जाती है वैसे ही देवता तुल्य इस दीक्षित के भी कई मनुष्य भेंट चढ़ाते हैं । यदि दीक्षित के लिए कोई भेंट लाता है एवं लाकर दीक्षित के अर्पण करता है तो अध्वर्यु उस समय दीक्षित से मन्त्र बुलवाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं । इस यज्ञ में दीक्षित के लिए मनुष्य, गौ आदि भेंट लाते हैं उस समय भेंट के लिए बाद अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र दीक्षित से बुलवाता है ।

"अथ यद्दीक्षितायाभिहरन्ति तस्मिन् वाचयति"

वह मन्त्र यह है **"रास्वे यत् सोमा भूयो भर-इति**

हे सोम, आप इतना तो (इयत्) आने दो (रास्व) एवं और आने दो-अर्थात् आपने जो यह सम्पत्ति दी है वह मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूं । आप मुझे इसी तरह और सम्पत्ति प्रदान करेंगे ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि दीक्षित के लिए मनुष्य जो भेंट लाते हैं यजमान के लिए इस भेंट का सम्बन्ध यही सोम करता है अर्थात् मनुष्यों की यजमान को जो भेंट करने की इच्छा है उसके प्रेरयिता यही है । आज यदि दीक्षित सोम याग न करता तो कोई इससे पूछता भी नहीं । यजमान के लिए सोम ही इसके भेंट का सम्बन्ध कराता है जो कि भेंट दीक्षित के लिए यह लोग लाते हैं । इसीलिए **"रास्वे यत् सोमा** (हे सोम) **भूयो भर** यह कहा गया है । आप हमारे लिए सम्पत्ति का आहरण कीजिए-यही तात्पर्य है । **"सोमो ह वा अस्मा (अस्मै) एतऽच्युते-यद्दीक्षितायाभिहरन्ति । स यदाह रास्वे यत् सोमेति" रास्व न इयत् सोमेत्येवैतदाह । आ भूयो भरेति आनो भूयो हरेत्यैवेतदाह ॥** फिर मन्त्र शेष बोलता है—

"देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्'' जो सविता देवता देने वाले है । उन्होने ही मुझे यह द्रव्य दिया है । देने वाला जो वह परमात्मा है उसी ने यह सम्पत्ति मेरे पास भेजी है । जैसे लोक में यह कहा जाता है-उसी के माफिक **"देवो वः सविता"** इत्यादि कहता है । सविता देवता ही सारे कर्मों को प्रसविता है । जब तक सविता की प्रेरणा नहीं होती है तब तक कोई भी काम सिद्ध नहीं होता है । अतएव इस समय भी सविता का नाम लेना जरूरी भी है । इसी अभिप्राय से कहते हैं । सविता देवता की प्रार्थना करने से इस यजमान के लिए प्राप्त जो धन है, अर्थात् सविता की आज्ञा से लिया हुआ जो धन है वह दान के लिए हो जाता है अर्थात् जब सविता आज्ञापूर्वक द्रव्य ले लिया जाता है तो उस पर दीक्षित का फल साथ हो जाता है । अतएव वह उस प्राप्त द्रव्य को दान करने का अधिकारी हो जाता है यदि सविता की आज्ञा नहीं ली जाती तो फिर यजमान का सत्व इस पर नहीं हो सकता अतएव इसे इस द्रव्य को दान करने का अधिकार भी महीं रहता ।

तथो हास्माऽएतत् सवितृ प्रसूतमेव दानाय भवति ॥२५॥

इसके अनन्तर सूर्यास्त से करीब करीब घण्टे भर पहले अध्वर्यु दीक्षित से कह देता है । हे दीक्षित, अब वाक् संयमन करो अर्थात् मौन व्रत धारण करो **"पुरास्तमयादाह-दीक्षित वाचं यच्छ, इति । "आत्मनो द्विगुणच्छाया मन्दीभवति भास्वरे"** यही वाक् संयमन का समय है ।

जिस समय शरीर से ठीक दुगनी छाया पड़ती हो, एवं सूर्य डूबने पर हो—यही मौन व्रत धारण करने का समय है। इसके अनन्तर जब सूर्य अस्त हो जाता है तो दीक्षित वाक् विसर्जन कर देता है एक घण्टे भर के करीब वाक् संयमन करता है। सूर्यास्त होते ही वाक् विसर्जन कर देता है।

"तामस्तमिते वाचं विसृजते"

जैसे सूर्यास्त से कुछ पहले वाक् संयमन के लिए अध्वर्यु यजमान को कहता है उसी प्रकार सूर्योदय से कुछ देर पहले भी कह देता है कि हे दीक्षित, वाक् संयमन कीजिए। **"पुरोदयादाह दीक्षित वाचं यच्छ"** इति। इसके बाद जब सूर्योदय हो जाता है तो यजमान वाक् विसर्जन कर देता है।

"तामुदिते वाचं विसृजते" इति

इस प्रकार से सायंकाल सूर्यास्त से पहिले एवं प्रातःकाल सूर्योदय से पहले वाक् संयमन क्यों करना चाहिए—इसका कारण बतलाते हैं—

अहोरात्र ही संवत्सर का स्वरूप है। संवत्सर ही को यज्ञ कहते हैं। जैसा कि इस ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही बतला दिया गया है। इस यज्ञ के अहः और रात्रि ये दो पर्व हैं। अहः पद प्रथम पर्व है रात्रि द्वितीय पर्व है। यजमान को इस प्राकृतिक यज्ञ को आत्मसात् करना है। वाक् ही यज्ञ है बस प्रातः सायं वाक्संयमन करना अहोरात्रि स्वरूप संवत्सर यज्ञ को जोड़कर आत्मसात् करना है। दो वस्त्रों को जोड़ने के लिए जैसे डोरा लगाया जाता है वह डोरा इस कपड़े में भी रहता है एवं उसमें भी रहता है। बस अहोरात्र स्वरूप दो यज्ञ—वस्त्रों को जोड़ने वाला यही वाक् यज्ञ है। यज्ञ ही से यज्ञ का सन्धान होता है। उस समय वाक् खर्च करना यज्ञ को सीने वाले, मिलाने वाले डोरे को खर्च करना है। अतः उतनी देर वाक् संयमन ही रखना चाहिए। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले वाक् संयमन करने से रात्रि दिन में बद्ध हो जाती है एवं सायंकाल सूर्यास्त से पहले वाक् संयम से दिन में बद्ध हो जाता है इसीलिए कहते हैं **"संतत्या (संतायै) एव अहरेवैतद् रात्र्या संतनोति अह्ना रात्रिम्** ॥ २६ ॥

दीक्षित के रहने के लिए देवयजन भूमि में एक नियत मकान बनाया जाता है। उसका नाम **"दीक्षित विमित"** रक्खा जाता है। इस दीक्षित विमित से अन्यत्र इस यजमान के घूमते हुए, हवा खोरी करते हुए सूर्य अस्त हो जाय। अर्थात् वह दीक्षित विमित से बाहर ही टहलता रहे एवं उसी समय सूर्यास्त हो जाय—ऐसा कभी नहीं होना चाहिए। सूर्यास्त से पहले पहले हमें अपने घर में जाकर प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए।

"नैनमन्यत्र चरन्तमभ्यस्तमियात्"

एवमेव इस यजमान को सोते हुए सूर्योदय कभी न हो अर्थात् ऐसा न हो कि सूर्योदय हो जाय और वह सोता ही रहे। इसे सूर्योदय से पहले ही उठ जाना चाहिए—

"न स्वपन्तमभ्युपदियात्"

एवमेव इस यजमान को सोते हुए सूर्योदय कभी न हो अर्थात् ऐसा न हो कि सूर्योदय हो जाय और वह सोता ही रहे। इसे सूर्योदय से पहले ही उठ जाना चाहिए—

"न स्वपन्तमभ्युपदियात्"

वह सूर्य यजमान को दीक्षित विमित से अन्यत्र रहते ही अस्त हो जायगा तो वह अस्त होता हुआ सूर्य यजमान को रात्रि के प्राण से अलग कर देगा। दिन का प्राण ऐन्द्र है। इन्द्र गतिधर्मा है। ऐसी अवस्था में यदि बाहर ही टहलते रहोगे तो गति स्वरूप ऐन्द्र प्राण प्राधस्थात् रात्रि का—यज्ञ के द्वितीय पर्व का प्राण तुम्हारे से अलग हो जायगा।

"स यदेनमन्यत्र चरन्तमभ्यस्तमियात् रात्रेरेनं तदन्तरियात्।"

यदि सोते हुए उदय हो जायगा तो वह इस यजमान को अहर्भाग से ऐन्द्रभाग से अलग कर देगा। यदि सोते रहे तो प्रातःकाल के प्रारम्भ का मुख्य प्राण निकल गया, उसका तुम्हारे से सम्बन्ध नहीं हुआ।

"स्वपन्तमन्तरियादहन् एनं तदन्तरियात्"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पूर्व के अव्रत्य क्रोध इत्यादि जो दोष थे उनका तो प्रायश्चित्त भी था परन्तु इन दोनों अपराधों का प्रायश्चित्त ही नहीं है, इसलिए इनसे सदा बचते रहना चाहिए।

नात्र प्रायश्चित्तिरस्ति प्रतिगुप्यमेवैतस्मात्"

यज्ञान्त में अवभृतस्नान किया जाता है। यज्ञान्तस्नान को ही अवभृतस्नान कहा जाता है। यजमान को चाहिए कि यह यज्ञान्त के पहले कभी पानी में गोता न लगाये, एवं कभी उस पर वर्षा न पड़े। अर्थात् न यह बरसते मेह में जाय एवं न पानी में डुबकी लगावे। अवभृतस्नान से पहले डुबकी लगाकर नहाना और वर्षा में जाना प्रकृतियज्ञ के सर्वथा विरुद्ध है। यज्ञ अग्निस्वरूप है। इसके चारों ओर परमेष्ठिमण्डल है जब यज्ञ समाप्ति पर अर्थात् २९ वें अग्नि पर परमेष्ठि का वेष्टन रहता है अतएव यहाँ भी अग्नि अर्थात् यज्ञ की समाप्ति पर ही प्रकृत्यनुसार पानी का वेष्टन करना चाहिए, यही तात्पर्य है।

"अनवक्लृप्तं ह तत् यत् पुरावभृथादपोऽभ्यवेयात् यद्वैनमभिवर्षेत्"

यह दीक्षित परिमित समयोचित संकुचित ही वाक् बोलता है जो प्रसृता मानुषी वाक् है उसे नहीं बोलता है। अर्थात् इसे गप्प समझ नहीं बोलना चाहिए। अपितु परिमित ही बोलना चाहिए।

"अथ परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताम्।"

क्यों परिमिता ही बोलता है—इसका कारण बतलाते हैं ॥२७॥

"यज्ञेन वै देवाः" दोनों कण्डिकाओं की व्याख्या पूर्व के अध्यात्मपक्ष में कर दी गई है तात्पर्य इसका यही है कि वाक् ही यज्ञ है। ज्यादा बोलना यज्ञ को आत्मा से निकालना है। अतएव परिमित ही बोलना चाहिए ॥२८—२९॥

अधीक्षते का अर्थ है गौर करना। अन्दर डुबकी लगाकर तह पर पहुंचना। **"इदं कर्तव्यं इदं न कर्तव्यम्—इदं भोक्तव्यम् इदं न भोक्तव्यम्—तत्र गन्तव्यम् तत्र न गन्तव्यम्"** इसी का नाम अधीक्षा कहलाता है। प्रेक्षापूर्वक काम करने का नाम ही अधीक्षा है, एवं जो प्रेक्षापूर्वक काम करता है वह अधीक्षित कहलाता है। आज यह यजमान अधीक्षा करता है। अर्थात् हर काम सोच समझ कर करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं। **"स वै धीक्षते"**। अधीक्षते का 'अ' लुप्त ही हुआ समझना चाहिए।

इसकी यह धीक्षा वाक् के लिए है। वाक् स्वरूप यज्ञ के लिए ही यह दीक्षित बनता है। वाक् ही तो यज्ञ है। बस धीक्षित ही का नाम दीक्षित समझना चाहिए। चूंकि देवता परोक्षप्रिय हैं। अतएव इस यजमान को धीक्षित न कहकर दीक्षित कहते हैं।

"स वै धीक्षते। वाचे हि धीक्षते। यज्ञाय हि धीक्षते। यज्ञो हि वाक्। धीक्षते ह वै नामैतत् यद् दीक्षित" इति ॥३०॥

। इति दीक्षितव्रत ब्राह्मणम् ।

॥ इति द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

———

अथ

द्वितीयाअध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

'प्रायणीयेष्टि ब्राह्मण'

(मूल)—आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । देवा ह वा ऽअस्यां यज्ञं तन्वाना ऽइमां यज्ञादन्तरीयुः सा हैषामियं यज्ञं मोहयाञ्चकार कथं नु मयि यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरीयुरिति तं ह यज्ञं न प्रजज्ञुः ॥१॥

ते होचुः । यन्न्वस्यामेव यज्ञमतंस्महि कथं नु नोऽमुहत्कथं न प्रजानीम- ऽइति ॥२॥

ते होचुः । अस्यामेव यज्ञं तन्वाना ऽइमां यज्ञादन्तरगाम सा न ऽइयमेव यज्ञममूमुहदिमामेवोपधावामेति ॥३॥

ते होचुः । यन्नु त्वय्येव यज्ञमतंस्महि कथं नु नोऽमुहत्कथं न प्रजानीम ऽइति ॥४॥

सा होवाच । मय्येव यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरगात हा वोऽहमेव यज्ञममूमुहं भागं नु मे कल्पयताऽथ यज्ञं द्रक्ष्यथाऽथ प्रज्ञास्यथेति ॥५॥

तथेति देवा ऽअब्रुवन् । तवैव प्रायणीयस्तवोदयनीय ऽइति तस्मादेष ऽआदित्य ऽएव प्रायणीयो भवत्यादित्य ऽउदयनीय ऽइयं ह्येवाऽदितिस्ततो यज्ञम- पश्यँस्तमतन्वत ॥६॥

स यदादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । यवस्यैव दृष्ट्यै यज्ञं दृष्ट्वा क्रीणानि तं तनवाऽइति तस्मादादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति तद्वै निरुप्तं हवि- रासीदनिष्टा देवता ॥७॥

अथैभ्यः पथ्या स्वस्तिः प्राऽरोचत । तामयजन्वाग्वै पथ्या स्वस्तिर्वाग्य- ज्ञस्तद्यज्ञमपश्यँस्तमतन्वत ॥८॥

अथैभ्योऽग्निः प्राऽरोचत । तमयजन्त्स यदाग्नेयं यज्ञस्याऽऽसत्तिदपश्यन्-यद्वै शुष्कं यज्ञस्य तदाग्नेयं तदपश्यँस्तदतन्वत ॥९॥

अथैभ्यः सोमः प्राऽरोचत । तमयजन्त्स यत्सौम्यं यज्ञस्याऽसीत्तदप-श्यन्दद्वा ऽआर्द्रं यज्ञस्य तत्सौम्यं तदपश्यँस्तदतन्वत ॥१०॥

अथैभ्यः सविता प्राऽरोचत । तमयजन्पशवो वै सविता पशवो यज्ञस्त-द्यज्ञमपश्यँस्तमतन्वताऽथ यस्यै देवतायै हविर्निरूप्तमासीत्तामयजन् ॥११॥

ता वा ऽएताः । पञ्च देवता यजति यो वै स यज्ञो मुग्ध ऽआसीत्पाङ्क्तो वै स ऽआसीत्तमेताभिः पञ्चभिर्देवताभिः प्राऽजानन् ॥१२॥

ऋतवो मुग्धा ऽआसन्पञ्च । तानेताभिरेव पञ्चभिर्देवतानिः प्राऽजानन् ॥१३॥

दिशो मुग्धाऽआसन्पञ्च । तानेताभिरेव पञ्वचभिर्देवताभिः प्राऽजानन् ॥१४॥

उदीचीमेव दिशम् । पथ्यया स्वस्त्या प्राऽजानंस्तस्मादत्रोत्तरा हि वाग्वदति कुरूपञ्चालत्रा वाग्ध्येषा निदानेनोदीचीं ह्येतया दिशं प्राऽजानन्नुदीची ह्येतस्यै दिक् ॥१५॥

प्राचीमेव दिशम् । अग्निना प्राऽजानँस्तस्मादग्निं पश्चात्प्राञ्चमुद्धृ-त्योपाऽऽसते प्राचीं ह्येतेन दिशं प्राऽजानन्प्राची ह्येतस्य दिक् ॥१६॥

दक्षिणामेव दिशं । सोमेन प्राऽजानँस्तस्मात्सोमं क्रीतं दक्षिणा परि-वहन्ति तस्मादाहुः पितृदेवत्यः सोमऽइति दक्षिणां ह्येतेन दिशं प्राऽजानन्दक्षिणा ह्येतस्य दिक् ॥१७॥

प्रतीचीमेव दिशं । सवित्रा प्राऽजानन्नेष वै सविता य ऽएष तपति तस्मा: देव प्रत्यङ्ङेति प्रतीचीं ह्येतेन दिशं प्राऽजानन्प्रतीची ह्येतस्य दिक् ॥१८॥

उध्वर्मेव दिशम् । आदित्या प्राऽजानन्नियं वा ऽ अदितिस्तस्मादस्या-मूर्ध्वा ऽओषधयो जायन्तऽरूद्धर्वा वनस्पतयऽउर्ध्वा ह्येतया दिशं प्राऽजानन्नूद्धर्वा ह्येतस्यै दिक् ॥१९॥

शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । बाहू प्रायणीयोदयनीयावभितो वै शिरो बाहू भवतस्तस्मादभित आतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदनीयश्च ॥२०॥

तदाहुः । यदेव प्रायणीये क्रियेत तदुदयनीये क्रियेत यदेव प्रायणीयस्य बर्हिर्भवति तदुदयनीयस्य बर्हिर्भवतीति तदपोद्धृत्य निदधाति तां स्थालीं सक्षामकर्षां प्रमृज्यमेक्षणं निदधाति यऽएव प्रायणीयस्यर्ऽत्विजो भवन्ति तऽउदनीयस्यर्ऽत्विजो भवन्ति तद्यदेतत्समानं यज्ञे क्रियते तेन बाहू सदृशौ तेन सरूपौ ॥२१॥

तदु तथा न कुर्यात् । काममेवैतद्बर्हिरनु-प्रहरेदेवं मेक्षणं निर्णिज्य स्थालीं निदध्याद्य ऽएव प्रायणीयस्यर्ऽत्विजो भवन्ति तऽउदयनीयस्यर्ऽत्विजो भवन्ति यद्यु ते विप्रेताः स्युरप्यन्य ऽएव स्युः स यद्वै समानीर्देवता यजति समानानि हवींषि भवन्ति तेनैव बाहू सदृशौ तेन सरूपौ ॥२२॥

स वै पञ्च प्रायणीये देवता यजति । पञ्चोदयनीये तस्मात्पञ्चेत्थादङ्गुलयः पञ्चेत्थात्तच्छम्य्वन्तं भवति न पत्नीः संयाजयन्ति पूर्वार्धं वाऽअन्वात्मनो बाहू पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभि संस्करोति तस्माच्छम्य्वन्तं भवति न पत्नीः संयाजयन्ति ॥२३॥

[**अनुवाद**] दीक्षणीयेष्टि ब्राह्मण में यजमान ने यज्ञ के लिए दीक्षा ग्रहण की– इस बात का निरूपण किया जा चुका है । सोम याग के लिए अधिकार प्राप्ति ही दीक्षा है। इसके बाद दीक्षित के लिए वाक्-संयमन, शयन, जागरण, भाषण आदि के विशेष नियमों का प्रतिपादन किया जा चुका है। क्योंकि दीक्षाग्रहणानन्तर दीक्षित यजमान सामान्य मनुष्य नहीं रह जाता। वह देवताओं में अन्यतम व्यक्ति हो जाता है अतः उसके लिए सामान्य मनुष्यों से भिन्न देव सम्बन्धी नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है। अब इस प्रायणीयेष्टि ब्राह्मण में सोमयाग का प्रारम्भ किया जा रहा है।

सोमयाग में सर्वप्रथम प्रायणीयेष्टि की जाती है।" प्रैति प्रारभते सौमिक कर्म अनेन इति प्रायणीयः । इस व्युत्पत्ति से सोमयाग के प्रारम्भ के लिए क्रियमाण इष्टि कर्म ही प्रायणीय कहलाता है। सोमयाग से यजमान नवीन दिव्यात्मा का निर्माण कर स्वर्गलोक में चला जाता है। देवताओं में स्थान प्राप्त कर लेता है। इसीलिए "स्वर्गं वा एतेन लोकमुपयन्ति यत् प्रायणीयस्तत् प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्—(तै. ब्रा. १–२–१) इस श्रुति के द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त्यर्थ जो कर्म किया जाता है उसे प्रायणीय कहा जाता है। जैसा कि कात्यायन श्रौतसूत्र में बतलाया गया है।

"दीक्षान्ते प्रायणीयमदित्यै चरुं निर्वपति"
(का. श्रौ. सू. ७-१४०-इति।)

सोमयाग का प्रारम्भ पार्थिवप्राण से ही होता है और पार्थिवप्राण पर ही उसकी समाप्ति होती है। जब तक दीक्षित यजमान पार्थिव प्राण को आत्मसात् नहीं कर लेता तब तक सोमयाग का स्वर्ग प्राप्ति रूप फल उसे प्राप्त नहीं होता। प्राणरूप अमृताग्नि का ही नाम आदिति है जो कि भूकेन्द्र से लेकर २१वें अहर्गणरूप विद्यमान सूर्य तक व्याप्त रहती है।

भूकेन्द्र से निकलकर २१वें अहर्गण तक जाने वाला आग्नेय पार्थिव प्राण घन, तरल व विरल भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है। त्रिवृत स्तोम तक वह प्राणाग्नि घनरूप में रहती है। वहां तक उसका अग्नि ही नाम रहता है। आगे जाकर वह अग्नि विशकलित होकर तरल रूप में परिणत हो जाती है।

अग्नि की यह तरलावस्था वायु कहलाती है। इस तरलावस्थापन्न अग्नि की स्थिति पञ्चदश स्तोम तक रहती है। इसके अनन्तर यह अग्नि और भी विशकलित होकर विरलावस्था में परिणत हो जाती है। विरलावस्थापन्न अग्नि आदित्य कहलाती है। इसकी सीमा २१ विंशस्तोम तक है। इस प्रकार यह प्राणरूप अग्नि २१ वें स्तोम तक जाती है। यहां जाकर वह समाप्त हो जाती है। अमृत रूप प्रजापति के इन तीन भेदों में ही ३३ आग्नेय देवता आ जाते हैं। अर्थात् ३३ देवता अग्नि के ही विभिन्न स्वरूप हैं। इनमें त्रिवृत् स्तोम तक जाने वाली घनाग्नि ८ वसुरूप अवान्तर आठ भेदों में परिणत हो जाती है। तरल रूप अग्नि जिसे वायु कहा जाता है ११ रुद्र रूप अवान्तर भेदों में परिणत हो जाती है। विरल रूप प्राणाग्नि द्वादश आदित्य रूप १२ अवान्तर भेदों में परिणत हो जाती है। इस प्रकार यह ३१ आग्नेय देवताओं का रूप धारण कर लेती है। त्रिवृत व पञ्चदशस्तोम की तथा पञ्चदश व एकविंशस्तोम की सन्धि दो अश्विनी कुमारों के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार ८ वसु, ११ रुद्र तथा १२ आदित्य व दो सान्ध्य देवता अश्विनीकुमार ये ३३ आग्नेय देवता है इन्हीं का निरूपण वाल्मीकि रामायण के निम्न श्लोक में किया गया है—

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिशंदरिन्दम्।
आदित्यां वसवो रुद्रा अश्विनौ च परन्तपं"

ये ही ३३ आग्नेय प्राण यज्ञिय देवता कहलाते हैं। जैसा कि ऋग्वेद के सप्तममण्डल के निम्नमन्त्र से स्पष्ट है—

"इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्चत्रिशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियासः। (ऋ० ७ म०)

उपर्युक्त रीति से सारे यज्ञिय देवता आग्नेय पार्थिव प्राणरूप हैं और इन यज्ञिय देवताओं की सत्ता अदिति में है । अतः पार्थिव प्राण को आत्मसात् करने पर सभी यज्ञिय देवता आत्मसात् हो जाते हैं । इसीलिए अदिति देवताक चरु निर्वाप रूप आरम्भणीयेष्टि की जाती है ।

आज यह मनुष्य यजमान दीक्षानन्तर प्रायणीयेष्टि इसलिये करता है कि जिनसे यह यज्ञविद्या मनुष्यों को प्राप्त हुई है, वे भौम स्वर्गवासी देवता सोमयाग के प्रारम्भ में यह इष्टि करते हैं । अतः 'यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि' इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य यजमान यज्ञ के प्रारम्भ में प्रायणीयेष्टि का अनुष्ठान करता है किन्तु भौमस्वर्गवासी देवताओं ने ही यज्ञ के प्रारम्भ में इस इष्टि को क्यों किया ? इस प्रश्न का समाधान यही है कि यज्ञविद्या के आविष्कर्ता साध्य लोग थे । जैसा कि निम्न ऋङ् मन्त्र से स्पष्ट हो रहा है:—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

इन साध्यों से ही यह यज्ञविद्या भौमस्वर्गवासी देवताओं को प्राप्त हुई थी । इस यज्ञविद्या की प्राप्ति देवताओं को साध्यों से अध्ययन के द्वारा नहीं प्राप्त हुई थी अपितु श्रवण के द्वारा, अर्थात् देवताओं ने सुन रक्खा था कि साध्य लोग यज्ञविद्या के द्वारा महान् से महान् कार्य कर लेते हैं । अतः देवताओं ने भी यज्ञ प्रारम्भ किया । अग्नि में सोम की आहुति देना ही यज्ञ नहीं है । यज्ञविद्या अति गहन है । सुनने मात्र से देवताओं की कुँजी प्राप्त नहीं हुई थी । यज्ञ की कुँजी, प्राकृतिक प्राणों की पहचान जब तक नहीं हो जाती है, तब तक प्राप्त नही होती । क्योंकि यज्ञ के द्वारा आध्यात्म प्राणों में आधिभौतिक साधनों द्वारा आधिदैविक प्राणों का आधान किया जाता है । आध्यात्मिक व आधिदैविक (प्राकृतिक) प्राणों का सङ्गतिकरण ही यज्ञ है । अतः उन्होंने उन प्राणों की खोज प्रारम्भ की तथा निरन्तर श्रम के द्वारा उन्हें यज्ञ रहस्य प्राप्त हो गया ।

प्रारम्भ में साध्यों से सुनकर जो यज्ञ किया था । उसमें केवल अग्नि में सोम की आहुति ही थी, किन्तु अदिति रूप पार्थिव प्राण का ज्ञान न होने से पृथिवी पर यज्ञ करते हुए भी पार्थिव प्राण को उन्होंने आत्मसात् नहीं किया था । इस प्रकार पार्थिव प्राण को यज्ञ से बहिर्भूत कर दिया था । अब उन्हें यह मालूम हुआ कि पार्थिव प्राण को आत्मसात किये बिना यज्ञ निष्फल है, उससे कभी स्वर्ग प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यज्ञ के द्वारा पार्थिव प्राण का अर्थात् आध्यात्मिक प्राण का सौर प्राण अर्थात् देवप्राण के साथ सम्बन्ध करना है, इसी सम्बन्ध के कारण शरीर त्यागानन्तर मनुष्य का आत्मा सौर देवप्राणों से आकृष्ट होकर स्वर्गलोक में चला जाता है । इसलिये अब उन्होंने सर्वप्रथम पार्थिव प्राण-रूप, अदिति देवताक चरु निर्वाप रूप प्रायणीयेष्टि की । उपर्युक्त रहस्य को भगवान् याज्ञवल्क्य ने एक कथा की कल्पना कर इस के द्वारा बतलाया है । अर्थात् जब भौमस्वर्गवासी

देवताओं ने जब यज्ञ करवा लिया तब इस पृथिवी (पार्थिव प्राण) को यज्ञ भाग से अलग कर दिया। इससे अप्रसन्न होकर पृथिवी ने देवताओं के यज्ञ को मोह में डाल दिया अर्थात् यज्ञ को देवताओं की दृष्टि से छुपा दिया। क्योंकि उसने यज्ञ को छुपा लिया, अतः देवता यज्ञ को नहीं जान सके।।१।।

देवता कहने लगे कि हमने भी साध्यों की तरह इस पृथ्वी पर यज्ञ का वितान किया, फिर क्या कारण है कि यज्ञ हम से अदृश्य हो गया।।२।।

इस प्रकार बहुत विचार करने पर उन्हें मालूम हुआ कि पृथिवी प्राण ही यज्ञ की वास्तविक वस्तु है। प्राण अदृश्य वस्तु है। उसको आत्मसात् किये बिना हमने यज्ञ किया, अतः इस पृथ्वी प्राण को आत्मसात् न करने के कारण यज्ञ को हम नहीं जान सके। हमारा यज्ञ निष्फल हुआ। इसलिए पृथिवी प्राण रूप अदिति के पास ही हविर्भाग लेकर पहुंचे।।३।।

उन देवताओं ने प्राणरूप पृथिवी से कहा कि आप पर ही हमने यज्ञ का वितान किया फिर आपने इस हमारे यज्ञ को क्यों मोह लिया अर्थात इस का स्वरूप हमें ज्ञान नहीं हुआ।।४।

पृथ्वी ने कहा—कि देवताओं, तुमने मेरे पर ही यज्ञ किया किन्तु मुझे यज्ञ भागरहित क्यों किया? इसलिए मैंने इस तुम्हारे यज्ञ को मोहित कर दिया। आप लोग इस यज्ञ में मेरा भाग निश्चित करो। तब तुम्हें वह यज्ञ दिखाई देगा। अर्थात् यज्ञस्वरूप को तुम जान जाओगे। तात्पर्य यह है कि यज्ञ का मूल पृथिवी है। उस पृथिवी प्राण को पहले जानना चाहिये। तभी यज्ञ का स्वरूप आपको विदित होगा, यज्ञ को आप देख सकोगे।।५।।

देवताओं ने इस बात को स्वीकार किया और माना कि पृथ्वी से ही यज्ञ का प्रारम्भ होता है और उसी पर यज्ञ समाप्त होता है। अतः सर्वप्रथम पृथिवी प्राण को आत्मसात् करना चहिए इसलिए प्रायणीय व उदयनीय दोनों इष्टियां अदिति देवताक हैं। यह पृथिवी अर्थात् पार्थिव प्राण ही अदिति है। इस प्रकार पृथिवी प्राण को पहचानने पर यज्ञ का दर्शन हो गया और देवताओं ने उस यज्ञ का वितान किया।

इस बात को समझाने के लिए जो कथा कही गई है उसके अनुसार पृथिवी ने देवताओं से कहा कि यज्ञ में मेरा भी भाग रखिये। मुझे यज्ञ से बहिर्भूत न कीजिए। देवताओं ने इस बात को स्वीकार किया यज्ञ के प्रारम्भ की प्रायणीयेष्टि भी आप की होगी और यज्ञान्त में जो उदयनीयेष्टि होगी उसमें भी आपको हवि दी जायेगी। इस प्रकार यज्ञ में पृथिवी का भाग नियत कर देने पर पृथिवी ने देवताओं के लिए यज्ञ रहस्य को प्रकट कर दिया और देवताओं ने यज्ञ का वितान किया। यद्यपि ये दोनों इष्टियां अदिति देवताक हैं न कि पृथिवी देवताक तथापि "इयं (पृथिवी) वा आदितिः" (कौ० ७-६) तै० (१-१-६-५) गोपथ-(१-२५) इयं पृथिवी आदितिः" (ऐ०१-८) इयं वै (पृथिव्यदितिः) शत० (१-१-४) इत्यादि श्रुतिवचनों के अनुसार पृथिवी ही अदिति है। अतः अदिति देवताक हवि पृथिवी देवताक

ही है किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए भूपिण्ड अदिति न कहला कर अमृता प्राणरूपा पृथिवी जो कि भूकेन्द्र से लेकर २१ वें अहर्गण तक व्याप्त है वह अदिति कहलाती है । इसी पृथिवी प्राण का ज्ञान होने पर उसे जब देवताओं ने आत्मसात् किया तब ही यज्ञ का स्वरूप देवताओं को मालूम पड़ा और तभी यज्ञ का वितान हुआ ।

प्रायणीय तथा उदयनीय दोनों इष्टियां अदिति देवताक हैं । १८० के अंशात्मक दृश्य खगोल के ९० अंश के उत्तरी ध्रुव तथा ९० अंश के दक्षिण ध्रुव दोनों के मध्य का ४८ अंश का परिसर है उसे क्रान्तिवृत्त कहा जाता है । यही क्रान्तिवृत्त पृथिवी का परिभ्रमण मार्ग कहलाता है । ४८ अंश के परिसर के मध्य में जो सबसे बड़ा पूर्वापर वृत है उसे बृहती कहते है । उत्तर से दक्षिण तक के पूर्वापरवृत्त नामक अहोरात्रों में सबसे बड़ा है । इसी बृहती पर सूर्य प्रतिष्ठित है । जैसा कि -"सूर्यो बृहती मध्यूढ़स्तपति" इस श्रुतिवचन से सिद्ध हो रहा है । पृथिवी इस क्रान्तिवृत्त पर सूर्य की परिक्रमा करती हुई कभी उत्तर गोल की क्रान्ति पर पहुँच जाती है और कभी दक्षिण गोल की क्रांति पर । किन्तु उत्तर गोल से दक्षिण गोल में जाती हुई यह मध्यस्थ विषुवतवृत्त पर भी पहुंचती है और दक्षिण गोल से उत्तर गोल में जाते समय भी बिषुवद् वृत्त पर पहुंचती है। दोनों ओर से जब विषुवद् वृत पर आती है तब विषुवद् वृत पर विद्यमान सूर्य के सम धरातल पर आ जाती है । उस समय क्रान्ति (सूर्य की दूरी) का पता हो जाता है । अत: इसे सम्पात कहते हैं । उत्तर गोल से दक्षिण गोल जाती हुई पृथिवी का जो क्रान्तिपात होता है उसे शरत् सम्पात कहते हैं । क्योंकि वह शरद् ऋतु में २२ सितम्बर में होता है और दक्षिण गोल से उत्तर गोल में जाती हुई जब विषवत् वृत्त पर आती है तब वसन्त सम्पात होता है । इन दोनों सम्पातों पर दिन और रात्रि समान होते हैं । किन्तु शरत् सम्पात के बाद जब पृथिवी दक्षिण गोल में जाती है तब रात्रि बडी और दिन छोटे होते हैं क्योंकि इस समय पृथ्वी सूर्य के नीचे चली जाती है । ज्यों ज्यों नीचे जाती है सूर्य का प्रकाश पृथिवी पर कम पडता है और इस तरह दिन छोटे और रात्रि बडी होती जाती है । तात्पर्य यह है कि जब पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती हुई विषुवत् पर सूर्य के समधरातल पर आती है तब सूर्य संमुख कल्पित बिन्दु का नाम ही अदिति बिन्दु है । इस अदिति बिन्दु से ही यज्ञ का प्रारम्भ होता है क्योंकि जब अदिति बिन्दु से (विषुवत्) पृथिवी नीचे जाती है उस तब पर सौर पदार्थों की आहुति होती है । ऊपर की वस्तु के पदार्थों की नीचे की वस्तु पर आहुति होती है और पृथिवी पर सौर पदार्थों की आहुति का नाम ही यज्ञ है अत: यह कहना सर्वथा संगत है कि विषुवत् पर सूर्य संमुख कल्पित अदिति से ही यज्ञ का प्रारम्भ होता है अतः अदिति देवताक ही प्रायणीयेष्टि है तथा जब घूमती हुई पृथिवी दक्षिण गोल से उत्तर गोल में आती है तब विषुवत् पर आने पर सूर्य से ऊपर चली जाती है । अतः पृथिवी के सूय से ऊपर होने के कारण पृथिवी में सौर पदार्थों की आहुति नही होती । यही यज्ञ की समाप्ति है । अर्थात् उदयनीयेष्टि है । अत: यह सिद्ध हो जाता है कि अदिति ही यज्ञ प्रारम्भ रूप प्रायणीयेष्टि है तथा वही यज्ञ समाप्ति रूप उदयनीयेष्टि है । इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्यक्य ने कहा है "एष आदित्य एव प्रायणीयो भवत्यादित्या

उदयनीयः" इति अर्थात् यह अदितिरूप पृथिवी ही यज्ञ का प्रारम्भ स्थान है एवं यही अदिति रूप पृथिवी यज्ञ का परिसमाप्ति स्थान है। अदिति को केन्द्र में रखकर पृथिवी के दक्षिण गोल में जाने पर यज्ञ का प्रारम्भ होता है तथा अदिति से पृथिवी के उत्तर गोल में जाने पर जो सौर पदार्थों का-सौर प्रकाश का पृथिवी पर अभाव होता है, यही यज्ञ की समाप्ति है, क्योंकि अब सौर तत्वों की पृथिवी पर आहुति नहीं होती है अतः अदिति ही यज्ञ समाप्ति स्थान है। यज्ञ स्वरूप के परिज्ञान के लिए अदिति के स्वरूप का ज्ञान अत्यावश्यक है। अतः यजमान अदिति के स्वरूप को पहचानने के लिए प्रायणीय अदितिदेवताक चरू का निर्वाप करता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य ने कहा है "स आदित्यं चरूं प्रायणीयं निर्वपति यज्ञस्यैव दृष्ट्यै। यज्ञं दृष्ट्वा क्रीणानि तं तनवा" इति। यज्ञ के लिए ही सोमयाग में सोम का क्रयण किया जाता है और उस क्रीत सोम के द्वारा सोमयाग का वितान किया जाता है।

जिस देवता के लिए हवि दी जाती है उसे हवि को वह देवता ग्रहण कर लेता है। वह हवि उस देवता में सम्मिलित हो जाती है। जिस देवता को जो हवि दी जाती है उस हवि का वह इष्ट देवता कहलाता है। वह हवि उस देवता के द्वारा गृहीत हो जाने पर वह इष्ट देवता हो जाती है। किन्तु अदिति कोई देवता नहीं है अतः इसको दी हुई हवि देवता द्वारा गृहीत होने से अनिष्टा देवता ही रहती है। इसी अभिप्राय से कहा है "तद्वै निरूप्तं हविरासीदनिष्टा देवता-इति ॥७॥

अदिति को पहचानना ही पथ्यास्वस्ति का पहचनना है। जैसे अदिति सूर्य सम्मुख धरातल पर विद्यमान कल्पित बिन्दु है उसी प्रकार सूर्य से पश्चिम की ओर सूर्य के परिभ्रमण मार्ग का नाम पथ्यास्वस्ति है। अर्थात् दृश्यमण्डल की अपेक्षा से सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर चलता हुआ दिखाई देता है। वह कल्पित बिन्दु ही पथ्यास्वस्ति कहलाती है। अर्थात् सूर्य-परिभ्रमण मार्ग स्थिति ही पथ्यास्वस्ति है। किन्तु वह बिन्दु प्रतिदिन नवीन नवीन बनती है। अतः पथ्यास्वस्ति भी बदलती जाती है क्योंकि पूर्व से पश्चिम अर्थात् उदय से अस्त की ओर जाते हुए सूर्य की भ्रमण मार्ग स्थिति बदलती रहती है। वह एक-एक बिन्दु उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ता रहता है। उसका मार्ग परिवर्तित होता रहता है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि पथ्यास्वस्ति अदिति बिन्दु की तरह सर्वथा कल्पित नहीं है। उसमें वाक्रूप पदार्थ भी सूर्य परिभ्रमण मार्ग रेखायें है। अतः वहां वाक् भाग से परिपूर्ण है।

तात्पर्य यह है कि अग्नि अमृत–मर्त्य भेद से व चित्यचितेनिधेय भेद से दो प्रकार की है उनमें अमृताग्नि को चितेनिधेयाग्नि तथा मर्त्याग्नि को चित्याग्नि कहा जाता है। अमृताग्नि रूप पृथिवी में सौर पदार्थों व पारमेष्ठय पदार्थों की आहुति होती रहती है। आहुति उसी की होती है जो पशुभाग व मर्त्यभाग है। जैसे सूर्य से परित्यक्त अतएव अनात्म सौर प्रकाश की आहुति अमृताग्निरूप पृथिवी में होती है उसी प्रकार पृथिवी के मर्त्यभाग पशुभाग धातु-उपधातु आदि की सूर्य में आहुति होती रहती है। अमृताग्नि को अन्नाद व मर्त्यभाग को

अन्न कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ दूसरे का अन्न– भोज्य भी बनता है तथा अन्नाद भोक्ता भी। सौर रश्मियां सूर्य से प्रवृक्त होकर अनात्म बन कर पार्थिव अमृताग्नि में आहुत होती रहती है। इस प्रकार पार्थिव अग्नि अन्नाद है तथा उसका मर्त्यभाग सौर रश्मियों से आकृष्ट होकर सूर्य का अन्न व भोग्य भी बनता रहता है। प्रत्येक पदार्थ की यही स्थिति है। इसीलिए श्रुति कहती है "अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" इति।

इस प्रकार सूर्य परिभ्रमणरेखा सूर्य रश्मियों से आकृष्ट पृथिवी के मर्त्य अन्न वाग् भाग से व्याप्त है। अतः सूर्य परिभ्रमणरेखा केवल अदिति बिन्दु की तरह सर्वत्र कल्पित सी नहीं है अपितु सूर्य रश्मियों द्वारा आकृष्ट पार्थिव मर्त्यवाग् भाग से युक्त हैं। अतः उन्हें सर्वथा कल्पित नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त रीति से सूर्यपरिभ्रमण मार्ग रेखाओं की विभाजिका उत्तर गोल की परमक्रान्ति तक उन दोनों गोलों के मध्य में विद्यमान अदिति बिन्दुएँ भी हैं। उन्हीं अदिति बिन्दुओं से उत्तर परम क्रान्ति से दक्षिण परम क्रान्ति तक विद्यमान सूर्य परिभ्रमण मार्ग रेखाओं का विभाजन होता है। ये ही अदितिबिन्दुएँ उन सूर्य परिभ्रमणमार्ग रेखाओं का ज्ञान कराती है अतः अदिति के ज्ञान से सूर्य परिभ्रमणमार्ग रेखारूप पथ्यास्वस्ति की भी पहचान हो जाती है अतः देवताओं ने अदिति की तरह पथ्यास्वस्ति को भी पहचाना और उनका भी यजन किया।

परन्तु जैसा पहले बतला दिया गया है वे सूर्य परिभ्रमण मार्ग रूप रेखायें वाक् से व्याप्त हैं अतः वाक् को ही पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। यह वाक् ही यज्ञ है क्योंकि पार्थिव मर्त्याग्नि ही क, च, ट, त, प, आदि वर्णों में परिणत होता है इसीलिए इस वाक् को अग्नि का उपनिषद्–"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषद्"–इस श्रुति में बतलाया गया है तथा -"अग्नि-र्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" इस ऐतरेयोपनिषत् श्रुति में आधिदैविक अग्नि ही वाग् रूप में परिणत होकर मुख में प्रविष्ट हो गया, यह कहा है। क,च,ट, त, प, आदि वर्ण समष्टि ही मन्त्र कहलाती है तथा मन्त्र के बिना यज्ञ निष्पन्न नहीं होता। अतः यज्ञ साधनत्वेन वर्णसम-ष्टिरूप मन्त्र यज्ञरूप है इस अभिप्राय से याज्ञवल्क्य ने कहा है-

"वाग्वै पथ्यास्वस्तिः, वाग्यज्ञः तद्यज्ञमपश्यन् तमन्वत-अर्थात् पथ्यास्वस्ति को जानना वाक् को जानना है। वाग् यज्ञरूप है। अतः पथ्यास्वस्ति रूप वाक् के ज्ञान से यज्ञ का स्वरूप मालूम पडता है। इस यज्ञ को जानकर देवताओं ने उस यज्ञ का वितान किया।।८।।

जैसे अदिति के ज्ञान से पथ्यास्वस्ति रूप वाक् का अर्थात् पार्थिव मर्त्याग्नि का ज्ञान हो गया उसी प्रकार अदितिरूप अमृताग्नि का भी ज्ञान हो गया और यज्ञ में अमृताग्नि ही प्रधान वस्तु है। उसी में तो आहुति होती है और अग्नि में सोमाहुति होती ही यज्ञ कहलाती है। इसी अभिप्राय से कहा है "अथैभ्योऽग्निः प्रारोचत" अर्थात् अदिति के ज्ञान से अमृताग्नि के स्वरूप का ज्ञान भी देवताओं को हो गया। देवताओं ने उस अमृताग्नि का यजन किया।

अग्नि का परिज्ञान सोमयाग के आग्नेयभाग का परिज्ञान है। अतः अग्निस्वरूप ज्ञान द्वारा देवताओं ने यज्ञ में समिधा आदि जो शुष्क वस्तुएँ हैं उनका ज्ञान कर लिया। समिधा आदि शुष्क वस्तुएँ यज्ञ के साधन हैं। इस प्रकार देवताओं ने शुष्क आग्नेय भाग को पहचाना तथा उसे यज्ञ में सम्मिलित कर लिया ।।९।।

अमृताग्नि का ज्ञान होते ही अग्नि में आहुत होने वाले आग्निसमीपवर्ती सोम का ज्ञान भी हो गया। क्योंकि २१ वें अहर्गण तक अग्नि व्याप्त है तथा उससे ऊपर ही सोम की सत्ता है। सोम का ज्ञान होते ही देवताओं ने सोम का यजन किया। उन देवताओं ने सोम की पहचान हो जाने पर यज्ञ का जो सौम्य आर्द्र भाग है उसको पहचान लिया। क्योंकि वृतादि आर्द्र वस्तुएँ ही यज्ञ का सौम्य भाग है। उसका ज्ञान हो जाने पर उस सोम की अग्नि में आहुति दी तथा उसे भी यज्ञ में सम्मिलित कर लिया। क्योंकि जैसा बिना अग्नि के याग नहीं होता उसी प्रकार सोम के बिना भी यज्ञ नहीं होता ।।१०।।

इसके बाद देवताओं ने, देवताओं को प्रेरित करने वाले, अनुज्ञा प्रदान करने वाले सविता का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया क्योंकि सविता के बिना भी यज्ञ नहीं हो सकता। सविता देवता की प्रेरणा से अग्नि व सोम का मेल होता है और अग्नि व सोम के मेल से ही यज्ञ की निष्पत्ति होती है। सविता ही पशु है। क्योंकि वस्तु से पृथक् हुआ प्रवृत भाग ही पशु कहलाता है। सविता का जो प्रेरणा बल था वह सविता से प्रवृक्त होकर (पृथक् होकर) अब अग्नि में, सोम में आगया और उसके मेल का करण बन गया। प्रवृत भाग ही पशु कहलाता है अतः "सविता वै पशवः" इस श्रुति में सविता को पशु कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि व सोम के बिना याग नहीं होता उसी प्रकार अग्नि व सोम के मेल के बिना भी यज्ञ नहीं हो सकता और दोनों का मेल सविता के प्रेरणा बल से, जो कि सविता से प्रवृक्त होकर अग्नि व सोम में आगया है- होता है। वह मेल सविता के प्रवृक्त प्रेरणा बल से होता है, और प्रवृक्त भाग ही पशु होता है अतः सविता को भी यज्ञ में सम्मिलित कर लिया गया। अर्थात् पशुओं को भी यज्ञरूप धन होने से पहचाना तथा उन्हें यज्ञ में सम्मिलित किया सविता ही पशुरूप है। अतः सविता को पहचान कर उसे यज्ञ में सम्मिलित करना है। अदिति में प्रदत्त चरू रूप हवि तो अदिति के देवताक होने से वह हवि उसमें सम्मिलित नहीं हुई किन्तु अदिति के उत्तरवर्ती पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, व सविता के देवता होने से उनको दी हुई हवि उनमें सम्मिलित होकर तद्रूप बन गई ।।११।।

भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने यज्ञ के प्रारम्भ में यज्ञस्वरूप निष्पादक अदिति, पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम व सविता, इन पाँचों का यजन किया था। इसी प्रकार आज यह यजमान वैध यज्ञ में, यज्ञ के प्रारम्भ में पाँचों देवताओं का यजन करता है। क्योंकि देवताओं से छिपा हुआ जो यज्ञ था वह पाँच अवयवों वाला था। उसे उन्हीं पाँचों देवताओं के द्वारा पहचाना, प्रकट किया ।।१२।।

यज्ञ की तरह बसन्त, ग्रीष्म आदि पाँचों ऋतुओं का भी ज्ञान भुवनस्वर्गवासी देवताओं को नहीं था। उन्हीं अदिति आदि पाँचों देवताओं के द्वारा ही उन्होंने ऋतुओं का भी ज्ञान प्राप्त किया ।।१३।।

जिस प्रकार अदिति आदि पाँचों देवताओं के ज्ञान के बिना यज्ञादि का भी ज्ञान नहीं था, उसी प्रकार दिशाओं का भी पहले ज्ञान नहीं था। क्योंकि किसी स्थिर स्थल के अभाव के बिना उस स्थिर वस्तु से पूर्व व पश्चिम आदि का ज्ञान कैसे सम्भव था। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है-"दिशो मुग्धा आसन् पञ्च । ता एताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ।।१४।।

तात्पर्य यह है कि संसार में निरपेक्ष-सापेक्ष भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं उनमें सूर्य पृथिवी, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि निरपेक्ष पदार्थ हैं। इनके ज्ञान के लिए सूर्यादि पदार्थों को छोडकर अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है किन्तु जो सापेक्ष पदार्थ होते हैं उनके ज्ञान के लिए दूसरे की अपेक्षा रहती है जैसे पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता, ऋतुएँ, दिशायें आदि। पृथिवी परिभ्रमण मार्ग स्थिति रूप पथ्यास्वस्ति, का ज्ञान मार्गज्ञान पर निर्भर है। प्राणाग्नि के अदृश्य होने से उसका ज्ञान जिस दृश्य वस्तु से प्राणाग्नि निकलती है उस वस्तु पर निर्भर उस सोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। प्रेरणा प्रदाता सविता का ज्ञान, है जिसमें जिस वस्तु में प्रेरणा प्रविष्ट होती है— उस पर निर्भर है इस प्रकार पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम आदि पदार्थ सापेक्ष हैं अतः उनका ज्ञान दूसरी वस्तुओं पर निर्भर है। इन सब का ज्ञान अदिति ज्ञान पर ही निर्भर है। अतः देवताओं ने सर्वप्रथम आदित्य चरू के निर्वाप द्वारा अदिति को आत्मसात किया तभी यज्ञ का स्वरूप प्रतीत हुआ। अदिति के अतिरिक्त पथ्यास्वस्ति वाक्, प्राणाग्नि व प्राणसोम तथा प्रेरणा प्रदाता सविता का भी ज्ञान होने पर यजन किया क्योंकि अग्नि, सोम, पथ्यास्वस्तिरूप वाक् तथा सविता के बिना यज्ञ का स्वरूप नहीं बन सकता। अतः अदिति से सविता तक पांचों देवताओं को जानकर उन्हें आत्मसात् कर लिया। प्रारम्भ में यज्ञ स्वरूप निष्पादक अदिति आदि पाँचों का ज्ञान प्राप्त किया और उनका यजन किया। उन्हें आत्मसात् किया। इन पांचों देवताओं का यजन सोमयाग के प्रारम्भ में किया है। अतः इसका नाम प्रायणीयेष्टि हुआ।

अदिति आदि पांचों देवताओं के ज्ञान के बिना दिशाओं का भी ज्ञान उनको नहीं हुआ था, क्योंकि दिशा भी सापेक्ष पदार्थ है। उनका ज्ञान आदित्यादि के ज्ञान पर ही निर्भर है अब किस दिशा का ज्ञान किसी देवता से होता है इसका निरूपण किया जा रहा है।

उत्तर दिशा का ज्ञान, भुवनस्वर्गवासी देवताओं को पथ्यास्वस्ति के द्वारा हुआ क्योंकि जो सूर्य का उत्तरायण है वही पृथिवी का दक्षिणायन हैं। सूर्य का उत्तरगोल में जाना

पृथिवी का दक्षिण गोल में जाना है। पृथिवी जब विषुवत् से नीचे की ओर जाती है अर्थात् दक्षिण में जाती है तब सूर्य ऊपर आ जाता है और ऊर्ध्ववर्ती सूर्य के पदार्थों का अधोवर्ती पृथिवी में आगमन होता है, वही यज्ञ है। सूर्य का विषुवत् से प्रतिदिन उत्तर की ओर एक-एक बिन्दु बढ़ना सूर्य परिभ्रमण मार्ग स्थितिरूप पथ्यास्वस्ति का उत्तर की ओर जाना है। इस प्रकार विषुवत् से उत्तरोत्तर उत्तर की ओर बढ़ने वाली पथ्यास्वस्ति से देवताओं ने उत्तर दिशा को पहचाना। यद्यपि सूर्यपरिभ्रमण मार्ग स्थितिरूप पथ्यास्वस्ति उत्तरायण में जैसे उत्तरोत्तर उत्तर की ओर बढ़ती है वैसे ही सूर्य के दक्षिणायन में आने पर वह पथ्यास्वस्ति प्रतिदिन अर्थात् उत्तरोत्तर दक्षिण की ओर भी बढ़ती है क्योंकि जब सूर्य दक्षिणायन होता है तो पृथिवी उत्तरायण हो जाती है अर्थात् उत्तर गोल में आ जाती है अतः पृथिवी के सूर्य की अपेक्षा से ऊपर आ जाने से सौरतत्वों का पृथिवी में आगमन रूप यज्ञ नहीं होता क्योंकि पदार्थ ऊपर से नीचे की ओर जाते हैं। उत्तरवर्ती पदार्थों की अधोवर्ती में आहुति होती है। सूर्य के दक्षिणायन काल में पृथिवी के ऊर्ध्ववर्ती व सूर्य के अधोवर्ती होने से सौरपदार्थों का पृथिवी में आगमन रूप आहुति सम्भव नहीं है अतः दक्षिणगोलस्थ सूर्य परिभ्रमण मार्ग रेखायें यज्ञ साधन न होने से यज्ञसाधन भूत उत्तरगोलस्थ सूर्य परिभ्रमण मार्ग रेखारूप पथ्यास्वस्तियों का ही यहाँ ग्रहण है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। ये पथ्यास्वस्तियाँ अदिति की तरह केवल कल्पित बिन्दु रूप ही नहीं है किन्तु उसमें सूर्य रश्मियों द्वारा आकृष्ट मर्त्याग्नि रूप वाक् की भी सत्ता है। अतः वाक् से परिपूर्ण होने के कारण पथ्यास्वस्ति को वाक् कहा गया है और यज्ञ साधनभूत यह वाक् उत्तर गोलस्थ पथ्यास्वस्ति गत ही है इसीलिए उत्तर की तरफ कुरूपाञ्चाल देशों में मधुर व स्फीत अर्थात् स्पष्ट वाणी का उच्चारण होता है। इसी उत्तर गोलस्थ सूर्य परिभ्रमण मार्ग रेखा रूप पथ्यास्वस्ति ही मर्त्याग्निरूप वाक् से परिपूर्ण होने के कारण वाक् कहलाती है इसी पथ्यास्वस्ति रूप वाक् के द्वारा देवताओं ने उत्तर दिशा को पहचाना। क्योंकि उत्तर दिशा ही पथ्यास्वस्ति की दिक् है। देवताओं ने पूर्व दिशा को अग्नि से पहचाना। अर्थात् पृथिवी अग्नि स्वरूप है।

इसीलिए यह अमृताग्नि प्रतिक्षण पृथिवी केन्द्र से निकल कर २१ वें अहर्गण तक जाया करता है, वितत रहता है। यह पृथिवी पश्चिम से पूर्व की और सूर्य की परिक्रमा करती हुई चलती है। इसीलिए सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर चलता दिखाई देता है। पृथिवी अग्निस्वरूप है अतः अग्नि ही पश्चिम से पूर्व की ओर गति करती है। इसीलिए यज्ञ में पश्चिम दिशा में स्थित गार्हपत्यागार से अग्नि को पूर्व दिशा में स्थित आहवनीयाग्नि में ले जाया जाता है और उसी में देवताओं के लिए हवि दी जाती है। उसी में अग्निहोत्र होमादि का अनुष्ठान किया जाता है क्योंकि प्रकृति में अग्नि पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर जाती है। अतः पूर्व दिक् ही अग्नि की है। इस अग्नि से ही देवताओं ने पूर्व दिशा को जाना ॥१६॥

सोम से देवतओं ने दक्षिण दिशा को पहचाना । क्योंकि सोम सर्वदा उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर जाया करता है और दक्षिण से उत्तर की ओर जाने के कारण ही देवताओं ने दक्षिण दिशा को पहचाना । इसीलिए सोमयाग के लिए खरीदे हुए सोम को दक्षिण की ओर ले जाते हैं और दक्षिण दिक्स्थ पितर ही इस सोम के देवता हैं अतः सोम को पितृदेवत्य माना जाता है । देवताओं ने इस सोम के द्वारा दक्षिण दिशा को पहचाना । दक्षिण को सोम की दिशा बतलाया गया है । क्योंकि सोम उत्तर से दक्षिण में ही आता है । ॥१७॥

सविता का स्थान सूर्य, बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति सोम से भी ऊपर है । अर्थात् सूर्य जिसे कि इन्द्र भी कहा जाता है उससे ऊपर बृहस्पति है । बृहस्पति से ऊपर ब्रह्मणस्पति सोम है । जिसका कि वर्णन "पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि सर्वतः "इत्यादि मन्त्रों के द्वारा किया गया है । इस ब्रह्मणस्पति सोम से ऊपर सर्वप्रेरक सविताप्राण की स्थिति है क्योंकि प्राण ही देवता कहलाता है अतः सविता प्राण को सविता देवता कहा जाता है । इस प्राण का जिसमें भी प्रवेश हो जाता है वह भी सविता ही कहलाता है । क्योंकि इस सविता प्राण का सूर्य में भी प्रवेश है अतः सूर्य को भी सविता कहा जाता है । चूँकि सूर्य (सविता) पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता है । अर्थात् दृश्यमण्डल की अपेक्षा से सूर्य प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की ओर जाता दिखाई देता है । अतः पश्चिम दिशा सूर्य की है । इसी से सूर्य रूप सविता से देवताओं ने पश्चिम दिशा की पहचाना ॥१८॥

'खस्वस्तिक बिन्दु को ही अदिति कहते हैं । यह खस्वस्तिक मस्तक से ऊपर है, ऊर्ध्व हैं । अतः ऊर्ध्वादिक् ही अदिति की निश्चित होती है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है । पृथिवी ही अदिति है । और यह पृथिवी रूप अमृताग्नि ही ऊपर की ओर २१ वें अहर्गण तक जाने के कारण ऊर्ध्व दिक् की अधिष्ठाता है । ऊर्ध्व की ओर जाने के कारण इसमें उत्पन्न होने वाली ओषधि, वनस्पति आदि ऊर्ध्वमुख ही हैं अर्थात् ऊपर की ओर मुख किये रहती हैं । इस ऊर्ध्व दिग्गामिनी अदिति की ऊर्ध्वा दिक् है । अतः इस अदिति के द्वारा देवताओं ने ऊर्ध्वादिक् को पहचाना ॥१९॥

प्रायणीय इष्टि के अनन्तर आतिथ्येष्टि की जाती है । "यज्ञो वै पुरूषः" इस श्रुति के अनुसार यज्ञ पुरूष रूप है अतः पुरूष में जैसे हस्तपादादि अवयव होते हैं उसी प्रकार यज्ञ में भी हस्तमस्तकादि अवयव होते हैं इनमें आतिथ्येष्टि यज्ञ का मस्तक है और प्रायणीयेष्टि तथा उदयनीयेष्टि यज्ञपुरूष के दोनों हाथ हैं क्योंकि प्राकृतिक यज्ञ में मस्तक दोनों हाथों के मध्य में होता है इसी की प्रतिकृति वैध यज्ञ में यज्ञपुरूष के मस्तक स्थानीय आतिथ्येष्टि के दोनों ओर दोनों हाथों के स्थान में प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि है ॥२०॥

कतिपय विद्वानों का कथन है कि प्रकृति यज्ञ से मानव उत्पन्न होता है। प्रकृतियज्ञ में जिस प्रकार जिन पदार्थों की आहुति दी जाती है उसी प्रकार इस वैध यज्ञ में यजमान उन्हीं पदार्थों की आहुति द्वारा नवीन दिव्यात्मा को उत्पन्न करता है। चूँकि प्रकृति यज्ञ में जिस प्रकार पुरूष में मस्तक के दोनों ओर दोनों हाथ समानाकार होते हैं उसी प्रकार दिव्यात्मा के मस्तकस्थानीय प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि समानरूप से की जानी चाहिए। अर्थात् प्रायणीयेष्टि में जो बर्हि होती है वही उदयनीयेष्टि में होनी चाहिए। तभी दोनों हाथों में समानाकारता बन सकती है अतः प्रायणीयेष्टि करने के बाद उस बर्हि को अग्नि में न डाले अपितु अलग बचाकर रख ले। उसे उदयनीयेष्टि में काम लेने के लिए नियत स्थान पर रख दें इसी प्रकार मेक्षण अर्थात् चरू निर्माण में काम आने वाले काष्ठ को चरू निर्माण के बाद सक्षामकर्षा (अग्नि संयोग से थोडे जले हुए) चरु के लेप के सहित प्रायणीयेष्टि स्थाली के साथ रख दे। उदयनीयेष्टि में काम लेने के लिए। तथा जो ऋत्विक् प्रायणीयेष्टि में हैं वे ही ऋत्विक् उदयनीयेष्टि में होने चाहिये। इस प्रकार दोनों दृष्टियों में उपर्युक्त वस्तुओं की एकता के कारण प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि से निर्मित होने वाले दिव्यात्मा के हाथों में समानाकारता आ सकती है। अतः ऐसा ही करना चाहिये ॥२१॥

किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसा कभी न करे। प्रायणीयेष्टि में काम आने वाली बर्हि को यजमान यथेच्छ अग्नि में डाल दे। सक्षामकर्षा–प्रायणीय चरुस्थाली को भी साफ कर रख दे। उसको भी उदयनीयेष्टि में काम लेने की आवश्यकता नहीं है। केवल प्रायणीयेष्टि के जो ऋत्विक् है वे उदयनीयेष्टि में रहें किन्तु वे भी कारणवश इधर–उधर चले गये हों तो उदयनीयेष्टि में दूसरे ऋत्विक् कर लेने चाहिये। दोनों हाथों में एकरूपता के लिए उपर्युक्त वस्तुओं की एकता होना आवश्यक नहीं है किन्तु दोनों इष्टियों में देवता व हवि की समानता होने से दोनों हाथों में एकरूपता बन सकती है। अतः प्रायणीयेष्टि की बर्हि मेक्षण तथा सक्षामकर्षा प्रायणीय चरूस्थाली को उदयनीयेष्टि के लिए रखना उचित व आवश्यक नहीं है ॥२२॥

यजमान प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि में अदिति आदि पाँच देवताओं का यजन करता है। अतः दोनों हाथों में पाँच-पाँच अंगुलियां होती हैं। यह प्रायणीयेष्टि विकृतियाग है। "अतः प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्या" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृतियाग के समान शंयुवाक् पर्यन्त कर्म इस विकृतियाग में भी होते हैं किन्तु इस विकृतियाग में प्रकृतियाग की तरह पत्नी संयोजन नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि से निष्पन्न होने वाले दोनों हाथ दिव्यात्मा के शरीर के पूर्वार्ध हैं। ऐसी स्थिति में पत्नी संयाज कर देने से यज्ञ में समागत सारे देवता चले जायेंगे क्योंकि पत्नी संयाज यज्ञ में आये हुए देवताओं को ससम्मान विदा करने के लिए ही होता है ॥२३॥

[विज्ञानभाष्य] पृथिवी से सूर्य तक प्राकृतिक यज्ञ होता रहता है। पार्थिव अग्नि में सौर पदार्थ प्रतिक्ष आहुत होते रहते हैं जो पदार्थ आहुत होते हैं उनका नाम हैं सोम, एवं जिसमें आहुत होते हैं उनका नाम है अग्नि। पार्थिव अग्नि में सूर्य के ऊपर रहने वाले पारमेष्ठ्य सोम की आहुति हर समय पड़ा करती है। इसी यज्ञ से ३३ देवता उत्पन्न होते हैं। पृथिवी का जो अग्नि है वह इस सोमाहुति के प्रभाव से ३३ अवस्थाओं में परिणत हो जाता है यदि इस अग्नि में उन सारे पदार्थों की सोम की आहुति न होती तो कभी भी ३३ देवता उत्पन्न नहीं हो सकते थे। अग्नि में जब सोम की आहुति पडती है तो यह अग्नि प्रज्वलित होकर २१ अहर्गण तक आक्रमण करता है। बस इस २१ तक जाने वाले एक ही अग्नि की ३३ अवस्थाएं हो जाती है। इन्हीं का नाम ३३ देवता है। पृथिवी के ३३ अहर्गण होते हैं। इन ३३ अहर्गणों के ५ स्तोम माने जाते हैं। पहला त्रिवृत सोम है, दूसरा पञ्चदश स्तोम है, तीसरा एकविंश स्तोम है, चौथा त्रिणवस्तोम है, पांचवा त्रयस्त्रिंशत्स्तोम है। त्रिणव और त्रयस्त्रिंशत् यह दोनों सोम ही है परन्तु त्रिणव भास्वर सोम है एवं त्रयस्त्रिंशत् दिक् सोम है। इसी भेद को बतलाने के लिए एक ही सोम को दो सोमों में बांट दिया जाता है। एकविंशस्तोम तक अग्नि है, एवं त्रयस्त्रिंशत् स्तोम तक सोम है। सूर्य २१ पर ही है। इसमें इस सोम की आहुति पड़ती रहती है। इसी आहुति के कारण पार्थिव अग्नि २१ तक प्रज्वलित रहता है। वह अग्नि जो कि सोमाहुति से २१ तक वितत रहता है उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ अपनी घन, तरल, विरल, यह तीन अवस्था बना लेता है। पृथिवी से कुछ दूर तक अग्नि घनावस्था में रहता है यह घनावस्था त्रिवृत् स्तोम पर अर्थात् पृथिवी के ९ अहर्गण पर जा के समाप्त हो जाती है। इस घनावस्था में परिणत अग्नि की भी अवान्तर ८ अवस्थाएं और हो जाती हैं। बस ८ अवस्थाओं में परिणत यह घन अग्नि ही ८ वसुओं की समष्टि कहलाती है। पृथिवी पृष्ठ से त्रिवृत् स्तोम तक घनावस्था में परिणित जो अग्नि है वही अवान्तर ८ स्वरूपों में परिणत रहती है इन्हीं का नाम आठ वसु है। इन आठों वसुओं में जो पहला वसु है उसका नाम अग्नि ही है। ९ के बाद अर्थात् त्रिवृत् स्तोम के बाद पञ्चदश स्तोम तक (१५ तक) अग्नि घनावस्था को छोडकर तरलावस्था में परिणत रहता है। यहां अग्नि के परमाणु विशकलित रहते हैं अतएव इसे अग्नि न कहकर वायु कहा जाता है। त्रिवृत् से पञ्चदश के स्थान का नाम ही अन्तरिक्षलोक है एवं पृथिवीपृष्ठ त्रिवृत्स्तोम तक का नाम ही पृथिवी लोक है। उसके अधिष्ठाता अग्नि है एवं अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता तरल अग्नि है अर्थात् वायु है। यह वायु ११ अवस्थाओं में परिणत रहता है बस यही ग्यारह रुद्र कहलाते हैं। इसके बाद (१५ के बाद) यह वायु और भी विशकलित हो जाता है अर्थात् तरलावस्था से विरलावस्था में परिणत हो जाता है इसकी यह विरलावस्था जिसे कि प्राणावस्था भी कह सकते हैं। २१ पर जाकर समाप्त हो जाती है। आकाश में तपता हुआ जो सूर्य का गोला दिखलाई पड रहा है वह इसकी विरलावस्था की समाप्ति है। इसी विरलावस्था की फिर अवान्तर १२ अवस्थाएं हो जाती हैं बस इन्हीं का नाम द्वादश आदित्य है। उनके इन्द्र, धाता, भग, पूषा, विवस्वा, सविता, विष्णु, इत्यादि नाम हैं-जिनका कि विस्तृत विवेचन "दीक्षणीयेष्टि" ब्राह्मण में कर आये हैं। इस प्रकार घन, तरल, विरलावस्था भेद से एक ही अग्नि ३१ स्वरूपों में परिणत हो जाता है एवं एक स्वयं पृथिवी देवता है और एक द्यु देवता है अर्थात् सूर्य देवता है। जैसे ३१ देवताओं की स्थिति इस सोम यज्ञ पर निर्भर है तथैव द्यावापृथिवी की स्थिति भी इसी पर निर्भर है। यदि सोमाहुति न पड़े तो सूर्य

और पृथिवी दोनों नष्ट हो जांय क्योंकि दोनों की स्थिति अग्नि पर निर्भर है एवं अग्नि की स्थिति सोमाहुति पर निर्भर है। जब तक अग्नि में सोम की आहुति पडती रहती है तभी तक अग्नि प्रज्वलित रहता है। कहने का तात्पर्य यही है कि यह ३३ देवता जो कि पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर जाके समाप्त हो जाते हैं, इसी यज्ञ से उत्पन्न होते हैं। इसी यज्ञ से प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव इन्हें यज्ञिय देवता कहा जाता है जैसा कि श्रुति कहती है

"इति स्तुतासो असथारिशादसो ये स्थ त्रयश्चत्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः"
—ऋक् संहिता

इन ३३ देवताओं में सबसे पहला देवता अग्नि है। जिसे कि हमने पहला वसु बतलाया है, एवं अन्तिम देवता विष्णु है जो कि २१ वें स्थान में है, एवं २१ वें आदित्य नाम से व्यवहृत होते हैं। इसीलिए कहा जाता हैं "अग्नि वैं देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः" यह कहा जाता है। इस द्यावापृथिवी के बीच में होने वाला प्राकृतिक यज्ञ की इस सीमा में-इस छोर-में अग्नि है और छोर में अर्थात् अन्त में विष्णु है इसीलिए **"एते वै यज्ञस्यान्ते तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च" "अग्निश्च ह वै विष्णुश्च दीक्षापालौ"** यह कहा जाता है। सम्पूर्ण प्रपंच से बतलाना हमें यही है कि पृथ्वी से द्यौ तक अर्थात् सूर्य तक प्राकृतिक यज्ञ वितत हो रहा है। आज यह यजमान वैध उपायों से उसी यज्ञ को आत्मसात् कर उस सोमाहुति को प्राप्त कर मृत्यु से अतिमुक्त होना चाहता है। प्रकृतिवार सोमयागकर अपने आत्मा का स्वर्ग से सम्बन्ध जोडना चाहता है जो कि २१ वां है। परन्तु इस यज्ञ क्रिया में सोमयज्ञ में तब तक यह यजमान प्रविष्ट नहीं हो सकता जब तक कि इन प्राणों को अपने आत्मा में आहित न करले। हाईकोर्ट में जाने के लिए चोगा पहनना पडता एवं उसके नियमित पोजीशन को धारण करना पड़ता है तब हाईकोर्ट में जाने का अधिकार मिलता है। सामान्य मनुष्य, यथाजात मनुष्य वहां नहीं जा सकता, जो शिक्षित होगा वहां के नियमों से परिचित होगा। वही वहां प्रवेश पा सकता है। बस ठीक इसी प्रकार से द्यावापृथिवी में वितत रहने वाला यह प्राकृतिक यज्ञ परमेश्वर का हाईकोर्ट है। इसी को यह वैध उपायों से अग्नि में सोमाहुति डालकर आत्मसात् करना चाहता है परन्तु इसमें तब तक यह नहीं जा सकता, यजमान तब तक सोमयाग नहीं कर सकता जब तक कि वहां जाने का अधिकार उन्हीं देवताओं से प्राप्त न कर ले। बिजली के स्वरूप धर्म से जो परिचित होता है वह उससे यथेच्छ काम ले सकता है परन्तु विद्युत स्वरूप से सर्वथा अपरिचित मनुष्य यदि विद्युत यन्त्र से स्पर्श कर बैठता है तो अपने प्राण खो बैठता है। ठीक वही हालत इस यज्ञ की है। यज्ञ में प्रविष्ट होने के पहले, इसके खास खास नियमों का पालन करना पड़ता है, प्राकृतिक देवताओं को आत्मसात् किया जाता है तब जाकर कहीं यजमान को सोमयाग करने का अधिकार मिलता है। प्रोफेसर की गद्दी उसे ही मिल सकती है, जिसके पास एम. ए का सर्टिफिकिट है। डाक्टर वह बन सकता है जिसके पास एल. एम. पी. की डिग्री है। वायसराय वह बन सकता है जो कि लार्ड खानदान में पैदा हुआ हो, बिलायत वह जा सकता है जिसने कि पासपोर्ट प्राप्त कर लिया है। ठीक इसी प्रकार यज्ञ वही कर सकता है जो कि दीक्षा ले लेता है। आदिरन्त्येन सहेतावत् अग्नि और विष्णु इन दोनों का यजन करने से सारे देवता आत्मसात् हो जाते हैं। इसीलिए **"अग्निः सर्वा देवताः" "विष्ण सर्वा देवताः"** यह कहा जाता है। सोमयाग करने वाले का पहला कर्त्तव्य यही है, कि वह अधिकार प्राप्ति स्वरूप पहले **"दीक्षणीयेष्टि"** करे।

दीक्षणीयेष्टि में आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप होता है । क्यों होता है–इसका विस्तृत विवेचन "दीक्ष्येष्टि ब्राह्मण" में कर दिया गया है । दीक्षणीयेष्टि से यह यजमान दीक्षित हो जाता है, अधिकृत हो जाता है । दीक्षा लेना यज्ञ में शामिल होने का प्रमाण पत्र प्राप्त करना है । बिना इसके यज्ञ हर्गिज नहीं कर सकता । अब तक इसी दीक्षा का रहस्य बतलाया है ।

दीक्षित को किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए, क्या खाना चाहिए, क्या बोलना चाहिए, कहां सोना चाहिए, कब सोना चाहिए, इत्यादि इत्यादि व्रतों का ही विवेचन अब तक किया है । प्रायणीय याग के पहले तक का सारा कर्म अधिकार समर्पक समझना चाहिए । अधिकार समर्पण को ही "दीक्षा" कहते हैं । पूर्वोक्त सारे नियमों को अंगीकार कर दीक्षणीयेष्टि कर यह यजमान दीक्षित बन गया है । बस यहाँ से अब यज्ञ क्रिया का प्रारम्भ होता है । सबसे पहले जो इष्टि होती है उसका नाम प्रारम्भणीय इष्टि है । इसी को "प्रायणीय" शब्द से व्यवहृत किया जाता है । बस दीक्षान्तर यह यजमान प्रायणीयेष्टि ही करता है । दीक्षानन्तर सर्वप्रथम यह यजमान प्रायणीय आदित्य चरु का निर्वाप करता है ।"

"**आदित्यं चरूं प्रायणीयं निर्वपति**" सबसे पहले–प्रायणीय आदित्य चरु का ही निर्वाप क्यों किया जाता है–इसकी उत्पत्ति बतलाते है ।

वैदिक समय से अतिपूर्व विश्व में साध्य देवताओं का राज्य था । जिस प्रकार आज ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, यह चार वर्ण है तथैव उस समय सारा मनुष्य समूह महाराजिक, साध्य, तुषित और पणि इन चार भागों में विभक्त था । साध्य ब्राह्मण थे । महाराजिक क्षत्रिय थे । पणि लोग वैश्य थे, इनके आदि पुरुष "भलन्दन" नाम से प्रसिद्ध थे, एवं तुषित शूद्र थे ।

जिस प्रकार आज सारा काम वर्णव्यवस्था पर निर्भर है तथैव उस समय की इन चारों वर्णों में काम बंटा हुआ था । साध्य लोग वैज्ञानिक थे । प्रकृति को पहचान कर तद् द्वारा नए नए आविष्कार कर उससे संसार को फायदा पहुंचाना इन्हीं साध्यों का काम था चूंकि ज्ञान के विभाग के ये अधिष्ठता थे- अतएव इन्हें ब्राह्मण कहा जाता था । महाराजिक क्षत्रिय थे । उपद्रवों से रक्षा करना इन्हीं का काम था। एवं पणि लोग वैश्य थे । इनका काम व्यापार करना था । इनके व्यापार का प्रधान द्वीप था उसका नाम पणिद्वीपायन था जो कि आज भी ५२ उत्तराक्षांश पर स्थित है एवं ११४ अंश ५२ कला देशान्तर पर है । पणिद्वीपायन का ही आज बिगडकर "**फिलीपायन**" हो गया है । इन्हीं के संस्कार से आज भी भारतवर्ष में जो गावों से माल भर-भर कर लाते हैं उन्हें बिणजारा कहा जाता है । पणिया ही से बिणजारा बना हुआ है । बनिया शब्द भी इसी पणिया का अपभ्रंश है । तीसरा वर्ण था तुषित् । इनका काम सेवा करना था । बस इस प्रकार का सारा जनदाय ४ भागों में विभक्त था । इन चारों में से जो साध्य लोग थे उन्होंने ही सबसे पहले यज्ञविद्या का आविष्कार किया था । प्रकृति को पहचान कर तदनुसार वैध यज्ञों का आविष्कार इन्हीं के द्वारा हुआ था । ये लोग यज्ञ क्रिया में बहुत बढे चढ़े थे । असम्भव से असंभव काम को यज्ञ द्वारा यह संभव बना देते थे । अतएव उस समय सर्वत्र इनका प्रभाव व्याप्त हो रहा

था। ये साध्य लोग वैज्ञानिक तो बडे जबरदस्त थे परन्तु थे महा–महानास्तिक। यज्ञ से अलावा-यज्ञ का मूलभूत जो ब्रह्मतत्व था उसे यह नहीं मानते हैं। पदार्थ का धर्म ही ऐसा है फिर उनसे अलावा किसी को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यज्ञ ही सब कुछ है। विज्ञान के आलावा-साइन्स के अलावा ब्रह्म कुछ नहीं है। सब झूंठा झगडा है, यही इन लोगों का सिद्धान्त था। यज्ञ को यज्ञ से मिलाकर अर्थात् पदार्थों को पदार्थों से मिलाकर हम वैध उपायों से सब कुछ कर सकते हैं। जैसे बीसवीं सदी का पाश्चात्य जगत् अपने साइन्स के सामने आत्मतत्त्व को अति तुच्छ समझता है, तद्वत् मेटीरियल जगत् को ही सबसे ऊंचा आसन दे रहा है, ठीक वही हालत इन साध्यों की थी। यज्ञ से यज्ञ ही करना, यज्ञ ही में लगे रहना। यज्ञ के आलावा यज्ञ के मूलभूत ब्रह्मतत्व को न मानना यही इनका असूल था। इसी इतिहास को लक्ष्य में रखकर मन्त्र श्रुति कहती है

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

तेन नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

इन साध्यों में-उस समय १० पार्टियां बनी हुई थी। इन दसों की दृष्टि भिन्न-भिन्न थी। यह विश्व किस से पैदा हुआ है, इसमें दसों में मतभेद था। सृष्टि के विषय में १० वाद प्रचलित थे। कोई पानी से सृष्टि मानता था, कोई अहोरात्र से सृष्टि मानता था, कोई अमृत मृत्यु की समष्टि से विश्वोत्पत्ति मानता मानता था। इस प्रकार से १० मत प्रचलित थे। इस प्रकार जब एक ही सृष्टि की उत्पत्ति में १० मत हो गये, तो सामान्य जनता को संदेह होने लगा कि ऐसा हो नहीं सकता है। दसों मत हर्गिज सच्चे नहीं हो सकते। सच्ची बात एक हो सकती है १० नहीं। परन्तु यह दसों ही मत ऐसे प्रबल थे जिनका सहसा खण्डन नहीं किया जा सकता था। बस इसीलिए एक ११ वें संशयवाद का जन्म हुआ। यह ग्यारहों वाद १-"विज्ञानेतिवृत्तवाद, २-सदसद्वाद, ३-रजोवाद, ४-व्योमवाद, ५-अपरवाद, ६-आवरणवाद, ७-अम्भोवाद, ८-अमृतमृत्युवाद, ९-अहोरात्रवाद, १०-दैववाद, ११-संशयवाद इन नामों से प्रसिद्ध हुए। इन वादों का ऋग्वेद संहिता में उल्लेख मिलता है। अन्त में इसी साध्य जाति में उत्पन्न एक प्रतिभाशाली देवभावयुक्त मनुष्य ने इन सारे संशयों का उच्छेद किया। साध्य लोग इसकी बात मानने को तैयार न थे। अतएव इन्होंने तुषितों को अपने मत में शामिल करना शुरू किया। होते होते सारे तुषित इनके मत में आगए। इस प्रकार जब तुषितों के आ जाने पर इनका बल बाढ़ गया तो इन्होंने साध्यों से मेल मिलाप करना शुरू किया। इनका कहना था कि तुम्हारे दसों मत सच्चे हैं और दसों ही झूंठे हैं। यदि इन दसों का मूलतत्त्व स्वीकार कर लिया जाता है तो सारे मत सच्चे हैं एवं उस मूलतत्त्व को, ब्रह्मतत्त्व को नहीं माना जाता, तो सारे मत मिथ्या हैं। इनकी तर्क प्रणाली के सामने साध्य लोग नहीं ठहर सके। साध्यों को बाध्य होकर ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करनी पडी। उन्हें स्वीकार करना पडा कि वास्तव में यज्ञ का मूलभूत कोई ब्रह्मतत्त्व अवश्य ही है। इन मतों के और मतों से खण्डन का मन्त्र ऋग्वेद संहिता में उपलब्ध होता है। वह मन्त्र यह है:—

"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्"।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।।

चूंकि साध्य जाति में उत्पन्न इस महापुरुष द्वारा ब्रह्मसत्ता का प्रचार हुआ । अतएव तत्कालीन विद्वानों ने इनका यशोनाम "ब्रह्मा" रख दिया । ब्रह्मतत्त्व आविष्कार के कारण यह महापुरुष ब्रह्मा ही कहलाने लगे । जैसे प्राकृतिक देवताओं में सबसे पहले अग्नि ब्रह्म का जन्म होता है तथैव भुवनस्वर्गबासी देवताओं में सबसे पहले देवता यही ब्रह्मा हुए । देव व्यवस्था इन्हीं से कायम हुई । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है ।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह–

इन भगवान ब्रह्मा ने प्रकृति रचना के अनुसार ४ नई सृष्टियां बनाई ।

सबसे पहले इन्होंने लोक सृष्टि का निर्माण किया । प्रकृति में त्रैलोक्यवस्था बिलकुल व्यवस्थित है उस प्राकृतिक त्रिलोकी का, हम जिस पर रहते हैं वह भाग पृथिवी लोक है जिसे कि हमने त्रिवृत स्तोमान्त बतलाया है, एवं त्रिवृत् से पञ्चदश तक का जो खाली स्थान है–पोल है–वह अन्तरिक्ष लोक है, एवं १५ से २१ तक अर्थात् सूर्य तक द्युलोक है । पृथिवी के अधिष्ठाता अग्नि है, अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता वायु है, एवं द्युलोक के अधिष्ठाता सूर्य हैं । इसी अभिप्राय से यास्क मुनि कहते हैः—

"तिस्त्र एव देवताः इति नैरूक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः ।

यही तीन देवता अवस्था विशेष के कारण इन भागों में विभक्त हो जाते हैं जैसा कि ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही बतला दिया गया है । इस प्राकृतिक त्रिलोकी का नाम वेद में रोदसी त्रिलोकी है । रोदसी के बाद में क्रन्दसी त्रिलोकी है । क्रन्दसी के अनन्तर संयति त्रिलोकी है । भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् सात लोक में तीन त्रिलोकियां हैं । इन तीनों में से प्रथम में केवल "रोदसी" त्रिलोकी का ही सम्बन्ध है । इसी रोदसी त्रिलोकी से पृथिवी के यच्चयावत् प्राणियों की उत्पत्ति होती है । पार्थिव रस-आन्तरिक्ष्य रस एवं सौर रस से ही यच्चयावत् जड़ चेतनों की उत्पत्ति होती है । अग्नि, वायु, आदित्य ही इस रोदसी त्रिलोकी के अधिष्ठाता हैं । बस इस प्राकृतिक त्रिलोकी के समान ही साध्य जाति में उत्पन्न भगवान ब्रह्म ने इस पृथिवी लोक में ही त्रिलोकी व्यवस्था की, जो भारतवर्ष कहा जाता है। इसी का नाम पृथिवीलोक था । भारतवर्ष में रहने वाले मनुष्य कहलाते थे । यहां के राजा वैवस्वत मनु थे । अतएव यहाँ की प्रजा मनुष्य कहलाई, एवं यह लोक मनुष्य लोक कहलाया ।

दक्षिण समुद्र से हिमालय पर्वत तक का जो स्थान है वह भुवनत्रिलोकी का पृथिवी लोक है एवं अलतायी पर्वत से उत्तर समुद्रान्त तक का जो स्थान है वह स्वर्ग कहलाया एवं अलतायी पर्वत से हिमालय

के बीच का जो स्थान था वह अन्तरिक्ष लोक था। जैसे इस भारतवर्ष में मनुष्य रहते थे अन्तरिक्ष में यक्षगन्धर्वादि तिर्यक् योनि रहती थी, एवं स्वर्ग में देवता रहते थे। हिमालय से दक्षिण में पृथिवी लोक था। हिमालय से उत्तर अलतायी पर्वत तक अन्तरिक्ष लोक था एवं अलतायी से उत्तर समुद्र तक स्वर्ग था। इसीलिए महाभारत में भारद्वाज और भृगु के संवाद में कहा गया है—भारद्वाज पूछते हैं:—

अस्माल्लोकात्परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।।

भृगु उत्तर देते हैं:—

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेमश्चयो देशः स परोलोक उच्यते ।।
न स्वर्गसदृशोदेशस्तत्रयुक्ताः शुभाःगुणाः
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ।।

इन श्लोकों से हमें बतलाना यही है कि इसी पृथिवी लोक पर—प्रकृतिवत् त्रिलोकी व्यवस्था थी। पृथिवी लोक के अधिष्ठाता अग्नि थे, अन्तरिक्ष के वायु थे एवं द्यु लोक के इन्द्र थे। अग्नि थे देवता ही—परन्तु इनको इस पृथिवी लोक का वायसराय बनाकर भेजा गया था। भारतवर्ष के सम्राट् मनु महाराज थे एवं शहनशाह इन्द्र थे, जो कि स्वर्ग के राजा थे। अग्नि स्वर्ग की तरफ से भारतवर्ष में रहते थे। हमारी व्यवस्थाओं का यदि वर्णन करने लगें तो महापोथा तैय्यार हो जाय। इनका विस्तृत विवेचन देखना हो तो—इन्द्रविजय नाम का ग्रन्थ देखना चाहिए। यहां हमें केवल इतना ही कहना है कि प्राकृतिक वैज्ञानिकी स्थिर त्रिलोकी के अनुसार भगवान् ब्रह्मा ने इस पृथिवी लोक में भी त्रिलोकी निर्माण किया था जिसे आज "एशिया" कहा जाता है। वही हमारी त्रिलोकी थी। चारों सृष्टियों में से पहली यही लोक सृष्टि थी। दूसरी सृष्टि थी—वेदसृष्टि। जिस प्रकार प्रकृति यज्ञ में ऋग्, यजु, साम, अथर्वेद आसमन्तात अभिव्याप्त हो रहे हैं 'तथैव' उनके रहस्य को समझाने के लिए भगवान् ब्रह्मा ने उस अपौरुषेय वेद के ४ ग्रन्थ बनाए, जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु ध्यान रहे आजकल जो इन मन्त्रों को, वेद संहिताओं को अपौरुषेय बतलाया जाता है, यह बड़ी भारी भूल है। यह पुस्तकें महर्षियों द्वारा बनाई गई हैं। मंत्र-मनुष्य महर्षियों के बनाये हुए हैं न कि अपौरुषेय, एवं जो प्राकृतिकी वेदत्रयी है वह वास्तव में नित्या है। प्राकृतिक वेद अवश्य ही अपौरूषेय हैं। उस अपौरूषेय वेद रहस्य को समझाने की विद्या का नाम संहिता है। संहिताएं वेद नहीं हैं, वेद की पुस्तकें हैं। इस विषय का भी हम प्रकृत में विस्तृत विवेचन नहीं कर सकते। सिर्फ इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा भगवान् ब्रह्मा ने वेद संहिता का निर्माण कर अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को पहले-पहल वेदविद्या सिखलाई। साध्यलोग जिन मन्त्रों से यज्ञ किया करते थे उन्हें "गाथा" कहा जाता था। परन्तु ब्रह्मा ने यज्ञ विद्या के लिए नया सिस्टम कायम किया। नई संहिताएं बनाई। जोकि ११३१ ग्यारह सौ इकतीस में विभक्त हैं। २१ ऋग्वेद शाखा है। ९ अथर्ववेद की शाखा है। १००० सामवेद की शाखा है, एवं १०१ यजुर्वेद शाखा।

यही भगवान् ब्रह्मा की दूसरी वेदसृष्टि थी। तीसरी सृष्टि थी धर्मसृष्टि-वर्णसृष्टि। भुवन-त्रिलोकी के यच्चयावत् मनुष्यों को, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में बांट दिया था। वर्ण-व्यवस्था के आविष्कर्ता यही भगवान् ब्रह्मा थे। वर्ण और तदनुकूल धर्म दोनों का इन्हीं ने आविष्कार किया था। चौथी सृष्टि थी गोत्र सृष्टि। गोत्रप्रवर्तक महर्षि कुल सात थे। भगवान् ब्रह्मा ने पुष्कर में यज्ञ किया था। यहां पर जिन ब्राह्मणों का उन्होंने वरण किया वे ही गोत्र के प्रवर्तक बन गये। बस ब्रह्मा की यही चार सृष्टियां थी। इन चारों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध था। अमुक देश का रहने वाला, अमुक शाखा वाला, अमुक गोत्र वाला, अमुक धर्म का आचरण करे। इस प्रकार लोक, वेद धर्म, गोत्र, चारों परस्पर सम्बद्ध थे। जिस प्रकार प्रकृति में देवता है तथैव प्राणाराधन प्रक्रिया से यहां देवसृष्टि कायम की गई थी। यह सारे देवता स्वर्ग में रहते थे। ये देवता भी साध्यों की तरह यज्ञ करते थे। सबसे पहले आविष्कर्ता साध्य ही थे। साध्यों से भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने सीखा। देवताओं से भारत-वर्ष के महर्षियों ने सीखा एवं उनसे भारतवर्ष ने सीखा। हमारे अधिष्ठाता भुवनस्वर्गवासी देवता थे अतएव वे जिस प्रकार से यज्ञ करते थे भारतवर्ष के मनुष्य भी ठीक उसी प्रकार करते थे "यद्वै देवाअकुर्वंस्तत् करवाणि" यही हमारा मूलमन्त्र था। देवताओं ने सोमयाग के पहले दीक्षा के अनन्तर प्रायणीय इष्टि की थी–अतएव उसी नियम के अनुसार आज यह यजमान भी दीक्षा के अनन्तर प्रायणीय आदित्य चरू का निर्वाप करता है:–

"आदित्यं चरूं प्रायणीयं निर्वपति"

देवताओं ने पहले-पहल प्रायणीय आदित्य चरू का निर्वाप क्यों किया था–इसकी उपपत्ति बतलाते हैं। यजमान आदित्य चरू का निर्वाप क्यों करे, इसका कारण तो समझ में आ गया। "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" यह नियम ही इसी प्रायणीयेष्टि करने को बाध्य करता हैं, परन्तु देवताओं ने क्यों की थी, यह प्रश्न बना ही रहता है। बस इसी प्रश्न का उत्तर दिया जाता है।

देवताओं ने यज्ञविद्या साध्यों से सीखी थी। सीखी क्या थी–सुन रक्खा था–वे लोग ऐसे ऐसे यज्ञ किया करते थे। देवताओं को मालूम था कि साध्यों ने इसी यज्ञ के द्वारा बड़े बड़े काम किये थे। अतएव उन्होंने भी यज्ञ करना शुरू किया। परन्तु खाली सुनने ही से यज्ञ विद्या नहीं आ जाती। अग्नि में सोम डाल देना ही तो यज्ञ नहीं है। यज्ञविद्या एक खास विद्या है। अति गहन रहस्य है। यज्ञ की एक खास कुञ्जी है। जब तक वह कुञ्जी हाथ न आवे, अग्नि में चाहे कितना ही सोम डाले जाओ, इससे कुछ नहीं हो सकता। प्राण को जब तक नहीं पहचान लिया जाता, प्राकृतिक यज्ञस्वरूप को जब तक नहीं पहचान लिया जाता, तब तक यज्ञ करना सर्वथा व्यर्थ है। ऐसे यज्ञ से कुछ फल नहीं हो सकता। आज भारतवर्ष में से यह रहस्य विद्या लुप्त हो गई है। आग में घी डालने का नाम ही यज्ञ रह गया है। हवा फिल्टर करना ही यज्ञ का एक मात्र प्रयोजन बतलाया जाता है। यही कारण है कि आज ब्राह्मण भूखों मरते हैं, तिरस्कृत हैं ठुकराये जाते हैं। जिस यज्ञ विद्या के लिए जिस ब्रह्म विद्या के लिए **"ब्रह्म विद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते"** यह कहा जाता है। इसी के अनुयायी आज भूखों मरते हैं। इसका एकमात्र कारण अविद्या है। ब्राह्मण यज्ञरहस्य को भूल गये हैं। यज्ञ की कुञ्जी उनके हाथ से निकल गई है। आग में घी डालने का नाम ही उन्होंने यज्ञ समझ रक्खा है। इसी का यह फल है:–

अस्तु प्रकृत में हमें यही कहना है कि साध्यों की देख रेख में मनुष्य देवताओं ने जब पहले-पहल यज्ञ किया तो उन्होंने इस पृथिवी को यज्ञ से अलग कर दिया। यज्ञ में पार्थिवाग्नि प्राण और सौर प्राण ही प्रधान है। आत्मा में पहले इस पार्थिव प्राण और दिव्य प्राण को मिला लिया जाता है तब वैध यज्ञ वास्तव में यज्ञ बनता है परन्तु देवता चूंकि पहले ही पहले यज्ञ करने लगे थे अतएव वे इस रहस्य से अपरिचित थे। वे नहीं जानते थे कि पार्थिव प्राण से ही प्राकृतिक यज्ञ का प्रारम्भ होता है एवं इसी पर जाकर यज्ञ समाप्त हो जाता है। अतएव उन्होंने सामान्य मनुष्यों की तरह अग्नि में सोम की आहुति डालने को ही यज्ञ समझ कर ऐसा ही यज्ञ कर डाला। परन्तु इससे कुछ फल नहीं हुआ। यज्ञ का जो सार भाग था, जिसके लिए कि यज्ञ किया जाता था देवताओं को जरा भी नहीं मिला। अतएव उन्होंने मिलकर विचार किया कि क्या कारण है अपना यज्ञ सफल नहीं होता। बस इसी चिन्ता से सारे देवता उस गुप्त रहस्य की खोज में लग गये। "जिन ढूंढा तिन पाइयां" यह सिद्धान्त अटल है। इसी के अनुसार वर्षों तक रिसर्च करने के अनन्तर देवता उस प्राकृतिक अदिति रहस्य को समझ गये। उन्होंने पहचान लिया कि पृथिवी का प्राण ही यज्ञ में प्रधान चीज है। प्रकृति यज्ञ का प्रारम्भ इसी अदिति पृथिवी से होता है, एवं इसी अदिति पर समाप्त होता है। अतएव हमें पृथिवी प्राण को—अदिति प्राण को पहले आत्मसात् करना चाहिये। पृथिवी से ही यज्ञ प्रारम्भ होता है, एवं पृथिवी पर ही समाप्त हो जाता है। अतएव अपने को इसी पृथिवी को प्रायणीय और उदयनीय समझना चाहिये।

बस फिर क्या था, दीक्षा के अनन्तर सबसे पहले इसी यज्ञ के सारभूत इस पृथिवी प्राण को आत्मसात् करने के लिए उन्होंने प्रायणीय आदित्य चरु का निर्वाप किया। ऐसा करने से देवताओं का यज्ञ सफल हो गया।

यज्ञ के प्रारम्भ में प्रायणीय चरु के निर्वाप का यही कारण है। इसी रहस्य को सामान्य मनुष्यों की समझ में आजाने की गरज से याज्ञवल्क्य ने इसकी मिथ्या कहानी बना डाली है।

"उपायाः शिक्षमाणां बालानामुपलालनाः–
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥"

के अनुसार वेद की करीब करीब सारी कथायें ऐसी ही समझनी चाहिये। प्ररोचना के लिए एक कल्पित कहानी बना डालना यह प्राचीन परिपाटी है। इसी परिपाटी के अनुसार पूर्वोक्त रहस्य को कहानी में परिणत करके भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं।

इस पृथिवी में यज्ञ करते हुए देवताओं ने इस पृथिवी को अलग निकाल दिया। अपने यज्ञ में उन्होंने पृथिवी को यज्ञभाग नहीं दिया अर्थात् देवता साध्यों के देखा देखी पहले-पहल ही यज्ञ करने लगे थे। अतएव उन्हें इसका पता ही न था कि यज्ञ के लिए पहले पार्थिवप्राण को आत्मसात् करना आवश्यक है।

देवा ह वाऽअस्यां (पृथिव्यां) यज्ञं तन्वानाः (विस्तारयन्तः) इमां (पृथिवीम्) यज्ञात् अन्तरीयुः (भागरहितामकुर्वन्)।

जब पृथिवी को देवताओं ने अलग निकाल दिया तो पृथिवी नाराज हो गई और नाराज होकर उसने देवताओं के यज्ञ को मोहित कर दिया। देवताओं की दृष्टि से यज्ञ को छुपा लिया। फिर क्या था-पृथिवी के छुपाते ही देवता लोग उस यज्ञ को बिल्कुल न जानने पाये। सारा यज्ञ देवता भूलभाल गये।

तात्पर्य यही है बिना पृथिवी प्राण को आत्मसात् किए ही देवताओं ने यज्ञ किया था। अतएव ऐसे यज्ञ का उन्हें जरा भी फल नहीं मिला। जब तक प्राकृतिक यज्ञ को आत्मसात् न कर लिया जाय तब तक खाली आग में सोम डालने से ही यज्ञ थोडे ही हो जाता है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर कहते हैं।

"सा हैषामियं यज्ञं मोहयाञ्चकार-कथं नु मयि यज्ञं तन्वाना यज्ञादन्तरीयु इति (कारणेनेतिशेषः) तं ह यज्ञं न प्रजज्ञुः (देवाः) ॥१॥

इस प्रकार यज्ञ का फल जब देवताओं को न मिला तो उन्होंने परस्पर में विचार किया, भाई हमने इसी पृथिवी पर जब यज्ञ किया है तो फिर समझ में नहीं आता, इसने किस कारण से अपने यज्ञ को मोह लिया अर्थात् छुपा लिया।

साध्य लोग इसी पृथिवी पर यज्ञ करते थे, एवं ये इसी पर यज्ञ करके मनचाहा फल प्राप्त कर लेते थे। यह बात देवताओं ने सुन रक्खी थी। अतएव इन्होंने भी इसी पृथिवी पर आहवनीय कुण्डादि बना, अग्नि प्रज्वलित कर यज्ञ करना शुरु किया। परन्तु सब व्यर्थ। तब देवताओं को चिन्ता हुई कि हमने भी यज्ञ तो साध्यों के माफिक ही किया है। जैसे साध्य लोग इस पृथिवी पर यज्ञ कर रहे हैं। फिर क्या कारण है, साध्यों को यज्ञ से मनचाहा फल मिल जाता था अपने को नहीं मिलता। इसी अभिप्राय से कहते हैं:—

"ते होचुः यन्नवस्यामेव यज्ञमतंस्महि (तनमनकार्थ्य) कथं नु नोऽमुहत। कथं न प्रजानीम् इति॥

अर्थात् आज अपना सारा यज्ञ व्यर्थ हो गया। अब ऐसा कौन सा उपाय करें जिससे हम इस को पहचान जाय। अर्थात् यज्ञ फल क्यों नहीं मिला जबकि हम साध्यों की तरह इसी पृथिवी पर यज्ञ कर रहे हैं। अतः इसका तलाश करना चाहिए। ॥२॥

आखिर तो देवता देवता थे। देवताओं की मस्तिष्क शक्ति बहुत ही बढ़ी चढ़ी थी। उन्होंने उस प्राकृतिक विज्ञान को पहचान लिया जिसके बिना इन्हें यज्ञफल नहीं मिल रहा था। उन्होंने अपने-अपने विज्ञान से उस रहस्य को पहचानकर कहा कि हे देवताओं, हमने इसी पृथिवी पर तो यज्ञ का वितान किया, एवं इसी को यज्ञभाग से अलग निकाल दिया। बस, इसीलिए हमारे से अप्रसन्न होकर इसी ने हमारे यज्ञ को छुपा लिया।

देवताओं ने यज्ञ को व्यर्थ होते देखा तो खोज करनी शुरु की। आखिर उनको उस रहस्य का पता चला गया। उन्हें मालूम हो गया कि पृथिवी प्राण ही यज्ञ की असली वस्तु है। प्राण अदृश्य पदार्थ

है। आँखों से नहीं दीखता। इसे आत्मसात् न करके यज्ञ किया था, अतएव अपना सारा परिश्रम व्यर्थ हुआ। इसलिए अपने को यज्ञ से पहले यज्ञ प्रतिष्ठा स्वरूप इस पार्थिव प्राण को आत्मसात् कर बाद में यज्ञ करना चाहिए।

"ते होचुः। अस्यामेव यज्ञं तन्वाना इमां यज्ञादन्तरगाम (अन्तरिताम-कृष्महि) सा न (कृतापराधानामस्माकं) यज्ञममूहत। (अतः) इमामेवो-पधावाम ॥३॥

अर्थात् अपने को चाहिए कि पहले इस पार्थिव प्राण को आत्मसात् करे।

प्ररोचनार्थ बनाई गई कथा का सिलसिला जोडने के अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं–सारे देवता पृथ्वी के पास गए और जाकर कहा कि हे अदिते, हे पृथिवी, हमने आप ही पर तो यज्ञ किया था, फिर किस कारण से हमारे यज्ञ को मोह लिया। क्यों हमें यज्ञ फल न मिला। हे अदिते, इसका कोई कारण हमारी समझ में नहीं आता। जब कि हमने आप ही पर यज्ञ किया है।

"ते होचुः। यन्नु त्वय्येव यज्ञमतंस्महि कथं नु नोऽमुहत् कथं न प्रजानीम् इति ॥४॥

पृथिवी ने कहा–हे देवता, यह बात सच है कि तुमने मेरे पर ही यज्ञ किया परन्तु मेरे पर ही तो तुमने यज्ञ किया और मुझे ही यज्ञ भाग से बाहर निकाल दिया। इसलिए मैंने ही तुम्हारे इस यज्ञ को मोहित कर दिया। तुम इस यज्ञ में मेरा भी हिस्सा कायम करो। बस जहां तुमने मेरा हिस्सा कायम किया कि उसी समय तुम अपने यज्ञ को देख लोगे और जान जाओगे।

तात्पर्य यही है कि यज्ञ की जड़ पृथिवी है। पृथिवी से ही यज्ञ प्रारम्भ होता है, एवं पृथिवी पर ही जाकर समाप्त होता है। अतएव यज्ञ के पहले मूलभूत प्राण को आत्मसात् करना परम आवश्यक है। यह सर्वत्र भरा हुआ है परन्तु इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष का एकमात्र जरिया यह पृथिवी ही है। पार्थिव प्राण को पहचाना नहीं कि सारे यज्ञ रहस्य समझ में आये नहीं।

"सा होवाच मय्येव यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरागात। सा वोऽहमेव यज्ञममूमुहम्। भागं नु मे कल्पयत्। अथ यज्ञं द्रक्ष्यथ–अथ प्रज्ञास्यथ ॥५॥

पृथिवी ने जब कहा कि मेरा भी हिस्सा यज्ञ में शामिल करो उसी समय देवताओं ने कहा, हां–अवश्य ऐसा ही होगा। अवश्य ही आपको यज्ञ में शामिल किया जायगा। हे अदिति, प्रायणीय याग और उदयनीय याग दोनों तुम्हारे ही होंगे। अर्थात् यज्ञ का प्रारम्भ भी तुम्हारा ही हिस्सा होगा, एवं यज्ञान्त में दी जाने वाली हवि भी तुम्हारी ही होगी। तुम्हारे ही से प्रारम्भ होगा और तुम्हारे पर ही यज्ञ समाप्त होगा।

"ते देवा अब्रुवन्तवैव प्रायणीयः तवोदयनीयः " इति।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है कि इसीलिए प्रायणीय भी आदित्य चरु ही होता है एवं उदयनीय भी आदित्य चरु ही होता है। अर्थात् प्रारम्भणीय यष्टि में, यज्ञ प्रारम्भ में जो हवि दिया जाता है वह भी इसी पृथिवी का भाग है, एवं यज्ञान्त में जो हवि दिया जाता है वह भी इसी पृथिवी का हिस्सा है।

"तस्मादेष आदित्यएव प्रायणीयो भवति, आदित्य उदयनीय।"

देना है पृथिवी को, नाम ले रहे है आदित्य का-इस भ्रम में कोई न पड़, जाय-इसलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं **"इयं ह्य वादितिः"**

इस पृथिवी का नाम ही तो अदिति है। इस चरु का देवता अदिति ही है। अतः **"अदिति देवता अस्य"** इस व्युत्पत्ति से चरु को आदित्य कहा जाता है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब पृथिवी का हिस्सा उन्होंने कायम कर दिया तो सारे यज्ञ को देवताओं ने देख लिया-पहचान लिया। बस पहचान कर उन्होंने फिर यज्ञ किया। तात्पर्य यही है कि पार्थिव प्राण को आत्मसात् करने के अनन्तर देवता यज्ञफल प्राप्त करने में समर्थ हुए। **"ततो यज्ञमपश्यन् तमतन्वत"** ॥६॥

पृथिवी ही प्रायणीय और उदयनीय कैसे है। इस पृथिवी पर ही प्रारम्भ कैसे होता है, एवं पृथिवी पर ही समाप्त कैसे होता है—एकमात्र यह प्रश्न बाकी बच जाता है। बस इसी प्रश्न का उत्तर देकर इस आदित्य चरू प्रकरण को समाप्त करेंगे।

पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाया करती है, इससे आश्चर्य में नहीं पड़ जाना चाहिए। ज्योतिष में पृथिवी को स्थिर बतलाया जाता है, एवं सूर्य को चल बतलाया जाता है परन्तु इसमें कोई भी विरोध नहीं है। दृश्य मण्डल और प्राकृतिक मण्डल इस खगोल के दो विभाग हैं। दृश्यमण्डल वह है जिसे कि हम आँखों से देख रहे हैं। प्राकृतिक मण्डल वह है जो आँखों से नहीं दिखाई पड़ता। परमेश्वर रहता किसी दूसरे स्वरूप में है दर्शन देता है किसी दूसरे ही स्वरूप से। आकाश यच्चयावत् मनुष्यों को नीला दिखा करता है परन्तु प्राकृतिक विज्ञान पर निगाह डालने से मालूम हो जाता है कि आकाश तो निरूप है, अदृश्य है। हम उत्तर अर्थात् ऊंचा अपने मस्तक के उपरीभाग को समझा करते है परन्तु वास्तव में उत्तरभाग उत्तरध्रुव की ओर है। हम पृथिवी के उपर तिर्यक् रूप से स्थित है अतएव हमें ऊंचा अपने मस्तक के ऊपर का भाग ही प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि वास्तविक स्थिति रहती है और हमें दिखलाई पड़ता है कुछ और। सामान्य मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर विश्वास कर जिन पदार्थों को सत्य समझने लगते हैं, विद्वान् मनुष्य-वैज्ञानिक मनुष्य उन्हीं को मिथ्या कहने लगते हैं। इसी अभिप्राय से प्रकृति नियन्ता भगवान् कहते हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

बस ठीक इसी प्रकार दृश्यमण्डल के हिसाब से पृथिवी स्थिर मालूम होती है एवं सूर्य चलता हुआ मालूम होता है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से प्राकृतिक दृष्टि से देखा जाता है तो पृथिवी का चलना सिद्ध होता है एवं सूर्य का रहना सिद्ध होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय ज्योतिष शास्त्र अवैज्ञानिक है, नहीं-नहीं ऐसा विचार स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए, ज्योतिष का काम है धर्म व्यवस्था करना। किस मुहूर्त में क्या करना चाहिए इसका निर्णय करना। यह मुहूर्तादि की व्यवस्था पृथिवी को स्थिर मानने पर भी वैसे ही ठीक बैठ जाती है, जैसी कि चल मानने में। चूंकि सामान्य जनता पृथिवी को स्थिर समझ रही है एवं उसके अनुरोध से ऐसा मान लेने पर भी गणित में एवं मुहूर्तादि में कोई फरक आता नहीं है।

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरेत्।।"

के अनुसार हमारे ज्योतिः शास्त्र ने पृथिवी को स्थिर मान रक्खा है, और सूर्य को चल मान रक्खा है परन्तु हम इस समय जो विचार कर रहे हैं वह यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। यज्ञ विद्या से सम्बन्ध रखती है। वेद सूर्य को स्थिर मानता है पृथिवी को चल मानता है। इसीलिए "**सूर्यो बृहती मध्यूढस्तपति**" यह कहा जाता है। और भी एक प्रमाण है जिनसे सूर्य का अचलत्व ही सिद्ध होता है जिनका कि विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। यहाँ सिर्फ इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि सूर्य स्थिर है। पृथिवी चल है। इस पृथिवी की गति दो प्रकार की होती है एक गति का नाम दैनन्दिन गति एवं दूसरी का नाम है सांवत्सरिक गति। बस जिस मार्ग से होकर यह पृथिवी सांवत्सरिक गति का भोग करती है उस मार्ग को "**क्रान्तिवृत्त**" कहते हैं। सांवत्सरिक परिभ्रमण मार्ग का नाम ही क्रान्तिवृत्त है। प्रत्येक वृत्त ३६० अंश का माना जाता है। बस पृथिवी प्रतिदिन एक अंश के मार्ग को तय करती हुई आगे चलती रहती है इस प्रकार ३६० दिन में यह उस क्रान्तिवृत्त की परिक्रमा लगा लेती है। ३६० दिन का जो वर्ष है इसे ही ज्योतिष की परिभाषानुसार "**सावन**" वर्ष कहा जाता है। पृथिवी यदि पूरे एक अंश भी चलती तो अवश्य ही ३६० दिन में पूरी परिक्रमा लगा लेती परन्तु यह एक अंश से कुछ कम चलती है अतएव पूरी परिक्रमा में इसे ३६५ दिन और कुछ कला लग जाती है। इस ३६६ दिन वाले वर्ष को "**सौर**" वर्ष कहा जाता है।

पृथिवी क्रान्तिवृत्त पर चलती जरूर है। परन्तु स्वाक्ष परिभ्रमण करती हुई चलती है। जिस प्रकार बाइसिकल का पहिया घूमता हुआ आगे चलता है ठीक उसी प्रकार यह पृथिवी घूमती हुई आगे चलती है। अपने स्थान पर ही चक्र लगाती हुई यह आगे चलती है। बस इस स्वाक्ष परिभ्रमण का नाम ही दैनंदिन गति है। जिस प्रकार सांवत्सरिक गति ३६६ दिन में समाप्त होती है। उसी प्रकार यह दैनंदिन गति २४ घन्टे में समाप्त हो जाती है। २४ घन्टे में पृथिवी अपने धुरे के चारों ओर घूम जाती है। इस स्वाक्ष परिभ्रमण से ही दिन रात का स्वरूप बनता है। पृथिवी १२ घन्टे सूर्य की ओर रहती है एवं १२ घन्टे सूर्य के प्रतिदिक् में रहती है अर्थात् अन्धकार में रहती है बस उस प्रकाशी भाग का नाम दिन है। तमोमय भाग का नाम रात्रि है। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जैसे सांवत्सरिक परिभ्रमण

वृत्त का नाम "क्रान्तिवृत्त" है उसी प्रकार अहोरात्र परिभ्रमण का नाम "विष्वद्वृत्त" है । इस प्रकार सिद्ध हो जाता है क्रान्तिवृत और विष्वद्वृत दोनों ही पृथिवी के परिभ्रमण हैं । दोनों पर पृथिवी घूमा करती है ।

उत्तर ध्रुव पर दृष्टि डालिए । इतनी दूर का जो प्रदेश है वह १८० अंश का प्रदेश, इन दोनों के नीचे है । इस ३६० अंश के वृत्त का नाम ही **"ध्रुवप्रातवृत्त"** है । उत्तर-दक्षिण दोनों ध्रुवों के परे में होकर जो एक वृत्त बनता है उसी का नाम **"ध्रुवप्रोतवृत्त"** है, एवं उसी को याम्योत्तर वृत्त भी कहते हैं इस याम्योत्तरवृत्त के ठीक बीच में अर्थात् उत्तर ध्रुव से ९० अंश दक्षिण एवं दक्षिण ध्रुव से ठीक ९० अंश उत्तर का जो स्थान है उस पर से पूर्वापर की ओर एक गोलवृत्त है बस उसी वृत्त का नाम **"विष्वद्वृत"** है । चूंकि यह वृत्त पूर्वापर बनता है अतएव इसी को पूर्वापर वृत्त भी कहा जाता है । भगवान् सूर्य इसी पूर्वापर वृत्त के विष्वद्वृत्त के ठीक बीचों बीच अर्थात् उत्तर ध्रुव से दक्षिण की ओर ९० अंश पर एवं दक्षिण ध्रुव से उत्तर की ओर ९० अंश पर भगवान सूर्य स्थित है । यह वृत्त अदृश्य मण्डल के हिसाब से बड़ा है । अतएव इसे **"बृहती"** भी कहा जाता है ' इसीलिए **"सूर्यो बृहती मध्यूढस्तपति"** यह कहा जाता है इस विष्वद्वृत्त से २४ अंश उत्तर एवं २४ अंश दक्षिण इस ४८ अंश के परिसर का जो मार्ग है उसे ही **"क्रान्तिवृत्त"** कहते हैं । इसी क्रान्तिवृत्त पर पृथिवी घूमा करती है । विषवत् से उत्तर का जो क्रान्तिवृत्त है वह २४ अंश नीचा है, एवं जहां यह क्रान्तिवृत्त विषवत् से संपात करता है वह हिस्सा उस विषुवत् के सम धरातल पर है । आजकल क्रान्तिवृत्त का विषुवत् के साथ संपात होता है ।

पृथिवी जब क्रान्तिवृत्त के उत्तर की ओर जाती है तो उस समय का जो क्रान्तिवृत्त और विषुवत् वृत्त का संपात होता है वह शारद संपात कहलाता है अर्थात् जिस दिन पृथिवी दक्षिण गोल को समाप्त कर उत्तर गोल में प्रविष्ट होती है उस दिन के क्रान्तिविष्वद् के संपात को शारद संपात कहते हैं । २२ सितम्बर को आश्विन में शारद् संपात होता है । उस दिन पृथिवी विषुवद् वृत्त पर, सूर्य के समधरातल पर रहती है पृथिवी का केन्द्र और सूर्य का केन्द्र, दोनों विषुवद् रेखा से कटे रहते हैं । विषुव रेखा से सूर्य जितना नीचा है, पृथिवी भी ठीक उतनी ही नीची है, एवं विषुव रेखा से सूर्य जितना ऊंचा है पृथिवी भी ठीक उतनी ही ऊंची है । इसीलिए उस दिन अर्थात् २२ सितम्बर को दिन रात बराबर रहते हैं । रात भी १२ ही घन्टे की होती है, एवं दिन भी १२ ही घन्टे का होता है, क्योंकि पृथ्वी का आधा हिस्सा विषुव के नीचे है, आधा ऊपर है । अतएव उसी स्थिति में रहने वाले सूर्य का प्रकाश समरूपेण पृथिवी पर गिरता है । इसके अनन्तर पृथिवी ज्यों ज्यों ऊपर चढती जाती है । त्यों त्यों विषुवद् रेखा से पृथिवी का भाग हटता जाता है । हम विषुवद् वृत्त से उत्तर भाग में रहते हैं । अतएव पृथिवी ज्यों-ज्यों ऊपर चढती है त्यों त्यों सूर्य नीचे हटता जाता हैं । हम विषुव के उत्तर भाग में है । सूर्य पृथिवी से नीचे रह जाता है अतएव सूर्य का प्रकाश हमारी ओर कम मात्रा में पहुँचता है । अतएव हमें सर्दी मालूम होने लगती है । रात्रि बड़ी और दिन छोटे होने लगते हैं । इसके बाद जाते २ जब पृथिवी परम क्रान्तिवृत्त पर पहुंच जाती है अर्थात् उत्तर भाग स्थित क्रान्तिवृत्त के अन्तिम २४ अंश पर पहुंच जाती है तो उस दिन सूर्य एकदम नीचा आ जाता है । इस समय दिन सबसे छोटा हो जाता है एवं रात्रि सबसे बड़ी

हो जाती है । १० घन्टे का दिन होता है १४ घन्टे की रात होती है । इसके अनन्तर पृथिवी धीरे धीरे नीचे की ओर झुकने लगती है । बस ज्यों ज्यों पृथिवी नीचे की ओर झुकती जाती है । त्यों त्यों बडे दिन होने लगते हैं । २२ सितम्बर में पृथिवी उत्तर गोल में घुसती है एवं २३ दिसम्बर को परमक्रान्ति पर पहुंच जाती है । यही सबसे छोटा दिन है एवं यही सबसे बड़ी रात है । बस २३ दिसम्बर के दूसरे ही दिन से पृथिवी दक्षिण भाग की ओर झुक जाती है । पृथिवी का नीचे झुकना सूर्य का ऊंचे की ओर उत्तर भाग की ओर उठना है ।

यद्यपि चलती है पृथिवी ही, तथापि उत्तरायण-दक्षिणायन का हिसाब सूर्य के हिसाब से माना जाता है । सूर्य न चढ़ता, न गिरता, वह तो बृहती छन्द पर स्थिर रूप से तपा करता है परन्तु पृथिवी चलती है एवं इस पर हम बैठे हुए हैं अतएव सूर्य चलता हुआ दिखलाई देता हैं । रेलगाड़ी में बैठ जाने के अनन्तर जब वह अति प्रबल वेग से चलने लगती है तो उसके साथ साथ ही आकाश, वृक्ष, चन्द्रमा, नक्षत्र, सब चलते हुए नजर आने लगते हैं । बस ठीक यही हालत सूर्य की गति में समझनी चाहिए । सूर्य एकदम स्थिर, पृथिवी चलती है । हम पृथिवी पर बैठे हुए हैं अतएव यह हमें चलता हुआ दिखलाई पड़ता है । बस इसी चाल की अपेक्षा सूर्य सम्बन्धेन दक्षिणायन-उत्तरायण व्यवस्था की जाती है । कहना इससे हमें यही है कि 23 दिसम्बर से (मार्ग-शीर्ष से) पृथिवी दक्षिण की ओर झुकी कि सूर्य उत्तर की ओर चढ़ता दिखलाई पड़ने लगा । उत्तरायण का सम्बन्ध सूर्य से है अतएव उस दिन सूर्य का उत्तरायण गमन माना जाता है । पृथिवी जब उत्तर की परमक्रान्ति पर पहुंच जाती है तो सूर्य एकदम दक्षिण की परम क्रान्ति पर चला जाता है । जहां पृथिवी दक्षिण की ओर झुकी कि सूर्य उत्तर की ओर बढ़ने लगा । अतएव पृथिवी के दक्षिणायन को हम सूर्य का उत्तरायण कहेंगे । यहां से दिन बड़े होने लगते हैं एवं रात्रि छोटी होने लगती है । कारण इसका यही है कि पृथिवी ज्यों ज्यों नीचे आती है त्यों त्यों हमारी ओर प्रकाश अधिक पड़ने लगता है । आते आते जब पृथिवी विषुवत् से आ मिलती है तो उस दिन भी दिन रात बराबर हो जाते हैं क्योंकि पृथिवी का उत्तर दक्षिण ध्रुव अर्थात् सुमेरु क्रम से सूर्य के खगोल के दक्षिणोत्तर ध्रुव से मिल जाता है पृथिवी की अर्थात् भूगोल की और खगोल की विष्वद् रेखा एक सीध में आ जाती है । इस समय पृथिवी सूर्य के सम धरातल पर रहती है । २३ मार्च को फाल्गुन के महीने में पृथिवी विष्वद् पर आ जाती है बस इस विषुवत् संपात को "**वासन्त संपात**" कहते हैं । इसी से बसन्त ऋतु का आरम्भ होता है । यहीं से ग्रीष्म का प्रारम्भ होता है । ग्रीष्म के प्रारम्भ ही को वसन्त कहते हैं जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट हो जायगा । इस दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्र रहता है । अर्थात् वासन्त संपात उत्तराभाद्रपद पर होता है, एवं शारत् संपात उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र पर होता है । यहां से पृथिवी दक्षिण गोल में प्रविष्ट होती है एवं सूर्य उत्तर गोल में प्रविष्ट होता है । होते होते जब पृथिवी दक्षिण की परम क्रान्ति पर पहुंच जाती है तो इस दिन अर्थात् २३ जून को (आषाढ़ में) दिन सबसे बड़ा होता है । एवं रात सबसे छोटी होती है । कारण इसका यही है कि सूर्य उत्तर परमक्रान्ति पर पहुंच जाता है एवं वह हमारे ऊपर अधिक मात्रा से प्रकाश डालता है । सूर्य सम्मुख भाग में रहता है इसके अनन्तर पृथिवी जब दक्षिण भाग को छोड़कर उत्तर की ओर बढ़ने लगती है तो इसी दिन सूर्य दक्षिण की ओर झुक जाता है बस यही दक्षिणायन कहलाता है । २२ जून को दक्षिणायन होता है । इस दिन से रात फिर बड़ी होने लगती है एवं

दिन छोटा होने लगता है। इसीलिए **"कानजी कल में आया रात बड़ी दिन छोटा ल्याया"** यह कहा जाता है। पूर्व कथन से यह भी सिद्ध तो जाता हैं कि उत्तरायण दक्षिण गोल में होता है एवं दक्षिणायन उत्तर गोल में होता है। इस प्रकार अहर्निश पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लग ाती रहती है। पृथिवी का दक्षिणायन सूर्य का उत्तरायण ही है। पृथिवी का उत्तरायण सूर्य का दक्षिणायन है। हमने बतलाया है कि आज कल विषुव शारत् संपात उत्तरफाल्गुनी में होता है, एवं वासन्त संपात उत्तर भाद्रपद में होता है। परन्तु यह विषुव संपात स्थिर नहीं है पूर्व से पश्चिम की ओर यह संपात बिन्दु अर्थात् विषुवत् हटता जाता है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है

मैत्रायण ब्राह्मण एवं कौषितकी ब्राह्मण में लिखा है कि रोहिणी नक्षत्र पूर्व बिन्दु पर अर्थात् विषुव पर रहता है परन्तु आज हम देखते है कि पूर्व बिन्दु पर उत्तरभाद्रपद नक्षत्र है आज विषुवत् संपात ६ नक्षत्र पश्चिम हटा हुआ है इससे मानना पडता है कि विषुवत् संपात पश्चिम की ओर सरकता जाता है एवं इसी से वेद निर्माण काल का भी पता लगाया जा सकता है।

प्रत्येक नक्षत्र १३ अंश बीस कला का होता है १३ अंश बीस कला का एक नक्षत्र प्रदेश होता है इस हिसाब से ६ नक्षत्रों के हिसाब से विषुवत् ८० अंश आगे बढ़ आया है। एक अंश का भोग ७५ वर्ष का है। विषुवत् ७५ वर्ष में एक अंश पश्चिम में हट जाता है इस प्रकार से ८० अंश के कुल ६००० छह हजार वर्ष हो जाते हैं। इसी मान पर हम कह सकते हैं कि कौषीतकि और मैत्रायण ब्राह्मण को बने हुए ६००० छह हजार वर्ष हो गए।

इसके बाद शतपथ ब्राह्मण में और ही संपात का वर्णन है। शतपथ श्रुति कहती है—

"कृतिकास्वग्नी आदधीत। एताह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते"

इससे मालूम होता है कि शतपथ निर्माण के समय विषुवत् संपात कृत्तिका पर था तभी **"एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते"** इसकी संगति हो सकती है। इसी में शतपथ निर्माण का भी समय निकाला जा सकता है। आज विषुवत् संपात उत्तरभाद्रपद पर होता है। इस प्रकार से करीब ४ साढ़े चार नक्षत्र पश्चिम की ओर हटा हुआ है। इस हिसाब से शतपथ को बने हुए ४५०० साढ़ चार हजार वर्ष के लगभग हो जाते हैं, यह मान लेना पड़ता है। सारे प्रपञ्च से कहना हमें यही है विषुवत् संपात बिन्दु पश्चिम की ओर हटती जाती है। आज विषुवत् वासन्त संपात उत्तर भाद्रपद पर होता है एवं शारत् संपात उत्तर फाल्गुनी पर होता है। जिस दिन पृथिवी इस संपात बिन्दु पर आ जाती है उस दिन, दिन-रात बराबर हो जाते हैं।

हमें प्रकृत में बतलाना है अदिति का स्वरूप, और अदिति से यज्ञ प्रारम्भ होता है एवं अदिति पर ही यज्ञ समाप्त होता है, इसका रहस्य। पृथिवी के सांवत्सरिक परिभ्रमणवृत्त का नाम क्रान्तिवृत्त

है और अहोरात्र परिभ्रमण वृत्त का नाम विष्वद्वृत्त है। यह बात पूर्व के प्रकरण से सिद्ध हो जाती है। यह विषुवत् और क्रान्तिवृन्त जैसे पृथिवी में हैं वैसे ही खगोल में भी है। पृथिवी की रेखाओं से पृथिवी के क्रान्तिवृन्त और विषुवद् वृत्त से खगोल का क्रान्तिवृत्त और विष्वत् कल्पित कर लिया जाता है। पृथिवी पिण्ड गोल है। इसका उत्तर भाग उत्तर ध्रुव से प्रोत रहता है, एवं दक्षिण भाग दक्षिण ध्रुव से प्रोत रहता है। इस याम्योत्तर वृत्त को ध्रुव प्रोतवृत्त भी कहते हैं। पृथिवी उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव के ठीक बीच में रहती है। उत्तर ध्रुव के ९० अंश दक्षिण और दक्षिण ध्रुव से ९० अंश उत्तर जो एक पूर्वापरवृत्त बनता है उसी का नाम विषवद्वृत्त है। इसी को बृहती छन्द कहते हैं। पृथिवी गोल है इसका जो बिलकुल बीच का हिस्सा है उस पर जो एक वृत्त रहता है वही विष्वद् वृत्त कहलाता है। गोल वस्तु के ठीक बीच का वृत्त पार्श्ववर्ती वृत्तों की अपेक्षा बड़ा होता है। गोल वस्तु का मध्यमवृत्त ही सबसे बड़ा होता है चूंकि विष्वद्वृत्त पृथिवी के ठीक बीच में है अतएव इसे वेद में बृहती छन्द कहा जाता है प्रत्येक वृत्त ३६० अंश का होता है। इसी हिसाब से मानना पडता है कि बृहतीवृत्त भी ३६० ही अंश का है। यह सारा वृत्त चार ९०-९० अंशों में बंटा हुआ है। पूर्व क्षितिज से मध्याह्न तक ९० अंश हैं, मध्याह्न से सायंकाल तक ९० अंश, सांयकाल से मध्यरात्रि तक ९० अंश हैं एवं मध्यरात्रि से प्रातःकाल तक ९० अंश हैं। वेद में १० संख्या की समष्टि को विराट् कहा जाता है। इसीलिए बारबार "दशिनो विराट्" यह लिखा रहता है। बृहती वृत्त में ९०–९० अंश के टुकड़े हैं। इस प्रकार १०–१० अंश के हिसाब से प्रत्येक टुकड़े में ९–९ विराट् हो जाते हैं। एक विराट् का नाम अक्षर है। इस प्रकार से एक एक टुकड़े में ९० अंश के १०-१० अंशों के हिसाब से ९–९ तो विराट् हो जाते हैं एवं ९-९ ही अक्षर हो जाते हैं। विराट् कहो या अक्षर कहो दोनों एक ही बात है। इस प्रकार एक बृहती में ३६ अक्षर हो जाते हैं। बस इसी विज्ञान को बतलाने के लिए बृहती छन्द को ३६ अक्षर का बनाया जाता है, जिस छन्द में ३६ अक्षर होते हैं उसे बृहती छन्द कहा जाता है।

इसी बृहती छन्द को अहोरात्रवृत्त भी कहते हैं। यह अहोरात्रवृत्त कुल ७ हैं। इन्हीं का नाम वेद में क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती यह है। जो सबसे उत्तर का अहोरात्रवृत्त है उसका नाम जगती है एवं जो सबसे दक्षिण का अहोरात्रवृत्त है उसका नाम गायत्री है। दृश्यमण्डल के हिसाब से गायत्री छन्द सबसे छोटा है अतएव "**अष्टाक्षरा वै गायत्री**" यह कहा जाता है एवं सबसे बड़ा छन्द जगती है। ४८ अक्षर का छन्द जगती छन्द कहलाता है। इसी पर वेद में प्रश्न किया है कि जब जगती सबसे बड़ा है तो फिर उसको बृहती कहना चाहिए न कि मध्य अहोरात्र वृत्त को इस प्रश्न का–प्रकृति को लक्ष्य में रखकर समाधान किया गया है।

हम विषुवत् से उत्तर में हैं अतएव दृश्यमण्डल के हिसाब से हम जगती को बड़ा कहते हैं। परन्तु प्रकृति के हिसाब से गोल वस्तु के मध्य का वृत्त ही चूंकि बड़ा होता है अतएव हमने इसी को बृहती वृत्त कहा है। इस बृहती से २४ अंश उत्तर और २४ अंश दक्षिण का जो एक वृत्त है उसी का नाम क्रान्तिवृत्त है। यह बात हम पहले बतला आये हैं। इस क्रान्तिवृत्त को काटते हुए जो पूर्वापरवृत्त बनते हैं उन्हीं का नाम अहोरात्रवृत्त है विषुवत् को बीच में रख लीजिए, इससे उत्तर की ओर १२–८–४ अंश पर क्रान्तिवृत्त को काटते हुए जो पूर्वापर वृत्त बनेंगे वे ही अहोरात्र वृत्त कहलाते हैं। इसी प्रकार १२–८–४

के हिसाब से ही तीनवृत्त विषुवत् से दक्षिण समझने चाहिए। इस प्रकार विषुवत् को मिलाकर कुल ७ अहोरात्र वृत्त हो जाते हैं जैसे सात अहोरात्रवृत्त भूगोल में हैं उसी प्रकार सात ही अहोरात्रवृत्त खगोल में हैं। जो खगोल के सात अहोरात्रवृत्त हैं वे ही हिरण्मय रथ का एक पहिया है। इसी पर सूर्य अर्थात् पृथिवी घूमा करती है।

जिस प्रकार कुम्हार का चाक खूब घूमता है, परन्तु अपने बीच के कीले को नहीं छोडता, ठीक उसी प्रकार से यह पृथिवी अपने धुरे को कभी नहीं छोड़ती है। इस धुरे को ही पुराण में मेरु कहा जाता है, एवं ज्योति में अक्ष कहा जाता है। बस अक्ष के–इस धुरे की पृथिवी २४ घन्टे में एक परिक्रमा लगा जाती है। इस स्वाक्ष परिभ्रमण से जिसे कि हम दैनंदिनगति कहेंगे, रात दिन का जन्म होता है। अहोरात्र का स्वरूप इसी स्वाक्ष परिभ्रमण पर अवलम्बित है। यह मेरु, सुमेरु और कुमेरु नाम से व्यवहृत होता है। यह मेरु पृथिवी के ठीक केन्द्र में से आरपार होकर निकला हुआ है। पृथिवी के उत्तर भाग का मेरु उत्तर ध्रुव से बद्ध है, दक्षिण भाग का मेरु दक्षिण ध्रुव से बद्ध है। जो पृथिवी का अन्तिम उत्तर सीमान्त है उसी का नाम सुमेरु है। उत्तर में देव प्राण रहता है अतएव इसे सुमेरु कह दिया जाता है, एवं ठीक इसके–पृथिवी के दक्षिण भाग के अन्त में, दक्षिण ध्रुव की सीध में जो मेरु है वह आसुर प्राण प्रधानात् कुमेरु कहलाता है इसी सुमेरु-कुमेरु को लक्ष्य में रखकर कहा जाता है—"**लंका कुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकूपत्तनं च**"।

इसका नाम सुमेरू ही समझना चाहिए। इस सुमेरु कुमेरु का यदि वास्तविक स्वरूप पूछना चाहो तो अग्नि ही है। पृथिवी के केन्द्र से आरपार होती हुई जो प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला है उसी का नाम मेरु है। इसी अग्नि का नाम हिरण्मय ब्रह्मा है। अग्नि का वर्ण सुवर्ण के माफिक होता है अतएव इसे हिरण्मय कहा जाता है। अतएव इसी अग्नि के आधार से पृथिवी की सत्ता है। अतएव पुराणों में इसे ब्रह्म कहा जाता है। यही अन्तर्गत–आग्नेय ब्रह्मवेद में प्रजापति नाम से व्यवहृत होते हैं। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा व्यजायत।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वाः॥

यही प्रजापति मेरु है। जिस प्रकार सारे शरीर की स्थिति मेरुदण्ड पर अवलम्बित है तथैव पृथिवी के शरीर की स्थिति चूंकि इसी प्रजापति पर अवलम्बित है अतएव इसे "**मेरु**" कहा जाता है। इस सुमेरु कुमेरु का आजकल पर्वत अर्थ किया जाता है परन्तु मेरु का पर्वत अर्थ करना सर्वथा अनभिज्ञता है। पर्वत अचल है तथैव यह प्रजापति भी अचल है इस लक्ष्य से इसका नाम मेरु रख दिया गया है न कि यह भी कोई पर्वत है। मेरु नाम का पर्वत भी अवश्य ही है परन्तु इस सुमेरु-कुमेरु से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हां ऐसी बात अवश्य थी, जिस समय त्रिभुवनस्थ भुवनस्वर्ग व्यवस्था थी जबकि ब्रह्मा जी देवता असुरों पर दोनों पर शासन करते थे, उस समय जिस पहाड़ पर ब्रह्मा रहते थे उसी पर सुमेरु बिन्दु थी। जिस पहाड़ पर ब्रह्मा जी रहते थे उसी का नाम "ब्रह्ममेरु" था, एवं इसे ही "हिरण्यशृंग" पर्वत भी कहते

थे। यही पर्वत यही स्थान आज "पामीर" नाम से व्यवहृत होता है। हमने बतलाया है कि यह सुमेरु और कुमेरु दोनों ही दक्षिणोत्तर ध्रुव से बद्ध है। ध्रुव विष्णु भगवान् के अर्थात् नाक के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। यह परिक्रमा २५ हजार वर्ष में जाकर पूरी होती है। हम मेरु को बदलता हुआ देखते हैं। ब्रह्मा के समय में यह मेरु बिन्दु ठीक हिरण्यशृंग पर्वत पर था। परन्तु आज उससे बहुत आगे बढ़ गया है अतएव मानना पडता है कि ध्रुव अवश्य ही फिरता है। मेरु ध्रुव से बद्ध है। यदि ध्रुव न चलता होता तो मेरु हर्गिज नहीं चल सकता था। चूंकि मेरु को हम चलता हुआ देखते हैं। अतएव इस ध्रुव को हम अवश्य ही गतिधर्मा कहने के लिए तैय्यार हैं। कहना इससे हमें यही है कि उस समय सुमेरु बिन्दु हिरण्यशृंग पर थी अतएव लोगों को भ्रम हो गया है कि सुमेरु भी कोई पर्वत ही है। सुमेरु अक्षय पर्वत है परन्तु हिरण्यशृंग का नाम–प्राग्मेरु का नाम–सुमेरु है। यह प्राग्मेरु पर्वत है न कि पृथिवी का सुमेरु-कुमेरु।

पृथिवी का जो ३३ तक जाने वाला वषट्कारमण्डल है उसके २१ वें स्थान पर भगवान् सूर्य है। इस सूर्य से ४ अहर्गण नीचे और ४ अहर्गण ऊपर, इस प्रकार ८ अहर्गणों का जो एक परिसर है उसे स्कम्भ कहा जाता है। सूर्य २१ वें अहर्गण पर है। इस प्रकार ६ अहर्गणों के परिसर का यह अग्निस्तम्भ विष्कम्भ नाम से व्यवहृत होता है। इसी को नवाह यज्ञ कहते हैं पृथिवी के १६ से लेकर २५ तक नवाह यज्ञ होता है। इस नवाह यज्ञ में कुण्ड सूर्य है। इसी में आहुति पड़ती रहती है। जिस प्रकार पृथिवी प्रजापति जिसे कि सुमेरु और कुमेरु कहते हैं, बडी दूर तक चला जाता है। उसी प्रकार यह अग्नि का स्कम्भ बडी दूर तक सूर्य से ऊपर और नीचे तक चला गया है। इस स्कम्भ का जो अन्तिम सीमान्त है उसी का नाम कदम्बवृत्त है। इसी कदम्बवृत्त को वैदिक लोग "**नाक**" शब्द से व्यवहृत करते हैं। इसी विष्णु का डायमीटर ४८ अंश का समझना चाहिए। सूर्य को केन्द्र में रखकर २४ अंश व्यासार्ध से जो एक वृत्त बनाया जाय, बस वही इस स्कम्भ का परिमाण है। इतना मोटा यह स्कम्भ है जो कि बड़ी दूर तक वितत है। इस स्कम्भ की उदक शिरोबिन्दु का नाम ही "नाक" है। इसी को उत्तरकदम्ब कहते हैं। यही भगवान् विष्णु है। ध्रुव इसी कदम्बवृत्त के चारों ओर परिक्रमा लगता है। यह कदम्ब एक कल्पित स्थान है। वास्तव में कोई नक्षत्र नहीं है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है:—

"तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीवचक्षुरानतम्"

महर्षि लोग बड़े गौर से इसे देखा करते हैं। आँख को वितत करके जो देखा करते हैं इससे सिद्ध होता है कि वास्तव में कदम्ब एक स्थानमात्र है, वहां कोई नक्षत्र नहीं है। जिस प्रकार विषुवद् वृत्त से ठीक ६० अंश पर उत्तर ध्रुव है एवं ६० अंश दक्षिण ध्रुव है। ठीक इसी प्रकार क्रान्तिवृत्त से दक्षिण ६० उत्तर में उत्तरकदम्ब है। जो दक्षिण कदम्ब है वह दक्षिण ध्रुव से २४ अंश पर है। दक्षिण ध्रुव दक्षिण-कदम्ब से चारों ओर परिक्रमा लगाता है, एवं उत्तरध्रुव उत्तरकदम्ब के चारों और परिक्रमा लगाता है अतएवः—

"नाकस्थ विष्णोः परितस्तु वेदध्वर व्यासार्धजं संचरति ध्रुवं ध्रुवः॥

यह कहा जाता है कि क्रान्तिवृत्त के पृष्ठ के प्रति बिन्दु से कदम्ब ९० अंश पर है एवं विष्वद्वृत्त के पृष्ठ की प्रतिबिन्दु से ध्रुव ठीक ९० अंश पर है। इसीलिए क्रांतिवृत्तीय पृष्ठि केन्द्र को "**कदम्ब**" कहा जाता है, एवं विष्वद्वृत्तीय पृष्ठि को ध्रुव कहा जाता हैं। पृथिवी ध्रुव से बद्ध है। सूर्य कदम्ब से बद्ध है। प्रकृति मण्डल में ध्रुव और कदम्ब का २४ अंश का अन्तर है अतएव इन दोनों से बद्ध पृथिवी और सूर्य पिण्ड का अन्तर भी २४ अंश का ही है। पृथिवी सूर्य के २४ अंश उत्तर एवं २४ अंश दक्षिण घूमा करती है। इस प्रकार ४८ अंश के परिसर पर पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमा करती है। यहां इतना और समझ लेना आवश्यक होगा कि उत्तर ध्रुव से दक्षिण ध्रुव ठीक १८० अंश पर है। इसमें बीच के ४८ अंश तो इस क्रांतिवृत्त में ही रुक जाते हैं। इसके अलावा ६४ अंश उत्तर ध्रुव में बच जाते हैं एवं ६४ अंश दक्षिण में बच जाते हैं। इन चौसठों में ४२ अंश का जो उत्तर का मार्ग है वह देवयान कहलाता है एवं ४२ अंश का दक्षिण मार्ग पितृयाण कहलाता है बाकी बचते हैं २४–२४ अंश। इनमें से उत्तर के २४ अंश को स्वर्ग कहते हैं, एवं दक्षिण भाग के चौबीस अंश को नर्क कहते हैं। उत्तर कदम्ब का नाम स्वर्ग है, दक्षिण कदम्ब का नाम नर्क है। प्रसंगागत इतना और समझ लेना चाहिए कि सूर्य जब उत्तर गोल में जाता है तो दक्षिण गोल में अंधेरा हो जाता है। ६ महीने सूर्य उत्तर गोल में रहता है, अतएव उत्तर गोल में ६ महीने का दिन ही दिन रहता है। ऐसा प्रदेश ध्रुव प्रदेश है। ध्रुव का अर्थात् सुमेरु का जो २४ अंश का मार्ग है वहां तब तक दिन रहता है जब तक कि सूर्य उत्तर गोल में ही रहता है। कारण इसका यही है कि सूर्य उत्तर गोल में ही उदय होता है अतएव उसके अन्तिम भाग ध्रुव स्थान पर सदा प्रकाश ही रहता है। इधर दिन रहता है तो उस दक्षिण गोल में बिलकुल अंधेरा हो जाता है एवं सूर्य जब विष्वत् पर आता है तो दोनों ध्रुव प्रदेशों की सन्ध्या होती है। कुछ प्रकाश इधर होता है कुछ उधर होता है।

यह है प्राकृतिक परिस्थिति। बिना इसे समझें अदिति समझ में नहीं आ सकती है, अतएव हमें इतना प्रपंच करना पड़ा है। अस्तु अब हम प्रकृति का अनुसरण करते हैं। किसी में किसी में चीज की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है। यह यज्ञ की सामान्य परिभाषा समझनी चाहिए। अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है। पृथिवी में सौर पदार्थ आहुति होते रहते हैं। पृथिवी हर समय सूर्य की वस्तुओं को खाया करती है। हमें बतलाना था कि ध्रुव का सम्बन्ध पृथिवी से है और कदम्ब का सम्बन्ध सूर्य से है। विषुवद्वृत्त पृथिवी की अपनी चीज है। सूर्य का चलना माने तब क्रांतिवृत्त सूर्य की वस्तु है। वस्तुतस्तु क्रान्तिवृत्त भी पृथिवी के सांवत्सरिक परिभ्रमण वृत्त का ही नाम है। क्रांतिवृत्त भी पृथिवी की ही वस्तु है। पूर्व के ब्राह्मणों में हमने कई स्थानों पर बतलाया है कि स्वयम्भू से परमेष्ठि पैदा होता है। परमेष्ठि के अनन्तर सूर्य पैदा होता है। सूर्य के अनन्तर पृथिवी उत्पन्न होती है। पृथिवी के अनन्तर चन्द्रमा पैदा होता है। इन्हीं पांचों को "**पञ्चपुण्डरीक**" प्राजापत्यबल्शा—कहा जाता है। इस बल्शा क्रम में सारे पिण्ड संघस्थरूपेण अर्थात् समधरातल रूपेण स्थिर हैं। स्वयम्भू पिण्ड के समधरातल में परमेष्ठि पिण्ड है। परमेष्ठि के समधरातल में सूर्य पिण्ड है। एवं सूर्य के समधरातल में पृथिवी पिण्ड है। एवं पृथिवी के समधरातल में चन्द्रपिण्ड है। असली स्थिति इन पिण्डों की बिलकुल समधरातल रूप से है। औरों के विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना है कि केवल पृथिवी और सूर्य ही के

विषय में । क्योंकि प्रकृत में इन्हीं दोनों का सम्बन्ध है–बल्शाक्रम है । पृथिवी सूर्य के समधरातल पर है, एवं पृथिवी का विष्वद्‌वृत्त और सूर्य का विष्वद्‌वृत्त बिलकुल एक लाइन में हैं । बस यही पृथिवी का असली स्वरूप है विष्वद्‌वृत्त ही—अहोरात्र परिभ्रमणवृत्त ही पृथिवी का प्राकृतिक स्वरूप है अतएव हम इस विषुवद्‌वृत्त को ही पृथिवी कहेंगे । पृथिवी का दक्षिण भाग में जाना एवं उत्तर भाग में जाना इस विषुवत्‌वृत्त से व्यवस्थित है । विष्वत् पृथिवी ऊपर नीचे जाती है । यह विष्वत् ही असली चीज है । यदि उत्तर चली जाती है तो पृथिवी देवताओं के कब्जे में चली जाती है एवं दक्षिण चली जाती है तो पितरों के कब्जे में चली जाती है। दोनों ही जगह पराधीन है यदि स्वतन्त्रता है, तो विष्वद् पर । उस समय पृथिवी अपने स्वरूप में स्थित है । न इस समय यह देवताओं की तरह है और न पितरों को तरह । अत-एव विष्वत् को हम पृथिवी कहने के लिए तैयार है । पृथिवी ध्रुव से बद्ध है एवं विष्वद्‌वृत्तीय पृष्ठि केन्द्र को कहते हैं ध्रुव, इसलिए भी हम विष्वद्‌वृत्त को "**पृथिवी**" कहने के लिए तैयार है । इस प्रकार से जब यह सिद्ध हो जाता है कि विष्वद्‌वृत्त ही पृथिवी है तो फिर यह भी सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी से ही यज्ञ प्रारम्भ होता है और पृथिवी पर ही समाप्त होता है। अर्थात् विष्वद्‌वृत्त से ही यज्ञ प्रारम्भ होता है और विष्वद्‌वृत्त पर ही समाप्त होता है । पृथ्वी जब तक दक्षिण गोल में रहती है तभी तक सौर पदार्थों की इसमें आहुति होती रहती है सूर्य जब ऊपर गोल में रहता है तो पृथिवी दक्षिण गोल में रहती है। ऐसी अवस्था में सूर्य ऊंचा रहता है एवं पृथिवी नीचे रहती है । इस नीचे रहने वाली पृथिवी में ऊपर रहने वाले सौर पदार्थों की आहुति होती रहती है । यह आहुति पृथिवी के दक्षिण गोल में घुसने के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है । आहुति नाम है ऊपर से गिरने का । पृथिवी जब दक्षिण में आवेगी तभी सूर्य ऊपर जावेगा एवं तभी सौर पदार्थों की आहुति इसमें पडेगी । दक्षिण भाग में झुकती हुई पृथिवी पर सूर्य के पदार्थ इसमें आहुत होते रहते हैं अतएव हम कह सकते हैं कि यज्ञ पृथिवी से ही प्रारम्भ होता है। विष्वद्‌वृत्त का नाम पृथिवी है । यहीं से पृथिवी दक्षिण की ओर झुकती है । नीचे ऊपर जाने की व्यवस्था इसी विष्वत् से होती है । जहां विष्वत् से पृथिवी दक्षिण की ओर झुकी कि सौर पदार्थ इसमें आहुत होने लगे । यह आहुतिक्रम तबतक जारी रहता है जब तक कि पृथिवी दक्षिण गोल को समाप्त कर वापस विष्वत् पर न चली जाय ।

जहां दक्षिण गोल को समाप्त कर उत्तर गोल में प्रविष्ट होने के लिए पृथिवी विष्वत् पर पहुंची कि ऊपर से आहुति का आना बन्द हुआ । क्योंकि इस समय सूर्य और पृथिवी दोनों समधरातल पर रहते हैं । विष्वत् से ही आहुति प्रारम्भ होती है, विष्वत् पर ही जाकर समाप्त हो जाती है । विष्वत् से उत्तर गोल में जब पृथिवी चली जाती है तो सूर्य नीचे आ जाता है । अतएव सौर पदार्थ पृथिवी में आहुत नहीं होते । आहुति उसी को कहते है जो कि ऊपर से डाली जाय। चूंकि पृथिवी ऊपर चली जाती है । अतएव आहुति क्रम नष्ट हो जाता है । विष्वत् से ही अर्थात् पृथिवी से यज्ञ अर्थात् आहुतिक्रम प्रारम्भ होता है एवं विष्वत् पर ही अर्थात् पृथिवी पर ही यज्ञ समाप्त होता है । इस के विरूद्ध जो उत्तर गोल है उसमें आहुति नहीं पडती अतएव वह अयज्ञिय मण्डल है । दक्षिण मण्डल यज्ञिय मण्डल है, उत्तर गोल अयज्ञिय मण्डल है । पृथिवी से ही यज्ञ प्रारम्भ होता है अतएव पृथिवी ही प्रायणीय है और पृथिवी पर ही यज्ञ समाप्त होता है अतएव पृथिवी ही उदयनीय है । इस यज्ञ को–आहुतिक्रम को पहचानने का एक मात्र

साधन अदिति ही है। सूर्य के समसामुख्य की जो कल्पित बिन्दु है, उसी का नाम अदिति है। सूर्य को उत्तर की परम क्रान्ति पर समझो एवं पृथिवी को दक्षिण की परम क्रान्ति पर समझो। ऐसी अवस्था में सूर्य का प्रकाश पृथिवी के आधे भाग पर पड़ा करता है चूंकि प्रकाश अनवच्छिन्न रूप से इस समय पृथिवी पर पडता है अतएव इस दक्षिणायन बिन्दु को हम **'अदिति"** कहने के लिए तैयार हैं। बस इस यज्ञ की व्यवस्था इसी अदिति बिन्दु से कायम होती है। अदिति माता है अर्थात् माप करने वाली है। अदिति से ९० अंश इधर और ९० अंश उधर का जो एक १८० अंश का मार्ग परिसर है वही यज्ञ मण्डल है। इस अदिति बिन्दु को केन्द्र में रखकर जो सौर प्रकाश इस आधे मण्डल में आता है वह इसी विभाग से ७ विभागों में परिणत हो जाता है।

"पश्यन्ति सप्तमं सर्वे.........पुनः" के अनुसार दृष्टि सदा अपने से सातवें पर पड़ा करती है। सामने सातवां ही रहा करता है। सातवें का कुछ हिस्सा इधर रहता है कुछ उधर रहता है। बस यही तो अदिति मण्डल के सात प्राण हैं। इन्हीं को–अदिति के पुत्र कहा जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

अष्टौ पुत्रासो अदिते ये जातास्तन्यस्परि ।
देवां उपप्रैत् सप्तभिः परामार्तण्डमास्थत् ॥

अदिति के आठ पुत्र हैं। इनमें ७ तो अदिति के साथ रहते हैं एवं आठवां मार्तण्ड नाम का पुत्र अदिति से अलग रहता है यही इस मन्त्र श्रुति का तात्पर्य है। बात वास्तव में ठीक है। इस अदिति में तो ७ ही प्राण हैं ८ वां सूर्य तो अदिति से बहुत दूर ठीक उत्तरक्रान्ति पर है इसलिए **"परामार्त्तण्डमास्थत्"** यह कहा है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने दीक्षणीयेष्टि ब्राह्मण में कर दिया है अतः वहीं देखना चाहिए। यहां सिर्फ इतना ही कहना है कि आहुति स्वरूप यज्ञक्रम तभी समझ में आ सकता है जबकि इस अदिति बिन्दु को पहचान लिया जाय। इस अदिति की पहचान बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां ।
पूष्णोः हस्ताभ्यमाददेनार्य्यसि" । (यजु० ९।३०)

स्वाति पूर्वक्षितिज में उदय हो गया हो एवं पूषा अर्थात् रेवती का तारा डूब चुका हो एवं अश्विनी का डूबने वाला हो ऐसी अवस्था में जो आकाश का 'ख' स्वास्तिक है अर्थात् ठीक केन्द्र है वही कल्पित बिन्दु अदिति नाम से व्यवहृत होती है यह स्थान पुनर्वसु नक्षत्र के तृतीय चरण पड़ता है। बस इतना ही देवाकाश कहलाता है एवं इससे विरुद्ध जो हिस्सा है वह असुराकाश कहलाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक पृथिवी के इस आदि भाग को–देवाकाश को नहीं पहचान लिया जाता तो तब तक यज्ञ करना एकदम व्यर्थ है। अदिति के अलावा यज्ञ करना दैत्य भाव से यज्ञ करना है इसलिए यज्ञसंपत्ति प्राप्ति के लिए अदिति को पहचानना परम–आवश्यक है। अन्यथा यज्ञ हो ही नहीं सकता। यज्ञ का स्वरूप ही इस अदिति से समझ में आता है। यह अदिति पृथिवी ही यज्ञ का प्रारम्भ स्थान है एवं यही

समाप्ति स्थान है। अदिति को केन्द्र में रखकर जो दक्षिण गोल में व्याप्त प्रकाश है, वह अदिति ही तो है। इसी से यज्ञ प्रारम्भ होता है इसी पर समाप्त होता है। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"ते देवा अब्रुवन्–तवैव प्रायणीयस्तवैवोदयनीय इति तस्मादेष आदित्य एव प्रायणीयो भवत्यादित्य उदयनीयः। इयं ह्य्वेवादितिः। ततो यज्ञमपश्यन्-तमतन्वत।"

वास्तव में बात सच है। पृथिवी से ही यज्ञ का प्रारम्भ है इसी पर समाप्ति है एवं इस यज्ञ की पहचान करवाने वाला यह अदिति बिन्दु ही है। इसी से दैवाकाश स्वरूप यज्ञ का पता चल सकता है। देवताओं ने यज्ञ को व्यर्थ जाते देख खोजकर इसी अदिति का पता लगाया था। इसी से उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ किया था। वे जानते थे कि जब तक अदिति को न पहचान लिया जायगा तब तक यज्ञ स्वरूप समझना कठिन ही नहीं असाध्य है। अतएव यज्ञ के पहले पहल उन्होंने प्रारम्भ स्वरूप प्रायणीय आदित्य चरु के निर्वाप ही का विधान किया। जिससे कि यज्ञ करने वाला पहले अदिति के स्वरूप को पहचान जाए। आदित्यचरु के विधान का प्रयोजन यही है कि आदित्यचरु यजमान जब करने लगेगा तो पहले अदिति क्या है—यह पहचानने की कोशिश करेगा। उसे अदिति को—यज्ञस्वरूप जानने के लिए समझना पड़ेगा। जहां अदिति उसके समझ में आई कि सारा यज्ञ पुनः रहस्य इसे मालूम हुआ। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह यजमान दीक्षानन्तर सबसे पहले–यज्ञस्वरूप को पहचानने के लिए प्रायणीय आदित्यचरु का निर्वाप करता है।

"स यदादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति यज्ञस्यैव दृष्टयै"।

यज्ञस्वरूप को पहचान ले तब सोमयाग के लिए सोम को खरीदे। बाद में यज्ञ प्रारम्भ करे। यदि यज्ञ का स्वरूप ही समझ में न आवेगा तो सोम खरीदना भी व्यर्थ है एवं यज्ञवितान करना भी व्यर्थ है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह यजमान इसी खयाल से यज्ञ के प्रारम्भ में यज्ञ स्वरूप की मूलभूता अदिति को पहचानने के लिए ही प्रायणीय आदित्य चरु का निर्वाप करता है।

"यज्ञं दृष्ट्वा क्रीणानि तं तनवा (तनवै) ऽइति तस्मादादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति।

जिस देवता के लिए जो हवि दी जाती है उस हवि को देवता ग्रहण कर लेता है। 'अग्नये स्वाहा' –अग्नि के लिए जो हवि दी जाती है वह अग्नि में जाकर शामिल हो जाती है। यच्चयावत् आहुतियों में यही क्रम है। आहुतिएं देवता में जाकर मिल जाती है परन्तु अदिति के लिए निरुप्त अर्थात् निवेदित जो हवि है वह अनिष्ट देवता ही होती है। देवता से ग्रहीत जो हवि है वह इष्टा देवता होती है। परन्तु जिस हवि को देवता नहीं लेते वह अनिष्ट ही रहती है। अदिति के लिए जो हवि–जो चरु दिया जाता

है वह अनिष्टा ही रह जाती है। अदिति चरु को नहीं लेती। सूर्य के समसामुख्य बिन्दु का नाम-दक्षिण के ठीक बीच की बिन्दु का नाम अदिति है। यह बिन्दु कल्पित बिन्दु है। वास्तव में अदिति कोई देवता नहीं है। देवताओं ने—वैज्ञानिकों ने यज्ञस्वरूप की व्यवस्था समझाने के लिए यह कल्पित स्थान कायम कर रखा है। देवता हो तब न उसे आहुति मिले। जब देवता ही नहीं है तो फिर आहुति मिले किस को बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं:—

तद्वै निरुप्तं हविरासीदनिष्टा देवता ॥ ७ ॥

जब अदिति को पहचान लिया जाता है तो अदिति के साथ ही पथ्यास्वस्ति का भी पता लग जाता है। जहां अदिति को पहचाना कि पथ्यास्वस्ति का भी पता लगा।

मार्गीया स्थिति का नाम ही पथ्यास्वस्ति है। सूर्य क्रान्तिवृत्त पर घूमा करता है। सूर्य नहीं घूमता, सूर्य तो स्थिर ही रहता है। परन्तु दृश्यमण्डल के हिसाब से हम सूर्य को घूमता हुआ बतला सकते हैं। प्रत्येक वृत्त में ३६० अंश होते हैं यह बात पूर्व के प्रकरणों में बतला दी गई है। यह क्रान्तिवृत्त भी उसी नियम के अनुसार ३६० अंश का है। क्रन्तिवृत्त पर ही सात अहोरात्र वृत्त हैं जिन्हें कि गायत्री आदि नाम से व्यवहृत किया जाता है। क्रन्तिवृत्त पर घूमते हुए सूर्य के अहोरात्रवृत्त यद्यपि हैं सात परन्तु समझना चाहिए इन्हें ३६०। सूर्य प्रतिदिन पूर्व में उगता है और पश्चिम में अस्त होता है। बस उदय से अस्त तक की जो लाइन है उसी का नाम अहोरात्र है। यह उदयास्त प्रतिदिन बदलता रहता है। आज जिस बिन्दु पर सूर्य का उदयास्त है दूसरे दिन ठीक उसके आगे कि बिन्दु पर उदयास्त होगा। तीसरे दिन तीसरी बिन्दु पर होगा। इस प्रकार दक्षिण गोल में जिसे कि हमने यज्ञमण्डल कहा था जिस समय सूर्य (पृथ्वी) प्रविष्ट होता है अर्थात् वसन्त संपात पर आकर दक्षिण भाग की ओर झुकता है उस समय से लेकर दक्षिण की परमक्रान्ति पर पहुंचने के लिए उसे ९० दिन लग जाते हैं। ९० वें दिन आधे दक्षिण गोल को समाप्त करता है। प्रतिदिन की परिभ्रमण रेखा चूंकि भिन्न भिन्न होती है अतएव कुल ९० लाइन हो जाती हैं। परमक्रान्ति पर पहुंचने के अनन्तर फिर सूर्य उत्तर भाग की ओर आरूढ़ होता है। जहां से उसे उन्हीं पूर्व लाइनों पर होकर चलना पड़ता है, जिससे कि नीचे की ओर आया था। उन्हीं पूर्व-पूर्व की लाइनों पर उदयास्त करता हुआ ठीक ९० दिन में ही वह शारत संपात पर विष्वद् वृत्त पर पहुंच जाता है। इस प्रकार ९० लाइन यह हो जाती हैं। यह तो हुआ दक्षिण गोल का विभाग। यह का यही क्रम उत्तर गोल में समझना चाहिए। इस प्रकार से ७ अहोरात्र, ३६० अहोरात्र वृत्तों में परिणत हो जाते हैं इसीलिए तो एक संपात के ३६० दिनरात होते हैं। हमें विचार केवल दक्षिण गोल का करना है क्योंकि यज्ञ का सम्बन्ध इसी से है। इसलिए गोल में १८० अहोरात्र वृत्त होते हैं परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ९० ही होते हैं। क्योंकि जिन पर से आता है दक्षिण क्रान्ति पर पहुंच कर वापस उन्हीं अहो-रात्रों पर तो वह जाता है।

पूर्व में सूर्य उदय होता है पश्चिम में अस्त होता है। इस उदयास्त की रेखा सर्वथा भिन्न-भिन्न है। बस इन ९० रेखाओं को ही जो जिन पर सूर्य चलता है, दृश्यमण्डल के हिसाब से **"पथ्यास्वस्ति"** कहते

हैं। जिस लाइन पर होकर सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है। उस लाइन का नाम तो पथ्या है एवं दक्षिणमण्डल के ठीक बीच में रेखा विभाजक जो अदिति बिन्दु है उसी का नाम स्वस्तिक है। इसी को खस्वस्तिक कहते हैं। अदिति की १८० बिन्दुओं को उत्तर क्रान्तिस्थ सूर्य से सीधे ले जाओ बस उन्हीं का नाम खस्वस्तिक है। यह बिन्दु ही–उसपथ्या का–मार्गीया स्थिति का स्वरूप कायम करती है दक्षिण गोल की स्वस्तिक स्वरूप जो अदिति की बिल्कुल सीधी जाने वाली ६० बिन्दुएं हैं वे ही उन ६० रेखाओं की, जिन पर सूर्य चलता है व्यवस्थापिकायें हैं। यदि अदिति बिन्दु न हो तो पथ्या व्यवस्था ही न हो। पथ्यास्वस्ति का ज्ञान–मार्गीया स्थिति का ज्ञान, अदिति बिन्दुओं पर ही अवलम्बित है। अदिति को पहचानने पर सूर्य परिक्रमणरूपा मार्गीया स्थिति का ज्ञान होता है परन्तु ध्यान रहे–पूर्व से पश्चिम में अस्त होने वाले सूर्य की जो गति लाइन है उसी का नाम **"पथ्यास्वस्ति"** है।

प्रकृति के हिसाब से सूर्य पश्चिम से पूर्व की ओर जाता है उस लाइन को हम पथ्यास्वस्ति नहीं कहेंगे। अपितु सर्वसाधारणदृष्ट पूर्वोदय पश्चिमास्त जो मार्ग है उसी को हम पथ्यास्वस्ति कहेंगे। इसी अभिप्राय से भगवान् ऐतरेय कहते हैं।

"यत् पथ्यां यजति तस्मादासँ पुर उदेति पश्चास्तमेति। पथ्यां ह्येषोऽनुसंचरति"

भुवन स्वर्गवासी देवताओं ने जब अपने विज्ञान द्वारा यज्ञमूला अदिति को पहचाना तो साथ ही में उन्हें पथ्यास्वस्ति का भी ज्ञान हो गया। पथ्यास्वस्ति भी अदिति के साथ ही झलक पड़ी। क्योंकि अदिति ही तो पथ्यास्वस्ति की व्यवस्थापिका थी। पथ्यास्वस्ति अदिति बिन्दु पर ही व्यवस्थित रहती है। तात्पर्य कहने का यही है कि बिना अदिति के सूर्य परिभ्रमणयुक्ता मार्गीया स्थिति का पता हर्गिज–हर्गिज नहीं लग सकता। जहां अदिति का ज्ञान हुआ कि पथ्यास्वस्ति अपने आप झलक पड़ती है। देवताओं ने जिस समय अदिति को पहचाना उस समय अदिति के साथ ही पथ्यास्वस्ति भी उनके लिए चमक पड़ी। अर्थात् अदिति के ज्ञान होते ही तन्मूलभूता पथ्यास्वस्ति का भी देवताओं को ज्ञान हो गया। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथैभ्यः पथ्यास्वस्तिः प्रारोचत्"

अदिति को पहचानते ही जैसे अदिति के लिए आदित्य प्रायणीय चरु का निर्वपन किया था, तथैव देवताओं ने पथ्यास्वस्ति का भी यजन किया अर्थात् पथ्यास्वस्ति के लिए भी आज्याहुति दी– **"तामयजन्"**।

अदिति तो केवल कल्पित बिन्दुमात्र थी। अदिति कोई देवता न थी। परन्तु पथ्यास्वस्ति को केवल कल्पित रेखा ही नहीं समझ लेना चाहिए। यद्यपि मार्गीया स्थिति का, जिस पर से सूर्य प्रतिदिन चलता हुआ उदयास्त करता रहता है, नाम पथ्यास्वस्ति है एवं यह लाइन कल्पित ही है, परन्तु इनमें एक ऐसी वस्तु भरी हुई है व्याप्त हो रही है–जिसके कारण पथ्यास्वस्ति को कल्पित नहीं कहा जा सकता।

वह मार्गीया स्थिति उस पदार्थ के बिना कभी नहीं रह सकती है। अतएव पदार्थ विशिष्ट मार्गीया स्थिति को हम "पथ्यास्वस्ति" कहेंगे। जब पदार्थ विशिष्ट मार्गीया स्थिति का नाम पथ्यास्वस्ति है तो फिर इसे कल्पित कैसे कहा जा सकता है। बस इस मार्गीया स्थिति में जो पदार्थ भरा रहता है उसी का नाम **"वाक्"** है। पथ्यास्वस्ति–पृथ्वी से सूर्य तक–अर्थात् अदिति से मार्तण्डमण्डल तक फैली हुई है। उत्तर दक्षिण दोनों गोल मार्गीया स्थिति से व्याप्त हो रहे हैं। इस मार्गीया स्थिति में सूर्य परिभ्रमणोपयुक्त रेखाओं में पृथिवी की वाक् भरी हुई है। अग्नि दो प्रकार का होता है अमृत और मर्त्य। जो अमृत अग्नि है वह चितेनिधे अग्नि कहलाता है एवं इसी अमृतग्नि को अन्नाद भी कहते हैं, एवं जो मर्त्याग्नि है उसे चित्याग्नि कहते हैं। वह चित्याग्नि अर्थात् मर्त्याग्नि अन्न कहलाता है। यह चित्य भाग पशु कहलाता है यह अप स्थान को स्वयं नहीं छोड़ता। जब कोई दूसरा अमृताग्नि इसे खींचता है तब यह उसमें आहुत हो जाता है। पृथिवी निदर्शन मात्र है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में अन्न और अन्नाद दोनों भाव हैं। अन्न मर्त्य भाग है, अन्नाद अमृत भाग है। इस मर्त्याग्नि को ही वाक् कहते हैं। इसीलिए—

"तस्य वा एतस्याग्ने र्वागेवोपनिषद्" यह कहा जाता है। इस पृथिवी का जो अमृत भाग है वह पृथिवी के २१ तक जाता है। यही अमृत भाग सौर पदार्थों को,—पारमेष्ठच पदार्थों को हरवक्त खाया करता है परन्तु इसका जो मर्त्य भाग है वह सूर्य द्वारा खिंचता रहता है। जिस प्रकार पार्थिवामृताग्नि सौर वाक् भाग को खाता रहता है ठीक उसी प्रकार सूर्य पृथिवी के वाक् भाग को–पानी-मिट्टी-रस-उपरस-धातु-उपधातु-विष-उपविष इत्यादि यच्चयावत् पदार्थों को खाता रहता है। यच्चयावत् पदार्थ अमृतभागेन अन्नाद हैं अर्थात् अन्न खाने वाला है एवं मर्त्यभागेन अन्न भी है। पृथिवी–सूर्य निदर्शन मात्र हैं। यच्चयावत् पदार्थ अन्न खाने वाले हैं एवं सभी स्वयं अन्न भी हैं इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य। यो मा ददाति स इदेव यावत्। अहमन्न–मन्नमदन्तमद्भि"

कहना हमें यही है कि जैसे पृथिवी का अमृताग्नि सौर पदार्थों को खाया करता है ठीक उसी प्रकार सौर अमृताग्नि पार्थिव वाक् भाग को–मर्त्य भाग को खाया करता है। वाक् स्वयं अगतिशील है परन्तु सूर्यामृत द्वारा खिंचकर उसे बाध्य होकर सूर्य के साथ रहना पड़ता है। सूर्य की सारी शक्तिएं पार्थिव वाग् भाग से व्याप्त हो रही हैं। जब ऐसी परिस्थिति है तो फिर सूर्य की लाइनें, जिस पर कि सूर्य चलता है कैसे इस वाक् से शून्य रह सकती है। सारी रेखाएं–सारी मार्गीया स्थिति, मार्गाधिष्ठाता सूर्य द्वारा खींची गई वाक् से ओत प्रोत रहती हैं। दोनों अविनाभूत हैं। अतएव इस वाक् को भी **"पथ्यास्वस्ति"** कह दिया जाता है। वास्तव में वाक् पथ्यास्वस्ति ही है। बस इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं–

"वाग्वै पथ्यास्वस्तिः"

अदितिवार कल्पित रेखा को ही कोई पथ्यास्वस्ति न समझ ले, इसीलिए **"वाग्वै पथ्यास्वस्तिः"** यह कहा है। यह पथ्यास्वस्ति ही अर्थात् वाग् ही तो यज्ञ का स्वरूप है। बिना वाक् के यज्ञ हो ही नहीं

सकता। पार्थिव मर्त्याग्नि को हमने वाक् कहा है। यही पार्थिव मर्त्याग्नि क-च-ट-त-प इन वर्णों में परिणत होता है। इसी वाक् को अनुष्टुप् वाक् भी कहते हैं।

शरीर में से धक्का खाकर निकलने वाली यह मर्त्या वाक् अर्थात् मर्त्याग्नि ही क-च-ट-त-प स्वरूप में परिणत होती है। यह क-च-ट-त-पात्मिका जो वाक् है वही तो यज्ञ है। बिना वर्णात्मिका वाक् के अर्थात् मन्त्र के यज्ञ हरगिज नहीं हो सकता। मन्त्र द्वारा अग्नि में डाली हुई आहुति को ही देवता ग्रहण करते हैं अतएव यज्ञ साधनत्वात् अवश्य ही हम इस मन्त्र वाक् को यज्ञ कह सकते हैं। इस क-च-ट-त-पात्मिका वाक् का मूल वही मर्त्या वाक् है जो कि पथ्यास्वस्ति कहलाती है। उसी से यही मन्त्र बनते हैं अतएव हम उस पथ्यास्वस्ति वाक् को ही यज्ञ कहेंगे। देवताओं ने पथ्यास्वस्ति को क्या देखा, साक्षात् यज्ञ को देखा। बस इसे देखकर इसे भी यज्ञ में शामिल कर लिया। जिस प्रकार बिना अदिति के यज्ञ नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना वाक् के भी यज्ञ स्वरूप नहीं बन सकता—यही तात्पर्य है।

"वाग्यज्ञः। तद्यज्ञमपश्यन् तमतन्वत" ॥८॥

एवं अदिति के साथ ही देवताओं के लिए अग्नि भी झलक गया अर्थात् जैसे अदिति के ज्ञान होते ही पार्थिव मर्त्याग्नि का—वाक् का—पथ्यास्वस्ति का ज्ञान हो गया, तथैव उसी अदिति पृथिवी के आधार पर रहने वाले अमृताग्नि का भी पता लग गया। यह अमृताग्नि ही तो प्रधान वस्तु है। आहुति तो इसी में लगती है—

"अथैभ्योग्निः प्रारोचत"

पथ्यास्वस्ति की तरह अग्नि का भी यजन किया। हमारे यज्ञ में यह अग्नि शामिल है। इस बात को हम कैसे जानें। यज्ञ में ही क्यों संसार में अग्नि के स्वरूप को कहां ढूंढे, इसका उत्तर देने के अभिप्राय से कहते हैं कि देवताओं ने अदिति के सहारे अग्नि को क्या देखा, इस सोमयाग का जो आग्नेय भाग था, उसे देखा। अर्थात् उस अग्नि को पहचान कर, समिधादि में प्रविष्ट जो वही अग्नि था उसे अपने यज्ञ में शामिल किया। यज्ञ का जो सूखा हिस्सा है—समिध वगैरह, जितने भी शुष्क हैं वही आग्नेय है।

"तमयजन्। स यदाग्नेयं यज्ञस्यासीत् तदपश्यन्। यद्वै शुष्कं यज्ञस्य तदाग्नेयम्।

यज्ञ में जितनी सूखी चीजें हैं सबको आग्नेय समझो। यज्ञ में ही नही अपितु संसार में जो सूखी वस्तु हैं उन सब को अग्नि समझो। बस इसी अग्नितत्त्व को देवताओं ने पहचाना। यदि इसे नहीं पहचानते तब भी यज्ञ नहीं होता, अतः पहचान कर इसे अपने यज्ञ में शामिल किया।

"तदपश्यन्। तदतवन्त" ॥९॥

इसके अनन्तर अदिति के साथ ही देवताओं के लिए सोम भी झलक पड़ा। इस अमृताग्नि में सोम की आहुति होती रहती है। अमृताग्नि को पहचानते ही सोम का ज्ञान अपने आप हो जाता है। अमृता-

ग्नि २१ तक रहता है। इसके ऊपर ही सोम है। वही सोम इस अमृताग्नि में आहुत होता रहता है। जब २१ तक व्याप्त रहने वाले अमृताग्नि को पहचान लिया जाता है तो २१ के पास ही रात दिन इसमें आहुत होने वाला सोम क्यों कर छुपा रह सकता है। सोम को पहचानते ही देवताओं ने सोम को क्या पहचाना–यज्ञ का जो सौम्य भाग था उसे पहचाना। यज्ञ जितनी भी गीली वस्तुएं हैं, सब सौम्य ही हैं। इसी को देवताओं ने देखा और देखकर अपने यज्ञ में शामिल किया। जिस प्रकार बिना अग्नि के यज्ञ नहीं हो सकता वैसे ही बिना सोम के भी यज्ञ नहीं हो सकता। नहीं क्या हो सकता–अग्नि और सोम ही यज्ञ की प्रधान वस्तु है।

"अथैभ्यः सोमः प्रारोचत। तमयजन्। स यत् सौम्यं यज्ञस्यासीत् तदपश्यन्। यद्वा आर्द्रं यज्ञस्य तत् सौम्यम्। तदपश्यन्। तदतन्वत" ॥१०॥

इसके अनन्तर देवताओं के लिए सविता देवता झलक गया। अर्थात् सविता देवता का ज्ञान हो गया। अग्नि और सोम को परस्पर मिलाने का काम इसी सविता का है। बिना सविता की प्रेरणा के संसार का कोई भी काम नहीं हो सकता है। इसीलिए—

"सविता वै देवानां प्रसविता" यह कहा जाता है। प्रवर्ग्य भाग को पशु कहा करते हैं। एक ढेले में अभी जाने की शक्ति नहीं थी, परन्तु हमारे हाथ के बल से वह बड़ी दूर तक चला जाता है। इसमें हमारा हाथ सविता है, एवं जो प्रेरणा, जो बल उस ढेले में जाकर उस ढेले की वस्तु बन गया-वह बल प्रवर्ग्य कहलाता है। अब हाथ का उसमें उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। प्रवर्ग्य भाग को ही पशु कहते हैं। अग्नि और सोम में मिलने का जो प्रेरणा बल घुस गया है जिससे कि दोनों परस्पर मिल जाते हैं वह सविता ही का बल है। इस प्रवर्ग्य बल को ही हम "पशु" कहते हैं।

जिस प्रकार अग्नि सोम के बिना यज्ञ नहीं हो सकता अतएव पशु भी यज्ञ स्वरूप ही है। बस अग्नि सोमानन्तर देवताओं ने इसी पशु को–सविता प्राण को पहचाना एवं उसे भी औरों की तरह आज्याहुति दे अपने यज्ञ में शामिल किया

"अथैभ्यः सविता प्रारोचत। तमयजन्। पशवो वै सविता। पशवो यज्ञः तद्यज्ञमपश्यन्। तमतन्वत।"

हमने बतलाया था कि अदिति के लिए जो चरु दी गई थी वह अकृतभागा ही रहा। अदिति ने उसे ग्रहण नहीं किया। करे कैसे जब कि अदिति कोई देवता ही नहीं है। परन्तु इन चारों देवताओं के लिए जो हवि दी जाती है वह चारों में मिल जाती है। यह हवि कृतयाग हो जाती है। हो क्यों नहीं जब कि चारों वास्तव में देवता हैं। देवताओं ने–इन चारों देवताओं के लिए जो हवि नियत था उससे यजन कर दिया अर्थात् यह उत्तर की चारों आहुति उन देवताओं में जा मिली।

"अथ यस्यै दैवतायै हविर्निरुप्तमासीत तामयजन् (देवतासमष्टिमयजन्)" ॥११॥

इस प्रकार देवताओं ने यज्ञ के प्रारम्भ में–यज्ञ के मूलभूत पांच देवताओं का यजन किया था, तथैव आज यह यजमान पहले इन पांचों देवताओं का यजन करता है।

"ता वा एताः पञ्चदेवता यजति"

जो यज्ञ मुग्ध था–अर्थात् छुपा हुआ था–वह पाङ्क्त था, अर्थात् पञ्चावयव था। यह यज्ञ १ अदिति २ पथ्यास्वस्ति ३ अग्नि ४ सोम ५ सविता–इन पांचों अवयवों में बँटा हुआ था। इन्हीं पांचों देवताओं की कृपा से पहचाना। यदि इन पांचों का ज्ञान न होता तो यज्ञ रहस्य का पता कथमपि नहीं लग सकता था।

"यो वै स यज्ञो मुग्ध आसीत् पाङ्क्तो वै स आसीत् तमेताभिः पञ्चभि र्देवताभिः प्राजानन्" ॥१२॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं यज्ञ ही मुग्ध था, सो बात नहीं। यज्ञ की तरह वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओं का भी ज्ञान न था। देवताओं ने–विद्वानों ने, इन्हीं पांचों देवताओं की कृपा से इन ऋतुओं को भी पहचाना। अग्नि सोम के सम्बन्ध से ही ऋतुएं बनती हैं। जिनका कि विस्तृत विवेचन द्वितीय काण्ड के ऋतु ब्राह्मण में कर दिया गया है। जब अग्नि सोम ही का पता न था तो तन्मूलभूता ऋतुओं का ज्ञान क्यों कर हो सकता था।

ऋतवो मुग्धाः आसन् पञ्च। तानेताभिरेव पञ्चदेवताभिः प्राजानन् ॥१३॥

इसी प्रकार से पांचों दिशाओं का भी पता न था। पता हो कैसे ? कोई स्थिर स्थान पहले मालूम हो तब न। इधर–उधर–स्वरूप दिशा का ज्ञान हो। इधर–उधर किससे इधर–उधर, बस जिससे इधर–उधर है वह यही अदिति है। इसी के ज्ञान से ही दिशा ज्ञान होता है।

दिशो मुग्धा आसन् पञ्च। ता एताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१४॥

संसार में पदार्थ कुल दो प्रकार के हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी वायु, जल, आकाश इत्यादि इत्यादि पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष है। इनका ज्ञान, इनका स्वरूप परिचय इन्हीं पर अवलम्बित है। सूर्य के पहचानने के लिए किसी लालटेन की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य अपने आप ही अपना प्रत्यक्ष करवा देता है। चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी आदि भी ऐसे ही पदार्थ है। जिनके ज्ञान के लिए किसी अन्य की अपेक्षा हो वे पदार्थ सापेक्ष कहलाते हैं। पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता, दिशा, ऋतुएं इत्यादि पदार्थ सर्वथा सापेक्ष हैं। मार्गीया स्थिति का नाम पथ्यास्वस्ति है। परन्तु मार्गीया स्थिति का ज्ञान तब हो सकता है जबकि मार्ग का पता हो, एवं मार्ग का ज्ञान तब हो सकता है जब कि जहां

से मार्ग व्यवस्था कायम हुइ है उस स्थिर पदार्थ का ज्ञान हो। इसी प्रकार अग्नि सोम की परिस्थिति है। अग्नि से मतलब प्राणाग्नि का है, जो नीरुप है। जिसके लिए कि **"अग्निमीळे पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्"** इत्यादि कहा जाता है। यह प्राणाग्नि आंख से नहीं पहचाना जाता। इसके लिए पहले उस वस्तु को समझ लेना आवश्यक है जिसमें से कि प्राणाग्नि निकलता है। यही दशा सोम की है। अग्नि के ऊपर सोम है। वह सोम हरवक्त इस २१ तक वितत रहने वाले प्राणाग्नि में बहुत आहुत होता रहता है। परन्तु इसका ज्ञान–अग्नि के ऊपर अवलम्बित है। अग्नि को पहले पहचान लिया जाता है। तदनन्तर अग्नि में आहुत होने वाले सोम का ज्ञान होता है। इसी प्रकार सविता का ज्ञान भी किसी वस्तु पर अवलम्बित है। सविता प्राण प्रेरणा करता है। नोदना का नाम ही–धक्के का नाम ही प्रेरणा है। इस प्रेरणा का स्वरूप तब समझ में आ सकता है जब कि किसी वस्तु में प्रेरणा को होते देखे। प्रेरणा स्वयं अदृश्य है। इसका प्रत्यक्ष स्थिर वस्तु में, जब यह घुस जाती है तभी होता है। और भी कई ऐसे सापेक्ष पदार्थ हैं जिनको अप्राकृतिक समझ कर हम छोड़ते हैं। यज्ञ में इन्हीं का सम्बन्ध है अतएव इन्हीं का स्वरूप बतलाया गया है। पथ्यास्वस्ति के बिना–अर्थात् वाक् के बिना, मन्त्र के बिना भी यज्ञ नहीं हो सकता एवं अग्नि और सोम तो प्रधान ही हैं एवं सविता की प्रेरणा बिना भी यज्ञ अछूता ही है। यज्ञ स्वरूप इन्हीं चारों में बंटा हुआ है। जब तक इनके स्वरूप को पहचान कर इनके प्राणों को आहुति द्वारा आत्मसात् न कर लिया जाय तब तक यज्ञ करना सर्वथा निरर्थक है। यह यज्ञ चतुष्टयी अदिति पृथिवी में छुपी हुई है। इस यज्ञ को अदिति ने छुपा रक्खा है जो कि अदिति पुनर्वसु के तृतीय चरण में है, एवं जिससे कि पूर्वक्षितिज पर स्वाति नक्षत्र है एवं पश्चिम क्षितिज पर पूषा अर्थात् रेवती है। इसलिए **"देवस्त्वा सवितुः प्रसवेश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्याम् आददे नार्य्यसि"** यह कहा गया है। पथ्यास्वस्ति अर्थात् सूर्य जिस लाइन पर घूमता है–उन लाइनों का जो कि रेखाएं वाङ्मयी है ज्ञान इस अदिति पर ही अवलम्बित है, एवमेव अग्नि सोम के स्वरूप का पता भी इसी अदिति पृथिवी से लगता है एवमेव प्रेरयिता सविता प्राण का ज्ञान भी इसी स्थिर अदिति बिन्दु पर अवलम्बित है। पहले अदिति का ज्ञान हो तब आगे की यज्ञ–चतुष्टयी का ज्ञान हो। यज्ञ स्वरूप को–इसी अदिति पृथिवी ने छुपा रखा है दिति ने नहीं छुपा रखा है, अदिति ने छुपा रखा है जिसके कि सात पुत्र हैं। अतः यज्ञ के लिए पहले उस अदिति बिन्दु को पहचानना आवश्यक हैं। जहाँ अदिति को पहचानना कि अदिति ने आपको यज्ञ स्वरूप दिखलाया। देवता लोग अदिति को न जानने से यज्ञ भूल गए थे अर्थात् उन्हें प्राकृतिक यज्ञ रहस्य का–यज्ञ स्वरूप का ज्ञानन था अतएव उनका यज्ञ (अग्नि में आहुति डालना) व्यर्थ गया तब देवताओं ने खोज करनी शुरू की। अन्त में उन्हें पता लग गया कि इस पृथिवी को यज्ञ मूला अदिति बिन्दु को हमने नहीं पहचाना था। इसलिए इस पृथिवी ने अपने से यज्ञ को छुपा लिया था। अन्त में देवताओं ने अदिति के द्वारा सारा यज्ञ स्वरूप समझ लिया। चूंकि इन्हीं पांचों देवताओं ने (प्राण–देवताओं ने) देवताओं को, भुवस्वर्गीय, यज्ञ का ज्ञान करवाया था अतएव इन्होंने अपने सोम यज्ञ के प्रारम्भ में ही इन पाँचों का यजनकर पांचों को आत्मसात् किया। चूंकि पाँचों का यजन यज्ञ प्रारम्भ में ही किया था अतएव इस इष्टि का नाम प्रायणीय इष्टि पड़ गया। प्रारम्भणीय ही को प्रायणीय कहते हैं। बस प्रायणीय इष्टि का यही रहस्य है जिसका कि विवेचन पूर्व में कर दिया गया है। इस यज्ञ स्वरूप ज्ञान के

पहले देवताओं को ऋतु और दिशाओं का भी ज्ञान न था। यज्ञ ही से देवताओं ने सब कुछ जाना। यज्ञ, अदिति, पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता इनके कारण पाङ्क्त्य हैं। इन से अर्थात् पांचों देवताओं से ही देवताओं को ऋतुज्ञान हुआ एवं इन्हीं पांचों से दिशा ज्ञान हुआ। अग्नि सोम के संमिश्रण का नाम ही ऋतु है ऋत–सत्यभेदेन अग्नि दो प्रकार का है। इस ऋताग्नि में जब सोम का सम्बन्ध होता है तो इसका नाम ऋतु पड़ जाता है। इसी अग्नि सोम के तारतम्य से एक ही ऋतु के वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त यह पांच भेद हो जाते हैं, जिनका कि विस्तृत विवेचन ऋतु ब्राह्मण में कर दिया गया है। शिशिर का हेमन्त में समास कर लिया जाता है इसीलिए पांच ही ऋतुएं हो जाती है। पाङ्क्त यज्ञ से पांच ही ऋतुओं का सम्बन्ध है। इसीलिए कहा जाता है—

"सप्तदशो वै प्रजापतिः, द्वादश मासाः, पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन। तावान् संवत्सरः। संवत्सरः प्रजापतिः (ऐ. ब्रा. १)

कहना यही है कि इन ऋतुओं का ज्ञान भी इन्हीं अदिति अग्नि सोमादि देवताओं से ही हुआ था इसीलिए—**"ऋतवो मुग्धा आसन् पञ्च। तामेताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्रजानन्"**—यह कहा गया है। जिस प्रकार ऋतुज्ञान सापेक्ष है उसी प्रकार दिशाज्ञान भी सर्वथा सापेक्ष ही है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधर् इत्यादि १० दसों दिशाओं का ज्ञान किसी आलम्बन की अपेक्षा रखता है। स्थिर वस्तु से पूर्व पश्चिम की व्यवस्था हुआ करती है। वास्तव में पूर्व पश्चिम अपना कोई स्वरूप नहीं रखते। १०-१० गज के फासले पर १० मनुष्य बैठे हुए हैं। जो सबसे अन्त का मनुष्य है उसकी अपेक्षा से उसके आगे का स्थान पूर्व कहलाता है एवं पीछे का स्थान पश्चिम कहलाता है, परन्तु इस अन्त वाले मनुष्य के १० गज पश्चिम भाग की ओर बैठा हुआ जो दूसरा मनुष्य है उसकी अपेक्षा से वही भाग पूर्व हो जाता है जो कि अन्तिम मनुष्य का था। इससे इधर पश्चिम, इससे उधर पूर्व—इस प्रकार दिशाएं इससे-उससे की अपेक्षा रखती हैं। किससे पूर्व, किससे पश्चिम, इस पर्वत से पूर्व, उसपर्वत से पश्चिम। सबसे पहले देवताओं को दिशाज्ञान भी इन्हीं पांचों देवताओं से हुआ था। यद्यपि दिशा कुल १० हैं परन्तु यज्ञ में सम्बन्ध कुल पांच ही दिशाओं का है। अतएव प्रकृत में पांच ही का विवेचन किया जायगा। ऋतुओं को धर्मवत् समझना चाहिए। जैसे पूर्व–पश्चिम कोई चीज नहीं है ठीक उसी प्रकार धर्म भी कोई नियत वस्तु नहीं है। धर्म सापेक्ष पदार्थ हैं। देशकालपात्रानुसार धर्म की व्यवस्था होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेयादि को नित्यधर्म समझना भूल है। देशकाल के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अधर्म हो जाते हैं एवं हिंसा-मिथ्या-स्तेय धर्म बन जाते हैं। एक निरपराधी को मारना –उसकी हिंसा करना पाप है, यहां अहिंसा ही पुण्य है, अहिंसा ही धर्म है। परन्तु जिसने रुपये के लोभ में हजारों मनुष्यों के गले काट डाले हैं,उसे मारना, उसकी हिंसा करना, पाप नहीं पुण्य ही है। पुण्य ही नहीं महापुण्य है। इसीलिए धर्मशास्त्र स्पष्ट शब्दों में आज्ञा देता है।

"एकस्मिन् निधनं यत्र बहूनां क्षेमकारणम्। तस्य पुण्यप्रदो वधः"।

शास्त्र कहता है कि उस अपराधी को हम नहीं मारते–अपितु उसका पाप ही उसके विनाश का कारण बनता है। इसीलिए भगवान् मनु स्पष्ट शब्दों में आज्ञा देते है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।

इसी प्रकार सत्य के विषय में लीजिए । जिससे सारे भूतों का हित हो, सबका उपकार हो-वही बोलना चाहिए । उसी का नाम सत्य है—

"सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यमतं मम" ।।

कहना इस प्रपंच से हमें यही है कि धर्म कोई नित्य वस्तु नहीं है । देश काल पात्र की अपेक्षा पर-धर्म की स्थिति-धर्म का स्वरूप निर्भर है । बस ठीक इसी प्रकार दिग् व्यवस्था किसी नियत वस्तु पर है । जब देवताओं ने-पांचों नियत देवताओं को जान लिया तो उनको पांचों दिशाओं का भी ज्ञान हो गया । जब तक देवताओं ने पाङ्क्त यज्ञाधिष्ठाता आदित्यादि पांचों देवताओं को न पहचाना था तब तक उन्हें ऋतु की तरह दिशा का भी ज्ञान न था । बस इसी अभिप्राय से—

"दिशो मुग्धा आसन् पंच । ता एताभिरेव पंचभिर्देवताभिः प्राजानन्"

यह कहा गया है किस देवता से किस ऋतु का ज्ञान हुआ—एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है । इसका उत्तर देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे ।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं में पथ्यास्वास्ति में मार्गीया स्थिति से उत्तर दिशा को पहचाना । पृथिवी का दक्षिण भाग की ओर झुकना सूर्य का उत्तर की ओर चढ़ना है, जैसा कि पूर्व में बतला आये हैं । सूर्य से ही यज्ञ का सम्बन्ध है । इसी में अग्नि सोमात्मक यज्ञ होता है । अतएव इस उत्तरायण काल को ही यज्ञ के लिए उपयुक्त माना जाता है । यज्ञ ही नहीं सारे धार्मिक कार्य उत्तरायण में ही किये जाते हैं । दक्षिणायन में कोई भी देवकार्य नहीं होता । इसीलिए हम दक्षिण भाग को आसुर-मण्डल कहते हैं । उस पर भी सूर्य चलता है एवं सूर्य के परिभ्रमण लाइन का मार्गीया स्थिति का नाम ही पथ्यास्वस्ति है । इस प्रकार दक्षिणभाग में भी पथ्यास्वस्ति है, परन्तु उसका चूंकि यज्ञ से सम्बन्ध नहीं है अतएव विष्वत् से उत्तरभाग की जो पथ्यास्वस्ति है उसी का ग्रहण किया गया है । यह पथ्या-स्वस्ति अर्थात् मार्गीया स्थिति विष्वत् से उत्तरोत्तर आगे बढ़ती जा रही है । एक लाइन के बाद दूसरी, दूसरी लाइन के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी इस प्रकार से ६० लाइनें उत्तरोत्तर चली गई हैं । बस विष्वत् से उत्तरोत्तर जाने वाली इस पथ्यास्वस्ति से ही देवताओं ने उत्तर दिशा को पहचाना-यह आगे-आगे जाती है । आगे का नाम ही उत्तर है । अतएव उस आगे वाले हिस्से को देवता लोग उत्तर नाम से कहने लग गये । इस प्रकार से उत्तर जाने वाली पथ्यास्वस्ति से देवताओं को,-उत्तर दिशा का ज्ञान हो गया ।

"उदीचिमेव दिशं । पथ्यया स्वस्त्या प्राजानन्"

पथ्यास्वस्ति को वाक् कहते हैं । अदिति जैसे खाली कल्पित बिन्दु है वैसे पथ्यास्वस्ति मार्गीया स्थिति कल्पित नहीं है । इसमें पृथिवी का मर्त्याग्नि-सूर्य द्वारा आकृष्ट होकर आसमान्त सारी मार्गीया स्थिति पर भरा हुआ है । अग्नि का नाम ही वाक् है । इस वाक् की प्रधानता उत्तर भाग में ही है । पथ्यास्वस्ति वाक् के बिना नहीं रह सकती । दोनों परस्पराविनाभूत हैं । अतएव पथ्यास्वस्ति को वाक् ही कहा जाता है । इस वाक् से ही क-च-ट-त पात्मिका वाक् बनती है । शरीरस्थ अध्यात्मअग्नि मुख के बाहर निकल-कर धक्के खाने से कण्ठताल्वाद्यभिघात से क-च-ट-त-प स्वरूप में परिणत हो जाती है इसीलिए **"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्"** यह कहा जाता है । इसी अभिप्राय से भगवान् पाणिनि कहते हैं ।

आत्माबुध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसिचरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।। इति

वाक् वास्तव में अग्नि ही है । क-च-ट-त-प शब्द हैं वाक् नहीं । इस वाक् से चूंकि शब्द उत्पन्न होते हैं अतएव घटमृत्तिकावत् शब्द को भी वाक् कह दिया जाता है । वाक् अग्नि है, अतएव यदि अधिक बोला जाता है अथवा अधिक परिश्रम किया जाता है तो शरीर शिथिल हो जाता है । इसका एकमात्र कारण अग्नि का अधिक मात्रा से निकल जाना ही है । वाक् अग्नि है अग्नि में सोमाहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है, अतएव "**वाग्वै यज्ञः**" यह कहा जाता है । भाष्यकार लोग वाग् का मन्त्रपरक अर्थ लगाते हैं । इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये । क्योंकि वह वागाग्नि ही—पथ्यास्वस्ति ही तो शब्द बनकर बाहर निकलती है । यह वाक् पथ्यास्वस्ति है एवं यह विष्वत् से उत्तर में रहती है । इसमें सबसे बड़ा भारी प्रमाण यही है कि दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में बहुत ही स्फीत और मधुर बोला जाता है । उस वाक् से ही तो क-च-ट-त-पात्मिका वाक् उत्पन्न होती है । चूंकि दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में स्फीत और शुद्ध बोली जाती है, अतएव मानना पड़ता है कि प्राकृतिक पथ्यास्वस्तिप्राण वर्णात्मिका शब्द वाक् वाली मूलभूतावाक् उत्तर में ही अधिक भाग में रहती है । सारे पदार्थों का निर्माण सूर्य से होता है । सूर्य प्राणघन है । इसलिए "**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**"-"**नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः**" यह कहा जाता है । सूर्य में अनन्त प्रकार के प्राण हैं। अतएव पदार्थ भी अनन्त प्रकार के ही उत्पन्न होते हैं परन्तु इससे विशेष और समझ लेना चाहिए कि सारे प्राण सर्वत्र समान रूप से नहीं गिरते । सब जगह सब वस्तुएं ऊपलब्ध नहीं होने का यही कारण है । जहां जो प्राण अधिक मात्रा से गिरता है वहीं वह वस्तु अधिक मात्रा में पैदा होती है । कई पदार्थ हमारे देश में मिलते ही नहीं परन्तु वही पदार्थ अन्य देश में इतने उपलब्ध होते हैं उन्हें वहां कोई मुफ्त में भी लेना पसन्द नहीं करता । कहने का तात्पर्य यही है कि सब प्राण सर्वत्र समान रूप से नहीं गिरते । बस यही हालत इस पथ्यास्वस्ति प्राण-की भी समझनी चाहिए । पथ्यास्वस्ति प्राण जिसे कि वाक् कहेंगे, विष्वत् से उत्तर भाग में अधिक मात्रा से गिरता है, गिरता है दक्षिण भाग में भी परन्तु दक्षिण अयज्ञिय मण्डल है । आसुर भाव युक्त है अतएव वहां की वाक् बड़ी ही कर्कश और माधुर्यरहित होती है ।

देवता प्राण का सम्बन्ध उत्तरभाग से है अतएव वहां की वाक् ओजस्विनी होती है। देवता आग्नेय हैं। अग्नि में ही बल है। अतएव उत्तरभाग की वाक् में बल है। वहां ही देवभाषा का–देववाणी का वेद भाषा का जन्म हुआ है। वेद के सारे ग्रन्थों का निर्माण उत्तर भारत में ही हुआ है। दक्षिण प्रदेश, दक्षिण भारत तो अनार्य देश है। भगवान् मनु ने आन्ध्र, कर्नाटक इत्यादि दक्षिण देशों को अनार्य देश बतलाया है। अतएव वहां के मनुष्य के मलिन और ढोंग के आचार्य होते हैं। ठीक इसके विरुद्ध उत्तर-भारत के मनुष्य दिखावे में–ढोंग में शून्य और आडम्बर से शून्य एवं हृदय से शुद्ध और भोले होते हैं। इसका एकमात्र कारण प्रकृतिमण्डल ही है। उत्तर में बड़ी मधुर और देवीवाणी बोली जाती है। यही पथ्यास्वस्ति से उत्तर को पहचानना—इसमें बड़ा भारी प्रमाण है। वास्तव में उत्तर में पथ्यास्वस्ति का राज्य है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं इसीलिए इस पृथिवीलोक में कुरुपञ्चालाख्य जनपदों में अर्थात् देशों में उच्चतरा और मधुर वाक् बोली जाती है।

गंगा यमुना कालिंदी जहां तीनों का संगम हुआ है उसे प्रयागराज कहते हैं। इसी का नाम त्रिवेणी है। इस त्रिवेणी से पश्चिम कम्पिला नगरी है। इसी स्थान का नाम कम्पिल्य था। पाण्डवों के श्वसुर महाराजा द्रुपद की राजधानी यही काम्पिल्य नगरी थी। इस काम्पिल्य से सीधे उत्तर करीब ५० कोस के फासले पर अहिच्छत्रा नगरी थी। इसी अहिच्छत्रा को विश्वामित्र ने अपनी राजधानी कायम की थी। बस इसी का नाम कुरु-पञ्चाल देश था। यहाँ से उत्तर भाग में बड़ी ही मधुर और स्फीत देववाणी बोली जाती थी। वेदविद्या का यहाँ प्रचार था। अतएव काम्पिल्य से इस ओर रहने वाले मनुष्य इसी उत्तरभाग में इस पथ्यास्वस्ति की शिक्षा लेने के लिए, वेद विद्या पढ़ने के लिए आया करते थे जैसा कि अन्य ब्राह्मण में लिखा है।

"अथाब्रबीत् पथ्यास्वस्तिः। मह्यं कामाज्याहुतिं जुहुत। अहमेकां दिशं प्रज्ञास्यामि–इति। तस्या अजुहवुः। सोदीचीं दिशं प्राजानात्। वाग्वै पथ्यास्वस्तिः। तस्मादुदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यत। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुं यो वा तत् आगच्छति तस्य वा शुश्रूयत्ते इति ह स्माह। एषा हि वाचो दिग् प्रज्ञाता इति॥" (कौ. ब्रा.)

विष्वत् से उत्तर वास्तव में पथ्यास्वस्ति है। इसीलिए तो उत्तर में वाक् प्रज्ञाततरा उत्पन्न होती है। इधर के मनुष्य वाक् रहस्य में बड़े ही निपुण होते हैं। बस इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं।

"तस्मादत्रोत्तरा हि वाग् वदति कुरुपञ्चालत्राः"

उस पथ्यास्वस्ति वाक् का जो शब्दमूला है–प्रत्यक्ष नहींकि या जा सकता। क्योंकि वह प्राणस्वरूप है। प्रत्यक्ष हम क–च–ट–त–प का ही करते हैं। शब्द वाक् का ही अनुभव होता है। यह जो शब्द-समष्टि है वही निदानेन वाक् है। अर्थात् उत्तर में बोली जाने वाली इस प्रज्ञाततरा वाक् से ही मानना पड़ता है कि यही पथ्यास्वस्ति वाक् उत्तर में है। **"वाग्घ्येषा निदानेन"**

इसी वाक् से देवताओं ने उत्तर दिशा को पहचाना। इस पथ्यास्वस्ति की वाक् उत्तर दिशा ही तो है **"उदीचीं ह्येतया दिशं प्राजानन्-ऊदीच ह्येतस्यै दिक्"** देवताओं को उत्तर दिशा का ज्ञान विष्वत्-वृत्त से उत्तर में रहने वाली इस पथ्यास्वस्ति से ही हुआ था—यही तात्पर्य है ॥१५॥

एवं अग्नि से पूर्व दिशा को पहचाना। पृथिवी अग्निस्वरूप है। पृथिवी में से हरवक्त अग्नि निकला करता है जो कि २१ वें अहर्गण तक वितत रहता है। यह पृथिवी पूर्व की ओर चलती रहती है। सूर्य वास्तव में स्थिर है। परन्तु पृथिवी पूर्व की ओर चलती रहती है अतएव सूर्य प्रतिदिन पश्चिम जाता हुआ दिखलाई पड़ता है। जैसे केरल में बैठकर पूर्व की ओर जाते समय स्थिरवृक्ष भी पश्चिम की ओर जाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। पृथिवी आगे-आगे चलती है। पृथिवी क्या चलती है अग्नि चलती है। आगे का नाम ही पूर्व है। बस इसी आगे जाने वाली अग्नि से देवताओं को पूर्व दिशा का ज्ञान हुआ। पृथिवी अर्थात् अग्नि प्रतिदिन पूर्व की ओर जा रही है। इसी अग्नि से देवताओं को पूर्व दिशा का ज्ञान हुआ।

"प्राचीमेव दिशामग्निना प्राजानन्"

अग्नि पूर्व की ओर जाता है इसीलिए पश्चिमस्थ गार्हपत्य में से अग्नि को लेकर उसे पूर्व के भाग में आहवनीय कुण्ड में रखकर उस अग्नि की उपासना करते हैं। अर्थात् पश्चिम से पूर्व में अग्नि को लाकर वहाँ (आहवनीय में) आहुति डालना, प्रकृति में अग्नि पश्चिम से पूर्व को जा रहा है। अतएव इस यज्ञ में भी निदानेन उसी की नकल करने के लिए पहले गार्हपत्य में अग्नि रखते हैं। गार्हपत्य पृथिवी है। पूर्वस्थिति आहवनीय में इस गार्हपत्याग्नि को ले जाते हैं। गार्हपात्याग्नि को आहवनीय में लगाना पृथिवी को अग्नि को पश्चिम से पूर्व की ओर ले जाना है। देवता आग्नेय हैं। अग्नि पूर्व की ओर जाता है। पूर्वा दिक् अग्नि की अपनी दिक् है। इसीलिए **"प्राची वै देवानां दिक्"** यह कहा जाता है इसी अभिप्राय से कौषीतकी श्रुति कहती है—

"तस्मात् प्राञ्चमग्निं प्रणयन्ति। प्राग् यज्ञस्तायते। प्राञ्च उ एवास्मिन् आसीना जुहोति। एषा हि तस्य दिक् प्रज्ञाता"

कहने का तात्पर्य यही है कि देवताओं ने पृथिवीस्वरूप अग्नि से जो कि कर्म की ओर जाता रहता है—पूर्व दिशा को पहचाना। प्राची दिक् ही तो अग्नि की दिशा है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तस्मादग्निं पश्चात् प्राञ्चमुद्धृत्योपासते। प्राचीं ह्येतेन दिशं प्राजानन् प्राचीह्येतस्यै दिक्" ॥१६॥

अग्नि के बाद है सोम देवता। इस सोम से देवताओं ने दक्षिण दिशा को पहचाना। याम्य अग्नि जैसे दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करती है उसी प्रकार सोम सदा उत्तर से दक्षिण को जाया करता है। अग्नि पानी का शोषण कर लेता है अतएव दक्षिण के पर्वत प्रायः ठोस होते हैं। चूंकि उत्तर में सोम अधिक रहता है अतएव यहाँ के हिमालयादि पर्वत पोले होते हैं। हल्के होते हैं। अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर

जाता है। इसका प्रमाण यही है कि हमारे दाहिने भाग में अधिक बल होता है। वाम भाग में सोम रहता है। सोम में बल नहीं है। बल अग्नि में है। अग्नि दक्षिण भाग में से दक्षिण भाग में ही आता है। अतएव बाएं भाग की अपेक्षा हमारा दक्षिण भाग अधिक बलवान होता है है अतएव दक्षिण भाग की ओर से औषधियों का परिपाक पहले होता है। अग्नि के पूर्व भाग की ओर जाने से जैसे उससे पूर्व दिशा का ज्ञान हुआ था तथैव सोम के दक्षिण भाग में जाने से इससे देवताओं ने दक्षिण दिशा को पहचाना। सोम दक्षिण की ओर जाता है अतएव दक्षिण ही इसकी स्वदिक् है। अतएव खरीदे हुए सोम को दक्षिण दिशा की ओर ले जाते हैं। निदानेन जैसे अग्नि को पश्चिम से पूर्व को ले जाया जाता है तथैव सोम को उत्तर से दक्षिण ले जाना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं।

"दक्षिणामेव दिशं सोमेन प्राजानन्। तस्मात् सोमं क्रीतं दक्षिणा परिहरन्ति"

सोम ही पितरों का प्राण है। सोम प्राण का नाम ही पितर है। पितर ही इसका देवता है। अतएव सोम पितृदेवत्य है—यह कहा जाता है।

"तस्मादाहुः पितृदेवत्यः सोम इति"।

सोम को कूटकर- अभिषवकर इसका रस निकाला जाता है इसीलिए अभिषवादि सारे काम दक्षिणाभिमुख होकर ही किए जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है:—

"तस्मात् सोमं क्रीतं दक्षिणा परिवहन्ति। दक्षिणा तिष्ठन्नभिस्टौति। दक्षिणातिष्ठन् परिदधाति दक्षिणा एवैनमासीना अभिषुण्वन्ति। एषाहितस्य दिक् प्रज्ञाता"

इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं

"दक्षिणां ह्येतेन दिशं प्रजानान्। दक्षिणा ह्येतस्य दिक्" ॥१७॥

सोम के बाद था सविता देवता। सूर्य से ऊपर बृहस्पति है जैसा कि बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति "इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः" इस श्रुति से स्पष्ट है। इस बृहस्पति से ऊपर ब्रह्मणस्पति है। ब्रह्मणस्पति के भी ऊपर सविता है।

सविता प्रेरयिता प्राण है। सूर्य ही सविता नहीं है। सविता की प्रेरणा के प्रविष्ट हो जाने से सूर्य भी सविता हो जाता है। यह सूर्य जिसे कि सविता प्राण प्रवेशात् सूर्य कहेंगे। दृश्यमण्डल के हिसाब से पश्चिम से पूर्व की ओर जाता दिखलाई पड़ता है। पूर्व में उदय होता है। पश्चिम में अस्त होता है। बस इस सविता से देवताओं ने पश्चिम दिशा को पहचाना। अग्नि पूर्व जाता है अतएव उससे प्राची को को पहचाना था। सूर्य पश्चिम में जाता है अतएव इसकी दिशा में पश्चिम ही है। सूर्य की अपनी पश्चिम दिशा है अतएव इसे हम प्रतिदिन पश्चिम की ओर ही जाते देखते हैं। इसी अभिप्राय से कहा जाता है:—

"असौ वै सविता योऽसौ तपति, तस्मादेनं प्रत्यञ्च महरहर्यन्तं पश्यन्ति न प्राञ्चम् । एषा हि तस्य दिक् प्रज्ञाता ।। (को. ब्रा.)

इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं - देवताओं ने पश्चिम दिशा को सविता देवता से पहचाना । यही सविता है जो कि आकाश में तप रहा है । इसकी दिशा प्रतीची है । अतएव यह पश्चिम की ओर ही जाता है । इसी से प्रतीची दिशा को पहचाना । यही इस सविता की अपनी दिक् है—

"प्रतीचीमेव दिशं सवित्रा प्राजानन् । एष वै सविता य एष तपति तस्मादेष प्रत्यङ्ङेति । प्रतीचीं ह्येतेन दिशं प्राजानन् । प्रतीची ह्येतस्य दिक्" ।।१८।।

बाकी बची अदिति खस्वस्तिक बिन्दु का नाम ही अदिति है । जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया गया है । खस्वस्तिक मस्तक से बिलकुल ऊपर है । इसी अभिप्राय से कहते हैं । ऊर्ध्वा दिशा को अदिति से खस्वस्तिक बिन्दु से पहचाना । इस पृथिवी का नाम ही तो अदिति है । यही ऊर्ध्वा दिशा की अधिष्ठात् अतएव इसमें ऊपर की ओर ही औषधियाँ उत्पन्न होती हैं । एवं वनस्पतिएं भी ऊपर की ओर ही मुंह किये उत्पन्न होती हैं । इसी से उन्होंने ऊर्ध्वा दिशा को पहचाना । यही अदिति की अपनी दिक् है ।

जिस प्रकार औषधि वनस्पतिएं इसके ऊपर ही उठती हैं ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी ऊपर ही रहते हैं अग्नि भी ऊपर ही जाता है । ऊंचे सींग के मालीक यही अदिति है । इसीलिए कहा जाता है "इयं वाऽदितिः" तस्मादस्यामूर्ध्वा औषधम, ऊर्ध्वा वनस्पतय, ऊर्ध्वा मनुष्या उत्तिष्ठन्ति, ऊर्ध्वोऽग्नि र्दीप्यते, यदस्यां किं चोर्ध्वमेव तदायत्तम् । एषा हि तस्यै दिक् प्रज्ञाता"

इसी से देवताओं ने ऊर्ध्वा दिशा को पहचाना था-इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

ऊर्ध्वां एव दिशमदित्य प्रजानन् । इयं वाऽदिति तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्ते ऊर्ध्वा वनस्पतयः ऊर्ध्वांह्येतया दिशं प्रजानन् ऊर्ध्वा ह्येतस्यै दिक् ।।१९।।

तात्पर्य कहने का यही है कि देवताओं को—जिस प्रकार इन देवताओं से दिशा ज्ञान हुआ था वैसे ही इन्हीं देवताओं से आज भी तुम दिशाओं को पहचान सकते हो । जिस ओर सूर्य जाता है, समझ लो वह पश्चिम दिशा है जिस ओर अग्नि अर्थात् पृथिवी जाती है समझलो यही सूर्य दिशा है । जिस ओर सोम जाता है समझलो वह दक्षिण दिशा है । जिस ओर पथ्यास्वस्ति जाती है, समझलो वही उत्तर दिशा है, एवं पृथिवी की औषधियों पर-वनस्पतियों पर, मनुष्यों पर, अग्निज्वाला पर दृष्टि डालो इनका जो सीधा ऊपर का भाग है जिसे कि खस्वस्तिक कहा जाता है समझलो वही ऊर्ध्वा दिशा है—

इस प्रकार यह पूर्वोक्त विभाग भगवान् याज्ञवल्क्य के-महर्षि कौषितकी के अनुसार समझना चाहिए । ऐतरेय और तित्तिरि दिशा विभाग और तरह से करते हैं ।

तित्तिरि के मतानुसार पथ्यास्वस्ति से पूर्व दिशा का ज्ञान होता है। अग्नि से दक्षिण दिशा का ज्ञान होता है। सोम से पश्चिम दिशा का ज्ञान होता है। सविता से उत्तर दिशा का ज्ञान होता है एवं अदिति मे ऊर्ध्वा दिशा का ज्ञान होता है, एवं ऐतरेय के मतानुसार अदिति से पूर्व दिशा का ज्ञान होता है। अग्नि से दक्षिण दिशा का ज्ञान होता है। सोम से पश्चिम दिशा का ज्ञान होता है। सविता से उत्तर दिशा का ज्ञान होता है एवं पथ्यास्वस्ति से ऊर्ध्वा दिशा का ज्ञान होता है–तीनों मत बिल्कुल ठीक हैं। तीनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

जिस प्रकार से अग्नि घन, तरल, विरल भेद से तीन प्रकार का होता है तथैव सोम भी इन्हीं तीनों अवस्थाओं के कारण अप्, वायु, सोम तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। पानी भी सोम है। वायु भी सोम है। सोम सोम है ही।

इसी प्रकार अग्नि भी अग्नि है, वायु भी अग्नि है, अग्नि अग्नि है ही। ये दोनों ६ स्थानों में बंटे हुए हैं। अग्नि की जो विरलावस्था है उसे अग्नि न कहकर प्राण किंवा आदित्य कहा जाता है। इसी का नाम इन्द्राग्नि भी है। यह इन्द्राग्नि जो कि आदित्य नाम से व्यवहृत होती है, पूर्व दिशा में रहती है अतएव इन्द्र पूर्व दिशा के दिक्पाल कहलाते हैं, एवं जिसे अग्निकोण कहते हैं वह अग्नि की तरलावस्था हैं, एवं ठीक दक्षिण में अग्नि की घनावस्था है। इस अग्नि को अग्नि न कहकर यम कहा जाता है। यह दक्षिणाग्नि शरीर को फाडकर मृत्यु का कारण बनती है। अतएव इसे यम कहा जाता है। अग्निकोण के मालिक अग्नि है, दक्षिण दिशा के लोकपाल यम है। यह अग्नि अर्थात् यम दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है।

इस प्रकार पूर्व, दक्षिण और पूर्व दक्षिण का मध्य ही तीनों अग्निस्थान है। तीनों ही अग्नि है। अब इधर आइए। पश्चिम में सोम की घनावस्था है जिसका कि नाम पानी है। इस पश्चिम दिशा के लोकपाल वरुण हैं, एवं उत्तर दिशा में सोम की प्राणावस्था है जो कि सोम ही कहलाता है। यह सोम उत्तर से दक्षिण की ओर जाया करता है एवं उत्तर पश्चिम के बीच के कोणों में सोम की तरलावस्था है। इसी को वायु कहते हैं। इस प्रकार ३ अग्नि और ३ सोम, पूर्व दिशा, अग्निकोण, दक्षिणदिशा, पश्चिम दिशा, वायु कोण एवं उत्तर दिशा इन ६ दिशाओं में बंटे हुए हैं। बाकी बची 'ईशान और नैऋत,, ऊर्ध्वा और अधः। इन में ऊर्ध्वा के स्वामी बृहस्पति है अधरा के व ईशान के महादेव है। नैऋत है। बस यह विभाग समझ लेने पर पूर्वोक्त तीनों मतों में कोई विरोध नहीं आता है।

याज्ञवल्क्य, अग्नि से अर्थात् पृथ्वी से दक्षिण दिशा का ज्ञान बतलाते है। तैत्तिरि पथ्यास्वस्ति से बतलाते है। ऐतरेय अदिति से बतलाते है। अग्नि अर्थात् पृथिवी वास्तव में पूर्व की ओर जाती है। इसलिए तो याज्ञवल्क्य का मत ठीक हैं एवं मार्गीया स्थिति को ही पथ्यास्वस्ति कहते है। जिस लाइन से सूर्य पूर्व से पश्चिम को जाया करता है इसी लाइन का नाम पथ्यास्वस्ति है। इसका प्रारम्भ पूर्व से होता है। पथ्या का प्रारम्भ विष्वत् के पूर्व से है समाप्ति पश्चिम पर है। सूर्य पूर्व से चलता है। यदि पूर्व को पहचानना चाहते हो, तो पथ्यास्वस्ति के प्रारम्भ की बिन्दु पर ध्यान दो। यही तित्तिरि का तात्पर्य

है। इसीलिए तित्तिरि का पथ्यास्वस्ति से पूर्व का ज्ञान बतलाना भी ठीक है। ऐतरेय कहते है-अदिति से पूर्व का ज्ञान होता है। अदिति पृथिवी है। यही तो पूर्व की ओर जाती है अतएव ऐतरेय के मत से भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

आगे चलिए-याज्ञवल्क्य सोम से दक्षिण दिशा का ज्ञान मानते हैं। तैत्तिरीय और ऐतरेय दोनों ही अग्नि से दक्षिण दिशा का ज्ञान होना बतलाते हैं। सोम जिधर जाता है उसे दक्षिण समझो। इससे भी दक्षिण का ज्ञान हो सकता है, एवं जहां से अग्नि चलता है जो अग्नि का स्थान है उसे ही दक्षिण समझो उससे भी दक्षिण दिशा का ज्ञान हो सकता है। अतएव इसमें भी कोई विरोध नहीं है।

याज्ञवल्क्य सविता से पश्चिम दिशा का ज्ञान होना बतलाते हैं। तैत्तिरीय और ऐतरेय दोनों सोम से पश्चिम का ज्ञान होना बतलाते हैं। जिस ओर सविता जाता है उसे पश्चिम दिशा समझो। इससे भी पश्चिम दिशा का ज्ञान हो सकता है एवं जहां सोम अर्थात् सोम की घनावस्थास्वरूप पानी रहता हो, उसी को पश्चिम दिशा समझो। इससे भी पश्चिम दिक् का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार इसमें भी कोई विरोध नहीं है।

याज्ञवल्क्य-पथ्यास्वस्ति से उत्तर का ज्ञान होना बतलाते है। तैत्तिरीय और ऐतरेय सविता से उत्तर दिशा का ज्ञान मानते हैं। पथ्यास्वस्ति विष्वत् से जिधर जाती है उसे ही उत्तर दिशा समझो। इससे भी उत्तर दिशा का ज्ञान हो सकता है। सूर्य अभिजित के सीध में है। अभिजित उत्तर में है। सूर्य से अभिजित की ओर का जो स्थान है वही उत्तर समझो। इससे भी उत्तर का ज्ञान हो सकता है।

याज्ञवल्क्य और तैत्तिरीय अदिति से ऊर्ध्वा दिक् का ज्ञान मान रहे हैं, एवं ऐतरेय पथ्यास्वस्ति से ऊर्ध्वा का ज्ञान होना बतलाते हैं। खस्वस्तिक नाम अदिति है यही ऊर्ध्वा दिक् है। हमने बतलाया है कि सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जिस मार्ग से जाता है। उसका नाम तो पथ्या एवं जिस अदिति बिन्दु के आधार पर पथ्या की स्थिति रहती है उसका नाम स्वस्ति है। अदिति की बिन्दु का नाम-खस्वस्तिक का नाम-ही स्वस्थिति है। यह पथ्यास्वस्ति से अभिन्न है। अतएव इससे भी अवश्य ही ऊर्ध्वा का ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार तीनों मतों में कुछ भी विरोध नहीं आता है।

	दिशः	शतपथ	तैत्तिरीय	ऐतरेयः
१—	प्राची	अग्निना	पथ्यया-स्वस्त्या	अदित्या
२—	दक्षिणा	सोमेन	अग्निना	अग्निना
३—	प्रतीची	सवित्रा	सोमेन	सोमेन
४—	उदीची	पथ्यया-स्वस्त्या	सवित्रा	सवित्रा
५—	ऊर्ध्वा	अदित्या	अदित्या	पथ्यया-स्वस्त्या

अग्निना	—	प्राचीं दक्षिणां च ।
सोमेन	—	दक्षिणां प्रतीचीं च ।
सवित्रा	—	प्रतीचीमुदीचीञ्च ।
पथ्ययास्वस्त्या	—	उदीचीं प्राचीं च । ऊर्ध्वां च ।
अदित्या	—	प्राचीमूर्ध्वां च ।

प्रायणीय इष्टि के अनन्तर आतिथ्येष्टि की जाती है। यज्ञ को पुरुष माना जाता है इसीलिए **"यज्ञो वै पुरुष: "** यह कहा जाता है। जिस प्रकार पुरुष के हाथ, पैर, मस्तक वगैरह होते है उसी प्रकार यज्ञ में भी मस्तक हस्तादि की कल्पना की जाती है। इसी अभिप्राय से कहते है कि सोमयज्ञ का अंगभूत जो आतिथ्य कर्म है, आतिथ्येष्टि है वह इस सोम यज्ञपुरुष का मस्तक हैं एवं प्रायणीय और उदयनीय इस यज्ञपुरुष के हाथ हैं। हाथ मस्तक के दोनों ओर होते हैं। इधर भी हाथ होता है उधर भी हाथ होता है एवं दोनों हाथों के बीच में मस्तक रहता है। इसीलिए प्रायणीय और उदयनीय दोनों हविएं इस आतिथ्य के दोनों ओर होती हैं। पहले प्रायणीय होता है बाद में आतिथ्येष्टि होती है एवं अन्त में उदयनीय होती है। इस प्रकार प्रायणीय उदयनीय हाथों के बीच में आतिथ्य स्वरूप मस्तक आ जाता है। प्राकृतिक यज्ञ से ही हमारी उत्पत्ति होती हैं। प्राकृतिक सोमयाग में भी प्रायणीयादि सारे कर्म होते हैं उन्हीं की नकल पर हम प्रायणीयादि करते हैं। "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि-यही हमारे यज्ञ का मूल है। प्रकृति में जो प्रायणीय-उदयनीय होता है उस इष्टि से हमारे हाथ बनते है, एवं आतिथ्येष्टि से मस्तक निर्माण होता है। प्रकृति में प्रायणीय-उदयनीय के बीच में आतिथ्य होता है। इसलिए हमारा मस्तक प्रायणीय-उदयनीय स्वरूप हाथों के बीच में है। प्रकृति यज्ञ का ऐसा स्वरूप है। इसमें हमारे शरीर निर्माण का तरीका ही प्रमाण है। हम उसी यज्ञ से बने हुए हैं। इसीलिए तो **"पुरुषो वै यज्ञ:"** कहा जाता है। प्रकृति यज्ञ में आतिथ्येष्टि प्रायणीय-उदयनीय के मध्य में होती है अतएव हमें भी ऐसा ही करना चाहिए। बस यही तो तात्पर्य है इसी अभिप्राय से कहते हैं

"शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । बाहू प्रायणीयोदयनीयौ । अभितो वै शिरो बाहू भवतः । तस्मादभितमातिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयोदयनीयश्च ।" ॥२०॥

प्रकृति यज्ञ जैसे हमें उत्पन्न करता है ठीक उसी प्रकार उसकी नकल कर उन्हीं पदार्थों की आहुति देकर यह यजमान स्वर्ग साधनभूत एक नया दैवात्मा उत्पन्न करता है। प्रकृति यज्ञ से निर्मित हमारे हाथ एकसार होते हैं। वही पांच अंगुली इसमें होती है। इन हाथों का निर्माण प्राकृतिक प्रायणीय-उदयनीयेष्टि से ही होता है। आज यह यजमान इन दोनों से दिव्यात्मा के हाथ पैर उत्पन्न कर रहा है। अतएव जो कुछ काम प्रायणीय में करे, इसे चाहिए वही काम उदयनीय में करे, क्योंकि तभी तो दोनों हाथ समानाकार होंगे। प्रायणीय की जो बर्हि होती है वही बर्हि उदयनीय की होती है।

"तदाहुः—यदेव प्रायणीये क्रियेत तदुदयनीये क्रियेत । यदेव प्रायणीयस्य बर्हि र्भवति तदुदयनीयस्य बर्हि र्भवति"

प्रायणीय के और उदयनीय के बीच में तो आतिथ्येष्टि स्वरूप कार्यान्तर आ जायगा फिर उसी बर्हि को उदयनीय के लिए कैसे रख सकते हैं, इसका समाधान करते हुए कहते है बर्हि का अग्नि में प्रह-रण मत करो अपि तु अलग बचा कर रख ले-इसमें कुछ भी हर्ज नहीं है ।

"तदपोद्धृत्य निदधाति" वह यजमान उसी कुशा को, उदयनीय के लिए पानी से धोकर नियत स्थान में रख देता है एवमेव चरू बनाने के काम में आने वाला जो मेक्षण है उसके चरु का लेप कर उसे सक्षाम-कर्षा स्थाली के साथ रख देता है एवं जो ऋत्विज प्रायणीय के होते है ये ही ऋत्विज उदयनीय के होते हैं । इस प्रकार इस यज्ञ में चूंकि यजमान समानभावेन उन्हीं साधनों उन्हीं ऋत्विजों से प्रायणीय–उदय-नीय करता है अतएव दोनों हाथ सरूप होते हैं अर्थात् एकसार होते हैं"

परन्तु याज्ञवल्क्य उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं ऐसा कभी न करें—

"तदुतथा न कुर्यात्"

प्रायणीय बर्हि के यथेच्छ अग्नि में डाल के एवं मेक्षण को भी डाल दे । क्षामकर्ष रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं है । थाली को साफ करके रख दे । परन्तु ऋत्विज वे ही हो जो कि प्रायणीय में थे । यदि वे भी विप्रेत होगा-समय पर न आ सके तो फिर ऋत्विज भी और बुलाए जा सकते है । यह यजमान समान देवताओं का यजन करता है, एवं समान हवि होती है इसी से दोनों हाथ समान रूप वाले हो जाते है अपि च यदि तु उसी द्रव्य को उदयनीय में भी काम में लाओगे तो एक ही हाथ बनेगा दो नहीं । दो के लिए भिन्न-भिन्न द्रव्य होना चाहिए । हो वही द्रव्य, परन्तु अलग-अलग हो तभी दो हाथ बनेंगे ॥२॥

यह यजमान अदित्यादि पांच प्रायणीय देवताओं का यजन करता है एवं पांच ही का उदयनीयेष्टि में करता है । इसीलिए पांच अंगुली इस हाथ से उत्पन्न होती है एवं पांच अंगुली इस हाथ में होती है । यह प्रायणीय विकृति यज्ञ है ।

"प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" यह सिद्धान्त है । अतएव इसमे सारे काम होते हैं । परन्तु इस प्रायणीय में संयुवाक् पर्यन्त तो सारे कर्म प्रकृतिवत् होते हैं । परन्तु ऋत्विक लोग इस प्रायणीय में पत्नी संयाज नहीं करते है । कारण इसका यही है कि दोनों बाहु शरीर के पूर्वार्द्ध है । पत्नी यज्ञ का उत्तर भाग है । ऐसी हालत में यदि पत्नी संयाज कर दिया जायगा तो सारे देवता वापस चले जायेंगे । इसलिए शंयुवाक् पर्यन्त ही कर्म होता है-पत्नी संयाज नहीं होता है ॥२३॥

। इति प्रायणीयेष्टिः समाप्ता ।

॥ इति द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ

द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

'सोमाख्यान ब्राह्मणम्'

(मूल)—दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत्तेनागतेन यजेमहीति तऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकाद्रवं यथा तदास ॥१॥

तेभ्यो गायत्री सोममच्छापतत् । तस्याऽआहरन्त्यै गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्ते देवा अविदुः प्रच्युतो वै परस्तात्सोमोऽथ नो नागच्छति गन्धर्वा वै पर्यमोषिषुरिति ॥२॥

ते होचुः । योषित्कामा वै गन्धर्वा वाचमेवैभ्यः प्रहिणवाम सा नः सह सोमेनागमिष्यतीति तेभ्यो वाचं प्राहिण्वन्त्सैनान्त्सह सोमेनागच्छत् ॥३॥

ते गन्धर्वा अन्वागत्याब्रुवन् । सोमो युष्माकं वागेवास्माकमिति तथेति देवा अब्रुवन्निहो चेदागान्मैनामभीषहेव नैष्ट विह्वयामहाऽइति तां व्यह्वयंत ॥४॥

तस्यै गन्धर्वाः । वेदानेव प्रोचिरऽइति वै वयं विद्मेति वयं विद्मेति ।५।

अथ देवाः । वीणामेव सृष्ट्वा वादयन्तो निगायन्तो निषेदुरिति वै ते वयं गास्याम इति त्वा प्रमोदयिष्यामह ऽइति सा देवानुपाववर्त सा वै सा तन्मोघमुपाववर्त या स्तुवद्भ्यः शंसद्भ्यो नृत्तं गीतमुपाववर्त तस्मादप्येतर्हि मोघसंहिता एव योषा एवं हि वागुपावर्तत तामु ह्यन्या अनु योषास्तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव ॥६॥

तद्वा ऽएतदुभयं देवेष्वासीत् । सोमश्च वाक्च स यत्सोमं क्रीणात्यागत्याऽएवागतेन यजाऽइत्यनागतेन ह वै स सोमेन यजते योऽक्रीतेन यजते ॥७॥

अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वां चतुष्कृत्वो विगृह्णाति बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति समानजन्म वै पयश्चहिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम् ॥८॥

स हिरण्यमवदधाति । एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्च इति वर्चो वा ऽएतद्यद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति स यदाह तया सम्भवेति तया सम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं गच्छेति सोमो वै भ्राट् सोमं गच्छेत्येवैतदाह ॥९॥

तां यथैवादो देवाः । प्राहिण्वन्त्सोममच्छैवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्या प्रीणाति प्रीतया सोमं क्रीणानीति ॥१०॥

स जुहोति । जूरसीत्ये तद्ध वाऽअस्या एकं नाम यज्जूरसीति धृता मनसेति मनसा वाऽइयं वाग्धृता मनो वा ऽइदं पुरस्ताद्वाच इत्थं वद मैतद्वादीरित्यलग्लमिव ह वै वाग्वदेद्यन्मनो न स्यात्तस्मादाह धृता मनसेति ॥११॥

जुष्टा विष्णव ऽइति । जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह यमच्छेम इति तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवऽइति सत्यप्रसवा न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहेति स ह वै तन्वो यन्त्रमश्नुते यो यज्ञस्योदृचं गच्छति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१२॥

अथ हिरण्यमपोद्धरति । तन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति स यत्सहिरण्यं जुहुयात्परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यात्तन्न मनुष्येषु हिरण्यमभिगम्येत ॥१३॥

सोऽपोद्धरति । शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसीति कृत्स्नेन पयसा हुत्वा यदेवैतत्तदाह शुक्रमसीति शुक्रं ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रं ह्येतदमृतमसीत्यमृतं ह्येतद्वैश्वदेवमसीति वैश्वदेव ह्येतत्प्रमुच्य तृणं बर्हिष्यपिसृजति सूत्रेण हिरण्यं प्रबध्नीते ॥१४॥

अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । अन्वारभस्व यजमानेत्याहापोर्णुवन्ति शालायै द्वारे दक्षिणतः सोमक्रयण्युपतिष्ठते तत्प्रहितामेवैनामेतत्सतीं प्राहैषीद्वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्याप्रैषीत्प्रीतया सोमं क्रीणानीति ।१५।

अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते । चिदसि मनासीति चित्तं वाऽइदं मनो वागनुवदति धीरसि दक्षिणेति धिया-धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव तस्मादाह धीरसीति दक्षिणेति दक्षिणाह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति क्षत्रिया ह्येषा यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतः शीर्ष्णीति स यदेनया समानं सद्विपर्यासं वदति यदपरं तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वं तदपरं तेनोभयतः शीर्ष्णी तस्मादाहादितिरस्युभयतः शीर्ष्णीति ।।१६।।

सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति । सुप्राची न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची त एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह तस्मादाह सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति ।।१७।।

मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति । वरुण्या वाऽएषा यद्रज्जुः सा यद्रज्ज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यद्वनभिहिता स्यादयतेव स्यादेतद्वा ऽअवरुण्यं यन्मैत्रं सा यथा रज्ज्वाभिहिता यतैवमस्यै तद्भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति ।।१८।।

पूषाध्वनस्पात्विति । इयं वै पृथिवी पूषा यस्य वाऽइयमध्वन्गोप्त्री तस्य न का चन ह्वला भवति तस्मादाह पूषाध्वनस्पात्विति ।।१९।।

इन्द्रायाध्यक्षायेति । स्वध्यक्षासदित्येवैतदाह यदाहेन्द्रायाध्यक्षायेत्यनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति सा यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहीत्येवैतदाह सा देवि देवमच्छेहीति देवी ह्येषादेवमच्छैति यद्वाक्सोमं तस्मादाह सा देवि देवमच्छेहीतीन्द्राय सोममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय सोममिति रुद्रस्त्वावर्तयत्वित्यप्रणाशायैतदाह रूद्रं हि नाति पशवः स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवैतदाह ।।२०।।

तां यथैवादो देवाः । प्राहिण्वन्त्सोममच्छ सैनान्त्सह सोमेनागच्छद्देवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ सैनं सह सोमेनागच्छति ॥२१॥

तां यथैवादो देवाः । व्यह्वयन्त गन्धर्वैः सा देवानुपावर्त्ततैवमेवैनामेत्तद्यजमानो विह्वयते सा यजमानमुपावर्तते तामुदीचीमत्याकुर्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिक्सोऽएव यजमानस्य तस्मादुदीचीमत्याकुर्वन्ति ॥२२॥

[अनुवाद] प्रायणीयेष्टि सम्पादन द्वारा प्राकृतिक (आधिदैविक) अदिति, पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम तथा सवितारूप पञ्चावयव यज्ञ को आत्मसात् कर यजमान ने सोमयाग करने का अधिकार प्राप्त कर लिया । अधिकार प्राप्त्यनन्तर अब वह सोमयाग का अनुष्ठान करता है । सोमयाग में सोमलता का क्रयण अत्यावश्यक है । उसके बिना सोमरस की प्राप्ति न होने से वह सोमयाग कर ही नहीं सकता । अतः भुवनस्वर्गवासी देवता शर्यणायत, हेमकूट व मूजवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाली सोमलता का क्रयण कर उसे कूट कर सोमरस निकालते थे, और उस सोम की सुत्या के दिन आहुति देते थे ।

यह सोमरस मादक होते हुए भी उत्साहवर्धक, बुद्धिवर्धक व शरीर में शक्ति को बढाने वाला है तथा निर्भयता प्रदान करने वाला है । जब कि सुरा, वारुणी आदि अन्य मादक पदार्थ बल, बुद्धि, धैर्य व विज्ञान को नष्ट करने वाले तथा मस्तिष्क को दूषित करने वाले हैं । जैसा कि श्रद्धेय गुरुवर्य ने सोम के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है—

सोमो धृतिविज्ञाने वर्धयते संस्करोति मस्तिष्कम्
माल्यं सुरा तु हरते तद् विज्ञानं शिरोऽपि दूषयति ।
बुद्धिः शौर्यसमृद्धी बलमारोग्यं महत्वमभयत्वम्
रिपुदमन क्षमता सुखदीर्घायुष्ट्वे जयश्च सोमेन ॥

सोमलता में १५ पत्ते होते थे । शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की जैसे प्रतिदिन कला बढ़ती है चन्द्रमा की इस कलावृद्धि के साथ सोमलता में एक एक पत्र आता जाता है । पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा में १५ कलाओं का उदय होने पर चन्द्रमा परिपूर्ण शरीर वाला बन जाता है । उसी प्रकार सोमलता भी पूर्णिमा के दिन १५ पत्तों से परिपूर्ण हो जाती थी । फिर कृष्ण पक्ष आने पर प्रतिदिन चन्द्रमा की एक एक कलाओं का ह्रास होता जाता था और अमावास्या में एक भी पत्र उसमें नहीं रहता था । इसीलिए श्रद्धेय गुरुवर्य ने इन्द्रविजय के आर्यदासीय प्रकरण में, निम्नश्लोकों के द्वारा इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है—

सोमलताया दण्डे पञ्चदशैवच्छदा भवन्ति स्म ।
पञ्चदशाहं स्थित्वा ध्रुवं व्यशीर्यन्त षोऽशेऽहनि ते ॥

दर्शे पर्णाभावः प्रतिपदि पर्णोदगमोऽन्वधः पर्व ।
प्रतितिथि पर्णोद्गमनात् पूर्णायां पञ्चदश तानि ।।
प्रतिपद्यधरे पर्वणि पर्णनिपातः क्रमादुपर्येवम् ।
दर्शे पर्णाभावो ज्योतिष्मन्त्यस्य पर्णानि ।।

इन्द्र ने इसी सोमरस का पान कर बलशाली बनकर असुरों का संहार किया था । इन्द्र ने हेमकूट पर्वत पर इस सोमवल्ली की रक्षा के लिए गन्धर्वों को नियुक्त कर रखा था, जैसा कि निम्नलिखित कौषीतकि श्रुति से प्रतीत हो रहा है—

"गन्धर्वा ह वा इन्द्रस्य सोममप्सु प्रत्यायिता गोपायन्ति" ।

भौमस्वर्गवासी देवताओं के यज्ञ की प्रतिकृति पर वैधयज्ञ करने वाले भारतीय भी "यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इस सिद्धान्त के अनुसार ईरान से सोमवल्ली खरीदा करते थे ।

किन्तु भुवन स्वर्गवासी देवता जो यज्ञ सम्पन्न करते थे, वे प्राकृतिक यज्ञ की नकल पर वैध यज्ञ किया करते थे । प्रकृति के अनुसार उन्होंने यज्ञ विद्या का आविष्कार किया था । प्रकृति में प्राकृतिक पार्थिव देवताओं ने परमेष्ठि रूप तृतीय द्यु लोक में स्थित सोम को प्राप्त कर उसी के द्वारा यज्ञ किया था क्योंकि प्रकृति में परमेष्ठी रूप तृतीय द्यु लोक में यह रहता है । यह पारष्मेठ्य ब्रह्मणस्पतिरूप पवमान सोम है । जिसका निरूपण श्रुति में किया गया है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तस्तत् समासत ।।

पार्थिव आग्नेय देवताओं ने विचारा कि यज्ञ साधनभूत यह सोम यहां से तृतीय द्युलोक में है, जैसा कि तैत्तिरीय श्रुति "तृतीयस्यामितो दिवी सोम् आसीत्" इस रूप से उसकी स्थिति तृतीय द्युलोक में बतला रही है । इस सोम की पृथिवी में स्थित आग्नेय देवताओं को कैसे प्राप्ति हो इसी बात का आख्यान द्वारा निरूपण किया जा रहा है । "दिवि वै सोम आसीत्" इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अर्थात् यहां से तृतीय द्युलोक में ब्रह्मणस्पति सोम था । प्राकृतिक पार्थिव आग्नेय देवताओं ने जो कि पृथिवी में थे उस सोम को प्राप्त करने की इच्छा की क्योंकि बिना सोम के सोमयाग नहीं हो सकता । उन्होंने विचार किया कि तृतीय द्युलोक में स्थित सोम हमारे पास किस प्रकार आये, हमें किस प्रकार प्राप्त हो, जिससे कि हम सोमयाग कर सकें । विचार कर उन्होंने कद्रू व सुपर्णी नामक दो मायाओं को उत्पन्न किया ।

मर्त्य पृथिवी के केन्द्र से अमृताग्नि निकल कर २१ वें अहर्गण तक जाया करती है । यह अग्नि घन, तरल, विरल भाव से त्रिधा विभक्त है । इनमें घनाग्नि जो कि त्रिवृत् स्तोम

तक रहती है अवान्तर आठ वस्तुओं में परिणत हो जाती है। पञ्चदशस्तोम तक जाने वाली तरलाग्नि जो कि वाय्वग्नि कहलाती है, ११ रुद्रों में और एकविंश स्तोम तक जाने वाली विरलाग्नि १२ आदित्यों में परिणत हो जाती है। दो अश्विनीकुमार सामान्य देवता हैं। इस प्रकार ३३ आग्नेय देवता हैं। ये यद्यपि पृथिवी के २१ वें अहर्गण तक हैं तथापि पृथिवी केन्द्र से बद्ध रहने के कारण पार्थिव कहलाते हैं। अतः इनको पार्थिव आग्नेय देवता कहा है।

देवता पृथिवी में रहते हैं इसका यही तात्पर्य है कि २१ वें अहर्गण तक वितत रहने वाले उपयुक्त ३३ देवता केन्द्रीय पृथिवी प्रजापति से बद्ध हैं, और सोम सूर्य से भी ऊपर परमेष्ठिमण्डल में रहता है। अतः अति दूरस्थ सोम उनको किस उपाय से प्राप्त हो सके, पृथिवी लोक के देवताओं ने यही विचार किया और अन्त में कद्रू व सुपर्णी नाम की दो मायाओं को उत्पन्न किया। जिस प्रकार तृतीय द्युलोकस्थ ब्रह्मणस्पति सोम कद्र और सुपर्णी द्वारा देवताओं को प्राप्त हुआ, वह सौपर्णीकाद्रवोपाख्यान का वर्णन 'धिष्ण्या ब्राह्मण' में किया जायगा।

'धिष्ण्या ब्राह्मण' के अनुसार पिण्ड पृथिवी को कद्रू कहा गया है। "इयं वै कद्रू" अर्थात् पृथिवी का मर्त्याग्नि अर्थात् चित्याग्नि पिण्ड कद्रू है। पृथिवी प्रकाश रहित होती है। सूर्य, चन्द्र आदि की तरह वह प्रकाशशील नहीं है। उससे निकलने वाली रश्मियां कृष्णवर्ण की होती हैं। अतः काली पृथिवी से निकलने वाली तथा पृथिवी पिण्ड के चौतरफ वितत रहने वाली काली रश्मियां कद्रू की सन्तान हैं। ये काली रश्मियां प्राणत्-अपानत् रूप से सर्पण करती हैं। इसीलिए उन्हें सर्प कहा जाता है। ये काली रश्मियां पृथिवी पिण्ड के चौतरफ पूर्ण रूप से व्याप्त हैं, और "सहस्र वै पूर्णम्" इस श्रुति के अनुसार पूर्ण का नाम ही सहस्र है इसलिए पृथिवी से उत्पन्न इन काली रश्मिरूप सर्पों को सहस्र कहा गया है।

इसी प्रकार पिण्ड पृथिवी के केन्द्र से निकल कर १३ वें अहर्गण तक व्याप्त वाक् को ही सुपर्णी बतलाया गया है। "वागेव सुपर्णी" इति।

आत्मा, शरीर, महिमा अथवा आत्मा पद व पुनःपद, भेद से त्रिधा विभक्त वस्तु का ३३ तक व्याप्त वाङ्मण्डल ही महिमा मण्डल कहलाता है। ३३ पर जाकर वस्तु का महिमामण्डल समाप्त हो जाता है और उससे आगे उस वस्तु का दर्शन नहीं होता। वस्तु का यह महिमा मण्डल ही वाक्, वाङ्मण्डल या वषट्कार मण्डल कहलाता है। यह वाक् सभी पदार्थों में रहती है इसीलिए–वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" यह श्रुति वाक् में सब भुवनों की स्थिति बतला रही है। वाक् नाम आकाश का है और आकाश को शून्य कहते हैं। किन्तु आकाश व शून्य रिक्तता का नाम नहीं है जिसे हम रिक्त स्थान मानते हैं वहां "श्वा" या "शुन" नाम का दिव्य इन्द्र व्याप्त रहता है। इसी का नाम मघवा इन्द्र है। इसीलिए "शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्" इस श्रुति में शुन इन्द्र को मघवा कहा गया है। इस श्वा या शुन

नामक इन्द्र से रिक्त स्थान कोई नहीं है। यह सर्वत्र रहता है इसीलिए-"नेन्द्राद ऋते पवते-धाम किञ्चन" यह श्रुति सर्व स्थानों में उसकी सत्ता को बतला रही है। आकाश को शून्य इसीलिए कहते हैं कि वह श्वा नामक इन्द्र का स्थान होने से उसके लिए हितकर प्रदेश है। इसीलिए पाणिनीय व्याकरण में शून्य की व्याख्या "शुने हितम्" की गई है। इस सन्दर्भ से यह सिद्ध है कि वह वाक् दिव्य इन्द्ररूप है।

दिव्य इन्द्र ही वाक् है, सुपर्णी है। इसीलिए तैत्तिरीय श्रुति में "इयं वै कद्रूः। असौ सुपर्णी, छन्दांसि सौपर्णेयाः। (तै. मं. ६-१-६-१) द्युलोक को सुपर्णी कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि प्राण से गर्भित है अर्थात् पृथिवी का प्राण अग्नि है उसी प्रकार द्युलोक का प्राण इन्द्र है अतः द्युलोक का अर्थ यहां इन्द्र है, अर्थात दिव्य इन्द्र ही सुपर्णी है। अतः चाहे वाक् को सुपर्णी कहा जाय या दिव्य इन्द्र को, इसमें कोई विरोध नहीं है।

उन देवताओं ने इस कद्रू और सुपर्णी में झगड़ा करवा दिया। इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी का अग्नि, अंगिरा, पृथिवी से निकल कर निरन्तर द्युलोक की ओर जाया करता है और दूसरी तरफ सूर्य की रश्मियां निरन्तर पृथिवी की ओर आया करती हैं। वे सौर रश्मियां पृथिवी से टकरा कर पुनः सूर्य की ओर जाती हैं इन्हीं सौर रश्मियों को आदित्य की वस्तु होने से आदित्य कहा जाता है। पृथिवी से सूर्य की ओर जाती हुई पृथिवी की अग्नि अंगिरा तथा द्युलोक से पृथिवी तक आकर तथा उसमें टकरा कर द्युलोक की ओर लौटती हुई सौर रश्मिरूप आदित्य अग्नि में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। जिस संघर्ष का वर्णन "आदित्याश्च ह वा अंगिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्धन्त वयं पूर्वे एष्यामो वयम्-इति। इसमें पृथिवी की चित्याग्नि अंगिरा ही कद्रू है, तथा द्युलोक से आने वाली सौर रश्मि प्राणों का नाम ही सुपर्णी है। वही सौर इन्द्र प्राण वाक् कहलाता है। अतः वाक् को सुपर्णी कह दिया गया है। कद्रू और सुपर्णी के परस्पर कलह का यही संक्षिप्त वैज्ञानिक रहस्य है।

'धिष्ण्या ब्राह्मण में प्रतिपादित कद्रू और सुपर्णी का तथा उनके परस्पर कलह विज्ञान का संक्षिप्त निरूपण कर इस प्रकरण को यहीं समाप्त किया जाता है। आगे जाकर इस विवाद में सुपर्णी की पराजय हुई और अपनी शर्त के अनुसार सुपर्णी को कद्रू की दासी बन-ना पड़ा। पश्चात् कद्रू के यह कहने पर कि यदि तुम तृतीय द्युलोक से सोमरूप अमृत लाकर मेरे पुत्र सर्पों को दे दो तो मैं तुम्हें दासीपन से मुक्त कर सकती हूँ। तब सुपर्णी ने सोमरूप अमृत लाने के लिए गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इन छन्दों को उत्पन्न किया। इसका तात्पर्य यह है कि वाग्रूप सुपर्णी पृथ्वी केन्द्र से निकल कर २१ वें अहर्गण तक अग्नि के रूप में जाती है "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" इस श्रुति के अनुसार वाक् अग्नि ही है। इस अग्नि की घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थायें हैं। त्रिवृत्स्तोम तक घनाग्नि अग्निरूप है। इससे आगे तरल रूप अग्नि वायु में परिणत हो जाती है वह अवस्था पञ्चदशस्तोम तक रहती है। इससे आगे जाने पर अग्नि अति विशकलित हो जाने से विरल रूप में परिणत होकर आदि-

त्य कहलाने लगती है। अग्नि की यह विरलावस्था एकविंशस्तोम तक रहती है। इससे आगे अग्नि नहीं जाता। अमृताग्नि के इन तीनों रूपों के तीन मण्डल बन जाते हैं। त्रिवृत् स्तोम तक रहने वाला घनाग्नि मण्डल पृथिवी लोक है। पञ्चदशस्तोम तक रहने वाला तरलाग्नि रूप मण्डल अन्तरिक्ष लोक है। अग्नि का यह तरल रूप ही वायु है। इससे आगे का अग्नि का विरल रूप आदित्य है। यह मण्डल द्यु लोक है पृथिवी अंतरिक्ष व द्युलोक इन तीनों के तीन पृथक पृथक छन्द हैं, पृथिवी चूँकि अग्नि है, अग्नि का छन्द गायत्री है। और अग्नि अष्ट वसु रूप है। अतः उसको ग्रहण करने वाला गायत्री छन्द भी अष्टाक्षर है। अन्तरिक्ष लोक में रुद्रों की सत्ता मानी गई है और रुद्र एकादश हैं तथा उनको ग्रहण करने वाला त्रिष्टुप् छन्द भी एकादशाक्षर है जो कि अन्तरिक्ष का छन्द कहलाता है। द्युलोक में रहने वाले देवता आदित्य कहलाते हैं, और आदित्य संख्या में १२ हैं। अतः इनको ग्रहण करने के लिए द्यु लोक का छन्द जगती द्वादशाक्षर माना गया है। भिन्न भिन्न छन्दों के द्वारा भिन्न देवता पकड़ में आ जाते हैं। अष्टाक्षरा गायत्री छन्द के द्वारा अष्ट वसु रूप अग्नि एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् के द्वारा एकादश रुद्ररूप वायु तथा द्वादशाक्षरा जगती के द्वारा द्वादश आदित्य देवता पकड़ में आ जाते हैं। इसीलिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

"वसवस्त्वा पुरस्तादभिषिञ्चन्तु गायन्त्रेण छन्दसा, रुद्रास्त्वा दक्षिणतो अभिषिञ्चन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा। आदित्यास्त्वा पश्चादभिषिञ्चन्तु जागतेन छन्दसा। इति। अमृताग्निमय सुपर्णी रूप ऐन्द्री वाक् के ही पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यु लोक रूप तीन मण्डल हैं। और इन तीनों मण्डलों वाले या तीनों लोकों वाले देवताओं को पकडने वाले ये तीन गायत्री आदि छन्द हैं अतः यह कहा गया है कि सुपर्णी ने गायत्री आदि छन्दों को उत्पन्न किया।

उस सुपर्णी ने सर्वप्रथम जगती को ही सोम लाने के लिए भेजा, क्योंकि सोम जगती के समीप पडता है। सोम तृतीय द्यु लोक परमेष्ठी में है, और जगती द्वितीय द्यु लोकवर्ती आदित्य का छन्द है। किन्तु सोम रक्षक गन्धर्वों ने जगती के तीन पैर तोड़ डाले। प्रत्येक छन्द "चतुरक्षराणि वै छन्दांसि भवन्ति" के अनुसार चार अक्षरों का होता है। ये चार अक्षर ही उनके ४ पैर हैं। जगती के ३ पैरों को तोड़ने का अभिप्राय यह है कि जगती छन्द द्यु लोक का है, अर्थात् सूर्य का है। सूर्य की ऊर्ध्ववर्ती तथा उभय पार्श्ववर्ती रश्मियां ऊपर द्यु लोक में ही रह जाती हैं। केवल अधोवर्ती किरणें ही पृथिवी की ओर अर्थात् पृथिवी के देवताओं की ओर आती है जब जगती तीन पैर तुड़ा कर आ गई और सोम को न ला सकी तब सुपर्णी वाक् ने अन्तरिक्ष लोक के छन्द त्रिष्टुप् को सोम लाने के लिए भेजा किन्तु वह भी एक पैर तुड़ा कर आ गई। इसका अभिप्राय यह है कि त्रिष्टुप् के द्वारा जो सोम पृथिवी पर आता है वह तीन भाग वाला है। अधोवर्ती पाद के द्वारा लाया हुआ सोम तो पृथिवी पर आता ही है किन्तु ऊपर से आने वाली सूर्य रश्मियां दोनों पार्श्वों को तिरछा कर त्रिष्टुप् के दोनों पार्श्व भागों के सोम को भी पृथिवी पर गिरा देती हैं। ऊर्ध्वपाद का सोम ऊपर चला जाता है वह पृथिवी पर नहीं आने पाता।

जब त्रिष्टुप् भी सोम को न ला सकी तब गायत्री को सोम लाने के लिए सुपर्णी ने भेजा। गायत्री पृथिवी लोक का छन्द है उसका पृथिवी से साक्षात् सम्बन्ध है। वह पृथिवी केन्द्र से बद्ध है। वह सत्य है, ऋत नहीं। सत्य में ऋत की अपेक्षा अधिक बल होता है। अतः उसने श्येन रूप धारण कर बलशाली बनकर जोर से सोम रक्षक गन्धर्वों पर आक्रमण किया। वे गन्धर्व डर कर इधर उधर भाग गये और वह सोम को लेकर पृथिवी पर आ गई साथ ही जगती के तीन पैर व त्रिष्टुप् का एक पैर भी उठा लाई। इन ४ पाद रूप ४ अक्षरों के मिल जाने से चतुरक्षरा गायत्री अष्टाक्षरा बन गई। इसीलिए गायत्री को अष्टाक्षरा कहा जाता है। जगती तथा त्रिष्टुप् द्वारा अपने पैर मांगने पर गायत्री ने वे पैर उनको नहीं दिये। किन्तु उन दोनों छन्दों को भी अपने में सम्मिलित कर लिया। सम्मिलित करने से तीन पैर वाली त्रिष्टुप् गायत्री के ८ पैरों से अर्थात् अक्षरों से मिलकर एकादशाक्षरा बन गई तथा जगती इसमें सम्मिलित होकर एक पैर वाली, एकादश पैरों अर्थात् अक्षरों से मिलकर द्वादशाक्षरा बन गई। प्रत्येक छन्द के चतुरक्षरात्मक होने पर गायत्री के अष्टाक्षरा त्रिष्टुप् के एकादशाक्षरा तथा जगती के द्वादशाक्षरा बनने का यही रहस्य है। 'धिष्ण्या ब्राह्मण' में सौपर्ण काद्रवोपाख्यान का संक्षेप से यही वैज्ञानिक रहस्य है। यह रहस्य विस्तार से हिन्दी विज्ञान-भाष्य में बतलाया गया है। उसी से लेकर संक्षेप में सौपर्णी काद्रवोपाख्यान को समझने के लिए वर्णित कर दिया है ॥ १ ॥

पृथिवी लोक के देवताओं के लिए सोम लाने के लिए गायत्री श्येन पक्षी का रूप धारण कर सोम की तरफ झपटी और सोम को उसने ले लिया किन्तु सोम रक्षक विश्वावसु गन्धर्व ने उसका अपहरण कर लिया। उन देवताओं ने देखा कि परमेष्ठि लोक से तो सोम प्रच्युत हो चुका है किन्तु हम तक नहीं पहुँचता मालूम पडता है, सोम रक्षक गन्धर्व ने उसका अपहरण कर लिया है ॥ २ ॥

देवताओं ने विचार किया कि गन्धर्वों से इस सोम को कैसे प्राप्त करें। अन्त में उन्हें मालूम हुआ कि गन्धर्व स्त्री कामुक होते हैं। प्रकृति में गन्धर्व प्राण एक विशेष प्रकार का वृषा प्राण है तथा स्त्री योषा प्राण है। वृषा प्राण सदा योषा प्राण की इच्छा करता है किन्तु जिसमें गन्धर्व नामक वृषा प्राण होता है वह अत्यधिक स्त्री कामुक अर्थात् स्त्रैण होता है। अतः गन्धर्व प्राण की जिनमें प्रधानता है ऐसे गन्धर्व को मोहित करने के लिए योषा प्राण प्रधान स्त्री का उपयोग करना चाहिए। वाक् चूंकि स्त्री है, योषा प्राण है अतः गन्धर्वों के पास योषा प्राण रूप वाक् को ही भेजना चाहिये। वह गन्धर्वों से सोम लेकर अपने पास आ जायगी। गन्धर्व सौम्य प्राण है। वाक् गन्धर्वों के साथ आई। इससे गन्धर्व रूप सौम्य प्राण का समावेश भी पार्थिव देवताओं में हो गया ॥ ३ ॥

वाक् के साथ आये गन्धर्वों ने देवताओं से कहा कि देवताओं! सोम आपका है और वाक् हमारी हो क्योंकि गन्धर्व स्त्रीकाम हैं और वाक् स्त्री है। देवताओं ने कहा—ठीक है।

तात्पर्य इसका यह है कि पार्थिव देवता अग्नि रूप हैं। अग्नि का सोम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है अग्नि में सोम की आहुति न हो तो अग्नि की सत्ता नहीं रहेगी अर्थात् आग्नेय देवताओं का अस्तित्व नष्ट हो जायगा और गन्धर्वों का सम्बन्ध वाक् से है क्योंकि वाक् गीतिरूप है गीति शब्द समूह है। इसीलिए गन्धर्व गान व वादन को पसन्द करते हैं।

देवताओं ने कहा कि वाक् को तुम ले जा सकते हो किन्तु बलात्कार व भय से नहीं अपितु मधुर शब्दों से। आप लोग भी वाक् को अपनी बनाने के लिए बुलाओ और हम भी बुलाते हैं इसके बाद इसकी मर्जी जिधर जाना चाहे उधर चली जाय। अतः गन्धर्वों और देवताओं दोनों ने ही वाक् का आह्वान किया ।। ४ ।।

गन्धर्वों ने वाक् को बुलाने के लिए वेदों का प्रवचन किया अर्थात् उन्होंने मधुर वाणी का प्रयोग किया, हम यह विद्या जानते है। हम इस कला को जानते हैं ।। ५ ।।

देवताओं ने वीणा का निर्माण किया और गाते बजाते स्थिर भाव से बैठ गये। और वाक् का आह्वान करने लगे कि हम तुम्हें गाना बजाना सुनाकर आनन्दित करेगें। देवताओं के इस संगीत और वाद्य की मधुर ध्वनि सुनकर वाक् देवताओं की ओर चली आई। वह मधुरता के कारण ही गन्धर्वों का परित्याग कर देवताओं की ओर आई। किन्तु यह वाक् व्यर्थ ही देवताओं की ओर आई। क्योंकि स्तोत्र शास्त्र रूप वेद का परित्याग कर मधुर गीत व नृत्य के पीछे देवताओं की ओर आई। इसीलिए जैसे वर्तमान काल में अन्य स्त्रियां नृत्य गीत पर रीझा करती हैं उसी प्रकार वाक् भी देवताओं के नृत्य वाद्यमय संगीत पर रीझ कर देवताओं की ओर आई न कि यथार्थ प्रेम के कारण। इसीलिए जो नाचता है गाता है उसी पुरुष पर ये स्त्रियां अत्यन्त अनुरक्त होती हैं। उससे एक जीव हो जाती हैं। नाचने गाने वालों से प्रेम करना स्त्री का स्वभाव है इसी को यहां बतलाया है। स्त्रियां सौम्य होती है और सोम में माधुर्य होता है। अतः स्त्रियां माधुर्य पर विशेष अनुरक्त रहती हैं। इस स्त्री स्वभाव का यहां बोधन किया गया है। ।। ६ ।।

इस प्रकार वाक् तथा सोम देवताओं के अधिकार में आ गये। देवताओं ने जिस वाक् को देकर गन्धर्वों से सोम खरीदा था वह वाक् और सोम दोनों देवताओं के अधिकार में आ गये। क्योंकि पारमेष्ठ्य सोम को तो उन्होंने गन्धर्वों को वाक् देकर खरीदा ही था और वाक् भी देवताओं के मधुर गीत व वाद्य को सुनकर उनकी ओर आ गई। जिस प्रकार पार्थिवप्राण देवताओं ने सोम को खरीद कर तथा परमेष्ठि लोक से पार्थिव देवताओं के पास आगत सोम से यज्ञ किया था उसी प्रकार आज यजमान भी क्रीत सोम से ही सोम याग करे, न कि बिना खरीदे हुए सोम से। ।। ७ ।।

प्रकृति मण्डल के प्राण देवताओं ने वाक् द्वारा ही सोम खरीदा है। अतः आज यजमान इस वैध यज्ञ में प्राकृतिक यज्ञ के अनुकरण पर निदानविधया वाक् द्वारा सोमक्रयण करता

हुआ इस वाक् के लिए आहुति देता है। उसी आहुति के प्रकार का निरूपण इस कंडिका में किया जा रहा है। अर्थात् यह यजमान ध्रुवापात्र में रखा हुआ घृत, जो कि प्रायणीय-याग में उपयोग में आने से बचा हुआ है उसे जुहुपात्र में चार बार लेकर और दर्श के साथ सोने की टिकिया को मोली से बांधकर, उस कुशा को आज्ययुक्त जुहू में रखकर सावधानी से आहुति देवे। किन्तु यह ध्यान रखे कि सोने कीटि किया आहुति में न चली जाय।

आहुति देते समय सोने की टिकिया इसलिए बांधी जाती है कि सारे पय की अर्थात् घृत की आहुति दूं। आज्य (घृत) का कारण दूध है अतः पयः प्रकृतिक होने से यहां आज्य के लिए पयस् शब्द का प्रयोग लक्षणया कर दिया है।पय और हिरण्य दोनों अग्निरूपहैं। अतः समान-जन्मा हैं क्योंकि पय भी अग्नि रूप है अग्नि का रेत है क्योंकि जैसे अग्नि शुक्ल है वैसे दूध भी शुक्ल है। क्योंकि कृष्णा गाय का या कपिला गाय का दूध हो तो वह भी शुक्ल ही होता है तथा जब गाय से दूध दुहा जाता है उस समय उष्ण (गर्म) होता है और उष्णता अग्नि का धर्म है अतः दूध अग्नि का रेत है। इसी प्रकार हिरण्य भी अग्नि का रेत है इसी-लिए "अग्नेरपत्य प्रथमं हिरण्य" कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण के द्वितीय काण्ड में पय और हिरण्य दोनों की अग्निरूपता निम्न श्रुति वचनों के द्वारा बतलाई गई है।

"अग्ने हि रेतः तस्माद् यदि रोहिण्यां शुक्लमेव भवति। अग्निसंकाशम्। अग्ने हि रेतः। तस्मात् प्रथमदुग्धमुष्णं भवति। अग्नि् हि रेतः-इति।

अथ हिरण्यं संभरति। अग्नि र्ह वा अपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति। ताः संब-भूव। तासु रेतः प्रासिञ्चत्। तद्धिरण्यमभवत्। तस्मादेतदग्नि संकाशम्। अग्ने र्हि रेत इति।

पय और हिरण्य दोनों अग्नि के रेत है अतः समानजन्मा होने से हिरण्य को कुशा में बांध कर पय की आहुति देने से कृत्स्न पय की आहुति हो जाती है॥ ८॥

वह अध्वर्यु "एषा ते शुक्रतनूरेतद् वर्चस्तया संभव भ्राजं गच्छ" यह मन्त्र बोलता हुआ सोने की टिकिया कुशा के साथ बांध देता है। अर्थात् हे शुक्र, यह वीर्यवान् हिरण्य आपका शरीर हैं और यह आज्य आपका तेज है। हे वाक्, आप इस हिरण्य व आज्य के साथ संगत हो जाइये और भ्राज की ओर जाइये। सोम ही भ्राज है अतः आप हिरण्य और आज्य से बलवान बनकर सोम की ओर जाइये। सोमापहरण बिना बल के नहीं हो सकता अतः आग्नेय हिरण्य और आज्य (धृत) के द्वारा गायत्री वाक् को सबल बना कर सोमापहरण के लिए सोम की ओर जाने की प्रार्थना की गई है॥ ९॥

जिस प्रकार प्राकृतिक आग्नेय प्राण देवताओं ने पार्थिव वाक् सुपर्णी को इस सोम की ओर जाओ-इस प्रेरणा से प्रेरित कर पारमेष्ठय लोक में सोम की ओर भेजा था। उसी प्रकार आज यह यजमान निदानविधया सोमक्रयणी गायत्रीरूप वाक् को सोम लाने के लिए

प्रेरित करता हैं। उसको उपर्युक्त अर्थात् ८ वीं कण्डिका में प्रतिपादित आहुति के द्वारा तृप्त करता है और प्रीत सोमक्रयणी के द्वारा सोम को खरीदता है ।। १० ।।

वह अध्वर्यु—
"जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ।
तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो मन्त्रमशीय स्वाहा ।।"

इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ आज्य की आहुति देता है। याज्ञवल्क्य इस मन्त्र की व्याख्या स्वयं कर रहे हैं। प्रकृत काण्डिका में "जूरसि धृता मनसा" मन्त्र के इतने अंश की व्याख्या कर रहे हैं। अर्थात् "जू" इस वाक् का एक नाम है जैसा कि—जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्" इस उक्ति के द्वारा अमरकोषकार भी बतला रहा है। यद्यपि अमरकोष में आकाश का नाम "जू" बतलाया है न कि वाक् का, किन्तु यहां आकाश से ऐन्द्री वाक् ही अभिप्रेत है। अर्थात् इस आकाशरूप रिक्त स्थान में सर्वत्र श्वानामक इन्द्र परिपूर्ण है। उस इन्द्र का नाम ही वाक् है। यह वाक् मन से धारण की हुई है। मन ही इस वाक् का आधार है क्योंकि वाक् व्यापार से पूर्व ऐसा कहो, ऐसा मत कहो—इत्याकारक मानस संकल्प होता है तभी वाक् का उच्चारण होता है। इसीलिए "यद्वै मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति" ऐसा कहा गया है। पहले मन के द्वारा अचिन्तित वाक् अर्थहीन होती है, निरर्थक होती है। अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता। इसी अभिप्राय से कहा है—धृता मनसा—इति ।। ११ ।।

"धृता मनसा" के बाद का मंत्राश 'जुष्टा विष्णवे' है। अर्थात् सोम आपसे प्रसन्न हैं—मन्त्र में विष्णु शब्द का अर्थ सोम है इसलिए—जुष्टा सोमाय—ऐसा अर्थ "जुष्टा विष्णवे" का किया है। मैं (वाक्) सोम की ओर जा रही है। अतः यह सोम उससे प्रसन्न हो जाय। पश्चात् "तस्यास्ते सत्यः सवसः प्रसवे"—इस मन्त्रांश का उच्चारण करता है। अर्थात् सत्यस्वरूप आप सोम की ओर हमारे लिए जावें। आप हमारे लिए सोम लावें। यहाँ वाक् के लिए जाने वाली गायत्री वाक् सत्यस्वरूप अर्थात् केन्द्र से बद्ध है। क्योंकि सत्यवाक् केन्द्र से सम्बद्ध होती है अतः उसमें बल है। गायत्री वाक् ने बल से ही गन्धर्वों से रक्षित सोम का हरण किया था।

इसके बाद "तन्वो मन्त्रमशीय स्वाहा" इस मन्त्रशेष का अध्वर्यु उच्चारण करता है अर्थात् आप इस प्रकार से सोम लाइये जिससे हमारे शरीर को शान्ति प्रदान कर सकें। जो यज्ञ की समाप्ति कर लेता है, वही शारीरिक शान्ति प्राप्त करता है क्योंकि यजमान यज्ञ करने जा रहा है यज्ञ समाप्त न होने तक उसे शरीर आदि का कुछ ध्यान नहीं रहता। उसका तो ध्यान यज्ञ समाप्ति पर लगा है और यज्ञ तभी हो सकेगा जब कि आप सोम लाकर प्रदान करेंगे इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर—तन्वो मन्त्रमशीय स्वाहा" इस मन्त्रांश का अध्वर्यु उच्चारण करता है ।। १२ ।।

यह पहले बतला दिया गया है कि आज्याहुति के साथ कुशा में बँधे हुए सुवर्ण की आहुति नहीं देनी चाहिए। इसी की उपपत्ति इस कण्डिका में बतलायी जा रही है।

वह अध्वर्यु आज्य की आहुति के समय कुशा से बँधे हुए हिरण्य को निकाल लेता है। हिरण्य को अलग करता हुआ अध्वर्यु यजमान तथा उसके पुत्र-पौत्रादि में हिरण्य को स्थापित करता है। यदि अध्वर्यु आज्य के साथ कुशा में बँधे हुए हिरण्य की भी आहुति दे देगा तो वह यजमान तथा उसके वंशजों से उसे पृथक् कर देगा और उसके वंश को हिरण्य की प्राप्ति नहीं होगी। हिरण्य सम्पत्ति का उपलक्षण है। हिरण्य सहित आज्य की आहुति दे कर अध्वर्यु यजमान तथा उसके पुत्रपौत्रादि को सम्पत्ति-रहित निर्धन बना देगा। अतः हिरण्य की आहुति नहीं देनी चाहिए ॥ १३ ॥

हिरण्य को आहुति से अलग करता हुआ निम्नांकित मन्त्र का उच्चारण करता है "शुक्लमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि" इति। हे हिरण्य, आप शुक्ल हो, अर्थात् चमकदार हो। सब को आह्लादित करने वाले हो, आप अमरणधर्मा हो, नष्ट नहीं होते हो, सर्वदेवस्वरूप हो क्यों कि हिरण्य अग्निरेत होने से अग्निस्वरूप है और तेतीसों आग्नेय देवता भी अग्नि की अवस्था विशेष हैं।

इसके अनन्तर जिस कुशतृण से हिरण्य बँधा हुआ था, उस कुशतृण को बर्हि में रख देता है और हिरण्य को एक डोर से बाँध देता है ॥ १४ ॥

इसके बाद अध्वर्यु प्रायणीय इष्टि से बचे हुए ध्रुवापात्रस्थ घृत को फिर चार बार जुहू में ले कर यजमान से "यजमान अन्वारभस्व" हे यजमान, हाथ से इसका स्पर्श करो-ऐसा कहता है। तदनन्तर देवयजनशाला के द्वार पर अर्थात् आहवनीय कुण्ड से पूर्व की ओर दक्षिण प्रदेश में सोमक्रयणी गाय को अवस्थित करते हैं, खड़ी करते हैं। प्रकृतियाग में प्राण-देवताओं द्वारा सोमकरण के लिए पहले से भेजी हुई इस सोमक्रयणी को यजमान ने आज पुनः प्रेषित किया। सोमक्रयणी गौ निदानविधया वाक् है। प्राणदेवताओं ने वाक् के द्वारा ही गन्धर्वों से सोम का क्रयण किया था। सोमक्रयण का साधन होने से उसे सोमक्रयणी कहा गया था। किन्तु आज अपने वैध यज्ञ में सोमक्रयण गाय से करता है अतः निदानविधया सोमक्रयण-साधन यह गौ वाक् ही है। इसी को यजमान आज सोमक्रयण के लिए प्रेरित करता है और इस तृप्त सोमक्रयणी गाय के द्वारा सोम का क्रयण करता है। अर्थात् जिस तरह प्राण-देवताओं ने आहुति से वाक् को तृप्त करके पारमेष्ठ्य सोम को लाने को भेजा था उसी प्रकार आज यह यजमान इस वैध यज्ञ में सोमक्रयणी गाय को, निदानविधया वाक् को, आहुति से तृप्त कर, सोमक्रयण के लिए इसे प्रेषित करता है और उसके द्वारा सोम खरीदता है।

प्राणदेवताओं ने कब और किस प्रकार आहुति द्वारा तृप्त वाक् को पारमेष्ठ्य सोम को लाने के लिए भेजा था, यह बात सामान्य पुरुषों से तिरोहित थी। यजमान

सोमक्रयण के लिए सोमक्रयणी गाय को प्रेषित करता हुआ, देवयजन-शाला के द्वारों को बन्द करता हुआ, प्राण देवताओं द्वारा सोमक्रयण के लिए वाक् को भेजने की उसी प्रक्रिया का अभिनय करता है जो सामान्य मनुष्य के लिए अज्ञात है।

तत्पश्चात् देवयजन-शाला से बाहर आकर निदानेन वाग्-रूप उस सोमक्रयणी की निम्न मन्त्रों से स्तुति करता है—

"चिदसि, मनासि, धीरसि, दक्षिणासि, क्षत्रियासि, यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी सानः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वापदेबध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय। अनु त्वा माता मन्यतामनुपिता अनुभ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः। सा देवि देवमच्छेहि इन्द्राय सोमम् रुद्रस्त्वावर्तयतु, स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि।"

भगवान् याज्ञवल्क्य ने इन्हीं दोनों मन्त्रों की व्याख्या आगे की १६ वीं कण्डिका से २०वीं कण्डिका तक की है। जैसे "चिदसि"........। चित् मन को कहते हैं अतः "चिदसि" का अर्थ है मन द्वारा ज्ञात अर्थ का ही वाक् अनुवाद करती है अर्थात् मनोभावों को वाक् ही प्रकाशित करती है। यदि वाक् न हो तो मन कुछ भी नहीं कर सकता, उसके भाव कभी पूरे नहीं हो सकते। अतः हे सोमक्रयणी वाक्, आप चेतनावस्थापन्न हैं। और यही वाक् "मनसि" अर्थात् मननशीला भी है क्यों कि वाक् के बिना मनन नहीं होता। मन से मनन करते समय सूक्ष्म उच्चारणरूप वाक् रहती है। इसीलिए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है – "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'- अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का सम्बन्ध न हो।

"धीरसि"....। हे वाक् आप धी हैं। अर्थात् विचारों को प्रकट करने का साधन भी आप ही हैं। संसार में जीवन की इच्छा वाले अपना प्रत्येक विचार वाक् द्वारा ही प्रकट करते हैं। तात्पर्य यह है कि वाक् तीन प्रकार की होती है–प्रथम वाक् अनुवचन से सम्बन्ध रखने वाली है, जैसे आचार्य शिष्य को महाभारत पढ़ाते हुए कहते हैं–भगवान् पाणिनि का यह अभिप्राय है, यह मत है, यही अनुवचन है। क्यों कि इसमें दूसरे के द्वारा कही हुई वाक् का अनुवाद मात्र है।

दूसरी वाक् प्रकाम वाक् है। अपनी प्रातिस्विक वाक् ही प्रकाम वाक् कहलाती है। अर्थात् हमारा यह मत है, हम यह कहना चाहते हैं, इस प्रकार की जो अपनी स्वतन्त्र वाक् है उसे ही प्रकाम वाक् कहा जाता है।

तीसरी वाक् गाथा है। अर्थात् न जिस वाक् से कहने वाले का पता चले और न वह अपनी वाक् हो-ऐसी वाक् को गाथा कहते हैं। आभाणक या कहावत का नाम ही गाथा है। आभाणक में अभिप्राय अपना होता है और वाक् किसी दूसरे अज्ञात व्यक्ति की होती है, जैसे "मान घटे नित ही घर जाये" यह उक्ति। इसके द्वारा कहने वाला अपना अभिप्राय प्रकट

करता है कि दूसरे के घर हमें हमेशा नहीं जाना चाहिए। परन्तु इसके समर्थन के लिए जो 'मान घटे नित ही घर जाये' यह उक्ति है वह किसी अज्ञात पुरुष की है। इस प्रकार तीन ही प्रकार की वाक् है—१ अनुवचनरूप २ प्रकामवादरूप ३ गाथारूप।

अर्थात् मनुष्य अपने विचारों को इन तीन प्रकार की वाक् से ही प्रकट करता है।

"दक्षिणासि"....। यह वाक् दक्षिण अर्थात् परच्छन्दानुवर्ती अर्थात् दूसरे के अधीन है। यह वाक् सदा मन के अधीन रहती है। अतः कहा है, हे वाक्, आप दक्षिणा हैं। मन परतन्त्र है। तथा वाक् द्वारा सोम प्राप्त होता है। सोम से याग होता है और याग में ऋत्विजों को दक्षिणा मिलती है। अतः परम्परया वाक् के दक्षिणासाधन होने से भी वाक् को दक्षिणा कहा गया है।

"क्षत्रियासि, यज्ञियासि"....। हे वाक्। आप क्षत्रिया हैं, क्योंकि आपमें शासनशक्ति है। वाक् से ही शासन होता है। शासन करना क्षत्रिय का धर्म है अतः वाक् को क्षत्रिया कहा गया है। यह वाक् यज्ञिया भी है क्यों कि मन्त्रोच्चारण-रूप वाक् के बिना यज्ञानुष्ठान सम्भव नहीं है अतः इस वाक् को यज्ञिया कहा गया है।

"अदितिरसि उभयतः शीर्ष्णी"....। हे वाक्, आप दोनों ओर मस्तक रखने वाली अदिति हो। अखण्डनीय हो। तात्पर्य यह है कि वाणी नित्य है उसका कभीं नाश नहीं होता और तर्कों द्वारा सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य सिद्ध कर देना वाक् का ही कार्य है। सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य सिद्ध करना ये ही उस वाक् के दो मस्तक हैं। वाक् ही पूर्व-पक्ष को अपरपक्ष अर्थात् सिद्धान्त-पक्ष बना देती है तथा अपर अर्थात् सिद्धान्त पक्ष को पूर्वपक्ष बना देती है। गौण को प्रधान तथा प्रधान को गौण बना देना वाक् का ही काम है। अतः वाक् को उभयतः शीर्ष्णी कहा गया है ॥१६॥

१७ वीं कण्डिका में प्रथम मन्त्र के "सा नः सुप्राची सुप्रतीची एधि" की व्याख्या की गई है। सा नः सुप्रतीची एधि का अर्थ है—वाक्, आप हमारे यज्ञ के लिए पारमेष्ठ्य सोम की ओर अभिमुख होइए। सुप्रतीची वा एधि" का अर्थ है कि आप उस सोम के साथ पुनः हमारे पास आइए ॥१७॥

१८ वीं कण्डिका में "मित्रस्त्वा पादे बध्नीताम्" इस मन्त्रांश की व्याख्या की है। हे वाक्! मित्र देवता आपके पैर बाँध दे। रज्जु से बाँधना वरुणदेवताक है, आसुर है। असुर भाव का प्रवेश यज्ञ का नाश है। और यदि इस वाक् को नहीं बाँधते हैं, संयत नहीं करते हैं तो यह वाक् उन्मर्याद हो जाती है और यज्ञ में उन्मर्याद वाक् का उच्चारण करना भी मानुष भाव के प्रवेश द्वारा उसे अयज्ञीय बना देता है। अतः उसे संयत करना, बाँधना भी आवश्यक है। इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि के लिए इसे रस्सी से न बाँध कर मित्र (सूर्य) से बाँधते हैं। मूल में अभिहिता का अर्थ बद्ध है तथा अनभिहिता का अर्थ अबद्ध है ॥१८॥

१६ वीं कण्डिका में पूषात्वाऽध्वनस्पातु—इस मन्त्रांश की व्याख्या है । वाक् पृथिवी से निकल कर सूर्य से ऊपर परमेष्ठी-लोक से सोम लाने के लिए जाती है । पृथिवी को ही मार्ग में उस वाक् की रक्षा का भार सौंपते हैं ता कि सब पदार्थों का पोषण करने के कारण पूषारूप यह पृथिवी मार्ग में वाक् की रक्षा करे । सभी बाधाएँ पृथिवी पर ही आती हैं यदि यह पृथिवी वाक् की रक्षा का भार अपने आप ले लेती है तो उस पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आ सकती । इस अभिप्राय से "पूषात्वाऽध्वनस्पातु" कहा गया है ।।१६।।

२० वीं कण्डिका में शेष सारे मन्त्र की व्याख्या की गई है । इसमें "इन्द्रायाध्यक्षाय" इस अंश की व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पृथिवी इस सोमक्रयणी वाक् की रक्षा केवल हमारे लिए ही नहीं करे अपितु इस वाक् के अध्यक्ष अर्थात् अधिपति इन्द्र की शोभनता अर्थात् सत्ता के लिए भी इस वाक् की रक्षा करे । तात्पर्य यह है कि वाक् आकाश को कहते हैं और आकाश श्वा नामक इन्द्र से परिपूर्ण है । वह इन्द्र ही इस आकाश रूप वाक् का स्वामी है, अधिपति है । इन्द्र का अस्तित्व बिना वाक् के नहीं रह सकता । आकाश-रूप वाक् के आधार पर ही तो इन्द्र रहता है । अतः उस इन्द्र की सत्ता के लिए पृथिवी इस वाक् की रक्षा करे । इसी अभिप्राय से" स्वाध्यक्षाऽसत्" यह कहा है ।

तदनन्तर "अनु त्वा मातामन्यतामनुपिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः ।।" इस मन्त्रशेष की व्याख्या की जा रही है । अर्थात् हे सोमक्रयणी वाक्, माता, पिता, सहोदर भाई, सजातीय तथा मित्र, (सोम लाने के लिए जाती हुई) तुम को अनुमति प्रदान करें । यहां निम्न श्रुति के आधार पर माता से पृथिवी, पिता से द्युलोक तथा भ्राता से वसु का ग्रहण है, जैसा कि श्रुति बतला रही है—

"द्यौष्पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः" ।
विश्व आदित्या अदिते स जोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त । (ऋ मं ६।५१।५)

अर्थात् जन्म के साथी माता, पिता, भ्राता, इत्यादि से अनुमत हो कर वाक् सोम लाने के लिए जाए । इसके बाद "देवि देवमच्छेहि" इस मन्त्रशेष का अर्थ बतलाया जा रहा है कि वह वाग्देवो सोम देवता की ओर जाती है । यहाँ देवी से वाक् का तथा देव से सोम का ग्रहण है । इसीलिए इसकी व्याख्या करते हुए मूल में "देवी ह्येषा देवमच्छेहि यद् वाक् सोमम्" यह कहा गया है । तत्पश्चात् "इन्द्राय सोमम्" इस मन्त्रभाग की व्याख्या की जा रही है । अर्थात् इन्द्र यज्ञ के देवता हैं अतः आप इन्द्र के लिए सोम ला रही हैं न कि हम प्राण देवताओं के लिए । तदनन्तर "रुद्रस्त्वाऽऽवर्तयतु" इस मन्त्रभाग की व्याख्या की जा रही है । अर्थात् रुद्र पशुओं का देवता, अवरोध करने वाला है । उस रुद्र से प्रार्थना की जाती है कि वह रुद्र देवता तुम्हारा सोम लाने के लिए जाते समय अवरोध न करे, तुम्हें सकुशल लौटा दे । अर्थात् वह तुम्हारी हिंसा न करे । इसके पश्चात् "स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि" इस मन्त्रभाग

की व्याख्या की जाती है। अर्थात् हे वाक्, आप सोमसखा बन कर, सोम के साथ कुशलता-पूर्वक हमारे पास पुनः आएँ।। २०।।

भगवान-याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जैसे सृष्टि के प्रारम्भ में प्राण-देवताओं ने सोम लाने के लिए इस वाक् को भेजा था और वह सोम लेकर देवताओं के पास लौट आई थी, उसी प्रकार यह यजमान आज यज्ञार्थ सोम लाने के लिए निदानविधया वाग्रूप इस सोमक्रयणी गाय को भेजता है और वह सोम के साथ पुनः यजमान के पास लौट आती है।। २१।।

सृष्टि के प्रारम्भ में जैसे सोमक्रयणी वाक् को प्राणदेवताओं ने अपनी ओर बुलाया था और वह गन्धर्वों को छोड़ कर देवताओं की वीणाध्वनि से प्रसन्न हो कर देवताओं के पास आ गई थी, उसी प्रकार यजमान भी आज वीणास्वर के समान मधुर वाणी से उस सोमक्रयणी गाय को अपनी ओर बुलाता है और वह यजमान की ओर लौट आती है। निदानेन वाग्रूप इस सोमक्रयणी गाय को अध्वर्यु आदि ऋत्विक् उसे उत्तर की तरफ मुख करके खींचते हैं क्योंकि उत्तर दिशा मनुष्यों की है और यजमान मनुष्य है। अत: उसकी भी उत्तर दिशा ही है। इसलिए उसे उत्तर की ओर मुंह करके खड़ी करते हैं।।२२।।

[विज्ञान भाष्य] प्रायणीय इष्टि द्वारा प्राकृतिक अदिति, पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सवितात्मक पाङ्क्त यज्ञ को आत्मसात् करके यजमान सोमयज्ञ का अधिकारी बन गया। प्राकृतिक यज्ञस्वरूप को पहचाने बिना एवं आत्मसात् किये बिना सोमयज्ञ करना सर्वथा व्यर्थ है। अतएव दीक्षणीयेष्टि–आदि दीक्षाकर्म्मवत् प्रायणीय को भी हम अधिकार–समर्पणरूपा दीक्षा में ही शामिल कर लेते हैं। अधिकार-समर्पणरूपा प्रायणीय इष्टि समाप्त हो चुकी; अब सोमयज्ञ की कर्तव्यता प्रारम्भ होती है। पूर्व के ब्राह्मणों में हमने बतलाया है कि सोमयाग में दीक्षा, सुत्या, उपसत्, ये तीन प्रधान कर्म हैं। तीनों में से दीक्षाकर्म समाप्त हो चुका। अब सुत्याकर्म का प्रारम्भ होता है।

सुत्या कहते हैं सवन को, सवन कहते हैं अग्नि में सोम की आहुति डालने को। चूंकि सुत्या में सोम की आवश्यकता पड़ती है अतएव सर्वप्रथम सोमक्रयण किया जाता है। सोम खरीदा जाता है। सोम की लताएं हुआ करती हैं। इसके कुल १५ ही पत्ते होते हैं। जैसे फासफोरस अन्धकार में चमका करता है उसी प्रकार सोम भी अंधेरे में चमका करता है। प्राकृतिक सोम से ही वल्ली-सोम की पुष्टि होती है। प्राकृतिक सोम के अधिष्ठाता चन्द्रमा हैं। चन्द्रमा एक–एक कला के हिसाब से बढ़ते रहते हैं। बस ज्यों-ज्यों इनकी एक-एक कला बढ़ती है त्यों-त्यों उस सोमलता में कला के क्रम से एक-एक पत्ता बढ़ने लगता है। आखिर १५ वीं कला में जा कर जब चन्द्रमा पूर्णकलोपेत हो जाता है तो उस दिन अर्थात् पूर्णिमा को उस वल्ली में भी १५ पत्ते हो जाते हैं। बस दूसरे दिन से ज्यों-ज्यों चन्द्रमा क्षीण होता जाता है त्यों-त्यों एक-एक पत्ता उस वल्ली का भी झड़ता जाता है। इस प्रकार १५ दिन बाद सारे पत्ते झड़ जाते हैं। यह क्रम अनवरत चला करता है। सोम एक प्रकार का मादक पदार्थ है। जैसे असुर लोग वारुणी पिया करते थे उसी प्रकार भुवन-स्वर्गवासी देवता सोम पिया करते थे। संसार में

जितने भी मादक पदार्थ हैं वे सब ही करीब-करीब मस्तिष्क-शक्ति को नष्ट कर देते हैं। परन्तु सोम में यह बात नहीं है। सोम मादक होते हुए भी शरीर के सारे रोगों को नष्ट कर बुद्धि को तीव्र कर देता है। इसीलिए इसे औषधियों का स्वामी कहा जाता है। अतएव वैज्ञानिक क्षेत्र के अधिष्ठाता ब्राह्मण इसे अपना राजा मानते हैं। इसीलिए–**"सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा"** यह कहा जाता है। यह सोमलता पृथिवी-मण्डल भर में सिर्फ तीन ही पर्वतों पर होती थी-मुञ्जवान्, शर्याणवत और वसोर्धारा (?) इन तीनों पर्वतों पर ही सोम सुलभ था। इसी सोम के बल से इन्द्र असुरों को परास्त किया करते थे। अतएव असुर इस सोम को बार-बार नष्ट किया करते थे। अन्त में प्रकृति देवी के कोप से सोम के रक्षक चन्द्रमा ने गुरुपत्नी तारा का अपहरण कर सोमनाश में असुरों को मदद पहुंचा कर, असुरों द्वारा सारे सोम का विध्वंस करा डाला, जिसका कि विस्तृत विवेचन **"अत्रिख्याति"** में किया गया है।

सोम ही देवताओं का बल था। इसके नष्ट होते ही सारे देवता नष्ट हो गये। आज सर्वत्र असुरों का ही राज्य हो रहा है। सोम कहां पर था, सोम में क्या-क्या गुण थे इत्यादि बातों का विस्तृत विवेचन श्री गुरुप्रणीत **"इन्द्रविजय"** नामक ग्रन्थ के आर्यदासीय प्रकरण में देखना चाहिए। हमें सिर्फ बतलाना यही है कि यह सोम शर्याणवत् और मुञ्जवान् और वसोर्धारा में ही होता है। यह पर्वत ईरान प्रदेश में है। इस ईरान का प्राचीन नाम आर्यायण है। वरुण और इन्द्र के कलह के कारण वैदिक काल में इस भारतवर्ष के आर्यावर्त और आर्यायण ये दो विभाग कर डाले गये थे। आर्यावर्त की प्रजा इन्द्र को अपना राजा मानती थी। आर्यायण की प्रजा वरुण को अपना अधिपति मानती थी। इन्द्र ही यज्ञ के अधिष्ठाता थे। अतएव आर्यावर्त में ही यज्ञविद्या का प्रचार था। यज्ञ में सोम की आवश्यकता पड़ती थी–एवं सोम होता था आर्यायण में अर्थात् ईरान के मुञ्जवान शर्याणवतादि पर्वतों में, अतएव उस समय वहां से सोम लाने की व्यवस्था कर दी गई थी। आर्यायण से–आर्यावर्त में सोमवल्ली को लाने के लिए एक खास जाति नियत थी, वही सोमवल्ली को आर्यावर्त में लाया करती थी उस जाति के अलावा और कोई भी सोम नहीं ला सकता था। यह सोम यहां आ कर बिका करता था। सोम के आने के दिन भी नियत थे। जिस समय सोम यहां आता था उस समय सर्वत्र कोलाहल मच जाता था। जैसे राजा की सवारी देखने के लिए प्रजाजन दौड़ा करते हैं उसी प्रकार इस सोम को देखने के लिए हजारों मनुष्यों की भीड़ हो जाती थी। आर्यावर्त वालों की दृष्टि में सोम की बहुत ही प्रतिष्ठा थी क्योंकि इसके बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता था एवं यज्ञविद्या ही इन लोगों का सर्वस्व था।

जिस समय सोम बिकने के लिए आता था उस समय यज्ञाधिष्ठाता ब्राह्मण लोग सोम को खरीदा करते थे। खरीद कर गाजे–बाजे के साथ अपने घर लाया करते थे। इस प्रकार प्राचीन समय में देवता लोग, वैज्ञानिक महर्षि, यज्ञ के लिए सोम खरीदा करते थे। वे देवता सोम को खरीद कर ही यज्ञ किया करते थे। यदि उनके पास पहले का सोम रहता था तो उसे काम में न लेते थे अपितु जब यज्ञ करते तभी वे सोम खरीदते थे। खरीदे हुए सोम को ही यज्ञ में शामिल किया जाता था **"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** यह हमारा सिद्धान्त है। चूंकि भुवन–स्वर्गनिवासी खरीद कर ही यज्ञ किया करते थे अतएव आज यह यजमान भी सोमयज्ञ के लिए सोम खरीदता है। यज्ञ के लिए यजमान को

अवश्य ही सोम खरीदना पड़ता है। खरीदे हुए सोम से ही यजमान यज्ञ कर सकता है क्योंकि भुवन-त्रिलोकी के देवताओं ने खरीद कर ही यज्ञ किया था।

यजमान तो इसलिए खरीदता है, परन्तु भुवनत्रिलोकी के देवता क्यों खरीदते थे? जब कि बिना खरीदे पास में बच रहने वाले सोम से भी यज्ञ हो सकता था। बस एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य प्राकृतिक प्राण-देवताओं के सोमक्रयण का रहस्य बतलाते हैं।

भुवनत्रिलोकी के देवताओं ने प्रकृति के अनुसार यज्ञविद्या का आविष्कार किया था। प्राकृतिक प्राण देवता सोम को खरीद करके ही सोमयज्ञ किया करते थे। अतएव उन देवताओं ने भी अपने वैध यज्ञ में सोम खरीद कर ही यज्ञ-व्यवस्था कायम की थी। प्राणदेवता किस सोम को खरीदते हैं, कैसे खरीदते हैं एवं उनके यज्ञ का स्वरूप कैसा है यही इस सोमक्रयण आख्यान में बतलाया जाएगा।

जो सोम आज देवताओं में मौजूद है, जिस सोम को आज देवता प्रतिदिन खाते हैं वह सोम सृष्टि के प्रारम्भ में द्युलोक में था। इस प्रकार सोम तो द्युलोक में था। और देवता इस पृथिवी-मण्डल पर थे। एक दिन सारे देवताओं ने मिल कर एक सभा की और उसमें उन्होंने इच्छा प्रकट की कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे द्युलोकस्थ यह सोम अपने पास आ जाय एवं उस आगत सोम से हम यज्ञ करें। इस प्रकार सोम लाने का विचार करके देवताओं ने सुपर्णी और कद्रू नाम की दो माया उत्पन्न कीं। दूसरे को मोहित करने वाली शक्ति का नाम माया है। देवता जानते थे कि सोम की रक्षा में २७ गन्धर्व बैठे हैं। रात-दिन गन्धर्व उस सोम के पहरा लगा रहे हैं। अतएव आसानी से वे लोग सोम नहीं लेने देंगे अतः सोम को लेने के लिए ऐसों को भेजना चाहिए जिन्हें देखते ही गन्धर्व अपनी सुध-बुध भूल जाएं। बस, जहां गन्धर्व गाफिल हुए नहीं कि इन दोनों मायाओं ने सोमाहरण किया नहीं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सुपर्णी और कद्रू कैसे सोम लाने में समर्थ हुई, इसका सारा प्रपञ्च "धिष्ण्या ब्राह्मण में बतलाएँगे"। सृष्टि के प्रारम्भ में जैसे-जैसे यह लीला हुई थी वह सब सौपर्ण-काद्रव आख्यान में वहीं बतलाएँगे।

"दिवि वै सोम आसीत्। अथेह देवाःस्ते देवाअकामयन्ता नः सोमो गच्छेत्तेनागतेन यजेमहीति। तऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते, सौपर्णीकाद्रवं यथा तदास ॥१॥

सौपर्णीकाद्रवाख्यान का रहस्य विस्तृतरूपेण यद्यपि धिष्ण्याब्राह्मण में ही बतलाएँगे, तथापि सूक्ष्मरूपेण उसका रहस्य बतलाना यहां भी अनुचित न होगा। धिष्ण्याब्राह्मण में यह आख्यान इस प्रकार है:—

सृष्टि के प्रारम्भ में द्युलोक में सोम था और इस पृथिवी-लोक में देवता थे। देवताओं ने विचार किया कि कोई उपाय करना चाहिए जिससे वह सोम अपने पास आ जाए और उस आये हुए सोम से

हम सोमयज्ञ करें। यह विचार कर देवताओं ने सुपर्णी और कद्रू इन दो मायाओं को उत्पन्न किया। ये सुपर्णी और कद्रू दोनों सगी बहनें थीं। दोनों ही माया-स्वरूप थीं। देवताओं ने अपनी कार्यसिद्धि के लिए सुपर्णी और कद्रू दोनों में परस्पर झगड़ा उत्पन्न करा दिया। उन दोनों में खूब ही झगड़ा शुरू हो गया। लड़ते-लड़ते उन्होंने एक दूसरे को कहा कि अपना झगड़ा यों नहीं समाप्त होगा। एक उपाय ऐसा है जिससे अपनी लड़ाई मिट सकती है। वह उपाय यही है कि अपने दोनों में से जो अत्यन्त दूर की वस्तु देख लेगी, वह हम दोनों में से एक की आत्मा को जीत लेगी। अर्थात् जिसे बहुत दूर की वस्तु दीख जायगी, हम दोनों में से एक उसी की मातहत बन जाएगी। यदि तुम ज्यादा दूर की वस्तु देख लोगी तो मैं तुम्हारी मातहत हो जाऊंगी और मैं देख लूंगी तो तुम्हें मेरी मातहती स्वीकार करनी पड़ेगी। यह बात सुपर्णी ने कही थी। कद्रू ने कहा-बहुत अच्छा,ऐसा ही होना चाहिए। इस प्रकार सुपर्णी और कद्रू में परस्पर बाजी लग गई। कद्रू ने सुपर्णी से कहा कि सुपर्णी, तुम्हें ज्यादा दूर की वस्तु दीखने का ज्यादा घंमड है अतएव पहले तुम्हीं दूर की ओर देखो अर्थात् अपनी दृष्टि–शक्ति को दूर से दूर चला कर बतलाओ-आकाश में क्या है? सुपर्णी ने आकाश की ओर देखकर कहा कि इस सलिल के उस पार अर्थात् वेदी-स्वरूप पृथिवीमण्डल के उस पार एक स्थाणु से अर्थात् काष्ठ के थूण से एक सफेद घोड़ा बंध रहा है-उसे ही मैं देख रही हूं। मैं अनुमान करती हूँ शायद तुम भी उस सफेद घोड़े ही को देख रही हो। कद्रू ने कहा, हाँ, मैं अवश्य उस सफेद घोड़े ही को देख रही हूं, परन्तु मैं तुमसे इतना और अधिक देख रही हूँ कि उस घोड़े की पीठ पर काले बाल भी चिपक रहे हैं एवं वे बाल कभी-कभी वायु से इधर-उधर लहराने लगते हैं। जब कद्रू ने कहा कि मैं बाल भी देखती हूं जो हवा से हिल रहे हैं तो सुपर्णी ने कहा कि-हम यों नहीं मान सकते, हम दोनों ही उठकर इस घटना को देखने चलें। देखें हम दोनों में कौन जीतता है। कद्रू बड़ी चालाक थी। उसने कहा, हम क्यों जाने लगे, तुम्हीं जाओ क्योंकि सन्देह तुम्हीं को है। हमें तो उस घोड़े के बाल हवा में हिलते हुए साफ दिखलाई दे रहे हैं, इसलिए तुम्हीं जाओ। तुम्हीं आ कर कह देना कि हम दोनों में से कौन जीता। सुपर्णी लाचार थी। अतएव वही उस स्थिति को देखने के लिए आकाश में उड़ी। वह सफेद घोड़ा वास्तव में वैसा ही था जैसा कि कद्रू ने बतलाया था। वास्तव में उसके काले बाल थे और वे हवा से हिल रहे थे। सुपर्णी वापस लौट आई और वापस आ कर उसने कहा कि कद्रू वास्तव में तुम्हीं जीतीं और मैं हारी। इस प्रकार सुपर्णी को शर्त के अनुसार कद्रू की दासी बनना स्वीकार करना पड़ा। एक दिन कद्रू ने सुपर्णी से कहा कि सुपर्णी मैंने शर्त के अनुसार तुम्हें खरीद कर दासी बना लिया है। यदि तुम दासीपने से मुक्त होना चाहती हो तो मुझे में निवास करने वाले देवताओं के लिए द्यौ में से सोम निकालो। उसी समय मैं तुम्हारा दासीपने से छुटकारा कर दूंगी। सुपर्णी कद्रू के अत्याचारों से तंग आ गई थी, अतएव उसने इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसने उसी समय छन्दों को उत्पन्न किया। उन छन्दों में से गायत्री छन्द ने द्युलोक से सोमापहरण किया। वह सोम द्युलोक में सोने की दो दीवारों के बीच में सुरक्षित रक्खा था अर्थात् सोने के किले में वह सोम रक्खा था। ये दोनों क्षुरमयी अर्थात् तीक्ष्णधार-वाले सोने के लम्बे-लम्बे खण्ड प्रतिपल उस सोम की निगरानी कर रहे थे। इतना ही नहीं अपितु गन्धर्व लोग भी अहर्निश उस सोम की रक्षा करते थे। क्या मजाल, उनकी रक्षा में से सोम निकल जाय। परन्तु गायत्री बहुत ही बलशालिनी थी। उसने बड़े वेग से अपने पंखों का झपाटा मार कर इन दोनों कुशियों में से एक कुशी को छिन्न-भिन्न कर दिया।

बस, उस टूटी हुई कुशी को गायत्री ने देवताओं को दे दिया। वही कुशी देवताओं की दीक्षा बनी। देवताओं ने उसी से दीक्षा ली। फिर दुबारा झपट्टा मारा। उससे दूसरी कुशी को भी तोड़ डाला एवं उसे भी देवताओं को दे दिया। वह देवताओं का तप बना। इस दूसरी कुशी से देवताओं ने तप किया। इस प्रकार जब गायत्री ने सोमापहरण कर उसे देवताओं को पिला दिया तो प्रतिज्ञानुसार कद्रू को सुपर्णी को दासीभाव से मुक्त करना पड़ा। बस, धिष्ण्याब्राह्मण में यही सौपर्णक आख्यान है। ऐतरेयब्राह्मण में यह आख्यान इस प्रकार है—

ब्राह्मणों का राजा सोम, सृष्टि के प्रारम्भ में द्युलोक में था। देवता और ऋषियों ने परस्पर विचार किया कि ऐसा कौन सा उपाय करें कि जिससे यह सोम अपने पास आ जाए। आखिर उन्हें एक तरकीब सूझ गई। उन्होंने अपने सवारी के घोड़ों से कहा कि हे छन्दो, हे अश्वो, तुम जाओ और द्युलोक में रक्खे हुए सोम को उठा लाओ। छन्दों ने कहा, जो आज्ञा। हम अभी आज्ञानुसार सोम लाते हैं। यह कहकर वे छन्द सुपर्ण बन गए अर्थात् बाज बन गए। चूंकि यह छन्द सुपर्ण बनकर अर्थात् बाज बन कर सोम लेने के लिए उड़े थे अतएव आख्यानवेत्ता महर्षि इस आख्यान को सौपर्ण नाम से व्यवहृत करते हैं। इस प्रकार वे छन्द सोम राजा को लेने के लिए द्युलोक की ओर उड़े। ऐतरेय महर्षि कहते हैं कि वे छन्द और घोड़े चार-चार पैरों के थे। प्रत्येक के चार-चार ही पैर थे। सोम को लाने के लिए जगती-त्रिष्टुप् और गायत्री ये तीन ही घोड़े गये थे। इन तीनों में से चार पैर वाली जगती ने पहले-पहल सोम को लेने के लिए द्युलोक की ओर प्रस्थान किया। परन्तु वह कृतकार्य न हो सकी। इतनी दूर जाते वह थक गई अतएव पूरी तौर से वह झपट्टा मारने में समर्थ न हो सकी। केवल सोम के दोनों ओर जो दीक्षा और तप थे उन्हीं को ला सकी एवं साथ में अपने तीन पैर और खो आई। सोमरक्षक गन्धर्वों ने उसके तीन पंख काट लिए और उसे क्षत-विक्षत कर जमीन पर डाल दिया।

इसके बाद नम्बर आया त्रिष्टुप् का। परन्तु वह छन्द भी कृतकार्य न हो सका। सोमरक्षक गन्धर्वों ने उसका एक पंख काट लिया और उसे जमीन पर डाल दिया। जब जगती और त्रिष्टुप् दोनों को ही देवताओं ने सोम लाने में असमर्थ देखा तो उन्होंने गायत्री से कहा, हे गायत्री, तुम्हीं सोम राजा को हमारे पास लाओ। गायत्री ने कहा-बहुत अच्छा मैं अवश्य ही आपके लिए सोम लाऊंगी परन्तु मेरे पीछे से आप सब लोग स्वस्तिपाठ अवश्य करते रहना जिससे कि मैं क्षेमकुशलपूर्वक सोम ले आऊं। जिस मन्त्र से स्वस्तिपाठ करना चाहिए वह **"प्रेति और चेति"** यही है। देवताओं ने इस बात को स्वीकार कर लिया, उन्होंने प्रेति-चेति करना प्रारम्भ कर दिया। इधर गायत्री ने देवताओं के मंगलपाठ के बल से आकाश में उड़ कर बड़े जोर से एक झपट्टा मार कर सोमरक्षक गन्धर्वों को डरा दिया। उन्हें डरा कर मुख और पैरों से सोम को ले कर एवं साथ ही में जगती और त्रिष्टुप् के जो ४ पैर थे उन्हें भी लेकर देवताओं के पास आ गई। जब वह सोम ले कर देवताओं के पास आई तो जगती और त्रिष्टुप् दोनों ही गायत्री के पास प्रार्थना करने आये कि हे गायत्री, हमने सुना है कि आप हमारे पैर भी लाई हैं। हम उनके बिना बहुत ही दुःख पा रही हैं। अतएव आप कृपा कर हमारे पैरों को लौटा दीजिए। गायत्री ने कहा, यह नहीं हो सकता। अति परिश्रम से लाई हुई वस्तु तुम्हें नहीं लौटा सकती। इस प्रकार एक जगती

के पैर से और ३ त्रिष्टुप् के पैर से चार पैरों वाली गायत्री आठ पैर वाली बन गई। इसीलिए **"अष्टाक्षरा वै गायत्री"** यह कहा जाता है।

जब जगती और त्रिष्टुप् निराश हो कर जाने लगीं तो गायत्री ने कहा कि अच्छा, पैर तो हम तुम्हें वापस नहीं लौटा सकते यदि तुम चाहो तो हमारे में शामिल हो सकती हो, **"भागते चोर की लंगोटी ही भली"** के अनुसार जगती और त्रिष्टुप् ने इसे ही गनीमत समझा। दोनों गायत्री में शामिल हो गईं। त्रिष्टुप् के तीन पैर भी इसी अष्टाक्षरा गायत्री में शामिल हो गये। इसीलिए त्रिष्टुप् को ११ अक्षर की कहा जाता है एवं एक पैर जगती का मिल गया अतएव जगती को १२ अक्षर का बतलाया जाता है। इसी अभिप्राय से कथा का उपसंहार करते हुए महर्षि महीदास कहते हैं—

"ततो वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्।
एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् द्वादशाक्षरा जगती" ।। (ऐ० ब्रा० १३।५।२८)

इसी वैदिक आख्यान का पौराणिक लोग निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया करते हैं—

दक्ष प्रजापति के कद्रू और विनता दो लड़कियां थीं। ये दोनों ही मरीचि के पुत्र कश्यप को ब्याही थीं। एक दिन कश्यप ने प्रसन्न होकर इनसे कहा कि वर मांगो। यह सुनकर कद्रू ने कहा कि महाराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरे एक हजार पुत्र हों यह वरदान दीजिए। कश्यप ने कहा—तथास्तु। उधर विनता ने कहा कि महाराज! मुझे हजार पुत्र नहीं चाहिए, मुझे तो दो ही चाहिए। परन्तु वे दोनों ही कद्रू के हजार पुत्रों से अधिक बलशाली हों। कश्यप ने कहा—तथास्तु। समय पाकर कद्रू ने हजार अंडे दिए और विनता ने दो। इधर हजार अण्डे थोड़े ही समय में फूट गए और उनसे हजार सर्प उत्पन्न हुए। परन्तु विनता के अण्डे तब भी ज्यों-के-त्यों ही रहे। यह देख विनता को क्रोध आया और उसने एक अण्डे को फोड़ कर दूर डाल दिया। उस अण्डे के भीतर जो प्राणी था अभी वह अधकच्चा ही था, उसका पूर्वार्द्ध भाग अर्थात् पैरों से ऊपर का हिस्सा ही परिपक्व हो पाया था। नीचे का हिस्सा बिल्कुल कच्चा था। अण्डे के फूटते ही क्रुद्ध होकर उसने कहा कि माता तुमने अल्प समय में ही अण्डे को फोड़ कर मेरा सत्यानाश कर डाला, अतएव मैं शाप देता हूं कि तुम्हें ५०० वर्ष तक कद्रू की दासी बन कर रहना पड़ेगा। परन्तु खबरदार अब उस दूसरे अण्डे का स्पर्श न करना, वह अपने आप फूट जाएगा। उस अण्डे से जो पैदा होगा वही तुम्हें दासीपने से मुक्त करेगा। यह कहकर वह आकाश में उड़ कर सूर्य्य का सारथी बन गया, जो कि आज अरुण नाम से प्रसिद्ध है। इसके पैर नहीं हैं। इधर समय पा कर वह दूसरा अण्डा फूटा और उससे महाबलशाली गरुड़ नाम का बच्चा उत्पन्न हुआ। गरुड़ की प्रख्याति बहुत ही होने लगी। इससे सर्पों की माता कद्रू को डाह होने लगा। उसने विनता को परास्त करने की एक तरकीब निकाली। उसने एक दिन बातों ही बातों में विनता से कहा कि विनता! बतलाओ, इन्द्र का उच्चैःश्रवा घोड़ा और उसका रंग कैसा है? विनता ने कहा-सफेद है। वास्तव में वह घोड़ा सफेद ही था। इस पर कद्रू ने कहा उसका सारा शरीर तो अवश्य ही सफेद है, परन्तु उसकी पूंछ काली है। विनता ने कहा, हर्गिज नहीं। यदि नहीं मानती हो तो शर्त ठहरा लो। कद्रू को यही चाहिए था। उसने

झट अपने पुत्रों को बुला कर चुपके से कह दिया कि हे पुत्रो, तुम जा कर घोड़े की पूंछ से लिपट जाओ नहीं तो मुझे ५०० वर्ष तक विनता की दासी रहना पड़ेगा। माता की आज्ञा पाकर सर्प गये और घोड़े की पूंछ से लिपट गये। आखिर विनता को हारना पड़ा और शर्तों के अनुसार उसे कद्रू की दासी बनना पड़ा। इतना ही नहीं अपितु विनता के पुत्र गरुड़ पर कद्रू के पुत्र सर्प हुकूमत करने लगे। एक दिन गरुड़ ने माता से दुःखी होकर कहा कि माता ! क्या कारण है कि कद्रू और उसके पुत्र दोनों ही अपने ऊपर हुकूमत करते रहते हैं। विनता ने सारा किस्सा गरुड़ को सुना दिया और कहा कि पुत्र ! यदि तुम अमृत लाकर कद्रू को दे सकते हो तो मैं इस दासीपने से छुटकारा पा सकती हूं। इतना और समझ लेना चाहिए कि सर्प गरुड़ पर सवार हो कर चला करते थे। कहना यही है कि गन्धर्वों की रक्षा में एवं इन्द्र की रक्षा में रक्खे हुए अमृत को गरुड़ छीन लाए। परन्तु इन्द्र ने उनसे यह शर्त कर ली थी कि तुम इसे पृथिवी-लोक में अपने को सेवा-भाव से मुक्त करने को ले अवश्य ही जा सकते हो परन्तु हम उसी समय उसे उठा लायेंगे। ऐसा ही हुआ। अमृत को पा कर विनता मुक्त हो गई। उधर इन्द्र आँख चुरा कर अमृत को उठा ले गए। तब से गरुड़ सर्पों के वैरी हो गए। सर्पों को पाना ही गरुड़ का एकमात्र पेशा रह गया। हमने सूक्ष्मरूपेण यह कथा बतलाई है। पुराण में बहुत विस्तार से इसका वर्णन किया गया है। कहना यही है कि इस प्रकार सोम का अपहरण हुआ था। ये तीनों ही कथाएं बिलकुल झूठी बनावटी समझनी चाहिए—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ (भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्)

इन झूठी कथाओं की रचना प्राकृतिक विज्ञान को समझाने के लिए की गई हैं। पूर्वकथा से प्राकृतिक विज्ञान बतलाया गया है जिसे देखकर भारतीय महर्षियों की बुद्धि पर महा-आश्चर्य होता है। आख्यान का सारा रहस्य बतलाना असंभव है। इस प्रकरण में इसका केवल दिग्दर्शन मात्र कर दिया जाता है। इसे देख कर एवं समझ कर पुराण के आख्यानों के ऊपर आरोप करने वाले तथा इन्हें पोपलीला कह कर सम्बोधन करने वाले आधुनिक विद्वान् अवश्य ही शिक्षा लेंगे। इस आख्यान का रहस्य बतलाएँ उसके पहले आख्यान सम्बन्धी कुछ परिभाषाओं से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। बिना परिभाषा-ज्ञान के इस रहस्य का समझना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है।

सृष्ट, प्रविष्ट, प्रविविक्त—ब्रह्म के ये तीन स्वरूप माने जाते हैं। ब्रह्म व्यापक है, शान्त है, पूर्ण-स्वरूप है। इस व्यापक ब्रह्म को ही वैदिक परिभाषानुसार "आभू" कहा जाता है। यह आसमन्तात् व्यापकरूपेण रहता है, अतएव इसे "आभू" कहा गया है। इस आभू ब्रह्म के साथ-साथ ही एक तथ्य अविनाभूतेन और रहता है, जिसका नाम है "अभ्व"। इसी अभ्व को वैदिक परिभाषा में 'तुच्छ' शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है, इसीलिए "**तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्**" यह कहा गया है, आभू का ही दूसरा नाम है रस, एवं अभ्व का दूसरा नाम है बल। इस रस-बल-समष्टि का नाम ही ब्रह्म है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इस श्रुति का विरोध नहीं समझना चाहिए। श्रुति तो नानाभाव का खण्डन

करती है एवं तुम रस और बल भावद्वय को ब्रह्म बतलाते हो—इससे चौंक नहीं पड़ना चाहिए। इसके साथ बल के रहने पर भी अद्वैत भाव में कोई बाधा नहीं पड़ती है। सत्ताभेदेन द्वैत व्यवहार होता है, वस्तुभेद से द्वैत व्यवहार नहीं होता। पगड़ी में वैज्ञानिक भाव से देखने पर सूत-रुई-मलमल-कपास-वृक्ष-मिट्टी इत्यादि अनेक पदार्थ मानने पड़ते हैं। परन्तु पगड़ी है एक ही। इतने पदार्थों के रहने पर भी नानात्व व्यवहार नहीं होता। यदि नानात्व व्यवहार होता तो "पगड़ी है" की तरह ही सूत है, रुई है, कपास है, वृक्ष है, मिट्टी है–यह व्यवहार भी होता। परन्तु ऐसा व्यवहार नहीं होता। अनन्त वस्तुओं के रहने पर भी पगड़ी है यह एकत्व-व्यवहार ही लोक-प्रसिद्ध है। इसमें एकमात्र कारण सत्ता है। सत्ता सब की एक है। मिट्टी ही कपास बनी हुई है। कपास ही रुई बनी हुई है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व पदार्थ की सत्ता से उत्तरोत्तर की सत्ता बन रही है। एक ही सत्ता सर्वत्र अनुस्यूत है। अतएव नानाभाव को मौका नहीं मिलता। अद्वैत का विरोध नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बल के रहने पर भी "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" में कोई विरोध नहीं आता। बल की अपनी सत्ता नहीं है। रस-सत्ता से ही बल सत् है। घड़े की सत्ता मिट्टी की सत्ता से पृथक् नहीं है। कटक-कुंडलादि की सत्ता सुवर्ण-सत्ता से भिन्न नहीं है। अतएव बलों के रहने पर भी द्वैतभाव को मौका नहीं मिल सकता। इसी रस को अमृत कहा जाता है एवं बल को मृत्यु कहा जाता है। पुस्तक, टेबल की तरह अमृत-मृत्यु में आधाराधेय भाव नहीं है, यदवच्छेदेन रस है, अमृत है, तदवच्छेदेन बल है अर्थात् मृत्यु है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तंवस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥ (शत० १०।५।२।४)

अपि च इसी अभिप्राय से **"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः"** यह कहा जाता है। अस्तु, हमें इस विषय में अधिक कुछ नहीं कहना। कहना केवल इतना ही है कि यह जो सर्वबलविशिष्ट रस है जो कि असीम है, अपरिचित है, जिसे कि परात्पर नाम से व्यवहृत किया जाता है–प्रविविक्त ब्रह्म कहलाता है। उसका सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

"न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" यह इसी प्रविविक्त ब्रह्म के लिए कहा गया है। यह सृष्टि से छँटा हुआ रहता है, अलग रहता है अतएव इसे प्रविविक्त कहा जाता है। इसी व्यापक परात्पर प्रविविक्त ब्रह्म का कुछ हिस्सा मायाबल के कारण परिच्छिन्न हो जाता है। बस, इस परिछिन्न रस को ही "अव्यय" कहा जाता है। इसी का नाम प्रविष्ट ब्रह्म है। माया के घेरे में यह रस प्रविष्ट हो जाता है, परिच्छिन्न हो जाता है, अतएव इसे प्रविष्टब्रह्म कहा जाता है। एवं यही प्रविष्टब्रह्म पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि स्वरूप में परिणत होता है, बस, ब्रह्म का जो हिस्सा पृथिवी आदि में परिणत हो गया है वही सृष्टब्रह्म है। सृष्ट ब्रह्म को कार्यब्रह्म कहा जाता है। प्रविष्टब्रह्म को निमित्त ब्रह्म कहा जाता है। प्रविविक्त को आलम्बनब्रह्म कहा जाता है। उदाहरणार्थ, सुवर्ण की एक डली पर दृष्टि डालिए। सूर्य की रश्मियां जब पृथिवी की पकड़ में आ जाती हैं तो वे सुवर्ण बन जाती हैं। पार्थिव प्राण की पकड़ में सूर्य-रश्मियाँ जब बद्ध हो जाती हैं तो सुवर्ण का जन्म हो जाता है। सुवर्ण मिट्टी से बद्ध सूर्य की रश्मियां हैं इसीलिए हम भारतीय सुवर्ण को बहुत ही पवित्र मानते हैं। तो बस, सूर्य की जो रश्मियाँ सुवर्ण बन गईं-वह सृष्ट ब्रह्म है, कार्य ब्रह्म है, एवं इस सोने में जो गर्मी ऊपर से घुस पड़ी है जिससे कि सोना गरम हो रहा है वही

प्रविष्ट ब्रह्म है एवं बाकी बचा हुआ जो सौर ताप है वह प्रविविक्त ब्रह्म है। इन तीनों में से प्रविविक्त असीम है। वाङ्मनसागोचर है, अतएव शास्त्रानधिकृत है, एवं प्रविष्ट और सृष्ट दोनों ही परिच्छिन्न हैं अतएव इन दोनों का स्वरूप बतलाया जा सकता है। इस प्रविष्ट ब्रह्म को, जिसे कि हमने अव्यय पुरुष बतलाया है, आत्मा कहते हैं, एवं सृष्ट ब्रह्म को शरीर कहते हैं। आत्मा प्रविष्टब्रह्म है, शरीर सृष्टब्रह्म है। वही आत्मब्रह्म शरीर को बनाकर अर्थात् सृष्टरूप में परिणत हो कर आप उसके अन्तःप्रविष्ट हो जाता है। अतएव **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** यह कहा जाता है–इस आत्मा को प्रजापति भी कहा जाता है। इस पुरुष प्रजापति की अक्षर और क्षर ये दो प्रकृतियाँ हैं। अक्षर उसकी पराप्रकृति है। क्षर अपराप्रकृति है। दोनों प्रकृतियों के साथ अविनाभावेन यह अव्यय पुरुष रहता है। पुरुष बिना प्रकृति के रह ही नहीं सकता।

यह पुरुष प्रजापति अक्षररूपी कुम्हार से क्षररूपी मिट्टी द्वारा संसारस्वरूपी घर का निर्माण करता रहता है। अक्षर, क्षर का अर्थात् सृष्टि का निमित्त कारण है। अक्षर से ही सारी सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं एवं अक्षर में ही विलीन हो जाती हैं। अतएव कहा जाता है:—

"यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
(मुण्ड०उ० २।१।१)

अव्यय, अक्षर, क्षर, तीनों का स्वरूप गीता में विशदरूपेण बतलाया गया है। अतः वहीं देखना चाहिए। इनका विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। यहां केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पूर्ण-बल-विशिष्ट रस का नाम परात्पर है एवं मायावच्छिन्न रस का नाम अव्यय पुरुष है। इस अव्यय पुरुष की अक्षर और क्षर ये दो प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकृतिविशिष्ट पुरुष को ही प्रजापति कहा जाता है। इसी को ईश्वर कहते हैं। इस प्रकृति–विशिष्ट पुरुष की ही उपासना होती है। इसमें क्षर कार्यब्रह्म है, अक्षर कारण-ब्रह्म है। अव्यय आलम्बन-ब्रह्म है। इसी अव्यय के लिए कहा जाता है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ० उ० १।२।१७)

यह जो क्षरभाग है वह आत्मा, विकार और यज्ञभेदेन तीन प्रकार का है। इसके पहले इतना और समझ लेना चाहिए–उस अव्यय की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पांच कलाएँ है, अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम ये पांच कलाएँ है, एवं आत्मक्षर की भी वही पांच कलाएँ हैं जो कि अक्षर की पाँच कलाएँ हैं। अक्षर और क्षर उस अव्यय प्रजापति का शरीर है। इसमें अक्षर अमृतभाग है—क्षर मर्त्यभाग है। इसीलिए—

"अर्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (श० ब्रा०)

यह कहा जाता है। क्षर है मर्त्य परन्तु अमृत अक्षर के साथ रहता है। अतएव यह मरने नहीं पाता। इसीलिए मर्त्य-स्वरूप होते हुए भी इसे आत्मक्षर कहा जाता है। नष्ट नहीं होने के कारण इस क्षर को

जो कि अक्षर-संश्लिष्ट है आत्मक्षर कहा जाता है। यह क्षर उस अक्षर से उत्पन्न होता है। यही क्षर सारे वैकारिक जगत् का–यज्ञिय जगत् का प्रभव है अतएव तदपेक्षया इस अक्षर से उत्पन्न इस आत्मक्षर को ब्रह्म कहा जाता है। इसीलिए **"ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्"**

यह कहा जाता है। इस उत्तरोत्तर सृष्टि का कारण है एकमात्र इच्छा-बल। जब कि आनन्द विज्ञान, मन, प्राण, वाक् युक्त मन है उसी का यह इच्छा-बल है। इच्छा का उक्थ वही मन है। **"एकोऽहं बहु स्याम्"** यह इच्छा अनवरत हुआ करती है। इच्छा के होते ही प्राण-व्यापार होता है जिसे कि तप कहते हैं एवं तप के होते ही वाग्–व्यापार होता है। इसी वाग्–व्यापार को श्रम कहते हैं। इस प्रकार इच्छा-तप-श्रम तीनों के एकीभाव से नई वस्तु उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतियों में बार-बार **प्रजापतिर्हवा इदमग्र एक एवास। सऐक्षत। स तपोऽतप्यत। सोऽश्राम्यत्**–यह लिखा रहता है। इच्छा,तप, श्रम की समष्टि से ही नई सृष्टि होती है। इच्छा का अधिष्ठाता मन है। तप का अधिष्ठाता प्राण है। श्रम की अधिष्ठात्री क्षर वाक् है। इसी से सृष्टि होती है। इस मन-प्राण-वाङ्मय आत्मा ही से सृष्टि होती है। आनन्द–विज्ञान–मनोमय आत्मा तो मुक्ति–साक्षी है, एवं मन, प्राण, वाङ्मय आत्मा सृष्टि–साक्षी है। इसीलिए सृष्टिक्रम को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है, **"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"**। कहना प्रकृत में यही है कि मन, प्राण, वाङ्मय स्वरूप सृष्टि-साक्षी आत्मा की प्रेरणा से अक्षर द्वारा इस आत्मक्षर में सर्वप्रथम विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। आत्मक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम ये पांच कलाएँ है। इन पांचों से आप, वाक्, अन्नाद, अन्न, ये पांच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। प्राण, ब्रह्म का विकार है। आप, विष्णु का विकार है; वाक्, इन्द्र का विकार है। अन्नाद अग्नि का विकार है। अन्न सोम का विकार है। ये पांचों ही स्वस्वरूप से अलग-अलग न रह कर पांचों ही पांचों में आहुत हो जाते हैं। अपञ्चीकृत प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न पञ्चीकृत हो जाते हैं। एक में एक के मिलने का नाम ही यज्ञ है। यहां पर विकारक्षर एक में एक मिल जाते हैं। अतएव हम इस प्रक्रिया को "यज्ञ" कहने के लिए तय्यार हैं। चूंकि सबमें सब की आहुति हो जाती है अतएव इस यज्ञ को "सर्वहुत" यज्ञ कहा जाता है। यज्ञों में सबसे पहला यज्ञ यही **सर्वहुत यज्ञ** है। गायत्री मात्रिकादि वेदत्रयी की- ऋक्, यजु, साम की–उत्पत्ति इसी सर्वहुत यज्ञ से होती है। अतएव **"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्"** इत्यादि कहा जाता है।

इस सर्वहुत यज्ञ से जो पांच क्षर उत्पन्न होते हैं वे यज्ञ द्वारा उत्पन्न होते हैं, आहुति द्वारा उत्पन्न होते हैं अतएव उन्हें यज्ञक्षर कहा जाता है। इस प्रकार एक ही क्षर, अवस्था-भेद से आत्मक्षर, विकारक्षर और यज्ञक्षर इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है।

पांचों ही यज्ञक्षर पञ्चीकृत हैं। प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद अन्न प्रत्येक पांच-पांच हैं। इस प्रकार पञ्च यज्ञक्षरों के हिसाब से कुल २५ यज्ञक्षर हो जाते हैं। ये पचीसों के पचीस ही क्षराक्षर-विशिष्ट अर्थात् प्रकृति-विशिष्ट पुरुष-प्रजापति में रहते हैं। इन सब का आलम्बन यही आत्म-प्रजापति है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

अस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्माऽमृतोऽमृतम् ।। इति ।।
(बृ० आ० ४।४।१७)

प्रत्येक यज्ञक्षर में यद्यपि पांचों हैं परन्तु पांचों में आधे हिस्से में एक रहता है और अवशिष्ट आधे में चारों रहते हैं । जैसे प्राण में जब चारों की आहुति होती है तो उस आधे मण्डल में प्राण रहता है एवं आधे में चारों रहते हैं । अतएव उस मण्डल का नाम प्राण मण्डल ही हो जाता है । आधिक्यात् उसका यही नाम पड़ जाता है । इस प्रकार पञ्चीकृत पांचों यज्ञक्षरमण्डलों के प्राणमण्डल, आपोमण्डल, वाङ्मण्डल अन्नाद्मण्डल और अन्नमण्डल ये नाम हो जाते हैं । परन्तु ध्यान रहे, प्रत्येक में पाँचों हैं । बस इन पांचों मण्डलों को ही वैदिक परिभाषानुसार क्रमशः स्वयम्भूमण्डल, परमेष्ठिमण्डल, सूर्यमण्डल, पृथिवी-मण्डल, चन्द्रमण्डल कहा जाता है । यही पांचों विश्वसृट् नाम से व्यवहृत होते हैं । सबसे पहला मण्डल, स्वयम्भूमण्डल है । बाद में परमेष्ठीमण्डल है, बाद में सूर्य्य मण्डल है । बाद में पृथिवीमण्डल है, अनन्तर चन्द्रमण्डल है । ये पांचों दहरोत्तरभाव से स्थित हैं । अर्थात् एक के पेट में एक अर्थात् महिमामण्डल के पेट में दूसरा मण्डल है । स्वयम्भू महिमामण्डल में परमेष्ठि है । परमेष्ठि में सूर्य है । यही क्रम सर्वत्र समझना चाहिए। इन्हीं पांचों मण्डलों में भूः, भुवः, स्वः महः जनः, तपः, सत्य, यह सप्तलोक–व्यवस्था कायम की जाती है । पृथिवी भूर्लोक है । सूर्य स्वर्लोक है । पृथिवी और स्वः के बीच का जो अन्तरिक्ष है वही भुवर्लोक है एवं–परमेष्ठी जनत्–लोक है और सूर्य-परमेष्ठि के बीच का अन्तरिक्ष महर्लोक है । स्वयम्भू सत्यलोक है । एवं स्वयम्भू–परमेष्ठि के बीच का अन्तरिक्ष तपोलोक है । इन्हीं पांचों में त्रैलोक्य-व्यवस्था है । पृथिवी, पृथिवी-लोक है, सूर्य्य स्वर्ग लोक है दोनों के बीच का अन्तरिक्ष लोक है ।

इस प्रकार पृथिवी से सूर्य तक पहली त्रिलोकी समाप्त हो जाती है । इस पहली त्रिलोकी को वेद में **"रोदसी"**–त्रिलोकी कहा जाता है । बाद में रोदसी को समझो पृथिवी और परमेष्ठि को समझो स्वर्ग । दोनों के मध्य–स्थान को समझो अन्तरिक्ष, जिसे कि हमने तपोलोक कहा था । बस, यह दूसरी त्रिलोकी है । इसका नाम क्रन्दसी–त्रिलोकी है । एवं क्रन्दसी को समझो पृथिवी । स्वयम्भू को समझो स्वर्ग । मध्य-स्थान को समझो अन्तरिक्ष । यही तीसरी **"संयति"** नाम की त्रिलोकी है । इस प्रकार तीन त्रिलोकी हैं । यद्यपि तीन त्रिलोकियों के ९ लोक होने चाहिए थे—परन्तु सूर्य और परमेष्ठी दोनों पृथिवी और स्वर्ग बन जाते हैं अतएव ७ ही लोक रह जाते हैं । वैदिक परिभाषानुसार स्वर्ग को अर्थात् द्युलोक को पिता कहा जाता है एवं पृथिवी को माता कहा जाता है । जैसा कि श्रुति कहती है—

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्राता दितिः स्वसा ।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेळयाता सु कम् ।। (ऋ० १।१९१।६)

चूंकि तीन ही पृथिवी हैं तीन ही द्यौ हैं --इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

तिस्त्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वां।।इति।। (ऋ०१।१६४।१०)

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि विकारक्षरों के सर्वहुतयज्ञ से प्राणादि पांच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पांचों यज्ञक्षरों में सबसे पहले प्राणमण्डल की ही उत्पत्ति होती है। प्राण ही मौलिक वस्तु है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, रहित जो एक मौलिक तत्त्व विशेष है उसी का नाम **प्राण है**। इसी मौलिक तत्त्व को प्राण कहा करते हैं। वैदिक परिभाषानुसार इसी प्राण को ऋषि कहा जाता है। इस सृष्टि के प्रारम्भ में सृष्टि का मौलिक सत्य यज्ञक्षर स्वरूप यही प्राण रहता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः तेऽऋषय इति। प्राणा वाऽऋषयस्ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः, श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् "ऋषयः" ॥

(श० ब्रा० ६।१।१।१)

सृष्टि के पहले असत् के अलावा और कुछ न था। असत् क्या था—पूछने पर श्रुति उत्तर देती है कि उस समय ऋषि ही असत् थे। ऋषि कौन थे—इसका उत्तर देती हुई श्रुति कहती है कि प्राण ही ऋषि थे। जिस वस्तु में प्राण रहता है उसे सत् कहा जाता है। **"सामान्ये सामान्याभावः"** के अनुसार प्राण में प्राण नहीं रहता अतएव प्राण को असत् कहा जाता है। बस, सृष्टि के पहले यही प्राणतत्त्व था। मौलिकतत्त्व किसी से उत्पन्न नहीं होता। अतएव इस प्राणमण्डल को 'स्वयम्भूमण्डल' कहते हैं।

इसी प्राणात्मक जगन्निर्माता भगवान् स्वयम्भू से आगे की सारी सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। सबसे पहले इस स्वयम्भू से पानी ही उत्पन्न होता है। पानी घर्षण से पैदा होता है। जब विजातीय अनन्तानन्त ऋषियों का अर्थात् प्राणों का घर्षण होता है तो उससे पानी पैदा होता है। इस प्रकार स्वयम्भू से अर्थात् ऋषि प्राण से सर्वप्रथम पानी ही पैदा होता है। इसी सृष्टि-प्रक्रिया को लक्ष्य में रख कर भगवान् मनु कहते हैं—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

(मनुः स्मृति १।५-८)

बस स्वयम्भू के बाद का जो आपोमयमण्डल है वही परमेष्ठिमण्डल कहलाता है। यह परमेष्ठिमण्डल सूर्य्य से भी परस्थान में है। अतएव "परमेस्थानेसीदति" इस व्युत्पत्ति से इस आपोमय मण्डल को परमेष्ठिमण्डल कहा जाता है। इसके बाद फिर पानी में घर्षण होता है। पानी के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। महा-महा आपोमय परमेष्ठि-मण्डल के बीचों-बीच यह अग्नि अपनी स्थिति कायम करता है। करते-करते यह अग्नि एकदम से प्रज्वलित हो पड़ता है। बस, इसी प्रज्वलित अग्नि का नाम सूर्य्य है। "**तासु बीजमवासृजत्**" में बीज शब्द से यही सूर्य्य अभिप्रेत है। इसी सूर्य्यमण्डल को वाङ्मयमण्डल कहते हैं। इसी वाङ्मयमण्डल से ऋग्यजुःसामात्मिका त्रयीविद्या का प्रादुर्भाव होता है—अतएव यह सौरी वाक् वेदों की माता बतलायी जाती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु"

(तै० ब्रा० २।८।८।५)

इसी अभिप्राय से ब्राह्मण श्रुति कहती है—

"सा या सा वाक्। असौ स आदित्यः। स एष मृत्युः, तद्यत्किचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्। (शतपथः १०।५।१।४)

यदेतन्मण्डलं तपति। तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रत। तानि सामानि। स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। (शतपथ १०।५।२।१-२)

कहने का तात्पर्य्य यही है कि सूर्य्य वाङ्मय है। इन्द्र का ही विकार वाक् है। एवं वाङ्मण्डल का नाम ही सूर्य्य है। यह वाक् चार प्रकार की है।—१–सत्यावाक्, २–परमेष्ठिनी वाक्, ३–बृहतीवाक्, ४–अनुष्टुप् वाक्। स्वयम्भू-मण्डल की जो वाक् है–उसे ही सत्यावाक् कहते हैं। वेदत्रय-समष्टि का नाम ही–वाक् है। स्वयम्भूमण्डल की जो वाक् है–वह 'ब्रह्मनिःश्वसिता वाक्' कहलाती है। इसी सत्यावाक् से परमेष्ठिनी वाक् उत्पन्न होती है। इसी का नाम 'आम्भृणीवाक् है। सत्यावाक् का मैथुनी सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ आम्भृणीवाक् से ही होता है। पानी ही से सृष्टि उत्पन्न होती है। मैथुनी-सृष्टि का मूल तत्त्व पानी है। संसार का स्वरूप पानी ही से बना हुआ है। अतएव "**सर्वमापोमयं जगत्**" यह कहा जाता है। पानी का संसार में व्याप्त होना परमेष्ठिनी आम्भृणी वाक् का व्याप्त होना है। संसार की अपेक्षा से त्रिभुवन अधिष्ठातृ–यही आम्भृणी वाक् है। पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमा, सारी रोदसी, त्रिलोकी, इस आम्भृणी वाक् के पेट में हैं। इसी आम्भृणीवाक् की महिमा बतलाते हुए वेद भगवान् कहते हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिंद्राग्नी अहमश्विनोभा ।।
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ।।

(ऋग्वेद म० १०।१२५।१-५-८)

वेद भगवान् कहते हैं कि इस पृथिवी से और द्युलोक से अर्थात् सूर्य्य से भी बाहर तक इस परमेष्ठिनी वाक् की महिमा फैली हुई है । परमेष्ठिमण्डल की महिमा का क्या ठिकाना है जिसके कि पेट में एक बुद्‌बुद् के समान महिमामण्डलमय सूर्य्य **'सोलरसिस्टम'** युक्त पृथिवी और चन्द्रमा को साथ लिए हुए है। इसी वाक् से **'सौरी वाक्'** उत्पन्न होती है । हमारा सम्बन्ध चूंकि सूर्य्य से अधिक है-अतएव हम अपनी अपेक्षा से सूर्य्य ही को वाङ्मण्डल कहेंगे । यह सूर्य्य ही वाक्घन है । संसार में जो भी वाक् देखते हो वह असल में सूर्य्य की वाक् है । सूर्य्य की वाक् ही प्रवर्ग्य बनकर यच्चयावत् पदार्थों में घुसी हुई है । इस सौरीवाक् से ब्रह्माण्ड का एक बिन्दु भी खाली नहीं है । वाक् इन्द्र का विकार है अतएव हम इस वाक् को **'इन्द्र'** कह सकते हैं । इसी मूल पर **"नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन"** यह कहा जाता है ।

आधुनिक वैज्ञानिक जिसे ईथर कहते हैं, वह यही हमारा इन्द्र है । अर्थात् इन्द्र वाक् है । सारा विश्व इस वाक् से वाङ्मय हो रहा है । देवता-असुर-गन्धर्व-पितर-इत्यादि-इत्यादि सब इस वाक् के आधार पर ही स्थित हैं । देवता आग्नेय हैं । असुर आप्य हैं । गन्धर्व और पितर सौम्य हैं । सब की स्थिति वाक् से है । यदि परमेष्ठिनी वाक् न हो तो असुर-गन्धर्व-पितर, तीनों मर जायं । सूर्य्य वाक् न रहे तो सारे देवता मर जायं एवं सारे मनुष्य भी सूर्य्य के न रहने से नेस्तनाबूद हो जायं । कहां तक कहें यदि वाक् न रहे तो सारा विश्व रसातल में समा जाय । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता, सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ।।

(तै० ब्रा० २।८।८।४)

इसी अभिप्राय से ऐतरेय श्रुति भी कहती है—

"वाचा वै वेदाः संधीयन्ते, वाचा छन्दांसि वाचा मित्राणि संदधति वाचा सर्वाणि भूतान्यथो वागेवेदं सर्वमिति" (ऐ० आरण्यक ३।१।६)

वाक् को इन्द्र पत्नी कहा है । इससे सिद्ध होता है कि वास्तव में वाक्-इन्द्र ही का नाम है । इन्द्र ही का विकार वाक् है । वाक् ही का नाम सूर्य्य है । अतएव हम इस सूर्य्य ही को वाङ्मय कहने

के लिए तैय्यार हैं। इसीलिए तो स्पष्ट शब्दों में श्रुति कहती है—**"सा या सा वाक्–असौ स आदित्य:"** ।। बस सृष्टि–क्रम में यही तीसरा वाङ्मण्डल है। इसके अनन्तर सूर्य्य–रश्मियों के घर्षण से, एक पानी उत्पन्न होता है। इसका नाम है, **"मरीचि"**। मरीचि सूर्य्यकिरणों का नाम है। चूंकि यह पानी इन किरणों के संघर्ष से उत्पन्न होता है अतएव इसका नाम है मारीच। इसी मारीच को कश्यप भी कहते हैं। कैसे कहते हैं, इसका विवेचन **'ऋषिरहस्य'** में देखना चाहिए। इस कश्यप से ही, मारीच से ही—**"मर पानी"** उत्पन्न होता है। मर उस पानी का नाम है—जो कि रुद्रवायु के प्रवेश से अपने मूल स्वरूप को छोड़ देता है। पारमेष्ठ्य पानी का नाम **"अम्भ"** है, सौर पानी का नाम मरीचि एवं पार्थिव पानी का नाम **"मर:"** है। सौरचान्द्र पानी का नाम **"आप"** है। इसीलिए **"चन्द्रमा अप्स्वन्तर सुपर्णोधावते दिवि"**—यह कहा जाता है। बस, पृथिवी–मण्डल भर में पानी चार ही प्रकार का है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है।

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।।

स इमांल्लोकानसृजत ।। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः ।। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ।।

(ऐ० उ० १।१–२)

इसमें से जो मर आप है उसमें जब रुद्रवायु का प्रवेश होता है तो पानी और वायु दोनों के मर जाने से आपः, फेन, उषा, सिकता, शर्करा, अश्मा, अपः, हिरण्य इन आठों व्याहृतियों में अपना स्वरूप परिणत करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है। पानी का ठंडापन मारा जाता है। अग्नि की उष्णता मारी जाती है। इससे जो एक अनुष्णशीत द्रव्य उत्पन्न होता है–यही पृथिवीमण्डल स्वयम्भू, परमेष्ठि और सूर्य्यमण्डलों के बाद चौथा अन्नादमण्डल है। पांचवाँ है—चन्द्रमण्डल जिसे कि अन्नमण्डल कहते हैं। इस प्रकार से पांचों मण्डलों में प्राण, आप् वाक्, अन्नाद, अन्न—ये पाँच **"यज्ञक्षर"** विभक्त रहते हैं। यहां पर इतनी बात और समझ लेनी चाहिए कि स्वयम्भूमण्डल का जो प्राण है उसे ऋषिप्राण कहते हैं। परमेष्ठिमण्डल के प्राण को असुरप्राण, पितरप्राण और गन्धर्वप्राण कहते हैं। सूर्य्यप्राण को देवप्राण कहते हैं। पार्थिवप्राण को मनुष्यप्राण कहते हैं। पूर्व–पूर्व–प्राण संयोग से उत्तरोत्तर के प्राणों की उत्पत्ति होती है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ।। (मनुस्मृतिः ३।२०१)

स्वयम्भू भी एक पिण्ड है, परमेष्ठि, चन्द्रमा भी पिण्ड हैं। पांचों पिण्डस्वरूप हैं। इन पिण्डों की स्थिति जिसके आधार पर रहती है उसे वैदिक परिभाषा में **"मनोता"** कहा जाता है। यदि यह पदार्थ इन पिण्डों में से निकाल दिया जाता है तो इन पदार्थों का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इन्हीं में इन पिण्डों के मन अर्थात् केन्द्र ओत–प्रोत रहते हैं अतएव इनको मनोता कहते हैं। प्रत्येक मण्डल में भिन्न-

भिन्न जाति के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। बस इन उत्पन्न पदार्थों से ही तत्तत्मण्डलों की स्थिति रहती है, इसीलिए इन पदार्थों को मनोता कहा जाता है। इन पदार्थों में तत्तत्मण्डलों के मन ओत-प्रोत रहते हैं अतएव वे पदार्थ मनोता कहे जाते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु । हि तेषां मनांस्योतानि वाग्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि गौर्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतान्यग्निर्वै देवानां मनोता तस्मिन्हि तेषां मनांस्योतानि" ।

(ऐ० ब्रा० ६।१०)

कहने का तात्पर्य्य यही है कि प्रत्येक मण्डल में मण्डल की स्थिति रखने वाले जो पदार्थ होते हैं उन्हें मनोता कहा जाता है। स्वयम्भूमण्डल के जो मनोता हैं उनका नाम है सूत्र, वेद, अन्तर्य्यामी। अन्तर्य्यामी जो चित् है एवं जो ब्रह्म-निश्वसित वेद है एवं जिस सूत्र द्वारा यह वेद-रश्मियाँ सर्वत्र फैलती हैं-बस यह तीन ही स्वम्भूमण्डल की स्थिति के कारण हैं। भृगु, अंगिरा, अत्रि, ये तीन मनोता परमेष्ठिमण्डल के हैं। भृगु-अप्, वायु, सोम भेदेन तीन प्रकार का है एवं अङ्गिरा-अग्नि, वायु, आदित्य, भेदेन तीन प्रकार का है। तीसरा मनोता चूंकि तीन प्रकार का नहीं है अतएव उसे **"नत्रिः"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अत्रि कहा जाता है। अप्, वायु, सोम, पितरप्राण और गन्धर्वप्राण से सम्बन्ध रखते हैं। अप्, असुरप्राण से सम्बन्ध रखते हैं एवं जो वायु है वह **"साम्बसदाशिव"** नाम से व्यवहृत होता है। परमेष्ठि का आपोमयमण्डल भृगु-अङ्गिरा से अर्थात् अग्नि-सोम से अभिव्याप्त रहता है। इसी अभिप्राय से—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् । अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः ।

(गो० ब्रा० १।३९)

यह कहा जाता है। पारमेष्ठ्य सोम को ब्रह्मणस्पति भी कहते हैं। संसार को पवित्र करना इसी सोम का काम है। फिल्टर शक्ति यही पवित्र सोम है। इसीलिए तो इसे पवित्र कहा जाता है। इसी ब्राह्मणस्पत्य पारमेष्ठ्य पवित्र नाम के सोम को लक्ष्य में रख कर भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत" ।।

(ऋग्वेद म० ९।८३।१)

पृथिवीलोक पृथिवी ही कहलाता है एवं अन्तरिक्ष और सूर्यलोक दोनों **"द्युलोक"** कहलाते हैं। **"नभोन्तरिक्षं गगन"** इत्यादि अन्तरिक्ष नामों में अमरकार ने **"द्युरपिस्यात्तदव्ययम्"** से अन्तरिक्ष को भी द्युलोक बतलाया है एवं सूर्यलोक तो द्युलोक में है ही। परमेष्ठी चूंकि सूर्य्य से भी ऊपर है एवं ब्राह्मणस्पत्य सोम इसी में रहता है अतएव **"दिवि वै सोम आसीत्"** यह कहा जाता है। चूंकि पर-

मेष्ठी तीसरा द्यौ है अतएव कई ब्राह्मणों में **"तृतीयस्यामितोदिवि सोम आसीत्"** यह कहा जाता है। भाष्यकार **"तृतीयस्याम्"** का सूर्य्य–लोक अर्थ करते हैं। परन्तु हमारे खयाल से यह अर्थ अशुद्ध है। यदि पृथिवी को द्यु कहा जाता तो अवश्य ही **"तृतीयस्यां"** का सूर्य्यलोक अर्थ हो सकता था। अस्तु-कहना प्रकृत में इतना ही है कि परमेष्ठिमण्डल के भृगु–अङ्गिरा–अत्रि ये तीन मनोता हैं।

ज्योतिः, गौ, आयुः तीन ही मनोता सूर्य्य के हैं। ज्योतिर्भाग का नाम देवता है। ज्योति से देवता बनते हैं। अतएव–चित्रं देवानामुदगाहनीकम् यह कहा जाता है। गौ से भूत बनते हैं। अतएव पृथिवी को गौ कहा जाता है एवं आयु से जड़–चेतन यच्चयावत् प्राणियों का आत्मा बनता है–अतएव **"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** यह कहा जाता है–गौ–द्यौ–सूर्य्य–ज्योति–आयु गौ की समष्टि है। अतएव सूर्य्य-लोक प्राप्त करने के ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम—ये तीन ही साधन हैं। वाक्-गौ-द्यौ यह तीन मनोता पृथिवी के हैं एवं रेतः-श्रद्धा-यशः ये तीन मनोता चन्द्रमा के हैं। इस प्रकार पांच मण्डलों के १५ मनोता हो जाते हैं। बस, अखिल ब्रह्माण्ड में ये १५ ही पदार्थ हैं। इनको जान लेने पर कुछ भी बाकी नहीं बचता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यानि पञ्चधा त्रीणि-त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति" ॥

(छा० उ० २।२१।३-४)

प्रत्येक मण्डल की स्थिति तीन–तीन मनोताओं पर ही है। अतएव येही त्रिसत्य हैं—यह कहा जाता है। बस, प्रकृतिमण्डल की यही स्थति है। इसको ध्यान में रखने पर ही सौपर्णक आख्यान समझ में आ सकता है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं–दिवि वै सोम आसीत्–अथेह देवाः–इसका तात्पर्य्य यही है कि सृष्टि के प्रारम्भ में द्युलोक में अर्थात् परमेष्ठिमण्डल में सोम था एवं इस पृथिवीमण्डल में देवता थे। दीक्षणीयेष्टि ब्राह्मण में हम बतला आये हैं कि–देवता आग्नेय हैं। अग्नि का नाम ही देवता है। एक ही अग्नि अवस्था-भेद से ३३ अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। अग्नि दो प्रकार का होता है। चित्य और चितेनिधे। चित्य अग्नि वह है जो कि पृथिवी–पिण्ड में रहता है। चितेनिधे अग्नि वह है जो कि साम तक रहता है। साम तक रहने वाला जो अग्नि है, वही घन–तरल–विरल भेद से अग्नि–वायु–आदित्य नाम धारण कर लेता है। घनावस्था का नाम अग्नि है। तरलावस्था का नाम वायु है। विरलावस्था का नाम आदित्य है। इन तीनों में भी और–और अवस्थाएं हो जाती हैं। जो घन अग्नि है–वह आठ अवस्थाओं में परिणत रहता है। यही आठ वसु हैं एवं तरलाग्नि अर्थात् वायु ११ अवस्थाओं में परिणत रहता है। यही ग्यारह रुद्र हैं एवं विरलाग्नि अर्थात् आदित्य १२ भागों में परिणत रहता है, इन्हीं का नाम द्वादशादित्य है। एवं प्रजापति और वषट्कार—ये दो देवता और होते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि, अवस्था विशेष के कारण ३३ रूप धारण कर लेता है। इन देवताओं का स्वरूप विशदरूपेण पूर्व के ब्राह्मणों में बतला दिया गया है।

जहां तक अग्नि रहता है उसे पृथिवी-लोक कहते हैं। जहां तक वायु रहता है उसे अन्तरिक्ष-लोक कहते हैं एवं जहां तक आदित्य रहते हैं उसे द्युलोक कहते हैं। पृथिवी का अधिष्ठाता अग्नि है। अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता इन्द्र है। वायु में एक हिस्सा इन्द्र का रहता है। इसीलिए–**"इन्द्रतुरीयाग्रहा-गृह्यन्ते'**–यह कहा जाता है। यह इन्द्र मरुत्वान् इन्द्र कहलाता है एवं सूर्य्य-स्थानीय इन्द्र मघवा-इन्द्र कहलाता है। कहना यही है कि वायु अथवा मरुत्वान् इन्द्र अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता हैं एवं द्युलोक के सूर्य्य अधिष्ठाता है। इसीलिए—**"अग्निर्भूस्थानो वायुर्वेन्द्रोन्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः'** इति–यह कहा जाता है।

एक ही अग्नि, अग्नि–वायु–इन्द्र (सूर्य्य) स्वरूप में परिणत हो जाता है अतएव अग्निः सर्वाः देवताः, वायुः सर्वाः देवता एवं इन्द्र सर्वाः देवताः यह कहा जाता है। त्रिवृतस्तोम (९) तक अग्नि रहता है। पञ्चदश (१५) तक वायु किंवा मरुत्वान् इन्द्र रहता है एवं एकविंशस्तोम (२१) तक सूर्य्य रहता है। पृथिवी के ठीक २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है। तीनों कहने को अग्नि-वायु-आदित्य लोक हैं वास्तव में तीनों अग्निलोक ही हैं। एक अग्नि ही वहां तक अर्थात् २१ तक फैला हुआ है। इसीलिए—**"इमे वा एते लोका अग्नयः"** (तै० ब्रा० १।१।८) यह कहा जाता है। प्रकृत में कहना यही है कि देवता सारे आग्ने यही हैं। अग्नि से ही देवता उत्पन्न होते हैं। **"अग्नि र्वै देवयोनिः"** (ऐ० ब्रा० ४।५) यह सिद्धान्त अटल है। यह देवता पृथिवी के केन्द्र से बद्ध रहते हैं अतएव इन्हें पृथिवीलोक का देवता बतलाया जाता है। देवता पृथिवी पर रहते हैं। इसका तात्पर्य्य यही है कि २१ तक वितत रहने वाले ३३ देवता केन्द्रीय पृथिवी-प्रजापति से बद्ध रहते हैं। बस, यही प्राकृतिक परिस्थिति है। सोम, सूर्य्य से अर्थात् २१ से ऊपर परमेष्ठिमण्डल में रहता है एवं देवता इस पृथिवी में रहते हैं, अर्थात् पृथिवी-केन्द्र से बद्ध होकर २१ तक वितत रहते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है—

"दिवि वै सोम आसीत्–अथेह देवाः"—पृथिवीलोक पर रहने वाले इन देवताओं ने इच्छा की कि–कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कि यह सोम अपने पास आ जाय एवं इस आए हुए सोम से हम यज्ञ करें। यह विचार कर देवताओं ने सुपर्णी और कद्रू को पैदा किया। जिस प्रकार सुपर्णी और कद्रू द्वारा सोम देवताओं के पास आया था वह सारे का सारा सौपर्णव–काद्रव–आख्यान धिष्ण्या ब्राह्मण में बतलाएंगे—

अथेह देवास्ते देवा अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत्तेनागतेन यजेमहीति त ऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णी-काद्रवं यथा तदास ॥ (शत० ३।२।४।१)

धिष्ण्या ब्राह्मण में जो सोमापहरण आख्यान है उसे हमने पूर्व में बतला दिया है। वहां पर बतलाया गया है कि देवताओं ने सुपर्णी और कद्रू को पैदा किया। यह जो पृथिवी है, इसीका नाम कद्रू है। कद्रू सर्पों की माता बतलाई गई है। इसका रहस्य यही है कि पृथिवी प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा काली है, सूर्य्य तथा नाना नक्षत्रादि में प्रकाश है। पृथिवी में प्रकाश नहीं है। इस पृथिवी

में से जो रश्मियां निकलती हैं वे सर्वथा काली हैं। ये काली रश्मियाँ इसी पृथिवी में से निकलती हैं एवं पृथिवी में ही बद्ध रहती हैं। अतएव इन रश्मियों को सर्प बतलाया जाता है। किरणों का स्वभाव है प्राण-अपान क्रिया से चलने का। रश्मियाँ सर्पण करती हुई चलती हैं अतएव इन रश्मियों को सर्प कहा जाता है। पुराण में कहा गया है--कद्रू के हजार सर्प उत्पन्न हुए। वास्तव में बात सच है। वैदिक परिभाषानुसार सहस्र-शब्द का अर्थ है पूर्ण। इसीलिए **"सहस्रं वै पूर्णम्"** यह कहा जाता है। पृथिवी के केन्द्र से पृथिवी की काली रश्मियाँ सर्पण करती हुई पृथिवी के चारों ओर पूर्णतया वितत रहती हैं अतएव कद्रू के, कश्यप के वर-प्रभाव से १००० हजार पुत्र उत्पन्न हुए, यह कहा जाता है। वास्तव में बात ठीक है। कश्यप मरीचि से उत्पन्न होता है। यह बात पूर्व-प्रकरण में बतला दी गई है। कश्यप नाम है सूर्य्य का। इस सूर्य्य की-दिति, दाना, कद्रू, विनता अर्थात् सुपर्णी, काला-इत्यादि १२ स्त्रियां हैं। संवत्सरात्मक मण्डल के १२ टुकड़े हैं। एक संवत्सर के १२ महिनों में कश्यप प्रजापति पूरा भोग कर लेते हैं। अतएव इन १२ विभागों को, १२ पत्नियां कहा जाता है। किसी-किसी पुराण में कश्यप के १३ स्त्रियां बतलाई जाती हैं। जिस रेखा पर चन्द्रमा घूमता है, उसका नाम है-दक्ष। इस दक्षरेखा के, दक्षवृत्त के भिन्न-भिन्न ग्रहों के हिसाब से कुल ६० टुकड़े हो जाते हैं। चन्द्रमा अपने इस दक्षवृत्त की परिक्रमा २७ दिन में कर डालते हैं। दक्ष के २७ टुकड़े करके-प्रति दिन एक टुकड़े का भोग चन्द्रमा को जाता है। २८ वें दिन जाकर--चन्द्रमा की परिक्रमा समाप्त हो जाती है। बस यही २७ चन्द्रमा की स्त्रियाँ हैं। अश्विनी-भरणी आदि २७ नक्षत्र ही इस चन्द्रमा की २७ स्त्रियां हैं।

धर्म्म के हिसाब से दक्ष-वृत्त के १० टुकड़े होते हैं। इसीलिए १० स्त्रियां धर्म्म की कहलाती हैं एवं कश्यप अर्थात् सूर्य्य के हिसाब से दक्षवृत्त के १३ टुकड़े होते हैं। यही १३ विभाग इस कश्यप की १३ स्त्रियाँ हैं। इन १३ से भिन्न-भिन्न प्राण उत्पन्न होते हैं। कद्रू से सर्पप्राण उत्पन्न होता है। विनता से गरुड़प्राण अर्थात् गायत्री उत्पन्न होती है एवं अङ्गिरा के हिसाब से दो टुकड़े होते हैं। कृशाश्व के हिसाब से भी दो ही टुकड़े होते हैं। भृगु के हिसाब से भी दो ही टुकड़े होते हैं एवं-**'स्वस्ति न इन्द्रः"**-इत्यादि अरिष्टनेमि के हिसाब से ४ विभाग होते हैं। इस प्रकार एक ही दक्षवृत्त के ६० विभाग होते हैं। यही ६० दक्ष प्रजापति की कन्याएं कहलाती हैं एवं कश्यपादि जामाता कहलाते हैं। इसी विज्ञान को समझाते हुए भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु सप्तविंशतिमिन्दवे।
ददौ स दश धर्म्माय कश्यपाय त्रयोदश ॥
द्वयं वाङ्गिरसे प्रादाद् द्वे कृशाश्वाय धीमते।
द्वयमेव भृगुपुत्राय चतस्त्रोऽरिष्टनेमिये ॥

प्रकृत कथा का सम्बन्ध केवल-कद्रू और सुपर्णी अर्थात् विनता से है। कद्रू इस पृथिवी का ही नाम है। यह पृथिवी सर्पण करती हुई आगे चलती है एवं सर्पण करती हुई रश्मियों की अधिष्ठात्री है अतएव इस पृथिवी को **"सर्पराज्ञी"** कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—**"इयं वै सर्पराज्ञी इयं**